

आचार्य शान्तिदेव प्रणीत

बोधिचर्यावतार

[भोट-पाठ, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या]

रचनाकार

प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी



केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान

लेह, लद्दाख

बौद्ध-हिमालय-ग्रन्थमाला-८

आचार्य शान्तिदेव प्रणीत

बोधिचर्यावतार

[भोट-पाठ, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या]

रचनाकार

प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी



केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान

लेह, लद्दाख

बुद्धाब्द : २५३३

ख्रैस्ताब्द : १९८६

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक :

टशी पलजोर, अति० प्राचार्य

केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान

चोगलमसर, लेह, लडाख

252

इति

प्रथम संस्करण : ५०० प्रतियाँ

मूल्य : सजिल्द रु० २१०००

अजिल्द रु० १७५००

५०४२१३०

०२.७.१३

मुद्रक :

शिवम् प्रिन्टर्स

सी २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनो

मलदहिया, वाराणसी-२२१००२

BAUDDHA-HIMĀLAYA-GRANTHAMĀLĀ VOL-8.

ĀCHARYA SHĀNTIDEVA'S

BODHICHARYĀVATĀR

(Bhot-Version, Hindi-Translation and Commentry)

BY

PROF. RĀMA ŚAṂKARA TRIPĀTHĪ



CENTRAL INSTITUTE OF BUDDHIST STUDIES

LEH, LADĀKH

1989

General Editor and Publisher
Tashi Paljor
Addl. Principal
Central Institute of Buddhist Studies
Choglamsar, Leh; Ladākh

Frist Edition : 500 Copies

Price : H. B. Rs. 210.00

P. B. Rs. 175.00

Printed by
Shivam Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahiya, Varanasi-2



आचार्य शान्ति देव

प्रकाशकीय

बोधिसत्त्वचर्यावितार ग्रन्थ महायान धर्म का सर्वश्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय बोधिसत्त्वों का चर्यापथ है। ग्रन्थ में कुल दस परिच्छेद हैं। दान एवं शील पारमिताओं के लिए अलग से परिच्छेद नहीं हैं। दान पारमिता तीसरे बोधिचित्तपरिग्रह एवं बोधिपरिणामना परिच्छेद में निहित है। बोधिचित्त-अप्रमाद एवं संप्रजन्य रक्षण इन दो परिच्छेदों में शील पारमिता सन्निविष्ट है। शेष क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा के एक-एक परिच्छेद हैं। दसवाँ परिच्छेद बोधिपरिणामना है। परिणामना बौद्ध धर्म की एक असाधारण वस्तु है। बौद्ध आचार्यों ने परिणामना को लगाम की तरह कहा है, क्योंकि साधक अपने द्वारा अर्जित पुण्यों का स्वेच्छा से परिणामना द्वारा दान कर सकते हैं। आचार्य शान्तिदेव ने इस ग्रन्थ की नौवें परिच्छेद तक रचना की है। इस शास्त्र की रचना करने से उन्होंने जो पुण्य अर्जित किया, उन सबकी प्राणियों के लिए निःस्वार्थ भाव से परिणामना कर दी है। परिणामना के मुख्य रूप से तीन अर्थ हैं—देना, बदलना तथा बढ़ाना। स्वयं तथा अन्य प्राणियों के मन में बुद्धशासन का विकास करने, सभी जन्मों में कल्याणमित्र का अनुग्रह प्राप्त करने तथा अनुत्तर बोधि की प्राप्ति के लिए की जाने वाली परिणामना को तीन महापरिणामना कहते हैं।

इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य शान्तिदेव हैं। उन्होंने समस्त बुद्ध के प्रवचनों का श्रवण, चिन्तन तथा मनन किया। वे स्वयं से अधिक अन्य सत्त्वों से स्नेह करते थे। कभी भी मात्र अपने सुख के लिए विचार नहीं करते थे। वे अन्य प्राणियों के हित और सुख के लिये निरन्तर प्रयास करते रहते थे। वे महायान धर्म के साथ तन्त्रयान के अनुत्तरयोग के अतिनिष्प्रपञ्च की चर्या का विशेष अभ्यास करते थे। वे सम्पूर्ण महायान एवं मन्त्रयान धर्म के मार्गों की परकाष्ठा पर पहुँचे हुए बोधिसत्त्व थे। ऐसे साक्षात् महाबोधिसत्त्व की कृति से विनेयजनों को क्रमशः लाभ उपलब्ध होता निश्चित ही है। प्रस्तुत ग्रन्थ में बड़ी शिक्षाओं के साथ बौद्ध धर्म की छोटी से छोटी शिक्षाओं का भी उल्लेख किया गया है। जैसे बुद्धत्व प्राप्ति के बाद प्राणियों का कल्याण कैसे सम्भव होता है। इन सभी शिक्षाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। वैसे बुद्ध के उपदेशों का संग्रह 'त्रिपिटक' है। सम्पूर्ण त्रिपिटक का अध्ययन एवं मनन करना कलियुग के मनुष्यों के वश की बात नहीं है। इसके द्वारा सर्वज्ञता जैसा महान लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। एक जीवन में अध्ययन करना भी असम्भव है। न ही सम्पूर्ण महायान त्रिपिटक को पढ़ाने वाला ही मिलेगा। बोधिसत्त्व-चर्यावितार ग्रन्थ को परम्परागत ढंग से पढ़ाने वाले गुरु भी उपलब्ध होते हैं। यह पुण्य एवं ज्ञान संभार अर्जन करने का उत्तम साधन है।

भारत में प्राचीन काल में इस ग्रन्थ का महत्त्व एवं प्रचार-प्रसार बहुत अधिक था। कालान्तर में बौद्ध धर्म का विकास विदेशों में भी होने लगा। सम्पूर्ण विश्व में प्रस्तुत इस ग्रन्थ का सही भावार्थ समझने पर कठोर हृदय वाले व्यक्तियों के मन में भी परिवर्तन हो सकता है। हिंसा और अहिंसा, कुशल और अकुशल की बातों को नहीं जानने वाले व्यक्तियों के मन में भी कठिनाई जैसे महान् गुण पैदा हो सकते हैं। आचार्य शान्तिदेव स्वयं बोधिसत्त्व थे। यही कारण है कि उनकी सारी बातें बोधिसत्त्वों की शिक्षा से जुड़ी हुई हैं। २०वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध भारतीय बौद्ध विद्वान् नेगी लामा जी कहा करते थे कि बोधिसत्त्वचर्यावतार ग्रन्थ में उल्लिखित एक-एक श्लोक अमूल्य है। आधुनिक युग में इस तरह के एक श्लोक की रचना के लिए एक लाख रुपये देने पर भी इस तरह की रचना सम्भव नहीं है। उन्होंने यह भी कहा है कि महाकवियों ने विश्व के लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार की वस्तुओं के प्रत्यक्ष और पराक्ष दोनों भावों को कविताओं में उपमा के लिए प्रयोग किया है, परन्तु उनके काव्यों में बोधिचित्त की उपमा नहीं मिलती है। नेगी लामा जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ बोधिचित्त-स्तोत्र-रत्न प्रदीप में कहा है कि अशुद्ध जगह पर चक्रवर्ती राजा नहीं पधार सकता है, उसी प्रकार पापियों के मन में भी बोधिचित्त उत्पन्न नहीं हो सकता है। स्वयं बोधिसत्त्व होने से शान्तिदेव की सारी रचनाएँ बोधिचित्त से प्रभावित हैं। इसके एक श्लोक का अध्ययन करने या सुनने से हमारा क्लृप्त मन बोधिचित्त उत्पन्न करने हेतु चार बलों के द्वारा शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध नहीं होने पर बोधिचित्त उत्पन्न करना कठिन है।

बोधिसत्त्वों की चर्या की शिक्षाओं का सही ज्ञान प्राप्त करने से आधुनिक पाठकों के मन में भी महाकठिनाई पैदा हो सकती है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ से अन्त तक उचित अध्ययन करने से साधारण मनुष्यों के मन में भी कठिनाई एवं बोधिचित्त जैसे महान् गुण उत्पन्न हो सकते हैं। आचार्य शान्तिदेव ने नौवें परिच्छेद में दर्शन की चर्या की है। इस परिच्छेद में प्रासंगिक माध्यमिक दर्शन की स्थापना की गयी है। आचार्य शान्तिदेव प्रासंगिक माध्यमिक आचार्य माने जाते हैं। विज्ञानवाद की दृष्टियों का भी खण्डन पर्याप्त मात्रा में यहाँ किया गया है। वैसे प्रासंगिक माध्यमिक की दृष्टि को समझना सरल नहीं है। इसे सही रूप से समझने के लिये आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित छः युक्तिसंग्रह, आचार्य चन्द्रकीर्ति के मध्यमकावतार ग्रन्थ का छठा परिच्छेद आदि ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। माध्यमिक दर्शन को सही रूप से समझने लिए पुण्यार्जन, पापशोधन, पाँच महाविद्याओं का सम्यक् अध्ययन, बुद्ध से अवलम्बित परमेश्वर शून्यता के प्रति श्रद्धा से आँसू निकलना तथा इसे सुनते ही श्रद्धा के कारण भीरे खड़ी हो जाना आदि आवश्यक हैं। शून्यता जैसे गम्भीर विषय को समझने से संसार से मुक्ति हो सकती है।

आचार्य शान्तिदेव के प्रसिद्ध तीन ग्रन्थ हैं। ये हैं—बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय तथा सूत्रसमुच्चय। इन तीनों में से सूत्र-समुच्चय ग्रन्थ तिब्बती या अन्य भाषाओं में नहीं मिलता है। त्रिपिटक यानी कनग्युर में भी नहीं मिलता है। संस्कृत भाषा में बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय मिलते हैं। आचार्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार के पाँचवें परिच्छेद

में उनकी रचना शिक्षासमुच्चय एवं सूत्रसमुच्चय का अवलोकन करने के लिये कहा है। बोधिसत्त्वचर्यावितार तथा शिक्षासमुच्चय ग्रन्थों का मूल एवं टीकाएँ विश्व की अनेक भाषाओं में मिलती हैं। भोट देश के विद्वानों का कहना है कि बोधिसत्त्वचर्यावितार ग्रन्थ पर भारतीय आचार्यों ने एक सौ से अधिक टीकाएँ लिखी हैं। तनग्युर में इस ग्रन्थ की जो टीकाएँ हैं, वे सब भारतीय बौद्ध आचार्यों की हैं। भोट देश के आचार्यों ने भी कई टीकाएँ, वृत्तियाँ, भाव-प्रकाश आदि लिखे हैं। वहाँ के कई आचार्यों ने केवल नवें परिच्छेद पर ही वृत्तियाँ लिखी हैं। तिब्बत के चारों सम्प्रदायों के बौद्ध विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर नाना प्रकार की टीकाएँ लिखी हैं। जिसके कारण यह ग्रन्थ तिब्बत में भी बहुत प्रसिद्ध हुआ है। मन्त्रयान के ग्रन्थों के अध्ययन से पूर्व भोट विद्वान् इस ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं।

संस्कृत एवं हिन्दी में बोधिसत्त्वचर्यावितार ग्रन्थ छपा है। जहाँ इस ग्रन्थ के नाम से सत्त्व शब्द हटाया गया है। भोट देश के तनग्युर में बोधिसत्त्वचर्यावितार के मूल ग्रन्थ एवं टीकाएँ उपलब्ध हैं। उन सभी में 'सत्त्व' शब्द जोड़ा हुआ है, क्योंकि यह चर्या बुद्धों की नहीं, बोधिसत्त्वों की है। सत्त्व शब्द न रहने से ग्रन्थ का विषय स्पष्ट नहीं होता है। संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद सहित छपे हुये ग्रन्थों में अवश्य ही यह सुधार अपेक्षित है। अन्यथा हम अशुद्धि पर अशुद्धि करते रहेगे, जिससे बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों में अनेक त्रुटियाँ होती रहेगी। अधिकतर त्रुटियाँ विषय का सही ज्ञान नहीं होने से होती हैं। प्रो० रामशंकर त्रिपाठी जी बौद्ध दर्शन के अद्वितीय विद्वान् हैं। उन्होंने अपने बहुमूल्य समय से कुछ समय निकाल कर बोधिसत्त्वचर्यावितार ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या लिखने एवं इसका सम्पादन करने का महान् कार्य किया है। मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ। वे बौद्ध दर्शन के सभी विषयों एवं शब्दों को भली-भाँति जानते हैं। उन्होंने हिन्दी माध्यम से बोधिसत्त्वचर्यावितार ग्रन्थ को पाठकों के लिए नवीनतम व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है। हमें पूरी आशा है कि इस ग्रन्थ के माध्यम से पाठकगण बोधिचित्त एवं बोधिसत्त्वों की चर्या को ठीक तरह से समझ सकेंगे।

मैं भिक्षु वङ्छुकु दोर्जे का भी आभारी हूँ, जिन्होंने तिब्बती सम्पादन करने में सहायता की है। मैं प्रेस के प्रबन्धक श्री हरिप्रसाद निगम तथा उनके कार्यकर्ताओं को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सुन्दर एवं शीघ्रता कर हमारी सहायता की है।

भवतु सर्व मंगलम् ।

१६ जून १९८६ ई०

टशी पलजोर
प्राचार्य

भूमिका

माध्यमिक दर्शन भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों के उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। दर्शन-जगत् में भारतीय दर्शनों की गौरवमयी प्रतिष्ठा के मूल में निश्चित ही आचार्य नागार्जुन और दिङ्नाग का अपूर्व योगदान है। आचार्य नागार्जुन ने चिन्तन की सीमाओं को तोड़ कर जिस निरपेक्ष चिन्तन की प्रतिष्ठा की, उसने न केवल दर्शनों के अग्रिम विकास को आधार प्रदान किया, अपितु उनका दिशा-निर्देश भी किया। इनके अभाव में भारतीय दर्शनों का इतना महनीय विकास कथमपि सम्भव न था।

नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन ही मानव जाति की मुक्ति और नए मानव के निर्माण का एकमात्र उपाय है। सत्य के अधिगम के लिए उन्होंने पदार्थों के अस्तित्व के परीक्षण की जिस विधि का आविष्कार किया और उसके द्वारा एक वैज्ञानिक की भाँति सत्य और तथ्य का जैसा सुस्पष्ट निरूपण किया, वह सत्य के शोध-कर्ताओं के लिए आज भी प्रेरणाप्रद है। नागार्जुन न स्वयं किसी अस्तित्व के प्रति प्रतिबद्ध हैं और न मानव-बुद्धि को ही कहीं बाँधते हैं। जब कि अन्य दार्शनिक मिथ्या का निषेध कर किसी सत्य की स्थापना करते हैं, नागार्जुन इस तरह किसी निरपेक्ष सत्य की स्थापना नहीं करते। उनके दर्शन के अनुसार मिथ्या का निषेध ही सत्य की स्थापना है। ये दोनों सर्वथा अभिन्न हैं। इस तरह नागार्जुन निषेध और निर्माण का अपूर्व दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

मानव को जीवन की कृतार्थता का अनुभव कराना तथा उसके भीतर प्रसुप्त अनन्तानन्त शक्तियों को जागरित कर उन्हें पूर्ण विकसित होने का अवसर प्रदान करना दर्शनों का लक्ष्य है। मनुष्य ने अपने चारों ओर अनेक कल्पित सीमाएँ खड़ी कर ली हैं। उनमें आबद्ध होकर उसने स्वयं को क्षुद्र बना लिया है। छोटी, बड़ी विभिन्न सत्ताएँ ही वे सीमाएँ हैं, जिनकी नागार्जुन ने सूक्ष्म परीक्षा की है। सत्ताएँ अज्ञान द्वारा नितान्त आरोपितमात्र हैं। उनकी असारता का बोध होने पर ही मानव जीवन को असक्त, अप्रतिहत, असीम, व्यापक एवं विराट् होने का अवसर प्राप्त होता है। प्रज्ञा द्वारा अज्ञान का सर्वथा नाश कर दिया जाने पर ही यह स्थिति उत्पन्न होती है। पदार्थ की वास्तविक स्थिति को जानने वाला ज्ञान ही प्रज्ञा है। आरोपित सत्ता से शून्यता ही जड़-चेतन समस्त पदार्थों की वास्तविक स्थिति है।

इस प्रज्ञा का उत्पाद ही नागार्जुन के दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। इसी के द्वारा निषेध और नव-निर्माण का लक्ष्य सिद्ध किया जा सकता है। यह स्वाभाविक है कि इतने पहले ईसा-पूर्व पहली शताब्दी या ईसा की पहली शताब्दी में ही नागार्जुन ने इतने मौलिक, स्वतन्त्र एवं गतिशील दर्शन की स्थापना की। अब हम उनके दर्शन और उनकी परम्परा के अग्रिम विकास की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं।

त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन

भगवान् बुद्ध प्रज्ञा और करुणा की मूर्ति थे। ये दोनों उनमें उत्कर्ष की पराकाष्ठा प्राप्त कर समरस होकर स्थित थे। इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध अत्यन्त उपाय-कुशल भी थे। उपायकौशल बुद्ध का एक विशिष्ट गुण है। अर्थात् वे विविध प्रकार के विनेय जनों को विविध उपायों से सन्मार्ग पर आरुढ़ करने में अत्यन्त प्रवीण थे। वे यह भली-भाँति जानते थे कि किसे किस उपाय से सन्मार्ग पर आरुढ़ किया जा सकता है। फलतः वे विनेय जनों के विचार, रुचि, अध्याशय, स्वभाव, क्षमता और परिस्थिति के अनुरूप उपदेश दिया करते थे। भगवान् की दूसरी विशेषता यह है कि वे सन्मार्ग के उपदेश द्वारा ही अपने जगत्कल्याण के कार्य का सम्पादन करते हैं, न कि वरदान या ऋद्धि के बल से, जैसे कि शिव और विष्णु आदि के बारे में अनेक कथाएँ पुराणों में प्रचलित हैं^१। उनका कहना है कि तथागत तो मात्र उपदेशा हैं, कृत्यसम्पादन तो स्वयं साधक व्यक्ति को ही करना है^२। वे जिसका कल्याण करना चाहते हैं, उसे धर्मों (पदार्थों) की यथार्थता का उपदेश करते हैं।

भगवान् बुद्ध ने भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों में विजेय जनों को अनन्त उपदेश दिये थे। सबके विषय, प्रयोजन और पात्र भिन्न-भिन्न थे। ऐसा होने पर भी समस्त उपदेशों का अन्तिम लक्ष्य एक ही था और वह था विनेय जनों को दुःखों से मुक्ति की ओर ले लाना। मोक्ष या निर्वाण ही उनके समस्त उपदेशों का एकमात्र रस है।

बुद्ध के सभी उपदेश त्रिविध धर्मचक्रों में संगृहीत होते हैं कि नहीं? इस प्रश्न के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उनके समस्त उपदेशों का समावेश त्रिविध धर्मचक्र में होना चाहिए, क्योंकि उनके समस्त उपदेशों का एकमात्र उद्देश्य मुक्ति है, और मुक्ति की प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है। नैरात्म्य-

१. द्र०—अभिधर्मकोश-भाष्य एवं स्फुटार्था, पृ० ८-१० (बौ० भा० संस्करण) ।

२. द्र०—बुद्धकनिकाय, प्र० भाग (धम्मपद) पृ० ४२ ।

ज्ञान ही उसका एकमात्र साधन है। फलतः भगवान् ने जो भी उपदेश दिये हैं, उनका साक्षात् या परम्परया नैरात्म्यज्ञान से सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में भगवान् ने या तो स्वभावसत्ता के आधार पर उपदेश दिया है या निस्वभावता के आधार पर। यह भी हो सकता है कि सस्वभावता और निःस्वभावता का क्षेत्रविभाजन करके उपदेश दिया हो। इनके अतिरिक्त कोई चौथा प्रकार सम्भव नहीं है। अतः उनके जो उपदेश स्वभावसत्ता या स्वलक्षणसत्ता पर आधृत हैं, वे प्रथम धर्मचक्र में समाविष्ट होते हैं। जो उपदेश निःस्वभावता या निःस्वलक्षणता पर आधृत हैं, वे द्वितीय धर्मचक्र में सम्मिलित होते हैं। जो उपदेश स्वभावसत्ता एवं निःस्वभावता का क्षेत्रविभाजन करके प्रवर्तित हैं, अर्थात् जो यह प्रदर्शित करते हैं कि अमुक धर्म सस्वभाव हैं और अमुकधर्म निःस्वभाव हैं, साथ ही जो सस्वभावता एवं निःस्वभावता की परिभाषा और स्वरूप का भी विवेचन करते हैं, वे उपदेश अन्तिम या तृतीय धर्मचक्र में संगृहीत होते हैं।

काल की दृष्टि से भी उनके समस्त उपदेशों का त्रिविध धर्मचक्रों में समावेश किया जा सकता है, यथा—प्रथम काल में उपदिष्ट सूत्र प्रथम धर्मचक्र में, मध्य में उपदिष्ट सूत्र द्वितीय धर्मचक्र में तथा अन्तिम काल में उपदिष्ट सूत्र तृतीय धर्मचक्र में समाविष्ट होते हैं।

आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट समस्त सूत्र त्रिविध धर्मचक्रों में संगृहीत नहीं किये जा सकते। जो सूत्र धर्मों की सस्वभावता का प्रतिपादन करते हैं, उनका संग्रह प्रथम धर्मचक्र में, जो सूत्र समस्त धर्मों की निःस्वभावता का प्रतिपादन करते हैं, वे द्वितीय धर्मचक्र में तथा जो सूत्र न तो सभी धर्मों की सस्वभावता प्रदर्शित करते हैं और न ही समस्त धर्मों की निःस्वभावता प्रदर्शित करते हैं, अपितु जो धर्मों का विभाजन करके स्पष्ट रूप से यह दिखलाते हैं कि अमुक धर्म सस्वभाव हैं और अमुक धर्म निःस्वभाव हैं, वे सूत्र तृतीय धर्मचक्र में संगृहीत होते हैं। फलतः बुद्ध के समस्त सूत्रों का त्रिविध धर्मचक्रों में समावेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसे अनेक सूत्र अवशिष्ट रह जाते हैं, जो न तो धर्मों की सस्वभावता और न ही धर्मों की निःस्वभावता का ही प्रतिपादन करते हैं, जैसे—भिक्षुओं, ठीक से चीवर पहनना चाहिए, विकाल भोजन से विरत रहना चाहिए, प्राणातिपात से विरत रहना चाहिए, अदत्ता-दान (चोरी) नहीं करना चाहिए, मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिए—इत्यादि। ये सूत्र सामान्य नैतिक नियमों का प्रदर्शन मात्र करते हैं। इनका किसी भी धर्मचक्र में समावेश नहीं किया जा सकता।

समस्त सूत्र त्रिविध धर्मचक्रों में संगृहीत होते हैं कि नहीं? इस विषय में उपलब्ध बौद्ध वाङ्मय से कोई स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं होता। भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोंखापाजी ने भी इसके बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, फिर भी इतना अवश्य कहा है कि आर्यसन्धिनिर्माण में वर्णित त्रिविध धर्मचक्रों में से प्रथम और द्वितीय धर्मचक्र विज्ञानवाद के मत में नेयार्थ सूत्र हैं तथा तृतीय धर्मचक्र ही नीतार्थ सूत्र हैं। तृतीय धर्मचक्र प्रथम और द्वितीय धर्मचक्रों के अभिप्राय एवं प्रयोजन को सुस्पष्ट करता है। इसलिए भगवान् बुद्ध ने यदा कदा—‘भिक्षुओं, चीवर ठीक से पहनना चाहिए’—इत्यादि जो बहुत से उपदेश किये हैं, उनका इन त्रिविध धर्मचक्रों में समावेश नहीं किया जा सकता। इस विषय में हमारा मत भी आचार्य चोंखापाजी का अनुसरण करता है।

धर्मचक्रों की नेयार्थ-नीतार्थता

विज्ञानवाद और स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत के अनुसार नीतार्थसूत्र वे हैं, जिनका अभिप्राय यथारुत ग्रहण किया जा सकता है तथा नेयार्थसूत्र वे हैं, जिनका अभिप्राय शब्दशः ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपि तु उनका अभिप्राय खोजना पड़ता है, जैसे—‘माता और पिता की हत्या करने से व्यक्ति निष्पाप होकर निर्वाण प्राप्त करता है’ (मातरं पितरं हन्त्वा...अनीघो याति ब्राह्मणो) इस वचन का अर्थ शब्दशः ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपि तु यहाँ पिता का अभिप्राय कर्मभव और माता का अभिप्राय तृष्णा से है। इस प्रकार की देशना आभिप्रायिकी या नेयार्थ कहलाती है।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के मत में नेयार्थ एवं नीतार्थ का निर्वचन उपर्युक्त से किञ्चित् भिन्न है। उनके अनुसार जिन सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय संवृतिसत्य है, वे नेयार्थ सूत्र हैं तथा जिन सूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय परमार्थ सत्य अर्थात् शून्यता, अनिमित्तता आदि हैं, वे नीतार्थ सूत्र हैं। नेयार्थता और नीतार्थता की उपर्युक्त व्यवस्था वे आर्य-अक्षयमतिनिर्देशसूत्र के अनुसार करते हैं, जैसा कि उसमें कहा गया है—

“कतमे सूत्रान्ता नेयार्थाः कतमे नीतार्थाः। ये सूत्रान्ता मार्गावताराय निर्दिष्टाः, इम उच्यन्ते नेयार्थाः। ये सूत्रान्ताः फलावताराय निर्दिष्टाः, इम उच्यन्ते नीतार्थाः। यावद् ये सूत्रान्ताः शून्यतानिमित्ताप्रणिहितानभिसंस्काराजातानुत्पादाभावनिरात्मनि-सत्त्वनिर्जीवनि-पुद्गलास्वामिकविमोक्षमुखा निर्दिष्टाः, त उच्यन्ते नीतार्थाः।

इयमुच्यते भदन्तशारद्वतीपुत्र, नीतार्थसूत्रान्तप्रतिशरणता, न नेयार्थसूत्रान्तप्रतिशरणता” इति ।

फलतः आर्यशतसाहस्रिका आदि समस्त प्रज्ञापारमिता सूत्र नीतार्थसूत्र हैं, जिनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय परमार्थ सत्य है । माध्यमिक दर्शन इन्हीं सूत्रों पर आधृत है ।

प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन—काल की दृष्टि से यह प्रथम है । वाराणसी का ऋषिपतन मृगदाव इसका स्थान है । इसके विनेय जन (पात्र) श्रावकवर्गीय वे लोग हैं, जो स्वलक्षण एवं बाह्य सत्ता पर आधृत चतुर्विध आर्यसत्त्यों की देशना के भव्य (पात्र) हैं । स्वलक्षणसत्ता एवं बाह्यसत्ता के आधार पर चार आर्यसत्त्यों की स्थापना इस प्रथम धर्मचक्र की विषयवस्तु है । श्रावकवर्गीय लोगों की दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है, किन्तु योगाचार एवं माध्यमिक महायानसिद्धान्तवादियों की दृष्टि से यह नेयार्थ देशना है ।

द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तन—काल की दृष्टि से यह मध्यम है । स्थान प्रमुखतः गृध्रकूट पर्वत है । इसके विनेय जन महायानी पुद्गल हैं । शून्यता, अनिमित्तता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि उसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं । इस देशना के द्वारा समस्त धर्म निःस्वभाव प्रतिपादित किये गये हैं, अतः विज्ञानवादी इसे नेयार्थ देशना मानते हैं । आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शान्तरक्षित आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का इसकी नेयार्थ-नीतार्थता के बारे में प्रासङ्गिक माध्यमिकों से कुछ मतभेद हैं । इनके अनुसार आर्यशतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र नीतार्थ सूत्र हैं, क्योंकि इनमें समस्त धर्मों की परमार्थतः निस्वभावता निर्दिष्ट है । भगवती प्रज्ञापारमिता-हृदयसूत्र आदि यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जाते, क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादित की गई है, उस प्रकार की निःस्वभावता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को मान्य नहीं है । यद्यपि इन सूत्रों का अभिप्राय परमार्थतः निःस्वभावता है, तथापि उनमें ‘परमार्थतः’ यह विशेषण स्पष्टतया उल्लिखित नहीं है, जो कि उनके अनुसार नीतार्थ सूत्र होने के लिए परमावश्यक है । कहने का आशय यह है कि आर्यशतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र उनके अनुसार नीतार्थ हैं तथा भगवतीप्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र नेयार्थसूत्र हैं ।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के अनुसार द्वितीय धर्मचक्र सर्वथा नीतार्थ देशना है । उनके मत में जिस सूत्र का मुख्य विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है तथा जिसका

मुख्य विषय संवृत्तिसत्य है, वह सूत्र नेयार्थ है। अतः इनके मत में भगवतीप्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं।

तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन—काल की दृष्टि से यह अन्तिम है। स्थान वैशाली आदि प्रमुख हैं। श्रावक एवं महायानी दोनों प्रकार के पुद्गल इसके विनेयजन हैं। शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसके विषयवस्तु हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है। यद्यपि द्वितीय और तृतीय दोनों धर्मचक्रों में शून्यता प्रतिपादित की गई है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समान रूप से निःस्वभाव कहा गया है, जबकि इस तृतीय धर्मचक्र में यह भेद किया गया है कि अमुक धर्म निःस्वभाव है और अमुक धर्म निःस्वभाव नहीं, सस्वभाव है। इसी के आधार पर विज्ञानवादी दर्शन प्रतिष्ठित है। इस कारण विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव नहीं मानते। उनके अनुसार धर्मों में से कुछ निःस्वभाव हैं और कुछ सस्वभाव। अतः वे द्वितीय धर्मचक्र को नीतार्थ नहीं मानते। उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की निःस्वभावता और सस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जाते हैं। इनमें आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र प्रमुख है।

आचार्य भावविवेक, शान्तरक्षित आदि इस तृतीय धर्मचक्र को नीतार्थ देशना मानते हैं, क्योंकि इसके द्वारा भगवती प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्रों (जो द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं और जो नेयार्थ हैं) का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। इनके मतानुसार भगवतीप्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र नेयार्थ हैं, क्योंकि उनमें 'परमार्थतः' यह विशेषण न लगाकर सामान्यतः सर्वधर्मनिःस्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। इस तृतीय धर्मचक्र में उस विशेषण को स्पष्टरूप से लगाकर उसका अभिप्राय प्रकट किया गया है। अतः इनके अनुसार यह (तृतीय धर्मचक्र) नीतार्थ देशना है।

प्रश्न है विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों मतों में तृतीय धर्मचक्र समानरूप से नीतार्थ कैसे माना जा सकता है, जबकि दोनों के सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं ?

यद्यपि दोनों इसे नीतार्थ अवश्य मानते हैं, फिर भी स्वातन्त्रिक माध्यमिक यह नहीं कहते कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय विज्ञानवादियों ने जैसा समझा है, वैसा ही है। उनका कहना है कि उन्होंने उसका अभिप्राय गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। मध्यमकालोक में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासङ्गिक माध्यमिक तृतीय धर्मचक्र को सर्वथा नेयार्थ देशना मानते हैं। उनका कहना है कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय ठीक वैसा ही है, जैसा विज्ञानवादी मानते हैं। क्योंकि विज्ञानवादियों के सिद्धान्त युक्तिहीन एवं दोषदुष्ट हैं, अतः तृतीय धर्मचक्र नेयार्थ देशना है। इनके मतानुसार तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन भगवान् बुद्ध ने ऐसे विनेय जनों पर अनुग्रह करने के लिए किया है, जो तत्काल शून्यता जैसे गम्भीर विषय की देशना के पात्र नहीं हैं। बोधिचित्तविवरण में नागार्जुन ने कहा है—सभी धर्मों की चित्तमात्रता की देशना भगवान् ने बाल-पृथग्जनों को भय से मुक्त कराने के लिए की है। उन्होंने रत्नावली में भी कहा है—

यथैव वैयाकरणो मातृकामपि पाठयेत् ।
 बुद्धोऽवदत्तथा धर्मं विनेयानां यथाक्षमम् ॥
 केषाञ्चिदवदद्धर्मं पापेभ्यो विनिवृत्तये ।
 केषाञ्चित् पुण्यसिद्धयर्थं केषाञ्चिद् द्वयनिश्चितम् ॥
 द्वयानिश्चितमेकेषां गम्भीरं भीरुभीषणम् ।
 शून्यताकरुणागर्भमेकेषां बोधिसाधनम् ॥^१

अतः ऐसे विनेयजनों को तत्काल विज्ञानवाद की देशना देकर पीछे कुशलता से उन्हें गम्भीर विषय (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर ले जाने के लिए भगवान् ने तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार-भाष्य में इस विषय का सुस्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

माध्यमिक दर्शन का उद्भव

उपनिषद् जैसे वैदिक दर्शनों के उत्स हैं, उसी प्रकार बुद्धवचन या त्रिपिटक बौद्ध दर्शनों के आकर हैं। विशेषतः महायानसूत्र योगाचार और माध्यमिक दर्शनों के आधार हैं। माध्यमिकवाद, शून्यतावाद या निःस्वभावतावाद पर्यायवाची हैं। प्रज्ञापारमितासूत्र माध्यमिक दर्शन के मूल माने जाते हैं। अक्षयमतिनिर्देशसूत्र, शत-साहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र, पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र तथा अष्ट-साहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र के आधार पर आचार्य नागार्जुन ने शून्यतादर्शन का विकास किया। परम्परा के अनुसार प्रज्ञापारमितासूत्रों के विषय द्विविध हैं। उनमें

१. द्र०-रत्नावली, ४ : ९४-९६ पृ० ३१० (दरभंगा-संकरण) ।

एक दर्शनपक्ष है और दूसरा पक्ष है मार्ग या अभिसमय । उनमें दर्शन पक्ष के पुरस्कर्ता आचार्य नागार्जुन हैं तथा मार्ग या अभिसमय पक्ष के प्रवर्तक आर्य असंग माने जाते हैं ।

कहा जाता है कि आचार्य नागार्जुन के काल में भारत में प्रज्ञापारमितासूत्र उपलब्ध नहीं थे । वे नागलोक गए और वहाँ से उन्होंने उन्हें प्राप्त किया । बुद्ध के महापरिनिर्वाण के कुछ समय बाद ऐतिहासिक कारणों से महायानी परम्परा विस्तार न पा सकी । प्रज्ञापारमितासूत्रों का पठन-पाठन प्रायः विरल हो गया था । इस स्थिति में आचार्य नागार्जुन प्रादुर्भूत होते हैं । यह ज्ञात नहीं है कि उनके सामने कितने महायानसूत्र थे । यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनके पहले महायानी दर्शन या शून्यतावादी दर्शन नहीं था, किन्तु आचार्य नागार्जुन ने उसे एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया । उन्होंने सूत्रों का नेयार्थ और नीतार्थ में विभाजन कर समस्त महायान-सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय शून्यता सिद्ध किया । शून्यता के अर्थ में ही उन्होंने समस्त महायानसूत्रों का समन्वय किया और इसे ही बुद्ध का असली मन्तव्य सिद्ध किया ।

महायान सूत्रों का बुद्धवचनत्व

अपनी विशिष्ट दार्शनिक प्रतिभा के बल पर महायान सूत्रों के आधार पर नागार्जुन द्वारा माध्यमिक दर्शन की प्रतिष्ठा करते ही, उन्हीं के काल में महायान-सूत्रों की बुद्धवचनता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगने लगे । विरोधी खेमे की ओर से कहा जाने लगा कि जिन सूत्रों का संगीतियों में संगायन नहीं हुआ तथा परम्परागत पिटकों से जिनका विषय भी भिन्न है, ऐसे सूत्र निश्चित ही बुद्धवचन नहीं है । इन सूत्रों को स्वयं नागार्जुन ने रच लिया है या ये वज्रना के लिए स्वयं मार द्वारा प्रणीत हैं । यही कारण है कि नागार्जुन से लेकर सभी प्रमुख महायानी आचार्यों ने महायान सूत्रों की बुद्धवचनता सिद्ध करने के लिए प्रभूत प्रयास किया है ।

आचार्य नागार्जुन का कहना है कि शून्यता केवल महायानी सूत्रों की ही प्रतिपाद्य नहीं है, अपि तु हीनयानी पिटकों में भी उसकी चर्चा है । अज्ञान के कारण लोग स्पष्टतया उसे समझ नहीं सके तथा द्वेष के कारण महायान की निन्दा करते हैं । तथा हि—

कात्यायनाववादे च अस्ति नास्तीति चोभयम् ।

प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना ॥^१

१. ३०—मूलमाध्यमिककारिका, १५:७ पृ० ११७-११८ (दरभंगा संस्करण) ।

रत्नावली में भी आचार्य नागार्जुन ने विस्तारपूर्वक महायान को भगवान् द्वारा निर्दिष्ट कहा है और कहा कि अज्ञान द्वारा लोग उसे देख नहीं पाते और उसकी निन्दा करते हैं। तथा हि—

बोधिसत्त्वस्य सम्भारो महायाने तथागतैः ।

निर्दिष्टः स तु संमूढैः प्रद्विष्टश्चैव निन्द्यते ॥

गुणदोषानभिज्ञो वा दोषसंज्ञी गुणेषु वा ।

अथवापि गुणद्वेषी महायानस्य निन्दकः ॥

परात्महितमोक्षार्थाः संक्षेपाद् बुद्धशासनम् ।

ते षट्पारमितागर्भास्तस्माद् बौद्धमिदं वचः ॥^१

आर्य मैत्रेयनाथ ने महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए अपने महायान-सूत्रालङ्कार में 'महायानसिद्धयधिकार' नामक एक स्वतन्त्र अधिकार ही लिखा है। उन्होंने लिखा है कि प्रज्ञापारमिता आदि महायानसूत्र बुद्धवचन न होकर सद्धर्म में विघ्न डालने की इच्छा से किसी अन्य ने रच डाले हैं तो सद्धर्म की रक्षा में उपेक्षा न करनेवाले सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ने पहले ही इसकी भविष्यवाणी कर दी होती, किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया है। श्रावकयान और महायान साथ-साथ ही प्रवृत्त हुए हैं। यदि बुद्धवचन न होते तो दोनों की एक साथ प्रवृत्ति कैसे होती? यह गम्भीर और उदार महायानदर्शन तार्किकों की बुद्धि का अगोचर है, अतः किन्हीं अन्य तार्किकों के द्वारा यह बाद में कह दिया गया है—ऐसा कहना प्रलापमात्र है। कालान्तर में किसी ने बुद्धत्व प्राप्त करके इन वचनों को कहा है—ऐसा कहा जाए तो उतने से ही महायानसूत्रों का बुद्धवचनत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वही बुद्ध है जो सम्बोधि प्राप्त कर इस प्रकार के वचन कहता है। यदि महायान का भाव हो तो प्रज्ञापारमिता आदि महायानसूत्रों को बुद्धवचन होना चाहिए, क्योंकि इनसे श्रेष्ठ कोई अन्य महायान-पिटक उपलब्ध नहीं है। यदि महायान का अभाव है तो श्रावकयान का भी अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः श्रावकयान तो बुद्धवचन है, महायान नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धयान के बिना बुद्ध का उत्पाद ही सम्भव नहीं है, अतः महायानपिटक एवं श्रावकपिटक दोनों के बुद्धवचन होने या न होने में कुछ भी अन्तर नहीं है। महायान की भावना से उस निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति होती है जो क्लेशों का प्रतिपक्ष होता है। अतः महायानपिटक बुद्धवचन है। 'महायानसूत्रों

१. द्र०— रत्नावली, नागार्जुनकृता, ४:६७,६८, ८२ का०, पृ० ३०८, ३०९ (दरभंगा-संस्करण)।

में कुछ ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं, जिनका शब्दानुसारी अर्थ लेने में विरोध दृष्टिगोचर होता है, अतः ये बुद्धवचन नहीं हैं—यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे वचनों का अभिप्राय यथाशब्द नहीं होता, अपि तु शब्दातिरिक्त उनका अभिप्रायिक अर्थ हुआ करता है। इसीलिए ऐसे कथनों को नेयार्थसूत्र कहते हैं। इसलिए वे अबुद्धवचन नहीं हैं। तथा हि—

आदावव्याकरणात् समप्रवृत्तेरगोचरात् सिद्धेः ।

भावाभावेऽभावात् प्रतिपक्षत्वाद् स्तान्यत्वात् ॥

आचार्य शान्तिदेव ने भी अपने बोधिचर्यावितार में महायानसूत्रों का विस्तार-पूर्वक बुद्धवचनत्व सिद्ध किया है। आचार्य श्रावकयानी वैभाषिक आदि से कहते हैं कि यदि महायान असिद्ध है तो श्रावकपिटक के ही बुद्धवचन होने में क्या प्रमाण है? अर्थात् कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यदि कहो कि श्रावकपिटक के बुद्धवचन होने में श्रावकयानी और महायानी दोनों को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, अतः उभयसिद्ध होने से श्रावकपिटक बुद्धवचन है? इस पर आचार्य कहते हैं कि उभयसिद्ध होने से पूर्व श्रावकपिटक भी बुद्धवचन के रूप में असिद्ध ही था। यदि यह कहो कि हमें और तुम्हें छोड़कर अन्य मतावलम्बियों के द्वारा भी श्रावकपिटक बुद्धवचन के रूप में सिद्ध है? इस पर आचार्य का कहना है कि अन्यो के आधार पर अपने आगम की सत्यता स्वीकार की जाएगी तो वेद आदि को भी सत्य स्वीकार करन पड़ेगा। तथाहि—

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः ।

यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ॥

यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु ।

अन्योभयेऽसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥

अपि च—यदि ऐसा कहा जाए कि जो आम्नाय गुरुशिष्यपरम्परा से बुद्धवचन के रूप में आगत है, सूत्र में अवतरित होता है, विनय में दिखलाई पड़ता है और धर्मता (प्रतीत्यसमुत्पाद) का विलोम नहीं है, वह बुद्धवचन है तो ये सारी बातें महायान में भी दृष्टिगोचर होती हैं^३। अतः महायान भी बुद्धवचन है।

१. द्र०-महायानसूत्रालंकार, १:७ पृ० ३ (दरभंगा-संस्करण) ।

२. द्र०-बोधिचर्यावितार, ९ : ४२-४३ का० ।

३. द्र०-स्वकेऽवतारात् स्वस्यैव विनये दर्शनादपि ।

औदार्यादपि गाम्भीर्यादिविरुद्धैव धर्मता ॥

—महायानसूत्रालंकार १:११, पृ० ४ ।

अध्याशयसंचोदनसूत्र के अनुसार जो वचन अर्थ से संयुक्त हैं, धर्म से संयुक्त हैं, क्लेशों के प्रहायक हैं और निर्वाण के गुणों की अनुशंसा करते हैं, वे बुद्धवचन हैं। संक्षेप में जो सुभाषित हैं, वह बुद्धभाषित हैं^१।

वस्तुतः हीनयान और महायान अथवा श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान ये सब बुद्ध के उपदेशों के यथारुचि और यथाशक्ति व्याख्यान हैं। ये सब कोई दार्शनिक सम्प्रदाय या कोई भिन्न सैद्धान्तिक तत्त्व नहीं हैं, अपितु साधक लोगों के आध्यात्मिक विकासक्रम और बौद्धिक योग्यताओं के अनुरूप एक तार-तम्य है।

महायान की बुद्धवचनता के विरोध में अनेक अन्य आक्षेप भी दिये जाते हैं, तथा आज भी विद्वान् उनमें सन्देह प्रकट करते हैं, जिनका आचार्यों ने विस्तृत समाधान किया है—

(क) महायान सूत्रों का प्रथम, द्वितीय संगीतियों में संगायन नहीं हुआ है ?

महायानसूत्रों का संगायन हुआ है, किन्तु उनके संगीतिकार समन्तभद्र, मञ्जुश्री, वज्रपाणि, मैत्रेय आदि बोधिसत्त्व थे। श्रावकयानी उनके संगीतिकर्त्ता नहीं हो सकते, क्योंकि वे उनके गोचर नहीं हैं। लगातार ४५ वर्षों तक विभिन्न स्थानों पर भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सूत्रों का परिमाण उतना ही नहीं हो सकता, जितने का संगायन प्रथम और द्वितीय संगीति में श्रावकयानियों ने किया है।

(ख) महायानसूत्रों में भगवान् बुद्ध के धर्मकाय को नित्य तथा व्यापक कहा गया है, जो बौद्धों के इस सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है कि 'सभी संस्कार अनित्य' हैं ?

भगवान् बुद्ध ने जिस यथावत् ज्ञान का अधिगम किया है, उससे वे कभी विचलित नहीं होते तथा न उसमें कोई विकार आता है। इसी अर्थ में वह नित्य

१. यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिर्बर्हणं वचः।

भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा।

अपि च—यत्किञ्चिन्मैत्रेय सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्।

द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका में उद्धृत, पृ० २०५ (दरभंगा-संस्करण)।

कहा गया है, न कि कूटस्थ नित्यता के अर्थ है। उसकी नित्यता का तात्पर्य सन्तति-नित्यता से है। भगवान् का यावत् ज्ञान सभी जैयों में व्याप्त होता है तथा उनका जगत्-अर्थ कृत्य सभी विनेयों में सर्वत्र प्रवृत्त होता रहता है, इसी अर्थ में उसे व्यापक कहा गया है, न कि ब्रह्मन् की तरह व्यापक के अर्थ में।

(ग) महायानसूत्रों में तथागर्भ या आलयविज्ञान की देशना की गई है, जो प्रकारान्तर से तैथिकों के आत्मा की देशना के सदृश है। फलतः यह बौद्धों के 'सभी धर्म अनात्म हैं'—इस सिद्धान्त के विपरीत है ?

तथागतगर्भ आधार चित्त की शून्यता, हेतुओं की निर्लक्षणता और फल की अप्रणिधानता स्वरूप है, न कि शाश्वत पुरुषसदृश। जन्म ग्रहण करने वाला विज्ञान (आलयविज्ञान) भी नदीस्रोतस की तरह क्षणिक प्रवाह मात्र ही है। ये धर्ममुद्रा एवं निरात्मता का कभी भी अतिक्रमण नहीं करते।

(घ) निरुपधिषेण निर्वाण की अवस्था में भी बुद्ध की चित्तसन्तति का निरोध नहीं होता। वे अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहते हैं। महायान का यह सिद्धान्त 'निर्वाण शान्त है'—इस सर्वमान्य बौद्धसिद्धान्त से विपरीत है ?

बुद्ध ने आवरणों का सर्वथा प्रहाण कर दिया है। वे विनेय जनों के अध्याशय के अनुरूप कहीं जन्म-ग्रहण, कहीं बोधि-प्राप्ति तो कहीं परिनिर्वाण दर्शाते रहते हैं। उनकी चित्तसन्तति का सर्वदा विलोप कभी नहीं होता। चित्त की सन्तति की इस निरन्तरता का उपर्युक्त सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है।

महायान का साधक संस्कृत, असंस्कृत किसी भी धर्म की कल्पना नहीं करता और न उनमें अभिनिविष्ट होता है। वह सभी धर्मों को आदिशून्य एवं प्रकृतिविशुद्ध समझता है। वह स्नान, व्रत आदि से पाप का क्षय भी नहीं मानता, फिर भी शरीर-लाघव एवं मुक्तिमें सहायक स्नान, व्रत आदि का आचरण करता है। अतः यह कहना कि महायान सूत्रों में धारणी, मन्त्र, व्रत, स्नान, उपवास आदि के जो उपदेश उपलब्ध होते हैं, वे ब्राह्मण धर्म के समान हैं, वे बुद्धवचन नहीं हो सकते, सर्वथा युक्तिहीन हैं।^१ इस तरह हम देखते हैं कि महायानी आचार्यों ने महायानसूत्रों को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए व्यापक एवं कालव्यापी प्रयास किये हैं।

१. इन और इनके जैसे अनेक प्रश्नों के व्यापक समाधान के लिए द्रष्टव्य आचार्य भावविवेक कृत तर्कज्वाला।

माध्यमिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन

यह विदित है कि आचार्य नागार्जुन ने प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर माध्यमिक दर्शन की प्रतिष्ठा की। उन्होंने समस्त बुद्धवचनों का समन्वय कर उनका मुख्य प्रतिपाद्य या पारमार्थिक अभिधेय शून्यता को ही निरूपित किया। प्रज्ञापारमितासूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य तो शून्यता है ही, जिन सूत्रों के प्रतिपाद्य अन्यविध हैं, उनका भी पारम्परिक अभिप्राय शून्यता के अर्थ में ही उन्होंने प्रकाशित किया। उनका कहना है कि जो विनेय जन तत्काल शून्यता के पात्र नहीं हैं, उनकी उद्वेग और भय से रक्षा के लिए उपायकुशल भगवान् ने अन्य प्रकार के सूत्रों की देशना की है। ऐसे सूत्रों का भी उद्देश्य अन्ततोगत्वा विनेय जन को शून्यता के लिए भव्य बनाना ही है।

नागार्जुन का दर्शन

अस्तित्व का विश्लेषण दर्शनों का प्रायः विषय होता है। भारतवर्ष में इसी के विश्लेषण में दर्शनों का अभूतपूर्व विकास हुआ है। उपनिषद्-धारा में शङ्कर का अद्वैतवेदान्त तथा बौद्ध धारा में आचार्य नागार्जुन का शून्याद्वयवाद शिखरायमाण हैं। परस्पर के वाद-विवाद ने इन दोनों धाराओं के दर्शनों को उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँचाया है। यद्यपि आचार्य शङ्कर का काल नागार्जुन से बहुत बाद का है, फिर भी नागार्जुन के समय औपनिषदिक धारा के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु उसकी व्याख्या आचार्य शङ्कर की व्याख्या से निश्चित ही भिन्न रही होगी। आचार्य नागार्जुन के आविर्भाव के बाद भारतीय दार्शनिक चिन्तन में नया मोड़ आया। उसमें नई गति और प्रखरता का उदय हुआ। वस्तुतः नागार्जुन के बाद ही भारत में यथार्थ दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ हुआ। नागार्जुन ने जो मत स्थापित किया, उसका प्रायः सभी बौद्ध-बौद्धेतर-दर्शनों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उसी के खण्डन-मण्डन में अन्य दर्शनों ने अपने को चरितार्थ किया।

बौद्धों में स्थविरवादी, वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक स्वभाव-सत्तावादी हैं। स्थविरवादी और वैभाषिक पदार्थों की त्रैकालिक सत्ता मानते हैं। सौत्रान्तिक यद्यपि त्रैकालिक अस्तित्व का निषेध करते हैं, उनके मतानुसार वस्तु की सत्ता प्रत्युत्पन्न क्षणमात्र है, फिर भी तीनों (स्थविरवादी, वैभाषिक और सौत्रान्तिक) सिद्धान्तवादी पदार्थों की द्रव्यसत्ता में प्रायः एकमत हैं। विज्ञानवादी यद्यपि वस्तु की बाह्यार्थता का निषेध करते हैं, फिर भी वे विज्ञप्तिमात्रता की पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। इन सभी के मत में सत्ता, पारमार्थिकसत्ता, स्वलक्षणसत्ता, स्वतः सत्ता आदि पर्यायवाची हैं।

वस्तुवादियों ने माध्यमिकों पर आक्षेप किया कि यदि वस्तु की सत्ता न मानो जाएगी तो संसार-निर्वाण सम्बन्धी सभी व्यवस्थाएँ विलुप्त हो जाएँगी।^१ धर्मकीर्ति ने तो यहाँ तक कह दिया कि निःस्वभावतावाद में कार्य-कारणभाव के भी अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।^२ कुछ लोगों ने अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा कि माध्यमिक और नास्तिक चार्वाकों में कोई फर्क नहीं है। जैसे चार्वाक कर्म-कर्मफल, स्वर्ग-नरक आदि का प्रतिषेध करते हैं, वैसे ही माध्यमिक भी उनकी सत्ता का निषेध करते हैं। अतः माध्यमिक नास्तिकों से भिन्न नहीं हैं।^३ आचार्य शङ्कर ने तो यहाँ तक कह दिया कि जिस निःस्वभावतावाद में साध्य-साधनभाव आदि भी सम्भव नहीं है, उस मत के निराकरण में हमारी कोई रुचि ही नहीं है।^४

इन स्वभावतः सत्तावादियों के सारे आक्षेपों के मूल में उनका निःस्वभावता और अभाव को एकार्थक समझना है। इसी तरह सत्ता और स्वभावतः सत्ता को एकार्थक समझना है। जब वस्तु की स्वभावसत्ता का निषेध किया जाता है तो उनकी दृष्टि में वस्तु का ही अभाव हो जाता है। अतः वे कहने लगते हैं कि तब उत्पाद, विनाश आदि कोई भी व्यवस्था नहीं बन हो सकेगी।

वस्तुतः नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के सम्यक् परिज्ञान के लिए शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद ये दो महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। शून्यता निषेध पक्ष है तो प्रतीत्यसमुत्पाद साधनपक्ष। प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर माध्यमिक सारी व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से सम्पादित करते हैं। शून्यता की स्थापना प्रतीत्यसमुत्पाद पर तथा प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थापना शून्यता पर निर्भर है। फलतः माध्यमिक पक्ष में किसी दोष की कोई सम्भावना नहीं है।

१. यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः।

चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ॥ द्र०—मूलमाध्यमिककारिका (२४ : १)।

२. अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरङ्कुरादिषु।

दृष्टा शक्तिमता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा ॥

द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्ष परिच्छेद का०—४।

३. अत्रैके परिचोदयन्ति—नास्तिकाविशिष्टा माध्यमिकाः। द्र०—मूलमाध्यमिककारिकाटीका, प्रसन्नपदा, पृ० १५७।

४. शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते। द्र०—शाङ्करभाष्य (२:२:३१)।

स्वातन्त्रिक माध्यमिकों में व्यवहारतः बाह्यार्थवादी तथा व्यवहारतः विज्ञप्ति-मात्रतावादी दोनों हैं, तथापि ये दोनों सभी धर्मों की परमार्थतः सत्ता का निषेध करते हैं। इनके मतानुसार सत्ता और परमार्थसत्ता में बहुत बड़ा अन्तर है। पारमार्थिक सत्ता के नहीं होने पर भी पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता हो सकती है।

प्रासङ्गिक माध्यमिक सभी पदार्थों को सर्वथा निःस्वभाव मानते हैं। इनके मतानुसार वस्तुओं की स्वलक्षणसत्ता, स्वभावसत्ता या स्वतन्त्रसत्ता व्यवहार में भी नहीं होती। अर्थात् वस्तुओं की अपनी ओर से (स्वतः) कुछ भी सत्ता नहीं होती। सभी वस्तुएँ कल्पितमात्र, नाममात्र या व्यवहारमात्र होती हैं।

माध्यमिकार्थ—मध्यम मार्ग भगवान् बुद्ध की प्रमुख देशना है। मध्यम का अर्थ है, दो अन्तों (छोरों) का परिहार। दो अन्त हैं, शाश्वत-अन्त और उच्छेद अन्त। सभी बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों ने दो अन्तों का निराकरण करके अपने मत को माध्यमिक सिद्ध किया है। यह सही है कि शाश्वत और उच्छेद अन्त की परिभाषा में उनमें मतभेद हैं। मध्यम मार्ग का अर्थ बड़ा व्यापक है। इसे जीवन के हर क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। मानव की यह प्रवृत्ति है कि वह अपने पक्ष को एक अन्त बना लेता है और उसकी अविपरीतता में अभिनिवेश करने लगता है। एक-एक व्यक्ति से लेकर व्यक्ति-समुदाय तथा राष्ट्र तक इसकी चपेट में आ जाते हैं। छोटे-मोटे कलहों से लेकर बड़े-बड़े युद्ध तक इसी अन्तग्राह के कारण घटित होते हैं। साम्प्रदायिक विद्वेषों, कलहों और धर्मयुद्धों के मूल में भी यही कारण निहित है।

नागार्जुन के अनुसार वस्तु की परमार्थतः सत्ता एक शाश्वत अन्त है तथा व्यवहारतः असत्ता दूसरा उच्छेद अन्त है। इन दोनों का परिहार कर वे अपना अनुठा मध्यम मार्ग प्रकाशित करते हैं। उनके अनुसार परमार्थ भाव नहीं है और संवृतितः या व्यवहारतः अभाव भी नहीं है^१। यही नागार्जुन का मध्यम मार्ग है।

आचार्य नागार्जुन ने भी अन्य बौद्धों की भाँति अपने मध्यम मार्ग की व्यवस्था प्रतीत्यसमुत्पाद की विशिष्ट व्याख्या के आधार पर ही की है। वे 'प्रतीत्य' शब्द द्वारा शाश्वत-अन्त का तथा 'समुत्पाद' शब्द के द्वारा उच्छेद-अन्त का परिहार करते हैं। सभी बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों ने इसका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में

१. अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम् ।

तस्माद् अस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ॥ द्र०—मूलमाध्यमिककारिका, (१५:१०) ।

व्यापक प्रयोग किया है, जैसे—(१) आचार (शील) के क्षेत्र में अतिशय भोग-परायणता एक अन्त है तो अतिशय दरिद्रता या कष्टसाध्य तपश्चरण दूसरा अन्त है । (२) समाधि के क्षेत्र में वीणा की उपमा देते हुए भगवान् ने कहा है कि तारों को ज्यादा ढीला मत रखो नहीं तो वीणा से मधुर ध्वनि उत्पन्न न होगी । तारों को अधिक कसो भी मत, नहीं तो टूट जाएँगे । इसी तरह योगी को समाधि भावना करते समय अत्यधिक उद्वेग और शिथिलता दोनों का वर्जन करना चाहिए । (३) प्रज्ञा के क्षेत्र में शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि का परिवर्जन तो कहा ही गया है । यहाँ तक कि प्रतीत्यसमुत्पाद को 'प्रज्ञाभूमि' कहा गया है ।

यद्यपि सभी बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों ने प्रतीत्यसमुत्पाद नियम को अंगीकार किया है, तथापि इस नियम को उन्होंने संस्कृत धर्मों तक ही सीमित रखा है । उनके अनुसार संस्कृत धर्म ही प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, असंस्कृत निर्वाण आदि नहीं । नागार्जुन ने इसके क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक बनाया है । इनके मतानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम सभी संस्कृत, असंस्कृत, आकाश, निर्वाण, शून्यता आदि पर समानरूप से लागू है । दोनों अन्तों का परिहार कर अन्तद्वयरहित शून्यता को भी यदि एक पक्ष या एक अन्त बना लिया जाता है, तो नागार्जुन कहते हैं कि शून्यतादृष्टि वाले ऐसे व्यक्ति का वास्तविक कल्याण असम्भव है ।^१ इसलिए पण्डित को दोनों अन्तों के मध्य में भी कहीं सद्-दृष्टि नहीं रखनी चाहिए ।^२ सद्-दृष्टि और असद्-दृष्टि का परिवर्जन मात्र शून्यता है । इसी से माध्यमिकों का विशिष्ट 'शून्यता-शून्यता' सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ । इस बारे में नागार्जुन का सुस्पष्ट अभिमत है कि यदि धर्मों का परमार्थतः अस्तित्व होगा तो वे सर्वथा हेतु-प्रत्यय-निरपेक्ष एवं अकृत्रिम हो जाएँगे । ऐसे पदार्थों का क्रमशः अथवा युगपद् अर्थक्रिया से विरोध होगा । अर्थ-क्रिया ही वस्तु के अस्तित्व की नियामक है । फलतः निरपेक्ष, नित्यवस्तु का अस्तित्व ही असम्भव है । इसी तरह परमार्थतः धर्मों का उत्पाद एवं निरोध माना जाएगा तो सारी हेतु-प्रत्ययव्यवस्था निरर्थक सिद्ध होगी । फलतः स्वतः, परतः, उभयतः या

१. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।

येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानमाध्यान् बभाषिरे ॥ द्र०—मूलमाधमिककारिका, १३:८ का० ।

२. अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता

शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता ।

तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा

मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः ॥

द्र०—आर्य-कात्यायनाववादसूत्र, प्रसन्नपदा में उद्धृत, पृ० ११८ (दरभंगासंस्करण) ।

अहेतुतः किसी भी तरह वस्तु का परमार्थतः उत्पाद सम्भव नहीं^१ और इसी कारण निरोध भी सम्भव नहीं। अतः उत्पाद, निरोध आदि की सारी व्यवस्था सांख्यावहारिक-मात्र है, वस्तुतः न कोई धर्म उत्पन्न होता है और न निरुद्ध।^२ संसार, निर्वाण, आत्मा, धर्म सभी का वास्तविक स्वरूप शून्यता ही है। ऐसा होने पर भी मार्ग, फल, बन्ध, मोक्ष आदि की सारी लौकिक एवं लोकोत्तर व्यवस्थाएँ सुचारुरूप से सम्पन्न हो जाती है।^३ इस अर्थ में प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा शून्यता और शून्यता द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की अभिव्यक्ति होने लगती है।

दो अन्तों के इस परिवर्जन से नागार्जुन के दो सत्यों का सिद्धान्त परिस्फुट होता है। उनका कहना है कि इन दो सत्यों का आश्रय ग्रहण करके भगवान् बुद्ध ने धर्म देशना की है, वे हैं—(१) संवृतिसत्य और (२) परमार्थसत्य।^४ इन्हीं में सब कुछ अन्तर्भूत हो जाते हैं, अतः कोई तीसरा सत्य नहीं है।^५ बौद्धों में चार आर्यसत्यों की चर्चा बहुधा उपलब्ध होती है, किन्तु उनका भी अन्तर्भाव इन्हीं दो में हो जाता है।^६ नागार्जुन ने ज्ञेय के आधार पर इनकी व्यवस्था की है, ऐसा बिलकुल नहीं है कि रूप, वेदना आदि कुछ पदार्थ संवृति सत्य होते हों और निर्वाण आदि कुछ परमार्थ। अपि तु

१. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥ द्र०—मूलमाध्यमिककारिका, १:३ का० ।

२ अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।

अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥ द्र०—मूलमाध्य० १:१ का० ।

३. सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।

सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते ॥ द्र०—मूलमाध्य० २४:१४ का० ।

४. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।

लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥ द्र०—मूलमाध्यमिककारिका, २४:८ (का०) ।

५. सत्य इमे दुवि लोकविदूनां दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषाम् ।

संवृति या च तथा परमार्थो सत्यु न सिध्यति किं च तृतीयु ॥

पितापुत्रसमागमसूत्र, बोधिचर्यावितारपंजिका में उद्धृत, पृ० १७५ ।

६. ननु चत्वारि आर्यसत्यानि दुःखसमुदयनिरोधमार्गलक्षणानि अभिधर्मे कथितानि भगवता, तत्कथं द्वे एव सत्ये ? सत्यम्, किं तर्हि, वैन्यजनाशयानुगयवशाद् एते द्वे एव चत्वारि कृत्वा कथितानि, अमीषां द्वयोरेवान्तर्भावात् । द्र०—बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० १७५ ।

एक ही पदार्थ दोनों सत्यों का स्वभाव धारण करता है ।^१ इनमें से एक पृथग्जनों का और दूसरा आर्य जनों का विषय होता है ।

संवृतिसत्य—यहाँ संवृति का तात्पर्य अविद्या है, जो धर्मों को सत्त्वेन ग्रहण करती है । अर्थात् स्वभावसद्-ग्राहिका बुद्धि ही संवृति है । यह रूप, वेदना आदि पदार्थों का आलम्बन कर उन्हें स्वभावतः सत् रूप में ग्रहण करती है । रूप आदि पदार्थ क्योंकि अविद्या की दृष्टि से सत्य हैं, अतः संवृतिसत्य कहलाते हैं । आर्यों के समाहित ज्ञान या तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तो घट आदि समस्त विषय एवं चक्षुर्विज्ञान आदि विषयी मिथ्या ही हैं । जो संवृतिसत्य होते हैं, उनकी व्यावहारिक सत्ता होती है और वे अविसंवादक भी होते हैं । उक्त संवृति के दो प्रकार होते हैं, यथा—तथ्य-संवृति और मिथ्यासंवृति । ये विभाजन आर्यों की दृष्टि से नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में तो सभी मिथ्या हैं, अपितु लौकिक ज्ञान की दृष्टि से ही होते हैं क्योंकि लौकिक बुद्धि द्विविध है, अतः विषयी बुद्धि के द्विविध होने से विषय भी द्विविध हैं ।

तथ्यसंवृति—घट आदि सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुएँ, जो किसी लौकिक ज्ञान या व्यावहारिक प्रामाणिक ज्ञान द्वारा बाधित नहीं हैं, तथ्यसंवृति कहलाती हैं ।

मिथ्यासंवृति—रज्जु में सर्प, मरीचि में जल तथा शुक्ति में रजत आदि वे सभी वस्तुएँ मिथ्यासंवृति हैं, जो व्यावहारिक प्रमाणज्ञानों द्वारा बाधित हो जाती हैं । अर्थात् जिनके मिथ्यात्व को व्यावहारिक जन व्यावहारिक बुद्धि द्वारा स्वयं जानते हैं ।

प्रश्न है ईश्वर, आत्मा आदि सैद्धान्तिक कल्पना द्वारा परिकल्पित विषय तथ्यसंवृति हैं या मिथ्यासंवृति । क्योंकि वे साधारण लौकिक ज्ञान द्वारा बाधित नहीं किये जा सकते, अतः मिथ्यासंवृति नहीं हो सकते । विद्वानों का विचार है कि यद्यपि वे साधारण लौकिक ज्ञान द्वारा बाधित नहीं हैं, फिर भी व्यावहारिक प्रामाणिक ज्ञान उन्हें मिथ्या प्रमाणित कर सकता है, अतः वे मिथ्यासंवृति ही हैं ।

दूसरा प्रश्न है पुद्गल या धर्मों की स्वभावसत्ता जो अविद्या का विषय है, कौन सी संवृति है ? उसे अवश्य तथ्यसंवृति होना चाहिए, क्योंकि लौकिक ज्ञानों

१. सम्यग्मृषादर्शनलब्धभावं रूपद्वयं विभ्रति सर्वभावाः ।

सम्यग्दृशां यो विषयः स तत्त्वं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम् ॥ ६०—मध्यमकावतार, ६:२३ ।

२. विनोपचातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः ।

सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या ॥

६०—मध्यमकावतार, ६ : १५ का० ।

द्वारा उसका निषेध सम्भव नहीं है। इस विषय में विद्वानों का कथन है कि अविद्या अनादि काल से व्यक्तियों की चित्तसन्तति में प्रवृत्त है, वह तात्कालिक कारणों से उत्पन्न नहीं, अपितु सहज है अतः उसका विषय मिथ्यासंवृति नहीं हो सकता। हाँ, पारमार्थिक दृष्टि से वह अवश्य मिथ्या है। अतः स्वभावसत्ता तथ्यसंवृति है।

अविद्या की दृष्टि से सत्य होना संवृतिसत्य का लक्षण है, किन्तु जो अविद्या की दृष्टि से सत्य है, वह अवश्य संवृतिसत्य हो, यह आवश्यक नहीं, जैसे—स्वभावसत्ता, क्योंकि संवृतिसत्य की व्यावहारिक सत्ता होती है। संवृतिसत्य की व्यावहारिक (संवृतितः) सत्ता होनी चाहिए। अतः घट, पट, रूप आदि पदार्थ संवृतिसत्य भी हैं और संवृतितः (व्यावहारिक) सत्य भी हैं। स्वभावसत्ता न तो संवृतिसत्य है और न संवृतितः सत्। निःस्वभावता संवृतिसत्य नहीं है, पर संवृतितः सत् है। जो भी धर्म है, वह संवृतितः सत् है, क्योंकि पारमार्थिक सत्ता किसी की भी नहीं है। लोक में जो सत्य माने जाते हैं, वे विषय तथ्यसंवृति हैं तथा जिन्हें लोक में ही मिथ्या माना जाता है, वे मिथ्यासंवृति हैं। तथ्यसंवृति होने से उसका व्यावहारिक अस्तित्व होना आवश्यक नहीं, जैसे—स्वभावसत्ता। वह तथ्यसंवृति इसलिए है, क्योंकि उसका निषेध लौकिक ज्ञान द्वारा सम्भव नहीं है'।

उपर्युक्त विषय-संवृति के दो भेद लौकिक ज्ञानों के द्विविध होने से है, अतः विषयी संवृति भी द्विविध है, यथा—विषयी मिथ्यासंवृति एवं विषयी तथ्यसंवृति।

विषयी मिथ्यासंवृति—वे सभी ज्ञान मिथ्यासंवृति हैं, जो किन्हीं कारणों से दूषित हैं, जैसे—पीत रोग, तिमिर रोग आदि। अपसिद्धान्त, हेत्वाभास, तन्द्रा आदि भी मन-इन्द्रिय को दूषित करते हैं। स्वभावसद्ग्राहिका बुद्धि (आत्मदृष्टि) यहाँ संगृहीत नहीं है, क्योंकि वह लौकिक व्यवस्था की व्याघातक नहीं है। वह सहज है।

विषयी तथ्यसंवृति—उपर्युक्त कारणों से अनुपहत षडिन्द्रियजनित ज्ञान तथ्यसंवृति हैं। इनके द्वारा गृहीत विषय लोक में यथार्थ माने जाते हैं।

परमार्थसत्य—निःस्वभावता, शून्यता, निःस्वलक्षणता परमार्थ सत्य है। इसकी विविध परिभाषाएँ विद्वानों ने की हैं। परमार्थ शब्द में 'परम' का अर्थ आर्यों के समाहित ज्ञान से है। 'अर्थ' का तात्पर्य विषय है। निःस्वभावता इसलिए

परमार्थ सत्य है, क्योंकि वह आर्यों के समाहित ज्ञान का विषय है। दूसरी परिभाषा के अनुसार जो 'परम' भी है और 'अर्थ' भी है, वह परमार्थ सत्य है। निःस्वभावता परमार्थ है, क्योंकि वह 'परम' भी है, क्योंकि वह सत्य है। यथाप्रतिभास उसकी स्थिति है और वह अविसंवादक है। सभी अर्थों में वह उत्कृष्ट है, इसलिए भी वह परमार्थ है^१।

आचार्य नागार्जुन ने दो सत्यों की व्यवस्था ज्ञेयत्व या अस्तित्व की व्याख्या के आधार पर की है। कुछ महायान सूत्रों में परमार्थसत्य को अज्ञेय और अनभिलाष्य कहा गया है^२। यहाँ तक कि उसे सर्वज्ञज्ञान का भी अविषय कहा गया है। उसका तात्पर्य यह है कि परमार्थ सत्य सभी कल्पनावृद्धि एवं शब्दों का साक्षात् विषय नहीं है। जहाँ तक सर्वज्ञ ज्ञान और आर्यों के समाहित ज्ञान का प्रश्न है, वहाँ विषय-विषयिभाव या ज्ञान-ज्ञेयत्वभाव का नहीं होना है। इसलिए उसे अज्ञेय कहा गया है।

नागार्जुनीय दर्शन के अन्य विचारणीय मुद्दे

(क) बाह्य जगत् की सत्ता, ज्ञान का स्वसंवेदनत्व आदि कुछ ऐसे विषय हैं, जिन पर बौद्ध-अबौद्ध दार्शनिकों ने व्यापक विचार किया है और जिनके आधार पर दर्शन-प्रस्थानों में भेद स्थापित हुआ है। वैदिक दर्शनों में आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद को छोड़कर प्रायः सभी बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं। बौद्धों में योगाचारों को छोड़कर स्थविरवादी, वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्यार्थसत्तावादी हैं। नागार्जुन की प्रमुख रचनाओं के परिशीलन से बाह्यार्थता के बारे में उनके स्पष्ट विचार परिलक्षित नहीं होते, फिर भी रत्नावली में उसके विषय में संकेतसूत्र प्राप्त होते हैं। वे लिखते हैं कि भगवान् बुद्ध ने विनेय जनों की ज्ञानक्षमता के अनुरूप ही धर्मोपदेश किया है। उन्होंने कुछ लोगों को 'द्वयनिश्चित', कुछ लोगों को 'द्वय-अनिश्चित' तथा कुछ लोगों को शून्यता और करुणा से गर्भित गम्भीर धर्म का उपदेश

१. परमः उत्तमः अर्थः परमार्थः, अकृत्रिमं वस्तुरूपम्, यदधिगमात् सर्वावृत्तिवासनानुसन्धि-व्लेशप्रहाणं भवति । सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटिः धर्मधातुरित्यादि-पर्यायाः । सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रूपम्, यथाप्रतिभासं सांवृतस्यानुपपन्नत्वात् । द्र०-बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० १७१ (दरभगा-संस्करण) ।

२. द्र०-आर्यसत्यद्वयावतारसूत्र, पितापुत्रसमागमसूत्र, बोधिचर्यावितारपंजिका में उद्धृत, पृ० १७७, वज्रच्छेदिका, महायानसूत्रसंग्रह, १ भाग, पृ० ८७ ।

किया है'। यहाँ 'द्वयनिश्चित' का तात्पर्य वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि से है। जो जड और चेतन (विज्ञान) दोनों की स्वभावतः सत्ता में अभिनिवेश करते हैं। 'द्वय-अनिश्चित' का तात्पर्य योगाचारों से है, जो बाह्य जड की सत्ता नहीं मानते, केवल विज्ञान की द्रव्यतः सत्ता मानते हैं। इन सबके मत में सत्ता और स्वभावसत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं है।

नागार्जुन के इस निरूपण से यह निष्कर्ष प्रतिफलित होता है कि 'द्वयनिश्चित' और 'द्वय-अनिश्चित' दोनों देशनाएँ विनेय जनों की क्षमता के अनुरूप दी गई है, यह वास्तविक या नीतार्थ देशना नहीं है। अपितु आभिप्रायिक (नेयार्थ) है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि जितनी विज्ञान की सत्ता है, उतनी ही जड की भी सत्ता है। दोनों की सत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं है। अर्थात् स्वभावतः सत्ता दोनों की नहीं है और व्यवहारिक सत्ता दोनों की है। इस तरह नागार्जुन व्यवहारतः बाह्यसत्तावादी प्रतीत होते हैं। शान्तरक्षित, जो योगाचार-माध्यमिक प्रस्थान के प्रवर्तक हैं, वे व्यवहारतः भी बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानते। इनके बारे में आगे विचार किया जाएगा।

(ख) आचार्य नागार्जुन की रचनाओं में स्वसंवेदन का स्पष्ट खण्डन उपलब्ध होता है, अतः हम कह सकते हैं कि वे स्वसंवेदन नहीं मानते। बौद्धों में सौत्रान्तिक और योगाचार स्वसंवेदन मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे घट आदि जड पदार्थ अपने प्रकाश के लिए दीपक आदि की अपेक्षा करते हैं, वैसे दीपक अपने प्रकाश के लिए अन्य दीपक आदि की अपेक्षा नहीं करता, उसी तरह ज्ञान भी अपने अस्तित्व-बोध के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। वह जैसे घट आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करता है, वैसे ही अपने अस्तित्व को भी प्रमाणित कर देता है। उसकी यह जो अन्य निरपेक्षता है, वही स्वसंवेदन है। स्वसंवेदन का खण्डन करते हुए नागार्जुन अपनी मूलमाध्यमिकारिका, विग्रहव्यावर्तनी आदि रचनाओं में कहते हैं कि यदि दीपक स्वयं अपने को और दूसरे घट आदि को प्रकाशित करेगा तो अन्धकार भी स्वयं अपने को और दूसरे घट आदि को आच्छादित करने लगेगा। ऐसी स्थिति में

१. केषाञ्चिदवदद्धमं पापेभ्यो निनिवृत्तये ।

केषाञ्चित् पुण्यसिद्ध्यर्थं केषाञ्चिद् द्वयनिश्चितम् ।

द्वयनिश्चितमेकेषां गम्भीरं भोरुभीषणम् ।

शून्यताकरुणागर्भमेकेषां बोधिसाधनम् ॥ द्र०-रत्नावली ४:९५-९६ का० ।

अन्धकार दिखाई ही नहीं देगा।^१ अतः उनका कहना है कि दीपक के दृष्टान्त से स्वसंवेदन सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः सिद्ध होता है कि नागार्जुन स्वसंवेदन नहीं मानते।

(ग) बौद्धों में आगमानुयायी विज्ञानवादी को छोड़कर कोई भी आलय-विज्ञान नहीं मानते। नागार्जुन की रचनाओं में आलयविज्ञान की चर्चा भी नहीं है। नागार्जुन ने अपने 'सूत्रसमुच्चय' में गम्भीर धर्मों की सूची दी है। वहाँ शतसाहस्रिका आदि प्रज्ञापारमितासूत्रों को गम्भीर धर्म कहा गया है, किन्तु उनमें लङ्कावतार, सन्धिनिर्मोचन आदि उल्लिखित नहीं हैं, जिनके आधार पर विज्ञानवादी विज्ञप्ति-मात्रता और आलयविज्ञान सिद्ध करते हैं। अतः प्रतीत होता है कि नागार्जुन उन्हें गम्भीर, नीतार्थसूत्र नहीं मानते, अपि तु नेयार्थसूत्र मानते हैं। अतः निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य नागार्जुन आलयविज्ञान नहीं मानते।

आचार्य आर्यदेव का मत

आर्यदेव आचार्य नागार्जुन के प्रधानतम शिष्यों में हैं। इनके और नागार्जुन के दर्शन में कुछ भी अन्तर नहीं है। उन्होंने नागार्जुन के दर्शन को ही सरल और स्पष्टरूप में प्रतिपादित किया है। इनकी रचनाओं 'चतुःशतक' प्रमुख है, जिससे 'योगाचारचतुःशतक' भी कहते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत में पूर्णतया उपलब्ध नहीं होता। सातवें से सोलहवें प्रकरण तक भोट-भाषा से संस्कृत में रूपान्तरित रूप में उपलब्ध होता है। यह रूपान्तरण भी शत-प्रतिशत ठीक नहीं है। प्रश्नोत्तर-शैली में माध्यमिक सिद्धान्त बड़े ही रोचक ढंग से आर्यदेव ने प्रतिपादित किये हैं। कुछ तो ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हें आज के विद्वान् भी उत्थापित करते हैं, जिनका आर्यदेव ने समाधान किया है। परम्परा में जितना नागार्जुन को प्रामाणिक माना जाता है, उतना ही आर्यदेव को भी। इन दोनों आचार्यों के शास्त्र माध्यमिक दर्शन के मूलशास्त्र माने जाते हैं।

१. प्रदीपः स्वपरात्मानौ सम्प्रकाशयते यदि ।

तमोऽपि स्वपरात्मानौ छादयिष्यत्यसंशयम् ॥

द्र०-मूलमाध्यमिककारिका ७:१२ का० ।

विषमोपन्यासोऽयं न ह्यात्मानं प्रकाशयत्यग्निः ।

न हि तस्यानुपलब्धिर्दृष्टा तमसोव कुम्भस्य ॥

द्र०-विग्रहव्यावर्तनी, का० ३५ ।

आचार्य बुद्धपालित का मत

माध्यमिकों की आचार्य परम्परा में आर्यदेव के बाद आचार्य बुद्धपालित ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने आचार्य नागार्जुन की प्रमुख रचना मूलमाध्यमिक कारिका पर एक प्रशस्त व्याख्या लिखी, जो 'बुद्धपालिती-टीका' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। भोटभाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है, जो 'तनग्युर' में संगृहीत है। यद्यपि इनके और नागार्जुन के मध्य आचार्य आर्यशूर और नागबोधि आदि की सम्भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं, किन्तु उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है, अतः उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विद्वानों की राय में बुद्धपालित के सिद्धान्त नागार्जुन से बिल्कुल भिन्न नहीं हैं। फिर भी वे माध्यमिक परम्परा में अत्यधिक चर्चित हैं। मूलमाध्यमिककारिका की 'न स्वतो नापि परतः' कारिका की व्याख्या करते हुए उन्होंने सर्वत्र प्रसङ्गवाक्यों का प्रयोग किया है, साधन-वाक्यों का नहीं, जैसे बौद्ध नैयायिक करते हैं। इसको लेकर आचार्य भावविवेक ने उनकी तीखी आलोचना की है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपनी प्रसन्नपदा नामक मूलमाध्यमिककारिकाटीका में भावविवेक का जमकर खण्डन किया है और युक्तिपूर्वक आचार्य बुद्धपालित का समर्थन किया है। इस तरह हम देखते हैं कि आगे चलकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक और प्रासङ्गिक माध्यमिक के रूप में जो माध्यमिकों का विकास हुआ, उसकी नींव आचार्य बुद्धपालित के समय से ही पड़ जाती है। आचार्य नागार्जुन और आर्यदेव के बारे में बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि वे प्रासङ्गिक थे या स्वातन्त्रिक। स्वयं बुद्धपालित के बारे में भी कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उन्होंने प्रसङ्ग का ही प्रयोग किया है, फिर भी वे यह नहीं जानते थे कि मैं प्रासङ्गिक हूँ। भावविवेक ने भी यद्यपि आर्यदेव के प्रसङ्ग-प्रयोग का खण्डन किया है और स्वतन्त्र हेतुओं के प्रयोग की आवश्यकता प्रतिपादित की है, फिर भी सम्भवतः वे यह नहीं जानते थे कि मैं स्वातन्त्रिक माध्यमिक हूँ। शून्यता के प्रतिपादन में मतभेद होने के कारण उन्होंने बुद्धपालित के प्रकार की आलोचना की, किन्तु शून्यता के स्वरूप के बारे में उनकी उनसे कोई भिन्नता है, सम्भवतः वे इससे अनभिज्ञ थे। चन्द्रकीर्ति के बाद ही यह विभाजन स्पष्ट होता है। चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा-व्याख्या में स्पष्ट कहा है कि एक माध्यमिक के द्वारा स्वतन्त्र हेतुओं का प्रयोग समीचीन नहीं कहा जा सकता। इसीलिए बुद्धपालित ने प्रसङ्गवाक्यों का प्रयोग किया है। उन्होंने युक्तिपूर्वक यह भी प्रतिपादित किया कि माध्यमिक को केवल प्रसङ्ग-वाक्यों का ही प्रयोग करना चाहिए। चन्द्रकीर्ति की उपर्युक्त टिप्पणियों से यह सिद्ध हो गया कि जो परमत के निराकरण के लिए केवल प्रसङ्ग-वाक्यों का

प्रयोग करते हैं, वे प्रासङ्गिक तथा जो शून्यता की स्थापना और परमत के खण्डन के लिए स्वतन्त्र हेतुओं का प्रयोग करते हैं वे स्वातन्त्रिक माध्यमिक हैं।

आचार्य भावविवेक का मत

माध्यमिक आचार्य-परम्परा में आचार्य भव्य या भावविवेक का विशिष्ट स्थान है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इन्हें प्रकाण्ड पण्डित एवं महान् तार्किक कहा है। आचार्य नागार्जुन की मूलमाध्यमिककारिका की टीका प्रज्ञाप्रदीप, मध्यमकहृदय एवं उसकी स्ववृत्ति तर्कज्वाला तथा मध्यमकार्यसंग्रह आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। तर्कज्वाला इनकी विशिष्ट रचना है, जो विद्वानों में अत्यधिक चर्चित है। इसमें उन्होंने बौद्ध एवं बौद्धेतर सभी दर्शनों की स्पष्ट एवं विस्तृत आलोचना की है। दुर्भाग्य से भावविवेक की कोई भी रचना आज संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि नागार्जुन और आर्यदेव की रचनाओं में इस बात के संकेत उपलब्ध होते हैं कि वे बाह्यार्थ की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं, किन्तु इसका उन्होंने स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया है। आचार्य भावविवेक ने प्रज्ञाप्रदीप में विज्ञानवाद का खुलकर खण्डन किया है और बाह्यार्थ की सत्ता स्थापित की है। उनका कहना है कि लङ्कावतार, दशभूमक आदि किसी भी सूत्र का अभिप्राय विज्ञप्तिमात्रता नहीं है। यहाँ तक कि निबाह्यार्थता किसी भी सूत्र का अभिप्राय नहीं है। फलतः भावविवेक निश्चित-रूप से व्यवहार में बाह्यार्थवादी हैं।

विज्ञानवादी सन्धिनिर्मोचनसूत्र के आधार पर तीन स्वभावों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि प्रज्ञापारमितासूत्रों में जो सभी धर्मों को निःस्वभाव कहा गया है, उसका तात्पर्य परिकल्पित के लक्षणनिःस्वभाव, परतन्त्र के उत्पत्तिनिःस्वभाव तथा परिनिष्पन्न के परमार्थनिःस्वभाव होने से है^१, न कि सभी धर्म समानरूप से निःस्वभाव हैं।

आचार्य भावविवेक विज्ञानवादियों से पूछते हैं कि आप जिस परिकल्पित स्वभाव को लक्षणनिःस्वभाव कहते हैं, वह परिकल्पित स्वभाव क्या है? यदि वह

१. आत्मनस्तर्कशास्त्रातिकौशलमात्रमाविश्चकीर्षया अङ्गीकृतमध्यकदर्शनस्यापि यत्स्वतन्त्र-प्रयोगवाक्याभिधानं तदतितरामनेकदोषसमुदायास्पदमस्य तार्किकस्योपलभ्यते। द्र०—प्रसन्नपदा, मूलमाध्यमिककारिकाटीका, चन्द्रकीर्तिकृता, पृ० ८।

२. त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।

सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता ॥

द्र०—त्रिशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, २३ का०।

शब्द और कल्पना है तो उनको लक्षणनिःस्वभाव कहने से आप पर वस्तु का अपवाद करने का दोष होगा, क्योंकि शब्द और कल्पना पाँच स्कन्धों में संगृहीत वस्तु हैं। यदि आप उनके द्वारा आरोपित अर्थ को लक्षणनिःस्वभाव कहते हैं तो इस पर हमारा कहना है कि जब वे मरीचि में जल या शुक्ति में रजत या रज्जु में सर्प का आरोप करते हैं तब निश्चित ही वे जल, रजत या सर्प निःस्वलक्षण (लक्षण-निःस्वभाव) हैं, किन्तु जब वे जल को जल के रूप में या शुक्ति को शुक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं, तब निश्चय ही जल, रजत या सर्प निःस्वलक्षण नहीं हैं।

इस पारस्परिक आरोप-प्रत्यारोप से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य भावविवेक व्यवहार में वस्तु की स्वलक्षणसत्ता स्वीकार करते हैं। वे स्वलक्षणसत्ता को शून्यता का प्रतिषेध नहीं मानते, अपितु उनके मतानुसार परमार्थतः स्वलक्षण-सत्ता शून्यता का प्रतिषेध है। नागार्जुन आदि के शास्त्रों में जिस निःस्वभावता की चर्चा है, भावविवेक उसका अभिप्राय परमार्थतः निःस्वभावता लेते हैं। इनके अनुसार स्वलक्षणसत्ता और परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता में अत्यधिक अन्तर है। आचार्य ने अपनी रचनाओं में स्वसंवेदन का आगम और युक्ति द्वारा विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। इस तरह वे स्वसंवेदन नहीं मानते। भावविवेक व्यवहार में सौत्रान्तिकों की पदार्थव्यवस्था स्वीकार करते हैं। अतः इनके मतानुसार बाह्य पदार्थ इन्द्रिय-विज्ञानों के आलम्बन-प्रत्यय होते हैं और इन्द्रिय-विज्ञान बाह्यार्थाकार उत्पन्न होते हैं। विज्ञानगत आकार सत्य है। अर्थात् वे सत्याकार (साकार) विज्ञान स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादियों के आलयविज्ञान का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि आलय-विज्ञान के नाम पर विज्ञानवादियों ने दूसरे प्रकार से तैर्थिकों की आत्मा को ही स्वीकार कर लिया है। आलयविज्ञान न मानने पर क्लिष्टमनोविज्ञान मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः वे षड्विज्ञानवादी हैं।

स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के दो भेद हैं, सौत्रान्तिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक। भावविवेक सौत्रान्तिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक हैं। योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य शान्तरक्षित हैं, जिनका वर्णन आगे किया जाएगा। स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत में धर्मों की यद्यपि पारमार्थिक सत्ता नहीं मानी जाती, फिर भी व्यवहार में उनकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है। इसका अर्थ है—व्यवहार में वस्तुओं की स्ववशस्थिति। यही कारण है कि ये लोग स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करते हैं, क्योंकि पक्ष, हेतु, व्याप्ति, दृष्टान्त आदि की व्यावहारिक स्वभाव सत्ता ये मानते हैं। इनके मतानुसार पदार्थों का अस्तित्व विषय और विषयी (बुद्धि) दोनों की अपेक्षा से होता है। अर्थात् पदार्थों की सत्ता निर्दोष

बुद्धि द्वारा भी स्थापित होती है और वस्तुवश भी। शशशृङ्ग, आकाशपुष्प आदि विसंवाद बुद्धि द्वारा स्थापित हैं, अतः इनका व्यवहार में भी अस्तित्व नहीं है। घट, पट आदि धर्म ऐसे नहीं हैं, अतः इनकी व्यावहारिक सत्ता है, हाँ, इनका पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है।

व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता स्वीकार करने के कारण स्वातन्त्रिक माध्यमिक परतः उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। परतः उत्पत्ति का अर्थ है—स्वलक्षणतः सिद्ध भिन्न कारण से स्वलक्षणतः सिद्ध भिन्न कार्य की उत्पत्ति। नागार्जुन ने मूल-माध्यमिककारिका में स्वतः, परतः, उभयतः और अहेतुतः चारों प्रकार से उत्पत्ति का निषेध किया है। स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को परतः उत्पत्ति का निषेध करते समय कठिनाई का सामना करना पड़ा। फलतः भावविवेक को परतः उत्पत्ति के निषेध में 'परमार्थतः' इस विशेषण का प्रयोग करना पड़ा। अर्थात् परमार्थतः परतः उत्पत्ति नहीं होती। परतः उत्पत्ति निषेध के लिए प्रयुक्त 'परमार्थतः' इस विशेषण का प्रयोग भावविवेक ने फिर चारों प्रकार से उत्पत्ति के निषेध में किया। अर्थात् परमार्थतः स्वतः, परतः, उभयतः और अहेतुतः उत्पत्ति नहीं होती। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा में उत्पत्तिनिषेध में 'परमार्थतः' इस विशेषण की निरर्थकता सिद्ध करते हुए भावविवेक की जमकर आलोचना की है।^१

आचार्य चन्द्रकीर्ति का मत

आचार्य चन्द्रकीर्ति प्रासङ्गिक माध्यमिक मत के प्रबल समर्थक हैं। आचार्य बुद्धपालित द्वारा नागार्जुन की मूलमाध्यमिककारिका की व्याख्या के प्रसंग में स्वतः परतः आदि चतुष्कोटिक उत्पत्ति का निषेध करते समय केवल प्रसङ्ग-वाक्यों का ही प्रयोग किया गया था। इस पर भावविवेक ने अनेक आक्षेप दिये। उनका कहना है कि केवल प्रसङ्ग-वाक्यों के द्वारा परवादी को शून्यता का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। अतः स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग आवश्यक है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि असली माध्यमिक को स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग नहीं करना चाहिए।^२ स्वलक्षण-

१. किमर्थं पुनरत्र परमार्थत इति विशेषणमुपादीयते ? लोकसंवृत्याभ्युपगतस्य उत्पादस्य अप्रतिषिध्यमानत्वात्, प्रतिषेधे च अभ्युपेतबाधाप्रसंगादिति चेद्, नैतद् युक्तम्। संवृत्यापि स्वत उत्पत्त्यनभ्युपगमात् ।... इति सर्वथा विशेषणवैफल्यमेव निश्चीयते । द्र०-प्रसन्नपदा, पृ० ८-९ ।

२. न च माध्यमिक सतः स्वतन्त्रमनुमानं कर्तुं युक्तं पक्षान्तराभ्युपगमाभावात् । द्र०-प्रसन्नपदा, पृ० ५ ।

सत्ता स्वीकार करने पर ही स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग सम्भव है। स्वलक्षणसत्ता स्वीकार कर भावविवेक ने बड़ी गलती की है। वस्तुतः वे नागार्जुन के अभिप्राय को ठीक से समझ नहीं सके।

आचार्य चन्द्रकीर्ति की अनेक रचनाएँ हैं, जिनमें मूलमाध्यमिक-कारिका की टीका प्रसन्नपदा, आर्यदेव के चतुःशतक की टीका, मध्यमकावतार एवं उसकी स्ववृत्ति प्रमुख हैं। इन रचनाओं के द्वारा चन्द्रकीर्ति ने नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की सही समझ पैदा की। उन्हीं के बाद लोग जान सके कि स्वलक्षणसत्ता मानना चाहिए या नहीं और स्वातन्त्रिक अनुमान का प्रयोग उचित है या नहीं—इत्यादि।

आचार्य चन्द्रकीर्ति के मतानुसार स्वभावसत्ता, स्वलक्षणसत्ता, पारमार्थिक सत्ता और द्रव्यसत्ता आदि शब्द पर्यायवाची हैं। ये सब शून्यता के प्रतिषेध्य हैं। स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में भी आचार्य चन्द्रकीर्ति नहीं मानते, जैसा कि भावविवेक मानते हैं। उनका कहना है कि घट, पट आदि धर्म या पुद्गल आदि, जिनका व्यवहार होता है, उन व्यवहृत अर्थों का परीक्षण या अन्वेषण करने करने पर यदि उपलब्धि हो तो उनकी स्वलक्षणसत्ता मानी जा सकती है। किन्तु अन्वेषण करने पर किसी की भी उपलब्धि नहीं होती। अतः सभी धर्म निःस्वलक्षण या निःस्वभाव होते हैं। उनकी सत्ता कल्पितमात्र, प्रज्ञप्तमात्र, नाममात्र या व्यवहारमात्र है। शिलापुत्रक के शरीर और राहु के सिर का दृष्टान्त देते हुए वे अपनी बात स्पष्ट करते हैं कि जैसे सिर से अतिरिक्त राहु या शरीर के अतिरिक्त शिलापुत्र उपलब्ध नहीं होते, फिर भी लोक में व्यवहार होता है, इसी तरह सभी धर्म व्यवहारमात्र हैं। रथ की उपमा देकर वे यह स्पष्ट करते हैं कि जैसे रथ के अवयवों से अतिरिक्त 'रथ' नामक कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती, फिर भी व्यवहार होता है, उसी तरह पुद्गल और धर्म किसी की भी सत्ता नहीं है, केवल नाममात्र एवं व्यवहार मात्र उनका अस्तित्व है।

वस्तु की अपनी ओर से कुछ भी सत्ता नहीं होती, फिर भी लोगों को ऐसी प्रतीति होती है, मानों वस्तु की अपनी ओर से (स्वतः) सत्ता है। इस प्रकार ग्रहण करनेवाली बुद्धि अविद्या है। किसी सिद्धान्त से प्रभावित बिना हुए यदि ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है तो इसे सहज अविद्या कहते हैं तथा सिद्धान्त के वश से उत्पन्न होनेवाली ऐसी बुद्धि परिकल्पित अविद्या कहलाती है।

उपर्युक्त प्रकार की खोज करने पर सस्वभाववादी उपलब्धि मानते हैं। इसलिए वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त पुद्गल के बारे में अपना-

अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वात्सीपुत्रीय द्रव्यतः सन् एवं अनिर्वचनीय पुद्गल मानते हैं। सौत्रान्तिक सूक्ष्म मनोविज्ञान को, विज्ञानवादी आलयविज्ञान को तथा स्वातन्त्रिक माध्यमिक मनोविज्ञान को पुद्गल मानते हैं। तैथिक नित्य, शाश्वत, कूटस्थ आत्मा की सत्ता मानते हैं। चन्द्रकीर्ति इस तरह परीक्षा करने पर संस्कृत, असंस्कृत आदि किसी भी पदार्थ की उपलब्धि नहीं मानते। उनके अनुसार सभी धर्म प्रज्ञप्तमात्र हैं। स्वलक्षणसत्ता को व्यवहार में भी नहीं मानने पर भी चन्द्रकीर्ति प्रज्ञप्तमात्र सत्ता के आधार पर संसार, निर्वाण, बन्ध, मोक्ष आदि सभी लौकिक-लोकोत्तर व्यवस्थाएँ ठोक से सम्पादित करते हैं। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि हम नास्तिक नहीं, अपितु प्रतीत्यसमुत्पादवादी हैं और उसके आधार पर सभी व्यवस्था बन जाती हैं^१।

चन्द्रकीर्ति प्रसङ्ग-वाक्यों का प्रयोजन परवादी को अनुमान-विरोध दिखलाना मानते हैं। प्रतिवादी जब अपने मत में विरोध देखता है तो उससे हटता है। यदि विरोध दिखलाने पर भी नहीं हटेगा तो स्वातन्त्रिक लिङ्ग के प्रयोग से भी उसे नहीं हटाया जा सकता। अतः स्वतन्त्र अनुमान-प्रयोग व्यर्थ है। प्रसङ्ग-प्रयोग ही उचित है^२। स्वतन्त्र लिङ्ग नहीं मानने पर भी वे परप्रसिद्ध अनुमान मानते हैं, जिसके धर्मी, पक्षधर्मता आदि प्रतिपक्षी को मान्य होते हैं। न्यायपरम्परा में उभय-प्रसिद्ध अनुमान का प्रयोग होता है। अर्थात् दृष्टान्त आदि वादी-प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिए। किन्तु चन्द्रकीर्ति यह आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि यह उभयप्रसिद्धि स्वतन्त्र हेतु को मानने पर निर्भर है। स्वतन्त्र हेतु स्वलक्षण-सत्ता मानने पर निर्भर है। स्वलक्षणसत्ता मानने से सारा गड़बड़ी हो जाती है। अतः चन्द्रकीर्ति के अनुसार भावविवेक ने स्वलक्षणसत्ता मानकर नागार्जुन के दर्शन को विकृत कर दिया है। केवल प्रसङ्ग का प्रयोग पर्याप्त है और उसी से परप्रतिज्ञा का निषेध हो जाता है^३।

१. तस्मान्नस्तिकाविशिष्टा माध्यमिका इति ? नैवम्, कुतः ? प्रतीत्यसमुत्पादवादिनो हि माध्यमिकाः । हेतुप्रत्ययान् प्राप्य प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात् सर्वमेव इहलोकपरलोकं निःस्वभावं वर्णयन्ति । द्र०-प्रसन्नपदा, पृ० १५६ ।

२. सर्वमेतद् दूषणमयुज्यमानं वयं पश्यामः । कथं कृत्वा...अथ स्वाभ्युपगमविरोधचोदनयापि परो न निवर्तते, तदा निर्लज्जतया हेतुदृष्टान्तान्ताभ्यामपि नैव निवर्तते । न चोन्मत्तकेन सहास्माकं विवाद इति । द्र०-प्रसन्नपदा, पृ० ५ ।

३. परप्रतिज्ञानिषेधफलत्वादस्मदनुमानानाम् । द्र०-प्रसन्नपदा, पृ० ११ ।

चन्द्रकीर्ति के मत में सभी धर्म निःस्वभाव हैं। वे वस्तुओं की सत्ता प्रज्ञप्त-मात्र मानते हैं। वे बाह्यार्थ को यद्यपि सस्वभाव नहीं मानते, फिर भी व्यवहार में उसकी सत्ता मानते हैं। इस प्रकार व्यवहार में वे बाह्यार्थवादी हैं। आलयविज्ञान का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि विज्ञानवादियों के आलयविज्ञान एवं ईश्वर-वादियों के ईश्वर में फर्क सिर्फ इतना है कि विज्ञानवादी आलयविज्ञान को अनित्य और ईश्वरवादी ईश्वर को नित्य मानते हैं। इस तरह वे आलयविज्ञान नहीं मानते, फलतः क्लिष्ट मनोविज्ञान भी नहीं मानते। इस तरह वे षड्विज्ञानवादी हैं। चन्द्रकीर्ति के अनुसार ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय पर तथा ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञान पर आश्रित है। दोनों की सिद्धि परस्पराश्रित है। दोनों (ज्ञान और ज्ञेय) निःस्वभाव हैं। अतः ज्ञान के अस्तित्व के प्रामाण्य के लिए स्वसंवेदन मानना आवश्यक नहीं है। इस तरह वे स्वसंवेदन भी नहीं मानते।

आचार्य शान्तरक्षित का मत

आचार्य प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य हैं। उन्होंने 'योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक' दर्शन-प्रस्थान की स्थापना की। उनका एक मात्र ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' संस्कृत में उपलब्ध है। उन्होंने 'मध्यमकालङ्कार' नामक माध्यमिक ग्रन्थ और उस पर स्ववृत्ति की रचना की है। इन्हीं ग्रन्थों में उन्होंने अपने विशिष्ट माध्यमिक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। किन्तु ये ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य हरिभद्र एवं कमलशील उनके शिष्य हैं। आचार्य हरिभद्र विरचित अभिसमयालङ्कार की आलोक टीका एवं उसीकी वृत्ति 'स्फुटार्था' संस्कृत में उपलब्ध है। कमलशील का मध्यमकालोक संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। भावनाक्रम अब उपलब्ध है। ये सभी ग्रन्थ भोटभाषा में उपलब्ध हैं।

आचार्य शान्तरक्षित ने बाह्यार्थविषयक भावविवेक के मत का अपनी रचनाओं में विस्तार से खण्डन किया है और व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना की है। इसके लिए उन्होंने सन्धिनिर्मोचनसूत्र एवं लङ्कावतारसूत्र आदि सूत्रों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। उनका कहना है कि नागार्जुन का यही वास्तविक अभिप्राय है।

यद्यपि आचार्य शान्तरक्षित निर्बाह्यार्थवादी हैं, फिर भी बाह्यार्थबून्यता उनके मत में परमार्थसत्य नहीं है। अपितु वह संवृतिसत्य या व्यवहारसत्य है। ज्ञानगत आकार को वे सत्य मानते हैं, अतः व्यवहार में वे सत्याकार या साकार विज्ञानवादी हैं। विज्ञानवाद का शान्तरक्षित पर अत्यधिक प्रभाव है। व्यवहार में विज्ञानवादी

होते हुए भी वे विज्ञप्तिमात्रता को परमार्थ सत्य नहीं मानते। भावविवेक की भाँति वे भी 'परमार्थत निःस्वभावता' को परमार्थ सत्य स्वीकार करते हैं। वे चन्द्रकीर्ति की निःस्वलक्षणता को परमार्थसत्य नहीं मानते। उनके मतानुसार स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में होती है। अतः भावविवेक और शान्तरक्षित दोनों स्वातन्त्रिक माध्यमिक कहे जाते हैं। स्वलक्षणसत्ता मानने के कारण वे भावविवेक की भाँति स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग भी स्वीकार करते हैं। आलयविज्ञान के बारे में शान्तरक्षित के मत का स्पष्ट संकेत उनकी रचनाओं से नहीं लगता, फिर भी आचार्य चोंखापाजी के अनुसार वे आलयविज्ञान नहीं मानते। स्वसंवेदन का प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में स्पष्ट रूप से एवं प्रबल युक्तियों से किया है। अतः वे स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं।

ग्रन्थकार आचार्य शान्तिदेव

माध्यमिक आचार्यों में आचार्य शान्तिदेव अन्यतम हैं। इनकी रचनाएँ अत्यन्त प्राञ्जल एवं भावप्रवण हैं, जो पाठक के हृदय का स्पर्श करती हैं और उसे प्रभावित करती हैं। महायान धर्म और माध्यमिक दर्शन के प्रसार में इनका अपूर्व योगदान है।

दार्शनिक मान्यता—माध्यमिकों में भी सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वातन्त्रिक और प्रासंगिक भेद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। स्वातन्त्रिक माध्यमिकों में भी सूत्राचार स्वातन्त्रिक और योगाचार स्वातन्त्रिक भेद हैं। आचार्य शान्तिदेव प्रासङ्गिक मत के प्रबल समर्थक हैं। विचारों और तर्कों में ये आचार्य चन्द्रकीर्ति का अनुगमन करते हैं। इनकी रचनाओं में बोधिचर्यावतार प्रमुख है। इसमें दस परिच्छेद हैं। नौवें प्रज्ञा-पारमिता परिच्छेद में इनकी दार्शनिक मान्यताएँ परिस्फुट हुई हैं। इस परिच्छेद में संवृत्ति और परमार्थ इन दो सत्यों का इन्होंने स्पष्ट प्रतिपादन किया है, इस निरूपण में इनका चन्द्रकीर्ति से कुछ भी अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता।

मूल सैद्धान्तिक आधार पर माध्यमिकों में दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में वे माध्यमिक दार्शनिक परिगणित होते हैं, जो पदार्थों की स्वलक्षणसत्ता स्वीकार करते हैं और परमार्थतः उनकी निःस्वलक्षणता या निःस्वभावता मानते हैं, जिसे वे शून्यता कहते हैं। दूसरे वर्ग में वे दार्शनिक हैं, जो स्वलक्षणता कथमपि नहीं मानते और उस निःस्वलक्षणता को ही शून्यता कहते हैं। इनमें प्रथम वर्ग के माध्यमिक स्वातन्त्रिक तथा द्वितीय वर्ग के माध्यमिक प्रासङ्गिक कहलाते हैं। इनकी मान्यताओं में आधारभूत अन्तर है, जिसकी ओर माध्यमिक दर्शन के जिज्ञासुओं का ध्यान

जाना चाहिए। व्यवहार में किसी धर्म या उसकी सत्ता को स्वीकार करना या न करना वह अन्तर नहीं है, अपितु उस 'निषेध्य' के स्वरूप में अन्तर है, जिसका निषेध शून्यता कहलाती है तथा जिसके निषेध से सारी व्यवस्थाएँ सम्पन्न होती हैं। वस्तुतः स्वतन्त्र हेतुओं का प्रयोग या अप्रयोग भी इसी निषेध्य पर आश्रित है। शून्यता के सम्यक् परिज्ञान के लिए उसके निषेध्य को सर्वप्रथम जानना परमावश्यक है, अन्यथा उसका अभ्रान्त ज्ञान असम्भव है^१। बिना निषेध्य को ठीक से जाने शून्यता का विचार निरर्थक होगा और ऐसी स्थिति में शून्यता का अर्थ अत्यन्त तुच्छता या नितान्त अलीकता ग्रहण कर लेने की सम्भावना रहती है। इसीलिए आचार्य नागार्जुन ने आगाह किया है—

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम् ।

सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ॥^२

जब स्वभावसत्ता या स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है तो उसका यह अर्थ कतई नहीं होता कि स्वलक्षण सत्ता कहीं हो और पुरःस्थित किसी धर्म में, यथा—घट या पट में उसका निषेध किया जाता हो। अथवा शश (खरगोश) कहीं है और शृङ्ग भी कहीं है, किन्तु उन दोनों की किसी एक स्थल में विद्यमानता का निषेध किया जाता हो, अपितु सभी धर्मों अर्थात् वस्तुमात्र में स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है। कहने का आशय यह है कि घट स्वयं या पट स्वयं स्वलक्षणसत्ता-वान् नहीं है। इसी तरह कोई भी धर्म स्वभावतः सत् या स्वतः सत् नहीं है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि वस्तु किसी भी रूप में नहीं है। स्वभावतः सत् नहीं होने पर भी वस्तु का अपलाप नहीं किया जाता, अपि तु सापेक्ष या निःस्वभाव अस्तित्व के आधार पर कार्यकारण, बन्ध-मोक्ष आदि सारी व्यवस्थाएँ सम्पन्न होती हैं। यद्यपि सभी धर्म स्वलक्षणतः या स्वभावतः सत् नहीं हैं, फिर भी वे अविद्या के कारण स्वभावतः सत् रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और स्वभावतः सत् के रूप में उनके प्रति अभिनिवेश भी होता है। धर्म जैसे प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनका वैसा अस्तित्व नहीं होता। उनके यथादर्शन या प्रतीति के अनुरूप अस्तित्व में तार्किक बाधाएँ हैं। अतः अविद्या या अज्ञान के विषय को बाधित करना ही निषेध का तात्पर्य है।

इस तरह आचार्य शान्तिदेव ने निःस्वभावता के आधार पर जन्म-मरण, पाप-पुण्य आदि की व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसी तरह अत्यन्त

१. कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते ।

द्र०—बोधिचर्यावितार, ९ : १४० पृ० ५१८ (प्रस्तुत ग्रन्थ) ।

२. मूलमाध्यमिककारिका, २४ : ११ पृ० २१६ (दरभंगा-संस्करण) ।

सरल भाषा में उन्होंने स्वसंवेदन के बिना स्मरण की उपपत्ति, व्यवहृतार्थ का अन्वेषण करने पर उसकी अनुपलब्धि तथा अविचारित-रमणीय लोकप्रसिद्धि के आधार पर सारी व्यवस्थाओं का सुन्दर प्रतिपादन किया है। व्यावहारिक सत्ता पर उनका सर्वाधिक जोर इसलिए भी है कि जागतिक व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकें।

वस्तुवादियों का कहना है कि आप (माध्यमिकों) के अनुसार सभी धर्म मायोपम हैं, सभी सत्त्व (प्राणी) मायोपम हैं। यहाँ तक कि बुद्ध भी मायोपम हैं। ऐसी स्थिति में पहला प्रश्न यह है कि यदि बुद्ध भी मायोपम हैं तो उनके सत्कार, पूजा, पादवन्दन आदि से पुण्य और उनके असत्कार, अपकार आदि से पाप कैसे होंगे। क्योंकि मायिक या स्वापिक किसी पुद्गल के सत्कार, तिरस्कार आदि से पाप-पुण्य आदि नहीं हुआ करते ?

माध्यमिकों का कहना है कि जैसे तुम्हारे (पूर्वपक्षी) के मतानुसार परमार्थसत् भगवान् की पूजा से परमार्थसत् पुण्य होता है, वैसे ही हमारे (माध्यमिक के) मतानुसार मायोपम भगवान् की पूजा से मायोपम पुण्य होगा। इसमें फर्क क्या है ? प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम अर्थात् इस हेतु से यह फल होगा, यह नियम दोनों पक्षों में समानरूप से लागू है।

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि सत्त्व (प्राणी) मायोपम हैं तो मरने के बाद कौन उत्पन्न होगा ? क्योंकि माया द्वारा निर्मित मायिक पुरुष तो कभी मर कर पैदा नहीं होता ? अतः सत्त्वों को मायोपम मानना युक्तिसङ्गत नहीं है।

माध्यमिकों का कहना है मायिक दृश्य भी तब तक दिखलाई पड़ते हैं, जब तक मन्त्र, औषधि आदि उनकी कारण-सामग्री विद्यमान होती है। इसी तरह जब तक अविद्या, तृष्णा आदि कारण-सामग्री विद्यमान होती है, तब तक प्राणी की सन्तति भी चलती रहती है और यह सब कुछ प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से होता है।

इसमें एक दिक्कत यह है कि माया तो जल्दी निवृत्त हो जाती है, किन्तु प्राणी की सन्तति तो तब तक चलती रहती है, जब तक संसार रहता है। माध्यमिकों का कहना है कि बहुत काल तक चलते रहना किसी वस्तु के सही (सम्यक्) होने की कसौटी नहीं है। यह सब कुछ कारण-सामग्री पर निर्भर है। यदि किसी की कारण-सामग्री दीर्घ काल तक विद्यमान रहती है तो वह वस्तु दीर्घकाल तक रहेगी। यदि कारण-सामग्री अल्प काल तक स्थित रहती है तो वह

वस्तु अल्प काल तक रहेगी । अतः प्राणियों के मायासदृश होने पर भी पुनर्जन्म का अभाव नहीं है । अर्थात् मायोपम मानने वालों के मत में भी पुनर्जन्म सिद्ध है ।

तीसरा प्रश्न है कि जैसे स्वप्न में उपलब्ध या माया द्वारा निर्मित पुरुष की हत्या से कोई पाप नहीं होता, वैसे संसार में घूमने-फिरने वाले पुरुष की हत्या से भी आप (माध्यमिकों) के मतानुसार कोई पाप नहीं होना चाहिए ।

माध्यमिकों का उत्तर है कि मायापुरुष (माया द्वारा निर्मित पुरुष) में चित्त नहीं होता । निःस्वभाव होने पर भी सांसारिक प्राणी में चित्त होता है । अर्थात् सांसारिक पुरुष में मायावत् चित्त होता है । इसलिए उसकी हत्या से पाप होता है । मायिक पुरुष के घात से भी यद्यपि प्राणातिपात का पातक नहीं लगता, फिर भी हिंसा-चित्त के उत्पाद से कुछ अशुभ तो होता ही है । इन्हीं सब बातों को आचार्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

मायोपमाज्जिनात् पुण्यं सद्भावेऽपि कथं यथा ।
यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः ॥
यावत्प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते ।
दीर्घसन्तानमात्रेण कथं सत्त्वोऽस्ति सत्यतः ॥
मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापकम् ।
चित्तमायासमेते तु पापपुण्यसमुद्भवः ॥

यद्यपि सभी पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता होती है, फिर भी व्यवहृतार्थ का अन्वेषण करने पर उनकी उपलब्धि नहीं होती । अतः परमार्थतः अनुपलम्भ है, किन्तु व्यावहारिक सत्ता होती है ।

तथा हि—

यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद् भागशः कृतः ।
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः ॥^२

अपि च,

कल्पना कल्पितं चेति द्वयमन्योऽन्यनिश्चितम् ।
यथाप्रसिद्धमाश्रित्य विचारः सर्व उच्यते ॥^३

१. द्र० बोधिचर्यावतार, ९ : ९, १०, ११ पृ० ३५८-३६१ (प्रस्तुत संस्करण) ।

२. द्र०—बोधिचर्यावतार, ९ : ७५, पृ० ४४३ (प्रस्तुत ग्रन्थ) ।

३. द्र०—बोधिचर्यावतार, ९ : १०९ पृ० ४८२ (प्रस्तुत ग्रन्थ) ।

जीवन-परिचय—आचार्य शान्तिदेव सातवीं शताब्दी के माने जाते हैं। ये सौराष्ट्र के निवासी थे। बुस्तोन के अनुसार ये वहाँ के राजा कल्याण वर्मा के पुत्र थे। इनके बचपन का नाम शान्तिवर्मा था। यद्यपि वे युवराज थे, किन्तु भगवती तारा की प्रेरणा से उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया। कहा जाता है कि स्वयं बोधिसत्त्व मञ्जुश्री ने योगी के रूप में उन्हें दीक्षा दी और वे भिक्षु बन गए।

रचनाएँ—प्रसिद्ध इतिहासकार भोटदेशीय विद्वान् लामा तारानाथ के अनुसार उनकी तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, यथा—बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय और सूत्र-समुच्चय। बोधिचर्यावतार सम्भवतः उनकी अन्तिम रचना है, क्योंकि अन्य दो ग्रन्थों का उल्लेख स्वयं आचार्य ने बोधिचर्यावतार में किया है। महापण्डित दीपंकर श्रीज्ञान की रचनाओं से भी इस बात की पुष्टि होती है। शिक्षासमुच्चय के अनेक अंशों का उद्धरण उन्होंने किया है। इस ग्रन्थ को वे शान्तिदेव की ही कृति समझते हैं। बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति भी उक्त ग्रन्थों को आचार्य शान्तिदेव की ही रचना मानते हैं। इसका अन्तरङ्ग प्रमाण यह है कि बोधिचर्यावतार और शिक्षा-समुच्चय की अनेक गाथाओं में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है।^१ इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार में स्वयं आचार्य कहते हैं कि मेरे शिक्षासमुच्चय और सूत्रसमुच्चय का बार-बार अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि उनमें बोधिसत्त्व के आचरणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। तथा हि—

शिक्षासमुच्चयोऽत्रयं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।

विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः॥

संक्षेपेणाथवा तावत् पश्येत् सूत्रसमुच्चयम्।^२

आचार्य प्रज्ञाकरमति अपनी बोधिचर्यावतारपञ्जिका में भी इसका उल्लेख करते हैं—

शिक्षासमुच्चयोऽपि स्वयमेभिरेव कृतः। नानासूत्रैकदेशानां समुच्चयमेभिरेव कृतं संक्षेपेण पश्येत्।^३

इन सब अन्तःसाक्ष्यों से सिद्ध होता है कि इन ग्रन्थों के रचयिता आचार्य शान्तिदेव ही हैं। बोधिचर्यावतार से एक और तथ्य का उद्घाटन होता है कि आचार्य नागार्जुन द्वारा भी एक सूत्रसमुच्चय का प्रणयन किया गया था—

१. द्र०—बोधिचर्यावतार, ८ : ९५ पृ० २८९।

२. द्र० बोधिचर्यावतार, ५ : १०५-१०६ पृ० १५१।

३. द्र०—बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ७९ (दरभंगा-संस्करण)।

आर्यनागार्जुनावद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः ।^१

इसकी व्याख्या में विद्वानों में मतभेद हैं। पंजिका में आचार्य प्रज्ञाकरमति कहते हैं कि आचार्य नागार्जुन द्वारा भी एक भिन्न शिक्षासमुच्चय और एक भिन्न सूत्रसमुच्चय लिखा गया था, तथा हि—

आर्यनागार्जुनपादैर्निबद्धं द्वितीय शिक्षासमुच्चयं सूत्रसमुच्चयं पश्येत्, प्रयत्नतः आदरतः ।^२

किन्तु अनेक विद्वानों को यह अर्थ सम्यक् प्रतीत नहीं होता। उनका कहना है कि 'द्वितीय' इस पद का द्वितीय सूत्रसमुच्चय से ही तात्पर्य है, शिक्षासमुच्चय से नहीं, क्योंकि कारिका के पूर्वार्ध में सूत्रसमुच्चय का ही उल्लेख है। आचार्य शान्तिदेव के सूत्रसमुच्चय की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। इनके अतिरिक्त शारीपुत्र-अष्टक एक और (चौथे) ग्रन्थ को भी आचार्य शान्तिदेव की रचना के रूप में सूचना उपलब्ध होती है, पर यह सन्दिग्ध है ।^३

सर्वप्रथम बोधिचर्यावितार का प्रकाशन रूसी विद्वान् आई० पी० मिनायेव ने किया। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने बाद में बुद्धिष्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जरनल में इसे प्रकाशित किया। फ्रेंच अनुवाद के साथ प्रज्ञाकरमति की टीका ला वली पूसें ने विब्लिओथिका इण्डिका में सन् १९०२ में प्रकाशित की। नांजियो के कैटलाग में बोधिचर्यावितार की एक भिन्न व्याख्या है। उसमें तीन ताल पत्र उपलब्ध हुए, जिनमें शान्तिदेव का जीवन-चरित दिया हुआ है। इसके अनुसार शान्तिदेव किसी राजा के पुत्र हैं। राजा का नाम मञ्जुवर्मा लिखा हुआ है। तारानाथ के अनुसार वे सौराष्ट्र के राजा के पुत्र थे। भोटभाषा में भी बोधिचर्यावितार का प्राञ्जल एवं हृदयावर्जक अनुवाद है।

शिक्षा की समाप्ति पर गुरु मञ्जुवज्रसमाधि ने उन्हें मध्यदेश जाने का आदेश दिया। अचलसेन नाम रखकर वे राजकर्मचारी हो गए। उन्होंने देवदारु काष्ठ का एक खड्ग बनवाया। अन्य राजभृत्य उनसे ईर्ष्या करते थे। उन्होंने राजा से शिकायत की कि काष्ठ के खड्ग से यह किस प्रकार राज्य की रक्षा कर सकेगा। राजा ने खड्ग देखने की इच्छा जाहिर की। अचल सेन ने कहा कि खड्ग न देखा

१. द्र०—बोधिचर्यावितार, ५ : १०६ पृ० १५१ (प्रस्तुत संस्करण)।

२. द्र०—बोधिचर्यावितारपञ्जिका, पृ० ८० (दरभंगा-संस्करण)।

३. द्र०—बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्यनरेन्द्रदेव कृत, पृ० १७२।

जाए। अन्त में अचलसेन इस शर्त पर दिखाने को राजी हो गए कि देखते समय राजा एक आँख बन्द कर लें। राजा ने ज्योंही एक आँख बन्द कर खड्ग देखा, उनकी एक आँख भूमि पर गिर पड़ी। इस घटना के बाद वे नालन्दा चले गए और प्रव्रजित हो गए। शान्तचित्त होने के कारण उनका शान्तिदेव नाम पड़ा।

पारमितायान के साथ-साथ मन्त्रनय के भी वे प्रकाण्ड पण्डित थे। महान् साधक भी थे। चौरासी सिद्धों में इनकी गणना की जाती है। तन्त्रशास्त्र पर इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। हमेशा सोते और खाते रहने के कारण इनका नाम भुमुकु पड़ गया। वस्तुतः भुमुकु नामक समाधि में सर्वदा समापन्न रहने के कारण ये 'भुमुकु' कहलाए^१। संस्कृत में इनके 'श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रविलिखि' नामक तन्त्र ग्रन्थ की सूचना है। चर्याचर्यविनिश्चय से ज्ञात होता है कि भुमुकु ने वज्रयान के कई ग्रन्थ लिखे। बंगाली या अपभ्रंश में इनके कई गान भी पाए जाते हैं^२। ये गीत बौद्ध धर्म के सहजिया सम्प्रदाय के हैं। भुमुकु ने एक दोहे में अपना नाम 'कट' भी लिखा है^३।

शान्त, मौन और विनोदी स्वभाव के कारण लोग उनकी विद्वत्ता से कम परिचित थे। नालन्दा की परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष में प्रति वर्ष वहाँ धर्म-चर्चा का आयोजन होता था। वहाँ के अध्येता युवकों ने एक बार इनके ज्ञान की परीक्षा का कार्यक्रम बनाया। उनका खयाल था कि आचार्य शान्तिदेव कुछ बोल न पाएँगे और बहुत मजा आएगा। वे आचार्य के पास गए और धर्मासन पर बैठकर उनसे धर्मोपदेश का आग्रह किया। बल्कि उन्होंने इसके लिए उन्हें बाध्य किया। नालन्दा-महाविहार के उत्तर-पूर्व में एक धर्मागार

१. भुञ्जानोऽपि प्रभास्वरः, सुप्तोऽपि प्रभास्वरः, तथैव कुटीं गतोऽपि तदेवेति भुमुकुसमाधिसमा-
पन्नत्वाद् भुमुकुनाम ख्यातं संघेऽपि। द्र०-प्राचीन बांग्लार गौरव, म० म० हरप्रसाद
शास्त्री।

२. बाजनाव पाड़ी पऊँआ खालें बाहिउ।

अदय बंगाले क्लेश लुडिउ ॥ ध्रु ॥

आजि भुमुकु बंगाली भइलि—

एने अघरिणी चण्डालि लेली ॥ ध्रु ॥ राग मल्हारी।

प्रज्ञापारमिताम्भोधिपरिमथनामृतपरितोषतसिद्धाचार्यः भुमुकुपादो बङ्गालिकाव्याजेन
तमेवार्थं प्रतिपादयति। द्र०-चर्याचर्यविनिश्चय।

३. राउत भणइ कट भुमुकु भणई कट, सअला अइस सहाव। द्र०-बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य
नरेन्द्रदेव, पृ० १७५।

था। उसमें पण्डित एकत्र हुए और शान्तिदेव एक ऊँचे सिंहासन पर बैठाए गए। उन्होंने तत्काल पूछा कि मैं आर्ष (भगवान् बुद्ध द्वारा कथित) का पाठ करूँ या अर्थार्ष (आचार्यों द्वारा व्याख्यात) का पाठ करूँ^१। पण्डित आश्चर्यान्वित हुए और अर्थार्ष का पाठ सुनाने को कहा। उन्होंने विचारा कि स्वरचित तीन ग्रन्थों में से किसका पाठ करूँ। अन्त में उन्होंने बोधिचर्यावितार को पसन्द किया और पढ़ने लगे।

सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान्
प्रणिपत्यादरतोऽखिलांश्च वन्द्यान् ।^२

यहाँ से लेकर जब वह

यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥^३

तक पहुँचे तब भगवान् सन्मुख प्रादुर्भूत हुए और शान्तिदेव को अपने लोक ले गए। यह वर्णन उपर्युक्त तीन तालपत्रों से प्राप्त होता है। पण्डित लोग आश्चर्य-चकित हुए और उनकी पढ़-कुटी ढूँढी गई, जिसमें उन्हें उनके तीनों ग्रन्थ प्राप्त हुए।

बोधिचर्यावितार

बोधिचर्यावितार महायानधर्म को प्रकाशित करनेवाली एक महनीय और उत्कृष्ट रचना है। इसमें कुल १० परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में बोधिचित्त की अनुशंसा है। ग्रन्थकार का कहना है कि चाहे अपने दुःख दूर करना हो, चाहे प्राणि-मात्र के दुःख दूर करना हो या सुख प्राप्त करना हो, बोधिचित्त का अवश्य उत्पाद करना चाहिए। तथा हि—

१. किमार्थं पठामि अर्थार्षं वा, तत्र ऋषिः परमार्थज्ञानवान्, 'ऋध'-गतौ इत्यत्र औणादिकः किः। ऋषिणा जिनेन प्रोक्तम् आर्षम्। ननु प्रज्ञापारमितादौ सुभूत्यादिदेशितं कथम् आर्षम् इत्यत्रोच्यते युवराजायमैत्रेयेण—'यदर्थवद् धर्मपदोपसहितम्'....इत्यादि। तदाकृष्टम् आर्या-द्यैरर्थार्षं, सुभूत्यादिदेशना तु भगवदधिष्ठानादित्यदोषः। द्र०—बौद्धधर्मदर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव पृ० १७४।

२. द्र०—बोधिचर्यावितार, १:१ पृ ३।

३. द्र०—बोधिचर्यावितार, ९ : ३५ पृ० ३८९।

भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः ।

बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥^१

तीनों लोकों के सभी प्राणियों के सारे दुःखों का अक्षय प्रहाण करने के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने की अकृत्रिम अभिलाषा ही 'बोधिचित्त' है। बोधिचित्त का उत्पाद करने के लिए दूसरे और तीसरे परिच्छेदों में वन्दना पूजना, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदना, बुद्धाध्येषणा, याचना और परिणामना आदि अष्टाङ्ग पूजा की चर्चा की गई है। इनमें और आगे के अध्यायों में पारमिताओं का विस्तृत वर्णन है। पारमिता का अर्थ पराकाष्ठा को प्राप्त होना है। उदाहरणार्थ जिससे बढ़कर कोई दान नहीं हो सकता या दान की परिपूर्णता 'दानपारमिता' है। नौवें परिच्छेद में प्रज्ञापारमिता का प्रतिपादन है, जिसका विषय निःस्वभावता या शून्यता है। अन्तिम परिच्छेद में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ प्रणयन से प्राप्त पुण्य की परिणामना की है।

ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भार बुद्धत्वप्राप्ति के उपाय हैं। ज्ञानसम्भार तो प्रज्ञापारमिता ही है। इसे छोड़कर अवशिष्ट पाँच दान, शील, क्षान्ति, वीर्य एवं ध्यान पारमिताएँ पुण्यसम्भार हैं। न अकेले पुण्यसम्भार या न अकेले ज्ञानसम्भार बुद्धत्व प्राप्त कराने में सक्षम है। अपितु दोनों की युगनद्धता बुद्धत्व की आवाहिका है। प्रज्ञापारमिता के संयोग के बिना दान 'दानपारमिता' नहीं हो सकता। जब प्रज्ञा के द्वारा दाता, देय और प्रतिग्राहक तीनों की शून्यता जान ली जाती है, और फिर भी दान किया जाता है तो ऐसा त्रिकोटिपरिशुद्ध दान ही दानपारमिता कहलाने योग्य होता है और ऐसा ही दान बुद्धत्व प्राप्ति में सहायक होता है। इसी तरह अन्य पारमिताओं के बारे में भी जानना चाहिए। उपर्युक्त दोनों ज्ञान और पुण्यसम्भारों से बुद्ध के त्रिकाय धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय की प्राप्ति होती है। पारमितानय के अनुसार प्रज्ञापारमिता या ज्ञानसम्भार धर्मकाय का तथा पुण्यसम्भार अवशिष्ट दोनों सम्भोग और निर्माण कायों के हेतु होते हैं।

बोधिसत्त्वः बौद्ध जीवनादर्श

समस्त भारतीय दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण है। यह आत्यन्तिक सुखावाप्ति स्वरूप है या अपने हेतुओं के साथ दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति स्वरूप है। एक व्यक्ति की दृष्टि से यह कोई छोटा लक्ष्य नहीं है। जहाँ इस प्रकार का व्यक्ति रहता है, उसके आसपास का वातावरण अत्यन्त शान्त एवं मनोरम होता है।^२

१. द्र०—बोधिचर्यावतार, १ : ८, पृ० १३ ।

२. यत्पारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ।—धम्मपद ७ : ९८ पृ० २६ ।

उससे अन्य व्यक्ति प्रेरणा भी ग्रहण करते हैं तथा उसका आचरण निर्दोष एवं निष्पक्ष होता है। निर्वाण का मूल वैराग्य है। यहीं से उसकी साधना प्रारम्भ होती है। तदनन्तर शमथ और विपश्यना के सतत निरन्तर अभ्यास द्वारा स्वसन्तुष्टि स्थितियों का प्रहाण कर वह दुःखसन्तुष्टि का निरोध प्राप्त कर लेता है। यही निर्वाण-वस्था है।

कुछ सामाजचिन्तक बौद्ध दार्शनिकों को यह उपर्युक्त लक्ष्य श्रेष्ठ तो लगा, किन्तु पर्याप्त नहीं लगा। प्रतीत्यसमुत्पाद नियम के अनुसार किसी एक व्यक्ति के विकास में समस्त अन्य प्राणियों का योगदान होता है। इस तरह उस पर सभी का ऋण होता है। उसे बिना चुकता किये किसी का अकेले निर्वाण में प्रवेश कर लेना, कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। फलतः उन्होंने महायान या बोधिसत्त्वयान पर बल दिया, जिसका लक्ष्य समस्त प्राणियों के हितार्थ बुद्धत्व या सर्वज्ञता करना है। इस तरह 'हीन' शब्द श्रेष्ठ का विरुद्धार्थक नहीं, अपितु 'महा' का विरुद्धार्थक है। अर्थात् हीनयान श्रेष्ठ तो है, किन्तु उसका उद्देश्य बड़ा या व्यापक नहीं है। आचार्य मैत्रेयनाथ के अनुसार महायान में सात बड़ी (महा) बातें हैं, जिनके कारण वह महायान कहलाता है^१।

१. आलम्बन महत्त्व—बोधिसत्त्वयान अनन्त सूत्रों एवं शास्त्रों से सम्पन्न है। बोधिसत्त्व श्रावकयान से सम्बद्ध, प्रत्येकबुद्धयान से सम्बद्ध तथा बोधिसत्त्वयान से सम्बद्ध सभी सूत्रों का अभ्यास करते हैं, जिससे वे नाना अधिमुक्ति वाले समस्त सत्त्वों के हितार्थ यथायोग्य मार्ग प्रदर्शन कर सकें। फलतः बोधिसत्त्व के लिए कोई भी सूत्र हेय नहीं है।

२. प्रतिपत्ति महत्त्व—प्रतिपत्ति का तात्पर्य साधना से है। प्रतिपत्ति दो प्रकार की है—स्वार्थप्रतिपत्ति तथा परार्थ प्रतिपत्ति। सभी सत्त्वों को बुद्धत्व का लाभ कराना बोधिसत्त्वयान का उद्देश्य है। इसके लिए आवश्यक है कि साधक स्वयं पहले बुद्धत्व लाभ कर ले, तभी वह दूसरों को बुद्धत्व प्राप्त करा सकता है। फलतः साधना के प्रति उसकी दो दृष्टियाँ होती हैं—(क) समस्त जीवों को बुद्धत्व प्राप्त

१. आलम्बनमहत्त्वं च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा ।

ज्ञानस्य वीर्यारम्य उपाये कौशलस्य च ॥

उदागममहत्त्वं च महत्त्वं बुद्धकर्मणः ।

एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायानं निरुच्यते ॥ ६०—महायानसूत्रालंकार (गुणाधिकार) ५९-

६० का० पृ० १७१ ।

कराना, यह परार्थ प्रतिपत्ति है तथा उसके लिए पहले स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करना, यह स्वार्थप्रतिपत्ति है।

३. ज्ञान महत्त्व—पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान एवं धर्मनैरात्म्य ज्ञान इन दो ज्ञानों का बोधिसत्त्वयान में बड़ा महत्त्व है। इन दोनों में धर्मनैरात्म्य अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्बोध है। धर्मनैरात्म्यज्ञान ज्ञेयावरण का प्रतिपक्ष है। उसके द्वारा सर्वावरणों का प्रहाण करके सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। अतः धर्मनैरात्म्य ही बोधिसत्त्वों का प्रमुख भाव्य होता है। हीनयान में धर्मनैरात्म्य का कुछ भी महत्त्व नहीं है। वे केवल पुद्गलनैरात्म्य की ही भावना करते हैं।

४. वीर्यारम्भ महत्त्व—बोधिसत्त्व का उद्देश्य अल्प काल में सिद्ध नहीं होता। हमारे भगवान् गौतम बुद्ध अनेकों जन्म पूर्व सुमेध पण्डित के रूप में उत्पन्न हुए थे। उसी जन्म में उन्होंने बोधिचित्त का उत्पाद किया था। अत्यधिक वीर्यशाली साधक कम से कम तीन असंख्येय कल्पों में बुद्धत्व का लाभ करता है। इतने लम्बे समय तक जगत्-कल्याणार्थ सोत्साह साधना करते रहना बोधिसत्त्व के सामर्थ्य की ही बात है।

५. उपायकौशल्य महत्त्व—बोधिसत्त्वयान में साधना की बड़ी कुशलता होती है। बोधिसत्त्व सांवृतिक दृष्टि से भी कामराग आदि अधिकांश क्लेशों का प्रहाण नहीं करते, अपि तु वे उन्हें परार्थ की सिद्धि के लिए मार्ग के रूप में परिणत कर देते हैं। परमार्थ दृष्टि से तो उनकी दृष्टि में कोई प्रहाण करने योग्य क्लेश होते ही नहीं। प्रहाण नहीं करने पर भी उनके चित्त संक्लिष्ट नहीं होते। क्योंकि उनकी शून्यता को वे यथावत् जानते हैं। आचार्यों ने 'संसारापरित्यागासंक्लेशतः' का प्रयोग किया है।

६. समुदागम महत्त्व—बोधिसत्त्वयान से दश बल, चार वैशारद्य तथा अष्टा-दश आवेणिक बुद्ध धर्मों की सिद्धि होती है।

७. बुद्धकर्म महत्त्व—अनेक प्रकार की रुचि वाले नाना सत्त्वों के हितार्थ बुद्ध अनेकविध, अनाभोग काय, वाक्, चित्त कर्म प्रदर्शित करते हैं। ये सब बोधि-सत्त्वयान द्वारा सिद्ध होते हैं। हीनयान में उपर्युक्त सप्तविध महत्त्वों का अभाव है।

महायान का मूल करुणा है। यहीं से उसकी साधना प्रारम्भ होती है। प्रश्न है कि करुणा करके साधक क्या दुःखी सत्त्वों पर एहसान करता है? या करुणा उसकी विवशता है या करुणा स्वाभाविक परिणाम है? हमारा ख्याल है कि वह एहसान नहीं करता, क्योंकि एहसान के पीछे अपनी श्रेष्ठता का भान या आत्मदृष्टि

छिपी रहती है, जब कि साधक ने आत्मदृष्टिमूलक समस्त प्रक्रिया का या नैरात्म्य का बोध कर लिया है। नैरात्म्य बोध ही प्रज्ञा है। इस प्रज्ञा के उत्पाद के साथ ही जब साधक आत्मदृष्टिमूलक दुःखसन्तति के उत्पाद के अभाव का अपने में अनुभव करने लगता है और प्रज्ञा के अभाव में जब वह अपने चारों ओर के लोगों को दुःख से सन्तप्त देखता है तो स्वाभाविक रूप से उनकी दुःखनिवृत्ति के लिए उनमें नैरात्म्य-बोध उत्पन्न करने की उसमें इच्छा उत्पन्न होती है और यही कर्षणा है। आशय यह है कि कर्षणा प्रज्ञा का स्वाभाविक परिणाम है। कर्षणा बोधिसत्त्व की विवशता भी है। इसके निम्न कारण है—

१ जिस मानवसमाज में उसने प्रज्ञा की सिद्धि की है, उसमें सभी प्राणियों का किसी न किसी रूप में सहयोग रहा है। बिना अन्य प्राणियों के वह पारमिताओं की पूर्ति ही नहीं कर सकता। कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। यदि सम्पूर्ण सत्त्व कुशलभावापन्न न होंगे तो एक व्यक्ति भी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। फलतः जगत् के समस्त प्राणियों को अभाव से मुक्त करने के लिए यह जरूरी है कि वह अपने निर्वाण की उपेक्षा करे और असंक्लिष्टभाव से जगत् में रहे। वह न केवल उन्हें लोकोत्तर सुख से ही अन्वित करना चाहता है, अपितु लौकिक सुखों से भी युक्त करना चाहता है, और उसके लिए प्रयत्नशील होता है।^१ उत्तरदायित्व का यह बोध उसकी कर्षणा का जनक है। कर्षणा के बिना न वह जगत् के ऋण से मुक्त हो सकता है और न इतने बड़े पुरुषार्थ का निर्वाह। अतः कर्षणा उसकी विवशता है^२।

२. कर्षणा के उत्पाद में दूसरा तत्त्व है—स्वात्मपरात्मचित्तसमता। जिसने प्रज्ञा के द्वारा नैरात्म्य का अविपरीत बोध प्राप्त कर लिया है, उसमें स्व एवं पर के भेद की गुंजाइश नहीं है। क्योंकि इस भेद के आधारभूत आत्मतत्त्व का सर्वथा अभाव उसने जान लिया है। फलतः दूसरे सत्त्वों के स्थान पर अपने को रखकर उनके दुःख की अपने दुःख की तरह तीव्र अनुभूति करता है। फलतः सभी सत्त्वों के दुःखों को हटाने के लिए बल्कि दुःखप्रवाह के अशेष निरोध के लिए वह तत्काल प्रयत्नशील होता है। यह ज्ञातव्य है कि साधारणतया मनुष्य के जन्मों की परम्परा का कारण क्लेश और तज्जनित कर्म हैं। बोधिसत्त्व ने प्रज्ञा द्वारा क्लेशों का प्रहाण

१. यच्छन्ति लौकिकीं कृत्स्नां सम्पदं चातिलौकिकीम् । द०—महायानसूत्रालंकार, १९:१६ पृ० १५६ ।

२. तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥ प्रमाणवार्तिक १:२०१ पृ० ६९ (बौद्धभारती संस्करण, वाराणसी) ।

कर दिया है। फलतः उसके पुनर्जन्म के कारण अवशिष्ट नहीं है। किन्तु अनन्तानन्त सत्त्वों के दुःखनिरास के लिए उसे सत्त्वों के बीच रहना है। यह कार्य करुणा के द्वारा ही सम्भव है। करुणा एक पारिभाषिक शब्द है। प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य सभी सारे कुशल, सारे पुण्य कर्म करुणा कहलाते हैं। शून्यता जाननेवाले चित्त के समस्त कर्म करुणा है। करुणा चित्त की सक्रिय अवस्था है। ये सारे पुण्य ही, करुणा ही मुक्त हो जाने पर भी उसकी जगत् में स्थिति के कारण हैं। फलतः करुणा का उत्पाद बोधिसत्त्व की विवशता है।

इस आत्मपरात्मचित्तसमता अर्थात् अपने और दूसरों में समचित्तता की चर्चा बोधिचर्यावितार, महायानसूत्रालंकार आदि ग्रन्थों में बहुतायत से मिलती हैं। मैत्रेय-नाथ ने महायानसूत्रालंकार में इस पर विशेष बल दिया है। बोधिसत्त्व को महात्मा भी कहते हैं। उसका कारण भी यह है कि वह दूसरों को अपने ही जैसा समझता है, उनके दुःखों के निरास के लिए वैसे ही प्रयत्नशील होता है, जैसे कोई व्यक्ति अपने दुःखों के निरास के लिए प्रयत्नशील होता है। यही उसकी महात्मता है। इसे ही मैत्रेयनाथ ने अपने ग्रन्थ में 'आत्ममहात्मता' या 'महात्मदृष्टि' कहा है। गलती से भारत के ही नहीं, विदेशों के भी बड़े-बड़े दार्शनिकों ने यहाँ तक कह डाला कि आत्ममहात्मता का तात्पर्य शुद्ध आत्मन् तत्त्व से है। अर्थात् मैत्रेयनाथ या असंग ने महायानसूत्रालंकार में एक ऊँची अवस्था में आत्मतत्त्व की ओर संकेत किया है।

महाकरुणा का आलम्बन दुःख है। वह दुःख भी तीन प्रकार का है—दुःख-दुःख, विपरिणाम दुःख एवं संस्कार दुःख। इन त्रिविध दुःखों में से संस्कार दुःखता ही ही इस महाकरुणा का आलम्बन है। अर्थात् संस्कारदुःखता से दुःखी सत्त्व महाकरुणा का आलम्बन होते हैं। शेष दो दुःख तो सामान्य जनों के भी आलम्बन होते हैं। उन्हें आलम्बन बनानेवाली दया हो सकती है, महाकरुणा नहीं।

करुणा भी तीन प्रकार की होती है—सत्त्वालम्बना, धर्मालम्बना एवं अनालम्बना। सत्त्वों को आलम्बन बनाकर उन्हें दुःख से मुक्त करने की अभिलाषा सत्त्वालम्बना करुणा है। पंचस्कन्धों में प्रज्ञप्त या आरोपित सत्त्व को आलम्बन बनाकर उन्हें दुःख से मुक्त करने की अभिलाषा धर्मालम्बना करुणा है। सत्त्वों के अधिष्ठान पंच स्कन्ध को ग्राह्यग्राहक शून्य या स्वभाव शून्य समझकर उसमें आरोपित सत्त्वों को

१. (क) महात्मदृष्टि श्रयते महार्थम् । द्र०-महा० सूत्रालंकार, १४:३७ पृ० ९३ ।

(ख) बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वाद् गता आत्ममहात्मताम् । द्र०-महा० सूत्रालंकार ९:२३ पृ० ४१ ।

आलम्बन बनाकर उनकी दुःख से मुक्ति चाहनेवाली करुणा अनालम्बना करुणा है। प्रथम प्रकार की करुणा अधिकतर सामान्य जनों में भी होती है। द्वितीय प्रकार की करुणा श्रावक और प्रत्येकबुद्ध आर्य में देखी जाती है। तीसरे प्रकार की प्रमुख रूप से महायानी आर्यों में होती है।

दुःख को आलम्बन बनाकर बोधिसत्त्व चिन्तामयी प्रज्ञा द्वारा उसका परीक्षण करता है, यथा दुःख सहेतुक है या अहेतुक, नित्य है या अनित्य, हटाया जा सकता है या नहीं? यदि वह अहेतुक या नित्यहेतुक है तो हटाया नहीं जा सकेगा। जब वह देखता है कि दुःख कादाचित्तक एवं अनित्यहेतुक है तब बोधिसत्त्व निश्चय करता है कि उसे हटाना सम्भव है। वह उसके कारणों की खोज करता है, क्योंकि कारणनाश से ही कार्यनाश सम्भव होता है। दुःख और दुःख के कारणों का परिज्ञान कर वह दुःखप्रहाणार्थ प्रतिपक्ष के अन्वेषण में तल्लीन होता है।

वह अन्वेषण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उपादान पंच स्कन्धों को आलम्बन बनाकर उत्पन्न आत्मदृष्टि और आत्मीय दृष्टि से उत्पन्न तृष्णा ही दुःख-परम्परा का हेतु है। अतः तृष्णा के प्रहाण के लिए आत्मासीयदृष्टि का प्रहाण आवश्यक है। फलतः वह निर्णय लेता है कि नैरात्म्यज्ञान ही उसके प्रहाण के लिए प्रधान प्रतिपक्ष है। महाकरुणापूर्वगम नैरात्म्यज्ञान की सादर निरन्तर अनेक कल्पों तक भावना एवं अभ्यास करके वह उस सर्वोत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होता है, जिसे सर्वज्ञ ज्ञान कहते हैं, जो समस्त प्राणियों के गोत्र, आशय, रुचि, इन्द्रिय, सामर्थ्य आदि का अवबोध करके तदनु रूप त्रिधान की देशना करने में समर्थ होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में महाकरुणा और नैरात्म्यज्ञान ये दो प्रमुख उपाय हैं। महाकरुणा से प्रारम्भ कर दुःख के कारण और उसके प्रतिपक्ष के अन्वेषण में नैरात्म्यज्ञान की महत्ता प्रकट होती है। महाकरुणा आशय-सम्पद् तथा नैरात्म्यज्ञान प्रयोग-सम्पद् कहलाता है। ये दोनों हेतु-सम्पद् हैं। हेतु-सम्पद् की भावना से फलसम्पद् उपलब्ध होती है।

फलसम्पत्ति भी द्विविध है—स्वार्थ-सम्पद् और परार्थ-सम्पद्। भगवान् की फलभूत स्वार्थसम्पद् का वर्णन आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने 'सुगत' शब्द द्वारा तथा परार्थसम्पद् का वर्णन 'तायिन्' शब्द द्वारा किया है। भगवान् की स्वार्थसम्पद् तीन प्रकार के प्रहाणों से युक्त है—(क) अच्छी तरह से प्रहाण (ख) अपुनर्भव के लिए प्रहाण तथा (ग) निःशेष प्रहाण। समस्त दुःखों के मूल आत्मदर्शन का नैरात्म्यदृष्टि द्वारा प्रहाण कर दिया जाने से वह प्रहाण प्रशस्त है। अतः दुःख का आश्रय न करने से यह प्रहाण अच्छी तरह से प्रहाण है। आत्मदर्शन

के बीज का भी समूलघात कर दिया जाने से क्लेशों के पुनर्भव की सम्भावना भी क्षीण हो चुकी है, अतः यह प्रहाण क्लेशों के सर्वथा अपुनर्भव के लिए प्रहाण है। सादर निन्तर अभ्यास द्वारा नैरात्म्यज्ञान सात्मोभूत हो गया है, अतः क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण (दौष्टुल्य या अक्लिष्ट अज्ञान) दोनों बुद्ध की सन्तति में निःशेष हो चुके हैं। अतः उनका यह निःशेष प्रहाण है। इन तीनों प्रहाणों से युक्त सुगतत्व प्रहाणसम्पद् भी कहलाती है।

भगवान् ने मुक्ति के मार्ग का अभ्यास द्वारा साक्षात्कार किया है और उसे पराकाष्ठा तक पहुँचाया है। जिस प्रकार के मार्ग का उन्होंने साक्षात्कार किया है, उसे वे बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के जन-जन के कल्याण के लिए दूसरों को प्रकाशित करते हैं^२। उनके ये ही गुण 'तायिन्' शब्द द्वारा प्रकट किये गये हैं।

आत्मस्नेह के कल्याण के कारण आत्मसुखाभिलाषा से कोई व्यक्ति झूठ बोलता है या परवंचना करता है तथा निर्दयता या सहानुभूति न होने कारण यथार्थ को छिपाता है। भगवान् ने नैरात्म्यज्ञान द्वारा आत्मदृष्टि का सर्वथा प्रहाण कर दिया है, अतः उनके द्वारा आत्मसुख के लिए झूठ बोलकर परवंचना की कतई सम्भावना नहीं है तथा उन्हें किसी तरह के प्रतिफल की भी आशा नहीं है तथा समस्त सत्त्वों को दुःख से मुक्त करने की अभिलाषारूपी महाकरुणा का उन्होंने प्रारम्भ से ही अभ्यास किया है तथा उसे अभ्यास द्वारा पराकाष्ठा पहुँचाया है, अतः यह सम्भव नहीं है कि निर्दयता के कारण यथार्थ का उपदेश न दें या यथार्थ उपदेश में अवहेलना या कुछ भी ढिलाई करें।^३ अतः उनके उपदेशों पर अविश्वास का कोई कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता।

१. हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगुत्वमनिःश्रयात् द्र०-प्रमाणवार्तिक १:१४१, पृ० ५२।

२. तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः वैफल्याद् वक्ति नानृतम्। दयालुत्वात् परार्थं च सर्वारम्भाभियोगतः ॥
द्र०-प्रमाणवार्तिक १:१४७-१४८, पृ० ५४।

३. अनल्पकल्पासंख्येयभावनापरिवर्धिताः।

तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृता ॥

द्र०-प्रमाणवार्तिक, १:२०१ पृ० ६९।

अपि च,

अवस्था वीतरागाणां दयया कर्मणाऽपि वा।

×

×

×

वस्तुधर्मो दयोत्पत्तिः न सा सत्त्वानुरोधिनी ॥

द्र०-प्रमाणवार्तिक, १:१९५, १९७ का०, पृ० ६८।

उपसंहार

हमने उपर माध्यमिक दर्शन के शताब्दियों व्यापी विचारों के क्रमिक परिवर्तन और विकास की यात्रा का स्थूल विहगावलोकन प्रस्तुत किया है। मनुष्य और मानव समाज की सारी समस्याएँ व्यक्ति, वस्तु और उनके सम्बन्ध से जनित ज्ञान या मन की प्रतिक्रियाएँ हैं। इन प्रतिक्रियाओं के मूल में भी मनुष्य और मनुष्य-समाज की स्वकेन्द्रित भावना ही है। इस भावना के चलते उसने अपनी महत्वा-कांक्षाओं की पूर्ति और काल्पनिक भयों से सुरक्षा के लिए अनेक अस्तित्वों को या दीवारों को खड़ा कर लिया है, जिनके भीतर बन्द होकर वह अपने को सुरक्षित भी महसूस करता है और स्वार्थों की पूर्ति भी करता रहता है। यह मन, कल्पना या ज्ञान ही है, जिसने एक स्वकेन्द्र की रचना की है, विभिन्न प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है तथा अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति और अपनी सुरक्षा में लगा रहता है। अपने साथ उसने अन्य अनेक अस्तित्वों को भी खड़ा कर लिया है। धर्म, सम्प्रदाय, कुल, जाति और राष्ट्र ऐसे ही सुरक्षा के कल्पित केन्द्र हैं। दर्शनों ने इन विभिन्न अस्तित्वों की परीक्षा की है। अनेक केन्द्रों को उन्होंने तोड़ा है, फिर भी अन्तर्निहित गूढ़ वासना के कारण कहीं न कहीं, किसी न किसी अस्तित्व में वे अटक भी गए हैं। आत्मा, ईश्वर, आकाश, काल, दिक् आदि ऐसे ही केन्द्र हैं, जिनमें अनेक दार्शनिक उलझ गए हैं। अपनी मान्यताएँ, अवधारणाएँ, शास्त्र, गुरु आदि भी ऐसे ही केन्द्र हैं, जिनके अस्तित्व के प्रति दार्शनिकों का भी आग्रह समाप्त नहीं हुआ। यदि समस्त बाह्य अस्तित्व को नकार भी दिया गया, फिर भी ज्ञान अपने अस्तित्व में प्रतिपन्न हो गया और ज्ञान को ही ब्रह्म या नित्य आत्मा कह दिया गया। अपने ही अस्तित्व को नकार देना ज्ञान के लिए आत्महत्या जैसा प्रतीत हुआ। ज्ञान में जब तक सीमाएँ हैं, जब तक किसी के अस्तित्व के प्रति आग्रह है, तब तक मनुष्य अशान्त रहेगा और ऐसे ज्ञानों द्वारा बनाई गई व्यवस्था से मानवसमाज भी दुःखी एवं अशान्त ही रहेगा। व्यवस्थाओं में परिवर्तन के बावजूद समस्याओं का स्थायी समाधान सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञान स्वनिर्मित केन्द्र के ही चारों ओर घूम रहा है, उसे तोड़ा नहीं गया है। बौद्ध दार्शनिकों ने इन अस्तित्वों को तोड़ने में दर्शन के क्षेत्र में बड़ा पराक्रम दिखाया है और मनुष्य और उसके समाज को सुखी बनाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। प्रासङ्गिक माध्यमिकों छोड़कर अन्य बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों ने यद्यपि इस दिशा में महनीय प्रयास किया है, फिर भी कहीं न कहीं, किसी न किसी मात्रा में अस्तित्व की गूढ़ वासना छिपी रह गई। प्रासङ्गिकों ने इसे शाश्वतवाद कहा और उन्हें शाश्वत-अन्त में पतित घोषित किया। प्रासङ्गिक

माध्यमिक ही ऐसा दर्शन-प्रस्थान है, जिसने समस्त अस्तित्वों को उनकी गूढ़वासना के साथ अस्वीकार कर दिया। उनका कहना है कि अस्तित्वों का अभाव ही शून्यता है और यही परमार्थ सत्य है। उन्हें भय था कि इस अस्तित्वाभाव या शून्यता के प्रति भी कहीं अस्तित्व की दृष्टि न पैदा हो जाए, क्योंकि मन बड़ा विचित्र है, अतः उन्होंने शून्यता दृष्टि का भी निषेध किया और शून्यता-शून्यता की स्थापना की। ज्ञान या मन की कुछ ऐसी नियति है कि वह देश, काल, आदि को पहले आरोपित करता है और फिर उसी के माध्यम से अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है, जो काफी उदार होने पर भी अपर्याप्त ही होती है। प्रासङ्गिक माध्यमिकों ने इन आरोपणों की परीक्षा की, उनकी निरर्थकता प्रकाशित की और ज्ञान को अपने अनादि अभ्यास से छूटने का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने अस्तित्वमात्र को मन का प्रक्षेपण बताया। उस निर्विकल्पक ज्ञान के अस्तित्व का भी निषेध किया, जो सारे प्रक्षेपणों की निरर्थकता को जानता है। इस तरह ज्ञान को व्यापक, उदार, असीम एवं विराट् होने का अवसर प्रदान किया। मेरी अल्प बुद्धि में मनुष्य को राहत देने या उसका कल्याण साधने में इस सर्वभावनिःस्वभावता को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है, जिसका दर्शन माध्यमिकों ने प्रस्तुत किया। मेरे विचार में यह भारतीय दर्शनों में ही सर्वोत्कृष्ट नहीं है, अपि तु सारे विश्व की मानव जाति के चिन्तनक्षेत्र में यह अपूर्व निधि है। विद्वानों को इसके वास्तविक स्वरूप को उजागर करने का प्रयास करना चाहिए।

भोटदेश में बोधिचर्यावतार का अत्यधिक आदर है। ७ वीं शताब्दी में जब से बौद्ध धर्म तिब्बत पहुँचा, तिब्बत भारतीय संस्कृति का गढ़ हो गया। तमाम लौकिक और लाकोत्तर बौद्ध विद्याओं का वहाँ संस्कृत से भोट भाषा में अनुवाद हुआ। सभी बुद्धवचनों और शास्त्रों का भोट भाषा में प्रामाणिक रूपान्तरण हुआ। भारतीय और भोट विद्वानों ने मिलकर अपने निरन्तर अथक प्रयास से इस कार्य को कुछ ही शताब्दियों में सम्पन्न कर दिया। हजारों की संख्या में अनूदित ग्रन्थों का उन्होंने कंग्युर और तंग्युर नाम के दो संग्रहों में वर्गीकरण किया। जिसमें बुद्धवचनों का संग्रह है, वह 'कंग्युर' तथा उनसे अतिरिक्त समस्त आचार्यीय शास्त्रों का संग्रह 'तंग्युर' कहलाता है। भोटदेशीय विद्वानों ने संस्कृत भाषा की प्रकृति के अनुरूप एक नई शास्त्रीय भोटभाषा का विकास किया और उसमें संस्कृत ग्रन्थों का रूपान्तरण किया। यह विश्व की आश्चर्यजनक घटना है। यही कारण है कि आज भोटभाषा से संस्कृत में पुनः रूपान्तरण जितना प्रामाणिक और सुगम होता है, उतना विश्व की किसी अन्य भाषा में नहीं। भोट विद्वानों ने न केवल अपनी भाषा में अनुवाद ही किया, अपि तु गुरु-शिष्य-परम्परा से आज तक उनके अध्ययन-अध्यापन

को सुरक्षित रखा। इतना ही नहीं, उन ग्रन्थों पर वहाँ के विद्वानों ने टीका-टिप्पणियों की रचना कर तथा अन्य अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण कर उस निधि को परिर्वर्धित भी किया। अपने अनुभव के आधार पर मैं असन्दिग्ध रूप से कह सकता हूँ कि विश्व में बौद्ध विद्याओं के प्रामाणिक विद्वान् भोटदेशीय विद्वान् ही हैं। भारतवर्ष में विलुप्त महनीय बौद्ध संस्कृति की रक्षा कर भोट जनता ने वस्तुतः हमारा बड़ा उपकार किया है। इसके लिए हम उनके ऋणी हैं।

केन्द्रीय बौद्ध विद्या-संस्थान, चोगलमपर लेह, लदाख के प्रधानाचार्य श्री टशी पलजोर ने जब यह प्रस्ताव रखा कि मैं बोधिचर्यावितार का राष्ट्रीय हिन्दी भाषा में खुलासा करूँ तथा साथ में संस्कृत के साथ भोटपाठ भी दे दूँ तो मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। आज विद्वानों के समक्ष यह ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए मुझे आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कार्य के लिए प्रेरित करने तथा अपने संस्थान से उस कार्य को प्रकाशित करने के लिए मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

इस कार्य को सम्पन्न करने में श्री डबडू समतेन, श्री वाङछुक दोर्जे नेगी, श्री टशी सम्फेल, श्री ठिनले सासनी आदि मित्रों छात्रों का मुझे जो सहयोग मिला है, उसके लिए मैं उनके मङ्गलमय भविष्य की शुभकामना करता हूँ।

अन्त में मैं शिवम्-प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक और कर्मचारियों को धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिनके उत्साह और परिश्रम से यह ग्रन्थ इतने भव्य रूप में प्रकाशित हो सका है।

बोधिसत्त्वचर्या का भारत की जनभाषा में खुलासा कर मुझे जितना आत्म-सन्तोष और तृप्ति का अनुभव हो रहा है, उसका मैं शब्दों में बखान नहीं कर सकता। यह भगवान् बुद्ध और बोधिसत्त्वों की अनुकम्पा का ही फल है। इस कार्य के सम्पादन से मुझे जो पुण्य मिला है, उसकी मैं लोकहित में परिणामना करता हूँ—

एतद्ग्रन्थविधानेन यत्पुण्यमर्जितं मया ।

तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधिचर्याविभूषणाः ॥

भवतु सर्वमङ्गलम्

रामशङ्कर त्रिपाठी

मञ्जुघोषप्रभृतयः पूजयन्ति यथा जिनान् ।

तथा तथागतान् नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहम् ॥

(बोधिचर्यावितार २:२२)

निर्वर्तुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः ।

कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत् ॥

(बोधिचर्यावितार ३:५)

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय
भूमिका

क
१-४८

माध्यमिकदर्शन का महत्त्व १, त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन २, धर्मचक्रों की
नेयार्थ-नीतार्थता ४, प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन ५, द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन ५, तृतीय
धर्मचक्रप्रवर्तन ६, माध्यमिक दर्शन का उद्भव ७, महायान सूत्रों का बुद्धवचनत्व ८,
माध्यमिकदर्शन के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन १३, माध्यमिकार्थ १५, संवृतिसत्य १८,
तथ्यसंवृति १८, मिथ्या संवृति १८, विषयी मिथ्या संवृति १९, विषयी तथ्य संवृति १९,
परमार्थसत्य १९, नागार्जुनीय दर्शन के अन्य विचारणीय मुद्दे २०, आचार्य
आयंदेव का मत २२, आचार्य बुद्धपालित का मत २३, आचार्य भावविवेक का
मत २४, आचार्य चन्द्रकीर्ति का मत २६, आचार्य शान्तरक्षित का मत २९,
ग्रन्थकार आचार्य शान्तिदेव ३०, जीवन परिचय ३४, रचनाएं ३४, बोधिचर्या-
वतार ३७, बोधिसत्त्व : बौद्ध जीवनादर्श ३८, आलम्बन महत्त्व ३९, प्रतिपत्ति
महत्त्व ३९, ज्ञान महत्त्व ४०, वीर्यारम्भ महत्त्व ४०, उपायकौशल्य महत्त्व ४०,
समुदागम महत्त्व ४०, बुद्धकर्म महत्त्व ४०, उपसंहार ४५ कृतज्ञता ४७ ।

विषयानुक्रमणिका

४९-५३

प्रथम परिच्छेद : बोधिचित्तानुशंसा

१-३४

मङ्गलाचरण ३, अनुबन्धादि चतुष्टय ६, अभिधेय ६, सम्बन्ध ६, प्रयोजन ७,
प्रयोजन निष्ठा ७, प्रणाम प्रयोजन ७, ग्रन्थ प्रयोजन ८, ग्रन्थ महत्त्व १०,
बोधिचित्त अनुशंसा ११, बोधिचित्त का उत्पाद करना चाहिए १२, बोधिचित्त का
त्याग नहीं करना चाहिए १३, बोधिचित्त ग्राह्य है १४, उसके ग्रहण के लिए
प्रयत्न अपेक्षित १५, बोधिचित्त की कल्पतरु से उपमा १७, बोधिचित्त से पापक्षय १८,
बोधिचित्त के भेद २०, बोधिप्रणिधिचित्त, बोधिप्रस्थान चित्त २०, प्रणिधि-
चित्त का महत्त्व २१, प्रस्थान चित्त से अविच्छिन्न पुण्यप्रवाह २२, बोधिसत्त्व की
श्रेष्ठता २५, बोधिसत्त्व के असाधारण गुण २६, बोधिसत्त्व की साधुता २९,
बोधिसत्त्व के दान की असाधारणता-३०, बोधिसत्त्व के प्रति प्रसन्नचित्तता से
पुण्य ३३, बोधिसत्त्वों के प्रति प्रणाम निवेदन ३४ ।

द्वितीय परिच्छेद : पापदेशना

३५-६२

त्रिरत्न वन्दना ३५, पूजना ३६, विशेष पूजा ४०, माल्य पूजा ४२, धूप

पूजा ४३, नैवेद्य पूजा ४३, प्रदीप पूजा ४३, पूजा का उपसंहार ४४, सद्धर्म आदि की पूजा ४५, अनुत्तर पूजा ४५, स्तुति पूजा ४६, त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) की प्रणाम पूजा ४६, तथागत के स्तूपों की पूजा ४७, रत्नत्रय शरणगमन ४७, पापदेशना ४८, विशेष पापदेशना ४९, पाप कर्मों के प्रति संवेग ५०, धर्म और संघ की शरण गमन ५६, प्रकृति सावद्य ६२, प्रज्ञप्ति सावद्य ६२ ।

तृतीय परिच्छेद : बोधिचित्तपरिग्रह

६३-८२

पुण्यानुमोदना ६३, बोधिसत्त्वता ६४, बुद्धता ६४, अध्येषणा ६५, धर्मप्रदीप ६५, याचना ६६, सामान्य परिणामना ६६, विशेष परिणामना ६७, दुर्भिक्षान्तरकल्प ६७, आत्मभाव आदि का विमर्जन ६८, चिन्तामणि ७२, भद्रघट ७२, सिद्धविद्या ७२, महोपधि ७२, कल्पवृक्ष ७२, कामधेनु ७२, बोधिचित्त ७४, बोधिसत्त्वशिक्षा ७४, शिक्षानुपूर्वी ७४, रत्न ७७, बोधिचित्त के गुण ७८, रसायन ७९, भैषज्य ७९, विश्रामपादप ७९, अज्ञानतिमिर ८०, सद्धर्म ८१ ।

चतुर्थ परिच्छेद : बोधिचित्त-अप्रमाद

८३-१०६

बोधिचित्त का दृढ़ता से ग्रहण ८३, प्रज्ञा और उपाय द्वारा बोधिचित्त की रक्षा, परिशुद्धि और वृद्धि ८४, अनुत्तर सुख ८६, बोधिसत्त्व की गुरुतर आपत्ति ८७, बोधिसत्त्वचर्या में बाधकता से दुर्गति ८८, शरीर की विनश्वरता ९१, मनुष्य जीवन की दुर्लभता ९२, दुर्लभ क्षण का कुशल की वृद्धि में उपयोग ९४, अस्थान सहिष्णुता अच्छी नहीं ९६, चित्त का दमन न्यायसंगत ९७, क्लेश प्रतिकार आवश्यक ९८, क्लेशों के रहते सुख कहाँ ९९, अपकारी क्लेशों का विनाश आवश्यक १००, विपाद और दैन्य का परित्याग १०१, परहित के लिए स्वक्लेशों मुक्ति आवश्यक १०२, क्लेशों का प्रतिपक्ष सेवनीय १०३, प्रहीण क्लेशों का अपनरागमन १०४, क्लेशों का अस्तित्व नहीं १०५, धर्माचरण आवश्यक १०६ ।

पञ्चम परिच्छेद : सम्प्रजन्यरक्षण

१०७-१५२

शिक्षा १०७, चित्तरक्षा १०८, स्मृति १०८, दारिद्र्य ११२, दानपारमिता ११२, शीलपारमिता ११२, धान्ति पारमिता ११३, वीर्य पारमिता ११४, ध्यानपारमिता ११४, प्रज्ञापारमिता ११५, धर्मसर्वस्व ११६, स्मृति ११८, सम्प्रजन्य ११८, निष्फल चेष्टाओं का वर्जन १२२, कायप्रत्यवेक्षा १२४, चित्तप्रत्यवेक्षा १२४, धर्म १२५, अचेतन काष्ठवत् चर्या १२८, चित्त का दृढ़तापूर्वक धारण १३०, काय के प्रति नौबुद्धि १३५, सत्त्वों की प्रसन्नता से बढ़ कर दूसरा कोई कार्य नहीं १४०, भोजन मात्रजता १४२, हीनयान और महायान के प्रति समान गौरव १४४, बोधिसत्त्वों लिए सभी कुछ शिक्षणीय १४८, कल्याणामित्र १५०, हेयोपादेय धर्मों की शिक्षा का ग्रहण १५०, सम्प्रजन्य का संक्षेप लक्षण १५२ ।

षष्ठ परिच्छेद : क्षान्ति पारमिता

१५३-२१४

प्रतिष का तात्पर्य १५३, द्वेष के समान पाप नहीं १५३, दुःखाधिवासन क्षान्ति १५६, सभी धर्म निर्व्यापार १६४, प्रधान और पुरुष का निषेध १६४, नित्य आत्मा का निषेध १६६, कोई स्वतन्त्र नहीं १६८, परापकारमर्षण क्षान्ति १७०, धर्मनिष्ठान क्षान्ति १७८, प्रतिमा, स्तूप आदि के नाशकों के प्रति भी क्रोध अयुक्त १८३; संवेग १९८, मात्सर्य १९८, मोक्षार्थी के लिए लाभसत्कार बन्धन १९९, क्षान्ति के हेतु का उपस्थित होना सौभाग्य २०१, अपकारी दुर्लभ २०२, सत्त्व और बुद्ध क्षेत्र हैं २०४, सत्त्व और बुद्ध समान २०५, सत्त्वों में श्रेष्ठ अंश विद्यमान २०७, सत्त्वाराधन से बढ़कर कुछ नहीं २०८, सत्त्वों की सेवा ही बुद्धाराधन २१०, सत्त्वाराधन से सम्भार सम्भरण २१२ ।

सप्तमपरिच्छेद : वीर्य पारमिता

२१५-२४८

कुशल कर्म में उत्साह ही वीर्य है २१५, वीर्य के प्रहेय २१६, आलस्य का निराकरण २१६, दुःखमय संसार से उद्वेग २१६, विना प्रयत्न के सुख चाहने का निराकरण २१९, निद्रा के वशीभूत होने का निराकरण २२०, कुविषयों में आसक्ति का निराकरण २२१, विषाद और आत्मावज्ञा का निराकरण २२१, परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन २२१, बोधि अत्यन्त दुर्लभ नहीं २२३, मधुर उपचार २२६, बलव्यूह का प्रतिपादन २२८, छन्दबल का प्रतिपादन २२९, एकान्त कुशल कर्म का फल २३४, एकान्त अकुशल कर्म का फल २३४, स्थाम बल का प्रतिपादन २३५, आरम्भ करके छोड़ देने के पाँच दोष २३६, कर्म विषयक मास २३७, उपक्लेश विषयक मान २३८, जिनसिंह २३९, शक्ति-विषयक मान २४१, रति विषयक मान २४२, मुक्ति बल का प्रतिपादन २४४, तात्पर्य (तत्परता) का प्रतिपादन २४४, आत्मवशवर्तिता का प्रतिपादन २४७ ।

अष्टम परिच्छेद : ध्यान पारमिता

२४९-३३८

कायचित्तविवेक २४९, शमथ विषयना का हेतु २५०, अभिरति की निरपेक्षता का उत्पाद २५१, बाल और पृथग्जन की निश्चित दुर्गति २५३, इच्छा से भय २५७, निन्दा और प्रशंसा से दुःख सुख नहीं करे २५८, बाल पृथग्जन किसी के मित्र नहीं २५९, एकान्तवास की प्रशंसा २६०, निज कायभूमि २६२, कामों की अनर्थजनकता २६५, अर्थ अनर्थ का चिन्तन २८१, परात्मसमता २८६, परात्मपरिवर्तन २९९, स्वार्थ की निन्दा और परार्थ की प्रशंसा ३०६, आत्मपरिग्रह से दुःख ३१०, आत्मपरिग्रह और पर-परिग्रह के गुण-दोष ३१२, परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन की भावनाविधि ३१४, श्रेष्ठ से ईर्ष्या आदि के सन्दर्भ में भावनाविधि ३१५, शीलविपत्ति ३१६, दृष्टिविपत्ति ३१६, समान के प्रति प्रतिस्पर्धा के सन्दर्भ में भावनाविधि ३१७, अपने से हीन स्वार्थी आत्मा के सन्दर्भ में श्रेष्ठता की भावना ३१९, आत्मपरिग्रह से मुक्ति का चिन्तन

प्रकार ३२०, स्व-परार्थ सम्पत्ति ३२२, अहंकार का विसर्जन ३३३, आवरण के नाश के लिए समाधि ३३७ ।

नवम परिच्छेद : प्रज्ञा पारमिता

३३६-५४४

प्रज्ञा के उत्पाद के लिए सारा प्रयास ३४१, प्रज्ञा का स्वरूप ३४२, प्रज्ञा के भेद ३४४, संवृत्ति ३४५, संवृत्ति सत्य ३४६, तथ्य संवृत्ति ३४७, मिथ्या संवृत्ति ३४७, परमार्थ सत्य ३४८, द्विधा व्यक्ति योगी एवं प्राकृतक ३४९, दोनों की परस्पर श्रेष्ठता पर विचार ३५०, प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता ३५४, परमार्थतः धर्म धणिक नहीं ३५६, सभी धर्म मायोपम, स्वप्नोपम ३५८, मायोपम बुद्ध की पूजा से पुण्य ३५८, मायोपम सत्त्व का जन्म ३६०, मायोपम पुरुष के घात से पाप ३६१, बुद्ध के संसरण और बोधिचर्या की व्यर्थता का समाधान ३६३, ज्ञानमात्र की भ्रान्तता ३६५, स्वसंवेदन का खण्डन ३६६, दीप दृष्टान्त का निराश ३६८, स्वसंवेदन की साधक अन्य युक्ति का निराकरण ३७३, सत्यतः सत्ता का खण्डन ३७७, विज्ञान की परमार्थतः सत्ता का निषेध ३८०, मायोपमता के ज्ञानमात्र से रागनिवृत्ति नहीं ३८३, भाववासना का निराकरण ३८६, भाव और अभाव दोनों का निराश ३८८, भगवान् बुद्ध के परार्थ कृत्य के दृष्टान्त ३८९, परिनिर्वृत्त और जीवित दोनों अवस्थाओं में भगवान् की पूजा का समान फल ३९४, शून्यता दर्शन ही मुक्ति का एकमात्र साधन ३९७, महायानसूत्रों की बुद्धवचनता ४००, शून्यता के बिना निर्वाण भी सम्भव नहीं ४०४, अविलष्ट तृष्णा ४०७, भावाभिनिवेश के प्रहाण के बिना अविद्या प्रहाण नहीं ४०९, शून्यता का फल ४१४, आत्मा का निषेध ४१७, आत्मविषयक नैयायिक मत का निरास ४२०, जैमिनीय आत्मा का निषेध ४२१, जैन आत्मा का निषेध ४२१, उपनिषद्वादियों की आत्मा का निषेध ४२२, पुद्गलवादी के पुद्गलात्मा का निषेध ४२२, सांख्यसम्मत आत्मा का निषेध ४२३, नैयायिक की आत्मनित्यता का निराकरण ४३२, कृतविप्रणाश और अकृताभ्युपगम का निरास ४३६, वात्सीपुत्रीय का विस्तृत निराकरण ४३८, चित्त की वस्तुसत्ता का खण्डन ४४३, कर्षणा का वास्तविक आलम्बन ४४४, कार्यमोह का निराकरण नहीं ४४७, अहंकार का प्रहाण आवश्यक ४५०, नैरात्म्य भावना ही श्रेयस्कर ४५०, कायस्मृत्युपस्थान ४५४, परमाणु का खण्डन ४५९, काय की स्वप्नोपमता ४६१, वेदनास्मृत्युपस्थान ४६२, चित्तस्मृत्युपस्थान ४७४, धर्मस्मृत्युपस्थान ४७८, कल्पना और कल्पित की अन्योन्याश्रयता ४८२, ज्ञान और ज्ञेय की अन्योन्याश्रयता ४८५, पिता-पुत्र का दृष्टान्त ४८५, ज्ञान-ज्ञेय की कारणता का निषेध ४८६, स्वभाववादी चार्वाकों का खण्डन ४८९, ईश्वर की कारणता का निषेध ४९१, आकाश-कारणता का निषेध ४९८, नित्य-कारणता का निषेध ५०१, सांख्यों की प्रधान-कारणता का निषेध ५०६, सांख्यों के सत्कार्यवाद का निषेध ५१५, सांख्यों द्वारा माध्यमिकों पर समान दूषणता का आरोप ५१७, माध्यमिकों द्वारा समाधान ५१८, स्वतः उत्पाद का निषेध ५२१, परतः उत्पाद का निषेध ५२२, उभयतः उत्पाद का निषेध ५२३, त्रैकाल्यवादी

सर्वास्तिवाद का निषेध ५२४, विद्यमान की उत्पत्ति का निषेध ५२७, अविद्यमान की उत्पत्ति का निषेध ५२८, सभी धर्म आकाशवत् निःस्वभाव ५३५, सभी उपद्रवों की जड़ तत्त्वज्ञान का अभाव ५३७, क्षण की दुर्लभता ५४०, दुःखी प्राणियों पर करुणा ५४१ ।

दशम परिच्छेद : परिणामना

५४५-५६८

सभी प्राणी बोधिवचर्या से विभूषित हों ५४५, सभी प्राणी कायिक, मानसिक दुःखों से मुक्त हों ५४५, नारकीय प्राणी सुखी हों ५४६, नरकप्रदेश रमणीय हों ५४७, वज्रपाणि की कृपा से नारकीय भयमुक्त हों ५४९, कमलपाणि के दर्शन से नारकीय सत्त्व सुखी हों ५५०, मञ्जुश्री की कृपा से नारकीयों का दुःख दूर हो ५५०, समन्तभद्र आदि बोधिसत्त्व का नारकीय अभिनन्दन करें ५५१, पशु-पक्षी आपसी भय से मुक्त हों ५५२, आर्य अवलोकितेश्वर के हाथ से गिरती दुग्धधारा से प्रेत तृप्त हों ५५३, अन्धे देखें, बहरें सुनें और गर्भिणी सुख से प्रसव करें ५५३, सभी को भोजन वस्त्र प्राप्त हों ५५३, यात्रियों को मार्गबाधा न हो ५५५, अल्पबल वाले बलशाली हों ५५७, सभी सदा कुशल करें ५५८, सभी दीर्घायु हों ५५६, समय से वृष्टि हो, अच्छी फसल हो, लोक समृद्ध हो और राजा धार्मिक हो ५६१, पण्डित सत्कृत हों ५६३, सभी बुद्धत्व प्राप्त करें ५६४, ग्रन्थकार की अपने लिए परिणामना ५६५, बुद्ध शासन की चिरस्थिती के लिए परिणामना ५६८ कृतज्ञता ज्ञापन ५६८ ।

परिशिष्ट—१ श्लोकार्धानुक्रमणी

५६९-५९५

परिशिष्ट—२ सामान्य शब्दानुक्रमणी

५९६-६३५

परिशिष्ट—३ विशिष्ट शब्दानुक्रमणी

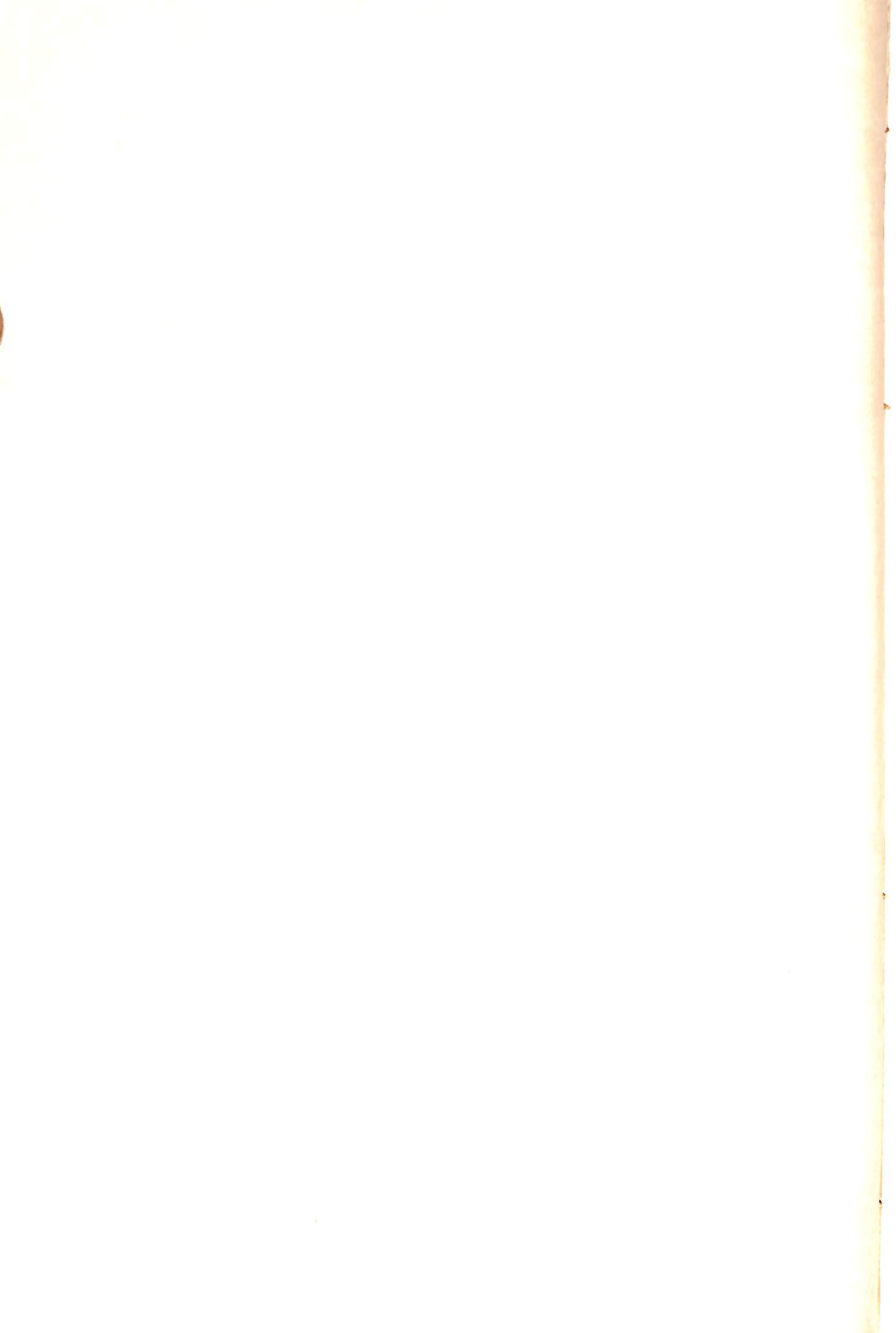
६३६-६३८

परिशिष्ट—४ उद्धृतग्रन्थानुक्रमणिका

६३९-६४७

परिशिष्ट—५ शुद्धिपत्र

६४८



आचार्यशान्तिदेव विरचित

बोधिचर्यावतार

हिन्दी-अनुवाद

प्रथम परिच्छेद

बोधिचित्तानुशंसा

कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत् प्रशस्यते ।
अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्त्वः किमुच्यताम् ॥
(बो० च० १:३१)

सुगतान्—‘सुगत’ शब्द भगवान् बुद्ध का पर्यायवाची है। बुद्ध अनेक हुए हैं। सभी को प्रणाम करने के लिए बहुवचन का निर्देश किया गया है।

‘सुगत’—शब्द में प्रयुक्त ‘सु’-शब्द के तीन अर्थ हैं, यथा—प्रशस्तता, अपुनरावृत्ति तथा निःशेषता अर्थात् पूर्णता।^१

‘गत’-शब्द में प्रयुक्त ‘गम्’ धातु के भी तीन अर्थ होते हैं—गमन, बोध एवं प्राप्ति।

(क) जिस प्रकार का प्रहाण प्राप्त करना प्रशस्त (श्रेष्ठ) माना जाता है, उस प्रकार का क्लेश-आदि आवरणों का प्रहाण भगवान् बुद्ध ने प्राप्त किया है, अतः वे ‘सुगत’ हैं। इस निर्वचन द्वारा भगवान् की प्रहाण-सम्पत्ति का निर्देश किया गया है। अथवा प्रशस्त जो सर्वधर्मनिःस्वभावता तत्त्व है, उसका भगवान् ने साक्षात् बोध किया है, इसलिए वे ‘सुगत’ हैं। इसके द्वारा भगवान् की अधिगमसम्पत्ति का निर्देश किया गया है। ये दोनों फलसम्पत्तियाँ हैं। अथवा संसार से विनिर्गत होने के कारण भगवान् का गमन प्रशस्त है। इसके द्वारा समस्त तैत्थिक शास्ताओं और पृथग्जनों से भगवान् की विशेषता दिखलाई गई है, क्योंकि आत्मा और धर्मों के प्रति भावाभिनिवेश होने के कारण वे संसार के अन्तर्गत हैं और इसीलिए उनका गमन अप्रशस्त है। आत्मा आदि प्रमाणबाधित हैं। संसार का प्रतिपक्ष न होने के कारण उनका गमन अप्रशस्त है।

(ख) अपुनरावृत्तिपूर्वक गमन सुगतत्व हैं। जन्म और राग आदि दोषों का बार-बार उत्पाद होना ‘पुनरावृत्ति’ है। इसका कारण आत्मदर्शन करनेवाली अविद्या है। नैरात्म्यदर्शन उसका प्रतिपक्ष हैं। भगवान् ने प्रतिपक्ष को सात्मीभूत कर लिया है। फलतः अविद्याबीज का समूल सर्वथा प्रहाण कर देने से उनकी सन्तति में जन्म और क्लेशों की पुनरावृत्ति की सम्भावना सदा के लिए समाप्त है। अतः भगवान् अपुनरावृत्तिपूर्वक गत होने से ‘सुगत’ हैं। इसके द्वारा स्रोत-आपन्न, सकृदागामी आदि शैक्ष बोधिसत्त्वों से भगवान् की विशेषता दिखलाई गई है। क्योंकि उन शैक्ष आदि का गमन यद्यपि प्रशस्त है तथापि उनकी सन्तति में दोषोत्पाद की सम्भावना है, अतः उनका गमन अपुनरावृत्तिपूर्वक नहीं है।

१ (क) द्र०—प्रमाणवार्तिक १ : १४१-१४५ पृ० ५२-५३ (बौद्धभारती-संस्करण, वाराणसी १९६८)।

(ख) द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० १ (मिथिला इन्स्टीच्यूट दरभंगा १९६०)।

(ग) निःशेष अर्थात् पूर्ण गमन होने से भगवान् 'सुगत' हैं। यद्यपि श्रावक अर्हत् एवं प्रत्येकबुद्धों ने क्लेशों का प्रहाण कर निर्वाण का लाभ किया है तथापि भगवान् सम्यक् संबुद्ध में उनकी अपेक्षा विशिष्टता होती है। श्रावक आदि में क्लेशों की वासना (ज्ञेयावरण) और सर्वाकार वस्तु का असाक्षात्कार शेष (बाकी) रहता है। फलतः उनमें कायवैगुण्य (कूद-कूद कर चलना) वाग्वैगुण्य (अपशब्द का उच्चारण करना) तथा बुद्धिवैगुण्य (चित्त का नित्य समाहित न रहना) आदि दिखलाई पड़ते हैं। अथवा जिस मार्ग से उन्होंने बोधि प्राप्त की है, उसके उपदेश में अकौशल उनमें शेष (बाकी) है। भगवान् ने समस्त क्लेशों की वासना का समूल प्रहाण किया है तथा सर्वाकारज्ञता का अधिगम किया है, अतः उनमें कायवाग्बुद्धिवैगुण्य एवं स्वयम् अधिगत मार्ग के प्रकाशन में अपदुता बिलकुल नहीं है। अतः उनका गमन निःशेष (पूर्ण) है। अतः वे 'सुगत' हैं। इस कथन द्वारा भगवान् का सम्पूर्णगामित्व एवं उनके असाधारण गुणों का निर्देश होता है।

इस प्रकार सुगत शब्द द्वारा भगवान् का अशेष गुणों का आधार होना तथा अन्य योगियों से उनकी असाधारणता प्रकट होती है।

ससुतान्—महायान की दश भूमियों में से जिन्होंने प्रमुदिता आदि भूमियों का लाभ कर लिया है, ऐसे बोधिसत्त्व भगवान् के पुत्र (सुत) कहे जाते हैं। इस प्रसंग में यहाँ बोधिसत्त्वों का ही ग्रहण होता है। उनके साथ आचार्य ने बुद्ध को प्रणाम किया है। इस विशेषण के द्वारा आर्यसंघ को नमस्कार अभिहित होता है।

सधर्मकायान्—समस्त दोषों से विनिर्मुक्त भगवान् का (ज्ञान-) धर्मकाय है। उन्होंने जिन उत्तम गुणों का अधिगम किया है, धर्मशब्द द्वारा यहाँ उन्हीं का ग्रहण होता है। अथवा काय' शब्द का अर्थ समूह भी होता है, फलतः उनके प्रवचनों का समूह भी यहाँ धर्मकाय शब्द से गृहीत होता है। इस विशेषण के द्वारा धर्म को नमस्कार अभिहित होता है।

इस प्रकार मंगलगाथा की प्रथम पंक्ति द्वारा रत्नत्रय (बुद्ध, धर्म, संघ) को नमस्कार किया गया है।

बुद्ध के बाद धर्म और धर्म के बाद संघ को प्रणाम करने का क्रम परम्परा में मान्य है। यहाँ बुद्ध के बाद संघ और संघ के बाद धर्म को प्रणाम करके क्यों व्यतिक्रम किया गया है ?

यह सत्य है कि यहाँ व्यतिक्रम हुआ है। किन्तु दोष नहीं है। श्लोक बनाने में मात्राओं के प्रतिबन्ध का ध्यान रखना होता है। प्रतीत होता है कि श्लोकबन्ध के

अनुरोध से व्यतिक्रम किया गया है।^१ वैसे 'सुगतान्' के बाद 'सधर्मकायान्' और उसके बाद 'ससुतान्' होना चाहिए। अथवा बोधिसत्त्वों ने भी धर्मों (उत्तम गुणों) का अधिगम किया है, अतः उनमें भी अधिगम धर्म विद्यमान है।^२ फलतः उनके नमस्कार में धर्म का नमस्कार अन्तर्निहित है। बोधिसत्त्वों का बुद्धत्व प्रायः नियत है। अतः वे भी सुगत के समान ही हैं। अतः धर्म से पूर्व उनका प्रणाम करना अयुक्त नहीं है।

अखिलांश्च वन्द्यान्—आचार्य, उपाध्याय, कल्याणमित्र आदि समस्त वन्दनीय पुरुषों को इसके द्वारा नमस्कार किया गया है।

इस प्रकार गाथा के पूर्वार्ध द्वारा सुगत आदि को प्रणाम किया गया है। अब अपरार्ध द्वारा ग्रन्थ के अभिधेय आदि का प्रदर्शन किया जा रहा है।

अनुबन्धादि चतुष्टय—अभिधेय, प्रयोजन, सम्बन्ध और प्रयोजन-प्रयोजन या प्रयोजननिष्ठा को अनुबन्धचतुष्टय कहते हैं। श्रोतृजन की शास्त्र में प्रवृत्ति के लिए ग्रन्थकार ग्रन्थ के आदि में इनका निर्देश करते हैं। यदि अभिधेय न कहा जाए तो ग्रन्थ को उन्मत्त के वाक्यों के समान अनर्थक समझकर श्रोतृजन उसमें प्रवृत्त ही नहीं होंगे। अभिधेय होने पर भी यदि शास्त्र प्रयोजनरहित होगा तब भी बुद्धिमान् अर्थिजन उसमें प्रवृत्त न होंगे। शास्त्र में प्रवृत्ति का प्रमुख कारण प्रयोजन ही हुआ करता है।

अभिधेय—बोधिसत्त्वचर्यावतार ही इस ग्रन्थ का अभिधेय है। इसे ही 'सुगतात्मजसंवरावतार' शब्द से यहाँ कहा गया है। 'सुगत' भगवान् बुद्ध हैं। उनके 'आत्मज' बोधिसत्त्व हैं। 'संवर' शब्द का अभिप्राय बोधिसत्त्वशिक्षा का ग्रहण है। 'अवतार' का अर्थ मार्ग है। इस तरह बोधिसत्त्व शिक्षा का मार्ग अर्थात् बोधिचर्यावतार इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है।

सम्बन्ध—ऊपर कहा गया है कि बोधिसत्त्वसंवरावतार इस ग्रन्थ का अभिधेय है। इसका अर्थ है कि यह ग्रन्थ संवरावतार का अभिधायक अर्थात् वाचक है। इस

१. इह श्लोकबन्धानुरोधाद् व्यतिक्रमनिर्देशो वेदितव्यः । द्र०—प्रज्ञाकरमति, बोधिचर्यावतार-पंजिका पृ० २ (मिथिला ईन्स्टीच्यूट दरभंगा १९६०) ।

२. धर्म दो प्रकार का होता है—१. आगम (प्रवचन) धर्म और २. अधिगम धर्म ।

शासनं द्विविधं शास्तुरागमाधिगमात्मकः । द्र०—अभिधर्मकोश ८:३९, पृ० ११८६ (बौद्ध-भारती, वाराणसी १९७३)

तरह यद्यपि ग्रन्थकार ने सम्बन्ध का साक्षात् निर्देश नहीं किया है, तथापि अभिधेय-के कथन के बल से अपने अभिधेय के साथ इस ग्रन्थ का 'अभिधानाभिधेयसम्बन्ध' सिद्ध होता है।

प्रयोजन—अभिधेय का प्रतिपादन ही वस्तुतः ग्रन्थ का प्रयोजन होता है। यह 'कथयिष्यामि' (कहूँगा) शब्द के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। परमार्थतया अभिधेय के स्वरूप का व्युत्पादन ग्रन्थ का प्रयोजन है। अर्थात् चित्तसन्तति में अभिधेय के वास्तविक स्वरूप का बोध उत्पन्न कर देना ही प्रयोजन है।

प्रयोजननिष्ठा—ऊपर कहा गया है कि बोधिसत्त्वमार्ग (बोधिमार्ग) इस ग्रन्थ का अभिधेय है। उस मार्ग का ज्ञान सर्वप्रथम ग्रन्थश्रवण से होता है। इसे श्रुतमयी प्रज्ञा कहा जाता है। तदनन्तर प्रमाणपूर्वक उसका स्वतन्त्रतया चिन्तन एवं मनन किया जाता है। फलतः अभिधेयविषयक चिन्तामयी प्रज्ञा का उत्पाद होता है। इस प्रज्ञा के द्वारा निश्चित स्वरूप की वाद में भावना की जाती है। इस काल की प्रज्ञा भावनामयी प्रज्ञा कहलाती है। भावना के अन्त में लोकोत्तरमार्ग (प्रज्ञा) का उत्पाद होता है। इस लोकोत्तर प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कृत तत्त्व की पुनः पुनः भावना करने से अन्त में क्लेशावरण, ज्ञेयावरण आदि से विमुक्त बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार परम्परया बुद्धत्व की प्राप्ति ही वस्तुतः ग्रन्थ का प्रयोजन-प्रयोजन या प्रयोजननिष्ठा है।

यथागमं—ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है कि मैं इस ग्रन्थ में जो कुछ कहूँगा, वह आगम के अनुसार ही होगा। अर्थात् भगवान् बुद्ध ने प्रवचनों में जिस प्रकार मार्गक्रम का प्रतिपादन किया है, ग्रन्थ का प्रतिपादन भी तदनुसार होगा। इस कथन द्वारा आगमों से स्वातन्त्र्य का परिहार किया गया है। अर्थात् ग्रन्थ का प्रतिपादन उत्सूत्र नहीं है। यदि जो कुछ आगम में है, वहीं इस ग्रन्थ में है तो ऐसी स्थिति में अभिलाषी जन आगम में ही प्रवृत्त होंगे, इस ग्रन्थ के प्रणयन का क्या लाभ है ?

समासात्—यह ठीक है, फिर भी नाना सूत्रान्तों में भगवान् ने अतिविस्तार-पूर्वक मार्ग का उपदेश किया है। ग्रन्थकार का कहना है कि मैं उन सब का संकलन करके संक्षेप में उसका यहाँ प्रतिपादन करूँगा। फलतः ग्रन्थ की उपयोगिता है।

प्रणामप्रयोजन—प्रणाम एक कुशल चेतना है तथा उससे उद्भूत कायविज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति है। इस तरह प्रणाम तीन प्रकार के हो जाते हैं, यथा—कायप्रणाम, वाक्प्रणाम तथा मनःप्रणाम। जब-जब प्रणाम नामक कुशल चेतना उत्पन्न होती है, तब चित्तसन्तति पुण्यसम्भार से समन्वित हो जाती है। इसके फलस्वरूप पूर्वकृत

पाप कर्मों की फलदान शक्ति कमजोर हो जाती है और विघ्न शान्त हो जाते हैं। फलतः जो कार्य (ग्रन्थप्रणयन) आदि प्रारम्भ किये गये हैं उनकी निर्विघ्न समाप्ति की सम्भावना बढ़ जाती है। दूसरे, प्राचीन ग्रन्थकारों ने भी ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण किया है, अतः प्रणामक्रिया द्वारा साधुजनसम्मत कार्य का अनुगमन भी हो जाता है। तीसरे, इष्ट देवता आदि के नमस्कार का श्रवण करने से श्रोताओं में आस्तिकता की भावना पैदा होती है तथा ग्रन्थ के प्रति गौरव वृद्धि उत्पन्न होती है। चौथे, प्रस्तुत मंगल गाथा में 'सुगत' शब्द के द्वारा भगवान् के असाधारण गुणों का माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। उन्हें सुनकर कुछ लोगों के मन में सुगतत्व (बुद्धत्व) प्राप्ति की अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है। फलतः उसे (बुद्धत्व को) प्राप्त करने के लिए वे बोधिसत्त्वों के मार्ग के ज्ञान के प्रति यत्नशील होकर इस ग्रन्थ में प्रवृत्त हो सकते हैं। वस्तुतः संक्षेप में यही प्रणाम करने का प्रयोजन है।

आगमों में जो कहा गया है, उससे अधिक कुछ कहना चाहिए। अन्यथा उन्हें छोड़कर इस ग्रन्थ के प्रति क्यों कोई प्रवृत्त होगा ? केवल संक्षेप में कहने मात्र से ग्रन्थ के प्रति आकर्षण नहीं होगा ?

इस आशंका पर आचार्य शान्तिदेव कहते हैं—

न हि किञ्चिदपूर्वमत्र वाच्यं

न च संग्रथनकौशलं ममास्ति ।

अत एव न मे परार्थचिन्ता

स्वमनो वासयितुं कृतं मयेदम् ॥ २ ॥

སྒྲོལ་ཆད་མ་ཕྱུང་བ་ཡང་འདིར་བརྒྱན་མེད།

ཕྱི་ལོ་ལྔ་པ་མཁས་པ་འདྲ་བ་ལ་ཡོད་མིན་དེ།

དེ་ཕྱིར་གཞན་དོན་བསམ་བཟང་བདག་ལ་མེད།

རང་གི་ཡིད་ལ་བརྟེན་ཕྱིར་ངས་འདི་བཅུ་མས། ༩ །

(ग्रन्थकार का कहना है कि) आगमों से अधिक कुछ अपूर्व (मुझे) इस ग्रन्थ में कहना नहीं है । न तो पद और अर्थ के विन्यास (रचना)-विशेष (संग्रथन) में ही मेरी निपुणता है । इसीलिए यह ग्रन्थ परार्थोपयोगी होगा, ऐसी मेरी कल्पना (विकल्प) भी नहीं है (सामर्थ्य का अभाव होने से) । फिर भी अपनी चित्तसन्तति

को बोधिसत्त्वमार्ग के अभ्यासरस से अधिकाधिक वासित (सिक्त) करने के लिए मैंने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है ।

केवल अपने लाभ के लिए तो किसी को ग्रन्थ लिखते देखा नहीं गया है और न तो अपनी रचना से अपने आत्मा में किसी तरह का वैशिष्ट्य आता है । क्योंकि जिन संस्कारों के कारण कोई रचना की जाती है, वे तो रचना से पूर्व ही आत्मा में विद्यमान रहते हैं ?

मम तावदनेन याति वृद्धिं

कुशलं भावयितुं प्रसादवेगः ।

अथ मत्समधातुरेव पश्ये-

दपरोऽप्येनमतोऽपि सार्थकोऽयमु ॥ ३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ३ ।

इस ग्रन्थप्रणयन प्रक्रिया के द्वारा मेरी चित्तसन्तति में जो श्रद्धा विद्यमान है, उसमें कुशल (पुण्य) की भावना (अभ्यास) करने के लिए वेग (बाढ़) आ जाता है ।

(इस पूर्वार्ध द्वारा स्थायिकारिता दिखलाई गई है । अब परार्थकारिता दिखलाने के लिए आचार्य कहते हैं ।)

मेरे समान स्वभाववाला कोई अन्य व्यक्ति यदि इस ग्रन्थ (पदों और अर्थों) को देख भी लेगा तो इससे मेरा ग्रन्थप्रणयनप्रयत्न सार्थक (सप्रयोजन) हो जाएगा ।

इस प्रकार परोपकार की कुछ सम्भावना हो जाती है । ग्रन्थकार इस कारिका द्वारा निरभिमानता प्रकट करते हैं ।

बोधिचर्यावतार की आवश्यकता और महत्ता प्रकट करने के लिए आचार्य पुनः कहते हैं—

अत्यन्त दुर्लभ होने से ऐसा समागम फिर प्रायः अप्राप्य ही है। क्योंकि अक्षण की अवस्था में धर्मप्रविचय करना अशक्य है। आर्यगण्डव्यूह सूत्र में भी मनुष्यभाव की दुर्लभता बतलाई गई है, यथा—

“दुर्लभा अष्टाक्षणविनिवृत्तिः । दुर्लभो मनुष्यभावप्रतिलम्भः । दुर्लभा क्षण-
संपद्विशुद्धिः । दुर्लभो बुद्धोत्पादः । दुर्लभा अविकलेन्द्रियता । दुर्लभो बुद्धधर्मश्रवः ।
दुर्लभं सत्पुरुषसमवधानम् । दुर्लभानि भूतकल्याणमित्राणि । दुर्लभो भूतनयानुशासन्युप-
संहारः । दुर्लभं सम्यग्जीवितं लोके” ।^१

बोधिचित्त की अनुशंसा प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं—

रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे

विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशम् ।

बुद्धानुभावेन तथा कदाचि-

ल्लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ॥ ५ ॥

ཁོ་ལྟར་མཆོད་མོ་བྱུང་ན་ལ་སྒྲིག་ཏུ་མ་ན།

ཐོག་འགྲུ་སྐད་ཅིག་རབ་སྒྲུང་སྟོན་པ་ལྟར།

དེ་བཞིན་སངས་རྒྱས་མཐུ་ཡིས་བརྒྱ་ལམ་ན། །

འཛིག་རྟེན་བསོད་ནམས་སྒྲོ་བློས་ཐང་འགའ་འབྱུང་། ༥ །

बादलों से उत्पन्न रात्रि के घनघोर अन्धकार में जैसे बिजली क्षणमात्र के लिए चमक कर वस्तुओं को प्रकाशित कर देती है। वैसे बुद्ध के आनुभाव (अधिष्ठान) से कभी-कभी लोगों में हित और सुख के हेतु पुण्यकर्मों में मुहूर्तभर के लिए बद्धि उत्पन्न हो जाती है।

बुद्धानुभावेन—भगवान् बुद्ध भव्यता (योग्यता) के अनुसार लोगों के हित और सुख का सम्पादन करने के लिए हमेशा उनकी चित्तसन्तति को प्रकाशित करते हुए स्थित रहते हैं। वे जब जहाँ, जिस उपाय से, जिसके लिए जो हितकर समझते हैं, तब वहाँ वे उस उपाय से, उसके लिए उसका उपदेश करते हैं। अभव्य (अपात्र) की उपेक्षा कर विहार करते हैं। तथागत के अधिष्ठान से किसी तरह कभी उत्पन्न

होने के कारण पुण्यवृद्धि का उत्पाद भी अत्यन्त दुर्लभ है। वह पुण्यवृद्धि भी अत्यन्त अस्थिर है, क्योंकि लोक ने हमेशा अकुशल पक्ष का ही अभ्यास किया है।

क्योंकि ऐसा है—

तस्माच्छुभं दुर्बलमेव नित्यं

बलं तु पापस्य महत् सुधोरम् ।

तज्जीयतेऽन्येन शुभेन केन

संबोधिचित्तं यदि नाम न स्यात् ॥ ६ ॥

དེ་ལྟམ་དགེ་བ་ཉམ་རྒྱུ་ཉིད་ལ་དྲག

སྒྲིག་པ་སྤྱོད་ས་ཆེན་གྱི་མི་བཟང་པ།

དེ་ནི་རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་སེམས་མིན་པ། །

དགེ་བཅུ་གཟུང་གིས་ཟིལ་གྱིས་གཏོན་པར་འགྱུར། ༦ །

इसलिये बिजली की चमक के समान होने से पुण्य सदा दुर्बल (असमर्थ) ही होता है, तो बलशाली फिर कौन है ? पाप का बल महान् है तथा नरक आदि दुःखों को देने के कारण और दुर्जय होने के कारण वह अत्यन्त भयंकर (सुघोर) भी है। उस प्रकार का वह सबल पाप किस अन्य से जीता जा सकता था, यदि संबोधिचित्त न होता।

सम्बोधिचित्त—प्राणिमात्र के दुःखसागर से समुद्धार के लिए बुद्धत्वप्राप्ति का जो दृढ़ आशय (अध्याशय मनस्कार) से युक्त चित्त है, वह 'सम्बोधिचित्त' कहलाता है। सम्यक् बोधि को संबोधि कहते हैं। संबोधि ही बुद्धत्व है। इसे प्राप्त करने का अकृत्रिम एवं दृढ़ चित्त ही संबोधिचित्त है। एक बलवान् दूसरे बड़े बलवान् द्वारा ही पराजित किया जा सकता है, जैसे रात्रि का अन्धकार सूर्य द्वारा नष्ट किया जा सकता है। बलवान् पाप को नष्ट करने के लिए सम्बोधिचित्त से बढ़कर कोई अन्य प्रबल प्रतिपक्ष (शत्रु) नहीं है। इसलिए उसके नाश के लिए संबोधिचित्त का ही उत्पाद करना चाहिए, यह अभिप्राय है।

इसलिए भी बोधिचित्त का उत्पाद करना चाहिए—

कल्पाननल्पान् प्रविचिन्तयद्भि-

दृष्टं मनीन्द्रै हितमेतदेव ।

यतःसुखेनैव सुखं प्रवृद्ध-

मुत्प्लावयत्यप्रमिताञ्जनौधान् ॥ ७ ॥

सङ्गम'स'रु'मर'र'न'न'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

सुन'र'म'र'र'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'r' ।

र'र'र'र'र'र'र'r'r'r'r'r'r'r'r'r'r' । ७ ।

भगवान् बुद्धों द्वारा बोधिसत्त्व अवस्था में अनेकों महाकल्पों तक चिन्तन करते हुए यह (सम्बोधिचित्त) ही समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला हितकारी बीज है—ऐसा देखा गया । क्योंकि इससे बिना कष्ट के उत्पन्न बड़ा हुआ सुख अर्थात् बुद्धत्व असंख्य सत्त्वसमूहों को संसाररूपी दुःखसागर से पार उतरता है । इसलिए संबोधिचित्त ही वस्तुतः हितकर है ।

अथवा—इस संबोधिचित्त से ही अनायास देवसम्पत्ति, मनुष्य सम्पत्ति स्वभाववाला बड़ा हुआ सुख अनेक सत्त्वसमूहों को अतिशय तृप्त करता है ।

मुखेनैव—इस बोधिचित्त से उत्पन्न एवं प्रवृद्ध सुख की प्राप्ति विना कष्ट के ही होती है । अर्थात् इसके लिए शिरोलुञ्चन आदि कष्ट कर उपायों का अवलम्बन नहीं करना पड़ता । बोधिसत्त्व इस बोधिचित्त द्वारा ही अप्रमेय पुण्यसम्भार और ज्ञान-सम्भार को बढ़ाता हुआ देवसम्पत्ति, मनुष्यसम्पत्ति और बुद्धत्वरूपी सुख को प्राप्त करता हुआ उनके द्वारा अनेक सत्त्वों को अधिकाधिक तृप्त करता है ।

मैत्रीबल आदि जातकों में सुना गया है कि भगवान् ने भी अत्यन्त दुष्कर साधनाओं का अनुष्ठान किया था, तब कैसे कहा जाता है कि सुखपूर्वक सुख बढ़ाया गया है ?

कृपालु बोधिसत्त्वों के द्वारा दूसरों के हित और सुख के लिए दुःख को स्वीकार करना ही चाहिए । दूसरों के दुःख से दुःखी बोधिसत्त्वों के लिए उस प्रकार का दुःख वस्तुतः सुख ही है ।

दूसरों के हित और सुख के विधायक बोधिचित्त का इसलिए भी त्याग नहीं करना चाहिए—

भवदुःखशतानि तर्तुकामै-

रपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः ।

बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामै-

र्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥ ८ ॥

देकर पुनः दुबारा फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। बोधिचित्त इनसे भिन्न है। बोधिचित्तरूपी कल्पवृक्ष तो देव, मनुष्य आदि योनियों में हमेशा (सततं) सुख, सम्पत्ति-रूपी फल देता रहता है और कभी नष्ट नहीं होता।

क्योंकि बोधिचित्त स्थिर स्वभाववाला होता है और प्रतिक्षण उससे अनेक प्रकार के शुभ कर्म प्रवृत्त होते हैं, अतः वह अविच्छिन्नरूप से सुख, सम्पत्ति रूपी फल प्रदान करता ही रहता है।

इसलिए लगातार सुख प्राप्त करते रहने की इच्छावाले बुद्धिमानों को बोधिचित्त का ग्रहण करना ही चाहिए।

अक्षयमतिसूत्र में कहा है कि जैसे महासमुद्र में पतित उदकविन्दु का कल्पपर्यन्त विनाश असम्भव है, इसी तरह बोधि के लिए परिणामित कुशलमूल का बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व नाश असम्भव है^१।

बोधिचित्त न केवल पुण्यों के संचय का ही हेतु है, अपि तु अकुशल पक्ष के नाश का भी हेतु है—

कृत्वाऽपि पापानि सुदारुणानि

यदाश्रयादुत्तरति क्षणेन ।

शूराश्रयेणेव महाभयानि

नाश्रोयते तत् कथमज्ञसत्त्वैः ॥ १३ ॥

क्षेमः सः श्रीकृष्णः श्रीमद्भगवत्पुत्रः श्रीमद्भगवत्पुत्रः ।

नमः सः श्रीकृष्णः श्रीमद्भगवत्पुत्रः श्रीमद्भगवत्पुत्रः ।

नमः सः श्रीकृष्णः श्रीमद्भगवत्पुत्रः श्रीमद्भगवत्पुत्रः ।

नमः सः श्रीकृष्णः श्रीमद्भगवत्पुत्रः श्रीमद्भगवत्पुत्रः ॥ १३ ॥

नरक आदि योनियों में दुःसह दुःख देनेवाले अतिभयंकर पाप कर्मों को करके भी जिस बोधिचित्त के आश्रय (अर्थात् जिसके उत्पाद, रक्षण, वर्धन और सेवन) से व्यक्ति उनसे निस्तार पा लेता है, क्योंकि एक ही क्षण में महान् पुण्यराशि का उत्पाद हो जाता है। कैसे निस्तार पा लेता है ? जिस प्रकार महान् अपराध करके भी कोई व्यक्ति किसी प्रभावशाली व्यक्ति के आश्रय से उस अपराध के फल से निर्भय

बोधिचित्त का भेद दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं—

तद् बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः ।

बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थाननेव च ॥ १५ ॥

सुप्-कुप्-सोमस-दे-मर्दे-म-सु-स-व ।

कुप्-म-म-सु-स-मे-स-सु-स-व ।

सुप्-कुप्-सोमस-दे-मर्दे-म-सु-स-व ।

सुप्-कुप्-म-सु-स-मे-स-सु-स-व । १५ ।

[पहले जिसकी इतनी महत्ता (अनुशंसा) प्रदर्शित की गई है] उस बोधिचित्त को संक्षेप से दो प्रकार का जानना चाहिए । कैसे ? (वह भी) प्रथम बोधिप्रणिधिचित्त एवं द्वितीय बोधिप्रस्थानचित्त ही है ।

बोधिप्रणिधिचित्त—सम्यक् संबोधि की अकृत्रिम अभिलाषा 'बोधिप्रणिधि' है । इस अभिलाषावाला चित्त अथवा इस प्रणिधान से उत्पन्न चित्त 'बोधिप्रणिधिचित्त' कहलाता है । यह वह चित्त है, जो अभी दान आदि पारमिताओं की साधना में प्रवृत्त नहीं है, अपितु अभिलाषा (प्रणिधि)-मात्र चित्त है, जैसे— 'समस्त जगत् के परित्राण के लिए मैं बुद्ध होऊँ' ।

बोधिप्रस्थानचित्त—बोधि के लिए प्रस्थित चित्त 'बोधिप्रस्थानचित्त' कहलाता है । यह वह चित्त है, जो बोधिप्रणिधि के बाद बोधिसत्त्वसंवर ग्रहण करके पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार के अर्जन में प्रवृत्त हो गया है । अर्थात् बोधि के मार्ग पर आरुढ हो चुका है ।

इस तरह बोधिचित्त दो प्रकार का है । 'एव' शब्द के द्वारा यह दिखलाया गया है कि बोधिचित्त के इतने ही भेद हैं । 'च' शब्द के प्रयोग के द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रणिधिचित्त और प्रस्थानचित्त दोनों ही बोधिचित्त हैं । इससे यह आशंका निर्मूल हो जाती है कि प्रणिधिचित्त बोधिचित्त नहीं है । शूरंगमसूत्र में उक्त है कि पहलेवाला प्रणिधिचित्त भी बुद्धत्व का हेतु है^१ । आर्यगण्डव्यूहसूत्र में भी कहा गया है कि लोक में ऐसे पुरुष भी दुर्लभ हैं, जो सम्यक् संबोधि की अभिलाषा भी करते हैं^२ ।

१. द्र० — बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ११ ।

२. दुर्लभाः कुलपुत्र, ते सत्त्वाः सत्त्वलोके ये अनुत्तरस्यां सम्यक्संबोधौ चित्तं प्रणिदधति । ततोऽपि दुर्लभतमास्ते सत्त्वाः ये अनुत्तरां सम्यक्-संबोधिमनुप्रस्थिताः ।

द्र० — गण्डव्यूहसूत्र, पृ० ३९५ (दरभंगा-संस्करण) ।

बोधिचित्त के उपर्युक्त दोनों भेदों को अब उपमा द्वारा समझाया जा रहा है—

गन्तुकामस्य गन्तुश्च यथा भेदः प्रतीयते ।

तथा भेदोऽनयोर्ज्ञेयो याथासंख्येन पण्डितैः ॥ १६ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । १७ ।

जैसे (कोई पुरुष गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए) जाने की इच्छावाला है (किन्तु अभी चलना आरम्भ नहीं किया है) दूसरा आदमी (अभिमत देश की प्राप्ति के लिए) चल रहा है, जिस प्रकार इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में फर्क (भेद) मालूम हो रहा है, ठीक इसी प्रकार का भेद क्रमशः इन दोनों प्रणिधिचित्त और प्रस्थानचित्त में विद्वानों को समझना चाहिए । अर्थात् जाने की इच्छावाले प्रथम पुरुष की तरह प्रथम बोधिप्रणिधिचित्त है और दूसरे के समान बोधिप्रस्थानचित्त है ।

साधना क्रिया से रहित प्रथम बोधिप्रणिधिचित्त का भी संसार में महान् फल होता है, ऐसा भगवान् ने वर्णन किया है ।

बोधिप्रणिधिचित्तस्य संसारेऽपि फलं महत् ।

न त्वविच्छिन्नपुण्यत्वं यथा प्रस्थानचेतसः ॥ १७ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । १८ ।

यद्यपि बोधिप्रणिधिचित्त प्रतिपत्ति (साधना = चर्या)-रहित है, अतः बुद्धत्व फल को थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें, तो संसार में भी अन्य पुण्यों की अपेक्षा देव-मनुष्य सुख-सम्पत्ति लक्षण उसका महान् फल होता है ।

जैसे कि पहले कहा गया है कि कल्पवृक्ष की तरह हमेशा फल देता है और कभी नष्ट नहीं होता (१:१२) इत्यादि ।

आर्यगण्डव्यूहसूत्र में कहा गया है कि जैसे वज्ररत्न का छोटा टुकड़ा भी सुवर्ण के अलंकारों को अपनी शोभा से अभिभूत करता है, सभी प्रकार के दारिद्र्य को हटाता है और 'वज्ररत्न' इस नाम को नहीं छोड़ता, इसी प्रकार चर्यारहित प्रणिधिचित्त भी सभी श्रावक, प्रत्येकबुद्धों का अभिभव करता है, संसारदारिद्र्य को हटाता है और 'बोधिचित्त' इस नाम को नहीं छोड़ता^१ ।

आर्यापरराजाववाद सूत्र में भी उक्त है कि जो किसी तरह पारमिताओं की पूर्ति में असमर्थ है, उसे भी बोधिप्रणिधिचित्त का उत्पाद करना चाहिए, क्योंकि उसका भी महान् फल है^२ ।

अतः चर्याविकल भी इस बोधिचित्त की अवमानना (तिरस्कार) नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अनन्त संसार में अनन्त सुख उत्पन्न करने में वह समर्थ है ।

प्रतिपत्ति (साधना = चर्या) से सम्पन्न जो बोधिप्रस्थानचित्त है, उसका तो निःसन्देह अत्यन्त विपुल फल है । इसीलिए आचार्य शान्तिदेव कहते हैं—

फिर भी निरन्तर पुण्यप्रवाह का जैसा स्वभाव बोधिप्रस्थानचित्त का है, वैसा बोधिप्रणिधिचित्त का नहीं है ।

नीचे की दो कारिकाओं के द्वारा अविच्छिन्न (निरन्तर) पुण्यप्रवाह स्वभाव दिखलाया जा रहा है—

यतः प्रभृत्यपर्यन्तसत्त्वधातुप्रमोक्षणे ।

समाददाति तच्चित्तमनिवर्त्येन चेतसा ॥ १८ ॥

ततः प्रभृति सुप्तस्य प्रमत्तस्याप्यनेकशः ।

अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः प्रवर्तन्ते नभःसमाः ॥ १९ ॥

१. तद्यथापि नाम कुलपुत्र, भिन्नमपि वज्ररत्नं सर्वप्रतिविशिष्टं सुवर्णालंकारमभिभवति, वज्ररत्ननाम च न विजहाति, सर्वदारिद्र्यं च विनिवर्तयति; एवमेव कुलपुत्र, प्रतिपत्ति-भिन्नमपि सर्वज्ञताचित्तोत्पादवज्ररत्नं सर्वश्रावकप्रत्येकबुद्धगुणसुवर्णालंकारमभिभवति, बोधिचित्तनाम च न विजहाति, संसारदारिद्र्यं च विनिवर्तयतीति । द्र०—गण्डव्यूहसूत्र (आर्यमैत्रेयविमोक्ष), पृ० ४०५-४०६ ।

२. द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० १२ (उद्धृत) ।

माद'क्ष'म'हृद'श्वे'सोम'स'उ'न'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' ।
 सोम'स'दे'य'द'द'म'स'म'स' । १५ ।
 दे'क्ष'म'हृद'श्वे'म'श्वे'स'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' । १६ ।

जिस क्षण से लेकर असीमित आकाशधातु में व्याप्त समस्त प्राणियों के समस्त दुःखों की शान्ति के लिए अनिवर्त्य (नहीं लौटनेवाले) मन से प्रस्थान चित्त का ग्रहण किया जाता है, तब से लेकर सुप्तावस्था में भी, विक्षिप्तावस्था में भी (इतना ही नहीं, चलते, खड़े रहते, बैठते, खाते-पीते या मूर्छा की अवस्था में भी) प्रतिक्षण अनेक बार आकाशतुल्य विपुल पुण्यधाराएं निरन्तर प्रवृत्त होते रहती हैं ।

इसलिए बोधिसत्त्व को प्रतिपत्तियुक्त प्रस्थान चित्त से सम्पन्न होना चाहिए, यह बात आर्यसमाधिराज सूत्र में भी कही गई है^१ ।

अविच्छिन्न पुण्यप्रवाह की चर्चा स्वयं भगवान् ने भी की है—

इदं सुबाहुपृच्छायां सोपपत्तिकमुक्तवान् ।
 होनाधिमुक्तिसत्त्वार्थं स्वयमेव तथागतः ॥ २० ॥
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' ।
 म'म'द'य'स'र'व'द'द'श्वे'स'म'स' । २० ।

१ तस्मात् प्रतिपत्तिसारो भविष्यामि, इत्येवं कुमार, शिक्षितव्यम् । तत् कस्य हेतोः ? प्रतिपत्तिसारस्य कुमार, न दुर्लभा भवति अनुत्तरा सम्यक्-संबोधिरिति । ३०-समाधिराज-सूत्र, पृ० ५४ ।

अविच्छिन्नपुण्यत्व की यह बात स्वयं भगवान् तथागत ने हीन (श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान) में श्रद्धा करने वाले पुद्गलों (पुरुषों) लिए युक्तिपूर्वक सुबाहु-परिपृच्छा सूत्र में कही है ।

वे युक्तियाँ क्या हैं, इसे दिखलाया जा रहा है—

शिरःशूलानि सत्त्वानां नाशयामीति चिन्तयन् ।

अप्रमेयेण पुण्येन गृह्यते स्म हिताशयः ॥ २१ ॥

किमुताप्रतिमं शूलमेकैकस्य जिहीर्षतः ।

अप्रमेयगुणं सत्त्वमेकैकं च चिकीर्षतः ॥ २२ ॥

सोमसः षडङ्गस्य ऋषिः श्रुत्वा त्रयं ।

वसन्तः ऋषिः श्रुत्वा त्रयं वसन्तः ऋषिः ।

षडङ्गस्य वसन्तः ऋषिः श्रुत्वा त्रयं ।

वसन्तः ऋषिः श्रुत्वा त्रयं वसन्तः ऋषिः । २१ ।

सोमसः षडङ्गस्य ऋषिः श्रुत्वा त्रयं ।

वसन्तः ऋषिः श्रुत्वा त्रयं वसन्तः ऋषिः ।

षडङ्गस्य वसन्तः ऋषिः श्रुत्वा त्रयं ।

वसन्तः ऋषिः श्रुत्वा त्रयं वसन्तः ऋषिः । २२ ।

मैं (अमुक मन्त्र या अमुक औषध से कुछ) प्राणियों के शिरःशूल (मस्तक पीडा) को दूर करूंगा-ऐसा सोचनेवाला वाला व्यक्ति भी लोक में अप्रमेय पुण्य-शाली एवं लोकहितैषी समझा जाता है । (फिर) उस व्यक्ति के बारे में तो कहना ही क्या है, जो असीम जगत् के प्रत्येक प्राणी का असीम संसारदुःख दूर करना चाहता है । (इतना ही नहीं,) सभी सत्त्वों के दुःख को दूर कर उन्हें समस्त गुणों से सम्पन्न भी करना चाहता है । क्या ऐसे व्यक्ति (बोधिसत्त्व) को अप्रमेय पुण्य नहीं होगा ?

इसलिए इस अभय वाले स्थान (महायान) से अपने चित्त को हटाना नहीं चाहिए ।

लोक में सबसे प्रिय आत्मा ही होता है। जब उसके लिए भी ऐसी बुद्धि नहीं होती तो परार्थ के लिए उत्पन्न होने की सम्भावना करना तो दूर की बात है। अथवा स्वप्न में भी उनमें परार्थ की सम्भावना असम्भव है।

बोधिसत्त्व के असाधारण गुणों का वर्णन करके अब उपसंहार के रूप में कहा जा रहा है—

सत्त्वरत्नविशेषोऽयमपूर्वो जायते कथम् ।

यत्परार्थाशयोऽन्येषां न स्वार्थेऽप्युपजायते ॥ २५ ॥

मार्जव'दम'रु'मी'रु'रु'रु' ।

मी'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु' ।

रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु' ।

रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु' ३५ ।

अद्भुत कर्म करनेवाले ऐसे बोधिसत्त्व का उत्पाद अत्यन्त दुर्लभ है, अतः उसे 'सत्त्वरत्नविशेष' कहा गया है। पहले ऐसा व्यक्ति नहीं देखा गया, अतः उसे 'अपूर्व' कहा गया है। जिस प्रकार के गुणों से युक्त वह कहा गया है, ऐसे व्यक्ति का उत्पन्न होना अद्भुत है। (यहाँ अद्भुत अर्थ में 'कथम्' का प्रयोग है)।

(ऐसा इसलिए कहा जा रहा है, क्योंकि) दूसरों के हित (परार्थ) साधन का जैसा आशय बोधिसत्त्व में देखा जाता है, वैसा आशय अन्य लोगों में अपने विषय (स्वार्थ) में भी नहीं देखा जाता।

बोधिचित्त की प्रशंसा के द्वारा बोधिसत्त्व के अप्रमेय पुण्य की चर्चा की जा रही है—

जगदानन्दबीजस्य जगद्दुःखौषधस्य च ।

चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्रमीयताम् ॥ २६ ॥

रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु' ।

रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु' ।

रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु' ।

रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु'रु' ३६ ।

करूँगा—ऐसा सोचकर जो उद्यम (प्रयत्न) किया जाता है, उस उद्यम का तो कहना ही क्या है ! अर्थात् इससे जो पुण्य होता है, वह निश्चित ही सर्वाधिक है ।

अपने हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में तो सभी प्राणी कुशल होते हैं । इसमें किसी अन्य पुरुष के उद्योग के लिए अवकाश ही कहाँ है ? इसका विवेचन निम्न कारिकाओं द्वारा किया जा रहा है—

दुःखमेवाभिधावन्ति दुःखनिःसरणाशयाः ।

सुखेच्छयैव संमोहात् स्वसुखं घ्नन्ति शत्रुवत् ॥२८॥

यस्तेषां सुखरङ्गाणां पीडितानामनेकशः ।

तृप्तिं सर्वसुखैः कुर्यात् सर्वाः पीडाश्छिनत्ति च ॥२९॥

नाशयत्यपि संमोहं साधुस्तेन समः कुतः ।

कुतो वा तादृशं मित्रं पुण्यं वा तादृशं कुतः ॥३०॥

श्रुमा'दश्रुमा'दरे'दरे'सोमसा'अरे'गुद'॥

श्रुमा'दश्रुमा'दरे'दरे'सोमसा'अरे'गुद'॥

दरे'दरे'दरे'दरे'गुद'गुद'श्रुमा'दश्रुमा'॥

दरे'दरे'दरे'दरे'गुद'गुद'श्रुमा'दश्रुमा'॥ ३८ ॥

गुद'श्रुमा'दश्रुमा'दरे'दरे'गुद'गुद'॥

श्रुमा'दश्रुमा'दरे'दरे'गुद'गुद'॥

दरे'दरे'दरे'दरे'गुद'गुद'॥

श्रुमा'दश्रुमा'दरे'दरे'गुद'गुद'॥ ३९ ॥

गुद'श्रुमा'दश्रुमा'दरे'दरे'गुद'गुद'॥

दरे'दरे'दरे'दरे'गुद'गुद'॥

दरे'दरे'दरे'दरे'गुद'गुद'॥

दरे'दरे'दरे'दरे'गुद'गुद'॥ ३० ॥

हिंसा, लूट आदि अकुशल कर्मों के द्वारा भूख, दरिद्र्य आदि दुःखों से बाहर निकलने की इच्छा वाले लोग नरक आदि दुःख की ओर ही वस्तुतः दौड़ते हैं । [जैसे

फतिगे अग्नि की लपट की ओर दौड़ते हैं]। इसलिए वे मोह के कारण अर्थात् विपर्यास (विपरीत बुद्धि) के कारण या हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में अज्ञान के कारण शत्रु के समान अपने सुख का ही हनन करते हैं।

अतः जो अकारणवत्सल पुण्यात्मा उन अनेक प्रकार के दुखों से पीडित लोगों को कायिक, मानसिक आदि सब प्रकार के सुखों से तृप्त (आप्यायित) करता है, न केवल सुख से तृप्ति मात्र करता है, अपितु उनकी समस्त दुःख वेदनाओं का नाश करता है, इतना ही नहीं, (हेय और उपादेय मार्ग का प्रकाशन कर) संमोह (अज्ञान) का नाश भी करता है।

(जो इस प्रकार सभी प्राणियों के दुःखों को हटाने तथा हित एवं सुख को प्राप्त कराने के लिए सदा तत्पर रहता है) ऐसे महात्मा के तुल्य साधु पुरुष कौन है ? (अर्थात् दूसरा कोई अन्य नहीं है), उस प्रकार का विश्वस्त मित्र भी दूसरा कहाँ है ? (अर्थात् सम्भव नहीं है)। इस प्रकार के बोधिसत्त्व को जो पुण्य उत्पन्न होता है, वैसा पुण्य भी दूसरा कहाँ है ? (अर्थात् कोई बड़ा से बड़ा पुण्य भी उसके तुल्य नहीं है)।

कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत् प्रशस्यते ।

अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्त्वः किमुच्यताम् ॥३१॥

यत्तु नान्यथा नान्यथा नान्यथा नान्यथा ।

नेऽप्यन्यथा नान्यथा नान्यथा नान्यथा ।

नान्यथा नान्यथा नान्यथा नान्यथा ।

मुदं कुर्वन् नान्यथा नान्यथा नान्यथा ॥ ३१ ॥

भय, संकट आदि के समय पहले अपने प्रति किये गए उपकार का जो व्यक्ति बदला चुका देता है अर्थात् प्रत्युपकार कर देता है, ऐसा व्यक्ति भी 'यह साधु पुरुष है'—इस प्रकार लोक में प्रशंसित होता है। किन्तु जो विना किसी प्रत्याशा के या किसी के द्वारा प्रार्थना न किये जाने पर भी सुख, हित या कल्याण प्रस्तुत करता है—ऐसे बोधिसत्त्व के बारे में कहा ही क्या जाए। अर्थात् उसकी प्रशंसा करना अशक्य है।

सांसारिक व्यवहार की अपेक्षा से भी बोधिसत्त्व का पुण्य-माहात्म्य प्रकट किया जा रहा है—

कतिपयजनसत्त्वदायकः

कुशलकृदित्यभिपूज्यते जनैः ।

क्षणमशनकमात्रदानतः

सपरिभवं दिवसार्धयापनात् ॥ ३२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ३३ ।

कुछ सीमित लोगों के लिए प्रतिदिन भोजन, जलपान आदि के सत्र^१ की व्यवस्था करनेवाला व्यक्ति 'यह पुण्यात्मा पुण्यकर्मी है'—इस तरह लोक में सत्कार का पात्र होता है। वह भोजनदान भी न दिन भर होता है और न आधे दिन, अपितु मूहूर्तमात्र (क्षणम्) के लिए होता है। उस दान में दिया जाने वाला भोजन भी उत्तम कोटि का नहीं होता (विविध व्यंजनों से रहित होता है), केवल कुत्सित भोजनमात्र का दान होता है। इतना ही नहीं, उस भोजन सत्र में जबरदस्ती प्रवेश करने वालों को कटुवचन (गाली), धक्के, चाँटे आदि भी सहन करना पड़ता है, अतः वह दान तिरस्कार से युक्त (सपरिभवम्) भी होता है। फिर भी (वह भोजन मात्र) दो प्रहर^२ भर के लिए होता है (दिवसार्धयापनात्)। क्योंकि मध्याह्न में भोजन करके शाम को फिर उसकी तलाश होती है।

इतने पर भी सत्र की व्यवस्था करने वाला पुण्यकर्मी के रूप में लोक में सत्कृत होता है।

बोधिसत्त्व द्वारा किया जानेवाला दान इस दान से सर्वथा विपरीत होता है—यह दिखलाया जा रहा है—

किमु निरवधिसत्त्वसंख्यया

निरवधिकालमनुप्रयच्छतः ।

गगनजनपरिक्षयाक्षयं

सकलमनोरथसम्प्रपूरणम् ॥ ३३ ॥

१. 'सत्र' वह स्थान है, जहाँ निश्चित संख्या में निर्धन अतिथियों के लिए भोजन या जलपान आदि की व्यवस्था रहती है।

२. प्रहर = याम = ३ घंटे।

बोधिसत्त्व के प्रति प्रसन्न चित्त उत्पन्न होने पर बड़ा पुण्य होता है— इसे दिखलाया जा रहा है—

अथ यस्य मनः प्रसादमेति

प्रसवेत् तस्य ततोऽधिकं फलम् ।

महता हि बलेन पापकं

जिनपुत्रेषु शुभं त्वयत्नतः ॥३५॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ३५ ।

जो पुण्यात्मा बोधिसत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है, उसको पूर्वकथित पापफल से अधिक पुण्यफल प्राप्त होता है ।

नियतानियतावतारमुद्रासूत्र में उक्त है कि कल्पना कीजिए कि सभी लोक-धातुओं के सभी सत्त्वों के चक्षु नष्ट हो गए और कोई मैत्रीचित्तवाला व्यक्ति उन्हें (चक्षुओं को) उत्पन्न कर दे और कोई कुलपुत्र या कुलदुहिता बोधिसत्त्व को श्रद्धापूर्वक देखे तो इस देखनेवाले का पुण्य ही बड़ा है^१ । अतः इस महान् पुण्यक्षेत्र बोधिसत्त्व के प्रति शुभचित्त ही उत्पन्न करना चाहिए । बड़ी कठिनाई और बड़े प्रयत्न से ही कोई व्यक्ति बोधिसत्त्व के प्रति पापचित्त उत्पन्न कर पाता है, क्योंकि उन्होंने सभी प्राणियों के प्रति मैत्री एवं करुणा चित्त का अभ्यास किया है^२ । अतः अनर्थ को उत्पन्न करनेवाले पापचित्त का उनके प्रति उत्पाद प्रयत्नपूर्वक क्यों किया जाए ? अतः शुभ फल देने-

१. सचेन्मंजुश्रीः, दशसु दिक्षु सर्वलोकधातुषु सर्वसत्त्वा उत्पाटिताक्षा भवेयुः परिकल्पमुपादाय । अथ कश्चिदेव कुलपुत्रो कुलदुहिता वा तेषां सर्वसत्त्वानां मैत्रचित्तस्तान्यक्षीणि जनयेत् परिकल्पमुपादाय । योज्यो वा मंजुश्रीः, कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा महायानाधिमुक्तं बोधिसत्त्वं पश्येत्, अयं ततोऽसंख्येतरं पुण्यं प्रसवति ॥ इति ॥ द्र० — बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २० (उद्धृत) ।

२. तदद्यथा कुलपुत्र, चिन्तामणिरत्नराजमुकुटावबद्धानां महानागराज्ञां नास्ति परोपक्रमभयम्, एवमेव बोधिचित्तमहाकरुणाचिन्तामणिरत्नराजमुकुटावबद्धानां बोधिसत्त्वानां नास्ति दुर्गत्यपाय-परोपक्रमभयमिति । द्र० — आर्यमंजुश्रीविमोक्ष, बोधिचर्यावतारपंजिका में उद्धृत, पृ० २० ।

वाले प्रीतिचित्त, श्रद्धाचित्त, प्रमोदचित्त को ही उनके प्रति उत्पन्न करना चाहिए, जिसके उत्पाद में किसी तरह के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है (अयत्नतः) ।

जिनमें बोधिचित्त का उत्पाद हो गया है, उन बोधिसत्त्वों के प्रति अपनी मानसिक श्रद्धा प्रकट करते हुए आचार्य शान्तिदेव उन्हें प्रणाम निवेदन करते हुए कहते हैं—

तेषां शरीराणि नमस्करोमि

यत्रोदितं तद्वरचित्तरत्नम् ।

यत्रापकारोऽपि सुखानुबन्धी

सुखाकरांस्तान् शरणं प्रयामि ॥३६॥

मम'स'सोमस'गु'दस'स'रै'क'के'ने ।

सु'स'स'रे'प'सु'स'सु'म'र'क'स'ने' ।

मम'स'म'क'ने'स'सु'स'गु'द'स'ने'स'र'ने'स'ने' ।

स'ने'स'ने'स'सु'द'म'क'स'ने'स'सु'स'स'सु'स'ने' ३७ ।

मैं उन महापुरुषों के शरीरों की वन्दना करता हूँ, जिनकी चित्तसन्तान में चिन्तामणिरत्न के समान चित्तरत्न (बोधिचित्त), जिसकी ऊपर इतनी प्रशंसा की गई है) उत्पन्न हुआ है । जिन परम कारुणिक बोधिसत्त्वों के प्रति किया गया अपकार भी अपकारी के लिए सुख को लानेवाला ही होता है ।

अभिप्राय—प्रथम तो उनके प्रति अपकार करना ही अशक्य है, क्योंकि उन्होंने सबके प्रति मैत्री चित्त का अभ्यास किया है । दूसरे यदि अपकार किसी तरह हो भी गया तो वही अपकार बाद में उनके प्रति श्रद्धा का भी निमित्त हो जाता है । तीसरे बोधिसत्त्वों ने ऐसा प्रणिधान (संकल्प) किया है कि जो मेरे अपकारी हैं, जो कटु-वचन कहते हैं अथवा जो मेरे प्रति खड्गहस्त हैं, उन्हें भी उत्तम बोधि की प्राप्ति हो ।

सुख के आकर, जिनके प्रति किया गया अपकार भी सुख का हेतु होता है, मैं उन बोधिसत्त्वों की शरण में जाता हूँ । वे मेरी रक्षा करें ।

॥ बोधिचर्यावतार में बोधिचित्तानुशंसा नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त ॥

१. द्र०—(क) जातकमाला, मैत्रीबलजातक ८ ।

(ख) अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्येऽप्यपकारिणः ।

उत्प्रासकास्तथान्येऽपि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः ॥

द्र०—बोधिचर्यावतार ३ : १६, पृ० ४० ।

द्वितीय परिच्छेद

पापदेशना

दुर्लभ क्षणसम्पत्ति को प्राप्त एवं बोधिचित्त की अनुशंसा से परिचित व्यक्ति बोधिचित्त के उत्पाद के लिए बुद्ध, बोधिसत्त्वों के सम्मुख होकर क्रमशः वन्दन, पूजन शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येषणा, याचना एवं परिणामना (अष्टविध पुण्यसामग्री का अर्जन) करता है—

तच्चित्तरत्नग्रहणाय सम्यक्

पूजां करोम्येष तथागतानाम् ।

सद्धर्मरत्नस्य च निर्मलस्य

बुद्धात्मजानां च गुणोदधीनाम् ॥ १ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

१. त्रिरत्न वन्दना—ऊपर (प्रथम परिच्छेद में) जिस की अनुशंसा की गई है, उसा बोधिचित्त के सम्यग् उत्पाद के लिए मैं तथागत भगवान् बुद्ध की पूजा करता हूँ । यह बुद्धरत्न की वन्दना है ।

आगम और अधिगम रूपी, निर्मल, प्रकृतिप्रभास्वर, त्रिकोटिपरिशुद्ध एवं त्रिविध कल्याण से अन्वित सद्धर्मरत्न की मैं वन्दना करता हूँ । यह धर्मरत्न की वन्दना है ।

गुणसागर आर्य अवलोकितेश्वर, मंजुघोष आदि बुद्धसुतों बोधिसत्त्वों की मैं वन्दना करता हूँ । यह संघरत्न की वन्दना है ।

सम्यक्—‘सम्यग्’ यह पूजा का विशेषण है । सम्यग् का अर्थ अविपरीत है । अथवा तीव्र श्रद्धापूर्वक बोधिचित्त के ग्रहण का यह विशेषण है । अर्थात् अतिशय प्रसन्न चित्त से ग्रहण किया गया है, न कि किसी अन्य के अनुरोध से । अथ च, ऐसा ग्रहण किया गया है कि पुन उसका भ्रंश न हो ।

यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव
भैषज्यजातानि च यानि सन्ति ।
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके
जलानि च स्वच्छमनोरमाणि ॥ २ ॥

མ་ཉེག་འབྲས་བུ་ཟི་སྟེང་ཡོད་པ་དང་། །
སྒྲན་གྱི་ནྲམ་པ་གང་དག་ཡོད་པ་དང་། །
འཛིག་དེན་ཅིན་ཆེན་ཟི་སྟེང་ཡོད་པ་དང་། །
ཆུ་གཙང་ཡིད་དྲུ་འོང་བ་ཅི་ཡོད་དང་། ༣ །

२. पूजना—आकाशधातुपर्यन्त लोकधातुओं में जितने पुष्प एवं फल हैं, औषधि के जितने प्रकार हैं, स्वच्छ और मनोरम जितने रत्न तथा स्वच्छ और मनोरम जितने प्रकार के जल हैं, उन सबको लेकर उन्हें बुद्ध और बोधिसत्त्वों के लिए अर्पित करता हूँ (इस अन्तिम वाक्य का सम्बन्ध अगली २:६ कारिका से जोड़ना चाहिए) ।

महीधरा रत्नमयास्तथान्ये
वनप्रदेशाश्च विवेकरम्याः ।
लताः सपुष्पाभरणोज्ज्वलाश्च
द्रुमाश्च ये सत्फलनम्रशाखाः ॥ ३ ॥

देवादिलोकेषु च गन्धधूपाः
कल्पद्रुमा रत्नमयाश्च वृक्षाः ।
सरांसि चाम्भोरुहभूषणानि
हंसस्वनात्यन्तमनोहराणि ॥ ४ ॥

རིན་ཆེན་རི་བོ་དང་ནི་དེ་བཞིན་དུ། ।
 བགས་ཚལ་ས་སྟོགས་དབེན་ཁིང་ཉམས་དགའ་དང་། ।
 རྒྱུན་གྲིང་མེ་ཏོག་རྒྱན་སྦྲས་སྤྲད་པ་དང་། ।
 གྲིང་གང་འབྲས་བཟང་ཡལ་ག་དུད་པ་དང་། ३ 。

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ॥ ८ ॥

रत्नमय जितने पर्वत हैं, एकान्त में रमणीय अर्थात् एकान्त के अनुकूल जो वनखण्ड हैं, सुशोभन पुष्परूपी आभरणों से विभूषित जितनी लताएँ हैं तथा सुन्दर वर्ण, गन्ध, रस से सम्पन्न फलों से जिन की शाखाएँ झुक गई हैं, ऐसे जो वृक्ष हैं,

देवताओं के लोकों में जितने उत्तम गन्ध और धूप हैं, कल्पवृक्ष और रत्नवृक्ष हैं तथा कमलों से विभूषित और हंसों की ध्वनि से अत्यन्त मनोहर जो तालाब हैं—

अकृष्टजातानि च शस्यजाता-

न्यन्यानि वा पूज्यविभूषणानि ।

आकाशधातुप्रसरावधीनि

सर्वाण्यपीमान्यपरिग्रहाणि ॥ ५ ॥

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

ह्रीं सौम्यां नमो नमो नमो नमो नमो नमो ॥ ५ ॥

बिना हल चलाये अपने आप उत्पन्न जितने प्रकार के धान्य हैं, आकाश धातु का जितना विस्तार है, वहाँ तक प्राप्य ऐसे समस्त पदार्थ जो आराध्य महापुरुषों के लिए शोभाकर हैं तथा वे सभी उक्त वस्तुएँ जो दूसरों के द्वारा परिगृहीत नहीं हैं । अर्थात् जिन पर उनका स्वामित्व नहीं है—

आदाय बुद्ध्या मुनिपुङ्गवेभ्यो

निर्यातियाम्येष सपुत्रकेभ्यः ।

गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया

महाकृपा मामनुकम्पमानाः ॥ ६ ॥

सुखं विना भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ।

सुखं न भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ।

सुखं न भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ।

सुखं न भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ७ ।

उपर्युक्त सभी वस्तुओं को बुद्धि (मनोविज्ञान) द्वारा गृहीत करके पुत्रों (बोधिसत्त्वगण) के सहित मुनिपुंगव अर्थात् बुद्धों के लिए मैं अर्पित करता हूँ । दक्षिणा के अनुत्तर पात्र महाकारुणिक बुद्ध और बोधिसत्त्व मुझ पर कृपा कर मेरे द्वारा उपहृत सभी वस्तुओं को ग्रहण करें, ऐसा मेरा निवेदन है ।

केवल मनोमय पूजा क्यों की जा रही है ? क्यों आप साक्षात् उन वस्तुओं को अर्पित नहीं करते ?

अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः

पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित् ।

अतो ममार्थाय परार्थचित्ता

गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥ ७ ॥

सुखं न भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ।

सुखं न भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ॥

सुखं न भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ।

सुखं न भवति न भवति सुखं न भवति सुखं न भवति ७ ।

मैंने कुछ भी पुण्य नहीं किया है (अपुण्यवान्), इसीलिए महादरिद्र हूँ । फलतः पूजा के लिए मेरे पास अन्य कुछ भी उपकरण (सामग्री) नहीं है । इसलिए परहित-सुखाभिलाषी, महाकारुणिक, भगवन् मैंने अपनी शक्तिभर जो कुछ उपर्युक्त पूजासामग्री आपको अर्पित की है, हे नाथ, मेरे पुण्य के लिए उसे आप स्वीकार कर लें ।

यह जीवन तो मेरा अपना है, अतः उसे ही मैं अर्पित करता हूँ—

ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः

सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्यः ।

परिग्रहं मे कुरुताप्रसत्त्वा

युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या ॥ ८ ॥

मुदा'दद'दे'सुस'दुसस'द'दद'मीस'की ।

दद'मी'सुस'गु'द'द'द'द'द'द'द'द'द' ।

सोस'द'द'द'द'द'द'द'द'द'द'द'द' ।

मु'द'द'द'द'द'द'द'द'द'द'द'द' ।

मैं समस्त बुद्ध और बोधिसत्त्वों के लिए सभी प्रकार से अपने आत्मभाव (जीवन) का विसर्जन करता हूँ। हे पुरुषश्रेष्ठो, मेरे इस (दान) को आप स्वीकार करें। मैं परम भक्ति अर्थात् श्रद्धा और गौरव के साथ आपके दासत्व को स्वीकार करता हूँ।

परिग्रहेणास्मि भवत्कृतेन

निर्भीर्भवे सत्त्वहितं करोमि ।

पूर्वं च पापं समतिक्रमामि

नान्यच्च पापं प्रकरोमि भूयः ॥ ९ ॥

दद'मी'सु'द'द'द'द'द'द'द'द'द' ।

सु'द'द'द'द'द'द'द'द'द' ।

सु'द'द'द'द'द'द'द'द'द' ।

सु'द'द'द'द'द'द'द'द'द' ।

आपके महान् आश्रय (परिग्रह) की प्राप्ति से भयरहित होकर संसार में मैं लोकहित का सम्पादन कर रहा हूँ।

महापुरुषों का आश्रय प्राप्त होने पर भी अकुशल-कर्मकारी स्वहित में भी समर्थ नहीं होता ? इस आशंका को ध्यान में रखकर कहा जा रहा है—

पहले अज्ञान से मैंने जो अकुशल कर्म कर लिए हैं, उन्हें अब (पश्चात्ताप और गृही आदि के द्वारा) मैं बाहर हटाता हूँ और भविष्य में पुनः पाप न करने का संवर (प्रतिज्ञा) ग्रहण करता हूँ।

रत्नोज्ज्वलस्तम्भमनोरमेषु

मुक्तामयोद्भासिवितानकेषु ।

स्वच्छोज्ज्वलस्फटिककुट्टिमेषु

सुगन्धिषु स्नानगृहेषु तेषु ॥ १० ॥

सुखं ग्रीष्मं च शीतं च विषमं ।

शेषं च शीतं च शीतं च शीतं च शीतं च ॥

रत्नं केवलं च शीतं च शीतं च शीतं च ॥

सुगन्धिं च शीतं च शीतं च शीतं च ॥ १० ॥

विशेष पूजा—

मैं ऐसे स्नानगृहों में तथागतों को स्नान कराता हूँ (२११), जो (स्नानगृह) इन्द्रनील आदिमणियों से जटित होने से प्रभास्वर स्तम्भों के कारण अत्यन्त मनोहर हैं, जिनकी छत (वितान) मुक्ताखचित होने से अत्यन्त भास्वर है तथा जिनका फर्श (कुट्टिम) निर्मल एवं दीप्तिमान् स्फटिकों से निर्मित है और कृष्ण अगुरु, चन्दन आदि से धूपित होने के कारण जो स्नानगृह अत्यन्त सुगन्धित हैं ।

मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णः

कुम्भैर्महारत्नमयैरनेकैः ।

स्नानं करोम्येष तथागतानां

तदात्मजानां च संगीतिवाद्यम् ॥ ११ ॥

रत्नं केवलं च शीतं च शीतं च शीतं च ॥

रत्नं केवलं च शीतं च शीतं च शीतं च ॥

रत्नं केवलं च शीतं च शीतं च शीतं च ॥

रत्नं केवलं च शीतं च शीतं च शीतं च ॥ ११ ॥

मैं ऐसे हजारों घड़ों से बुद्धों और बोधिसत्त्वों को स्नान कराता हूँ, जो (घड़े) मनोज्ञ एवं सुगन्धित पानी और पुष्पों से परिपूर्ण हैं तथा जो वैदूर्य आदि विविध बहुमूल्य रत्नों से निर्मित हैं । साथ ही स्नान के समय मनोरम गीत और बाद्यों की ध्वनि भी हो रही है ।

प्रधूपितैर्धौतमलैरतुल्यै-

वस्त्रैश्च तेषां तनुमुन्मृषामि ।

ततः सुरक्तानि सुधूपितानि

ददामि तेभ्यो वरचीवराणि ॥ १२ ॥

दे'दमा'क्षु'वा'महु'दस'वा'मे'द'वा'दे'वा'सा ।

मा'उ'द'वा'दे'द'वा'मक्षु'द'वा'सा'क्षु'दे'वा' ।

दे'द'वा'दे'वा'मा'दे'वा'मे'द'वा'सा'क्षु'द'वा' ।

वा'म'उ'द'वा'दे'द'वा'मे'द'वा'सा'क्षु'द'वा' ॥ १३ ॥

(स्नान के बाद) मैं अगुरु, चन्दन आदि से सुधूपित, निर्मल और अनुपम वस्त्रों से उन (बुद्ध और बोधिसत्त्वों) के शरीर को पोछता हूँ। तदनन्तर (मैं) उन्हें धूपों से सुवासित, रंगीन श्रेष्ठ चीवर (पहिनने के लिए) अर्पित करता हूँ।

दिव्यैर्मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभै-

वस्त्रैरलङ्कारवरैश्च तैस्तैः ।

समन्तभद्राजितमञ्जुघोष-

लोकेश्वरादीनपि मण्डयामि ॥ १३ ॥

मा'सा'म'उ'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा' ।

मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा' ।

मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा' ।

मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा'मे'द'वा' ॥ १४ ॥

(तदनन्तर मैं) दिव्य (देवताओं के योग्य), सुकोमल, चिकने और नाना वर्णवाले विविध वस्त्रों और श्रेष्ठ अलंकारों से समन्तभद्र, अजित मैत्रेयनाथ, मञ्जुघोष, अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वों को भी विभूषित करता हूँ।

सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धै-

गन्धोत्तमैस्ताननुलेपयामि ।

सूतप्रसून्मृष्टसुधौतहेम-

प्रभोज्ज्वलान् सर्वमुनीन्द्रकायान् ॥ १४ ॥

मार्ज्जनाय नमः ॥ १८ ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ १९ ॥

नमः ॥ २० ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २१ ॥

लटकते हुए मुक्तामणि के हारों से सुशोभित, प्रकाश करनेवाले, सब दिशाओं की शोभा बढ़ानेवाले, स्तुति और गीतों से रमणीय विमानमेघों को मैत्रीमय (बुद्धों और बोधिसत्त्वों) को भेंट करता है ।

सुवर्णदण्डैः कमनीयरूपैः

संसवतमुक्तानि समुच्छितानि ।

प्रधारयाम्येष महामुनीनां

रत्नातपत्राण्यतिशोभनानि ॥ १९ ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २० ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २१ ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २२ ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २३ ॥

मैं महामुनियों के ऊपर रत्नमय छत्र धारण करता हूँ, जिन (छत्रों) के (दण्ड) सोने से निर्मित, अत्यन्त मनोहर, मुक्ताजटित एवं सीधे तने हैं ।

अतः परं प्रतिष्ठन्तां पूजामेघा मनोरमाः ।

तूर्यसंगीतिमेघाश्च सर्वसत्त्वप्रहर्षणाः ॥ २० ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २१ ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २२ ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २३ ॥

सुदीर्घाय नमः ॥ २४ ॥

पूजा का उपसंहार

इतने के बाद मेरे द्वारा या देवताओं के द्वारा अर्पित पूजामेघ कल्पभर या अनेक कल्पों तक प्रवृत्त होते रहें । साथ ही तूर्यमेघ (वाद्यसमूह) और संगीतिमेघ

(गीतसमूह या सामूहिक गीत), जो सभी प्राणियों को आनन्द देनेवाले हैं, प्रवृत्त होते रहें ।

सर्वसद्धर्मरत्नेषु चैत्येषु प्रतिमासु च ।

पुष्परत्नादिवर्षाश्च प्रवर्तन्तां निरन्तरम् ॥ २१ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

सर्वसद्धर्मरत्नेषु चैत्येषु प्रतिमासु च ।

पुष्परत्नादिवर्षाश्च प्रवर्तन्तां निरन्तरम् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २१ ॥

सद्धर्म आदि की पूजा

द्वादशाङ्ग प्रवचनात्मक सद्धर्मों पर, भगवान् के स्तूपों (चैत्यों) पर तथा बुद्ध, बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं (विग्रह = प्रतिकृति) पर पुष्पवृष्टियाँ, रत्नवृष्टियाँ और 'आदि' शब्द के द्वारा चन्दनचूर्ण एवं वस्त्र, अलंकार की वृष्टियाँ निरन्तर प्रवृत्त होती रहें ।

सद्धर्मरत्न—भगवान् के सद्धर्म को रत्न इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह रत्न के समान वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करता है । और परम निर्वृत्ति (शान्ति) प्रदान करता है ।

मञ्जुघोषप्रभृतयः पूजयन्ति यथा जिनान् ।

तथा तथागतान् नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहम् ॥ २२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

मञ्जुघोषप्रभृतयः पूजयन्ति यथा जिनान् ।

तथा तथागतान् नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहम् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २२ ॥

अनुत्तरपूजा

मञ्जुघोष, समन्तभद्र, मैत्रेयनाथ, लोकनाथ आदि दशभूमीश्वर बोधिसत्त्व जिस प्रकार जिस अध्याशय से तथागतों की पूजा करते हैं, उसी प्रकार उसी अधि-मोक्ष से मैं भी बुद्धपुत्रों अर्थात् बोधिसत्त्वगणों के साथ तथागतों की पूजा करता हूँ ।

स्वराङ्गसागरैः स्तोत्रैः स्तौमि चाहं गुणोदधौ ।

स्तुतिसंगीतिमेवाश्च सम्भवन्त्वेष्वनन्यथा ॥ २३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

नमो भगवते वासुदेवाय ।

नमो भगवते वासुदेवाय ।

नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २३ ॥

स्तुतिपूजा

मैं गुणों के सागर तथागतों की ऐसे स्तोत्रों से स्तुति करता हूँ, जिन (स्तोत्रों) में सप्त स्वर और उनके भेद-प्रभेदों के समुद्र भरे पड़े हैं । उन बुद्ध और बोधिसत्त्वों के प्रति स्तुतिरूपी गीतों के मेघ अविपरीतभाव से (मेरी भावनाओं के अनुरूप) उमड़ पड़े ।

सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च प्रणामैः प्रणमाम्यहम् ।

सर्वत्रयध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ॥ २४ ॥

सर्वत्रयध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ।

सर्वत्रयध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ।

सर्वत्रयध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ।

सर्वत्रयध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ॥ २४ ॥

त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) की प्रणामपूजा

दशों दिशाओं में जितने बुद्धक्षेत्र हैं, उन (क्षेत्रों) में जितनी परमाणुओं की संख्या है, उतनी संख्या के बराबर प्रणामों से मैं उत्तम धर्म और उत्तम गण (बोधिसत्त्वगण) के साथ तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) के सभी तथागतों को प्रणाम करता हूँ ।

सर्वचैत्यानि वन्देऽहं बोधिसत्त्वाश्रयांस्तथा ।

नमः करोम्युपाध्यायानभिवन्द्यान् यतींस्तथा ॥ २५ ॥

गुणं कुर्वन् सोमसं गृहीतं नृपस्य नमः ।

महोदधे नृपस्य नमः नमः नमः नमः ।

महोदधे नृपस्य नमः नमः नमः नमः ।

नमः नमः नमः नमः नमः नमः नमः नमः ३५ ।

तथागत के स्तूपों की पूजा

सभी दिशाओं-विदिशाओं में स्थित शरीर धातु वाले और विना शरीर धातु वाले सभी चैत्यों की मैं वन्दना करता हूँ तथा उन सभी स्थानों की भी वन्दना करता हूँ, जो (स्थान) जातक, अवदान आदि के अनुसार बोधिसत्त्वों के जन्म आदि से सम्बद्ध रहे हैं। अपि च, उन सभी वन्दनीय उपाध्यायों एवं तपस्वियों को भी नमन करता हूँ। (यह सब उपर्युक्त पूजाविधि समयराज एवं आर्यरत्नमेघ सूत्र में उल्लिखित है) ।

बुद्धं गच्छामि शरणं यावदा बोधिमण्डतः ।

धर्मं गच्छामि शरणं बोधिसत्त्वगणं तथा ॥ २६ ॥

गुणं कुर्वन् सोमसं गृहीतं नृपस्य नमः ।

महोदधे नृपस्य नमः नमः नमः नमः ।

महोदधे नृपस्य नमः नमः नमः नमः ।

नमः नमः नमः नमः नमः नमः नमः नमः ३७ ।

रत्नत्रय शरणगमन

जब तक सम्यक् संबोधि की प्राप्ति न हो, तब तक मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण में जाता हूँ और बोधिसत्त्व-संघ की शरण जाता हूँ ।

शरण का अर्थ त्राण है। गमन का अर्थ उनकी आज्ञा का परिपालन है। जो जिसकी शरण जाता है, वह उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। मण्ड शब्द का अर्थ 'सार' है।

विज्ञापयामि संबुद्धान् सर्वदिक्षु व्यवस्थितान् ।

महाकाशिकांश्चापि बोधिसत्त्वान् कृताञ्जलिः ॥ २७ ॥

सुमासा'क्षमासा'गुण'न'सुमासा'स'यि ।

हैमासा'सामसा'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा ।

सुमासा'है'हे'स'साम'क्षमासा'य ।

सुमा'स'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा । ३७ ।

सभी (दशों) दिशाओं में स्थित महाकारुणिक बुद्ध और बोधिसत्त्वों (के सम्मुख अपने को स्थित जान कर उन) से मैं अञ्जलि बांध कर (यह) निवेदन करता हूँ—

अनादिमति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः ।

यन्मया पशुना पापं कृतं कारितमेव वा ॥ २८ ॥

यच्चानुमोदितं किञ्चिदात्मघाताय मोहतः ।

तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः ॥ २९ ॥

सुमा'स'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा ।

है'स'साम'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा ।

सुमा'स'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा ।

सुमा'स'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा । ३८ ।

सुमा'स'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा ।

है'स'साम'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा ।

सुमा'स'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा ।

है'स'साम'सुसा'द'सुसा'सुसा'सोमासा । ३९ ।

पापदेशना

इस अनादि संसार अर्थात् पूर्वजन्मों की परम्परा में, (न केवल पूर्व जन्मों में ही, अपितु) अथवा इस जन्म में भी मोहबहुल (पशु) मैंने काय, वाक्, मनस् द्वारा जो पाप किये हैं और कराए हैं तथा अज्ञानवश अपने नाश के लिए (क्योंकि कर्मफल स्वयं को भोगना होता है) वाणी और मन से उनका अनुमोदन किया है, इस के लिए पश्चात्ताप से तप्त मैं आज उन सब पापों की देशना करता हूँ अर्थात् उन्हें छिपाता नहीं, अपि तु प्रकाशित करता हूँ ।

रत्नत्रयेऽपकारो यो मातापितृषु वा मया ।

गुरुष्वन्येषु वा क्षेपात् कायवाग्बुद्धिभिः कृतः ॥ ३० ॥

अनेकदोषदुष्टेन मया पापेन नायकाः ।

यत्कृतं दारुणं पापं तत् सर्वं देशयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

मदमा'मीसा'दगै'क'सकै'मा'सुस'द'र' ।

स'स'द'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

विशेष पाप देशना

त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म एवं संघ), जो अनुत्तर गुण क्षेत्र हैं. उनके प्रति; माता, पिता जो उपकारी क्षेत्र हैं, उन के प्रति तथा अन्य जो गुरु जन हैं, उनके प्रति जो मैंने अभिमान वश शरीर, वाणी और मन से अपकार किए हैं ;

हे नाथ, राग, द्वेष आदि अनेक दोषों से दूषित (होने के कारण, न कि स्वतन्त्रतापूर्वक) मुझ पापी ने जो दारुण पाप किये हैं, मैं आज उन सब की देशना (प्रकाशन) करता हूँ ।

कथं च निःसराभ्यस्मान्नित्योद्विग्नोऽस्मि नायकाः ।

मा भून्मे मृत्युरचिरादक्षीणे पापसंचये ॥ ३२ ॥

कथं च निःसराभ्यस्मात् परित्रायत सत्त्वरम् ।

मा ममाक्षीणपापस्य मरणं शीघ्रमेष्यति ॥ ३३ ॥

मदमा'की'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

कैसे मैं इस पातक से निकलूँ ! हे नाथ, मैं सदा व्याकुल रहता हूँ । पापराशि के क्षीण हुए बिना (इस बीच) मेरी मृत्यु न हो ।

पाप कर्मों के प्रति संवेग

हे नाथ, कैसे मैं इस (पाप) से निकलूँ, मेरी शीघ्र रक्षा कीजिए । जब तक मेरे सारे पाप क्षीण न हो जाएं, तब तक शीघ्र मृत्यु न हो ।

कृताकृतापरीक्षोऽयं मृत्युर्विश्वम्भघातकः ।

स्वस्थास्वस्थैरविश्वस्य आकस्मिकमहाशनिः ॥ ३४ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

सुखं नमः सुखं नमः सुखं नमः ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

सुखं नमः सुखं नमः सुखं नमः ३८ ।

क्योंकि मृत्यु बड़ा विश्वासघाती है, वह यह नहीं देखता कि क्या किया गया है और क्या नहीं किया गया है । इस अकस्मात् गिरनेवाली बिजली के समान मृत्यु के रहते हुए मैं स्वस्थ (बलवान् या नीरोग) हूँ या अस्वस्थ हूँ, इसका क्या भरोसा ?

मृत्यु का इतना भय है तो पाप किया ही क्यों ?

प्रियाप्रियनिमित्तेन पापं कृतमनेकधा ।

सर्वमुत्सृज्य गन्तव्यमिति न ज्ञातमीदृशम् ॥ ३५ ॥

प्रमत्तं नमः प्रमत्तं नमः प्रमत्तं नमः ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

सुखं नमः सुखं नमः सुखं नमः ३९ ।

आत्मा और आत्मीय, जो प्रिय हैं तथा इनका अपकार करने वाले जो अप्रिय हैं, इनमें से प्रिय का हित, सुख और अप्रिय का विपरीत चाहने के कारण मैंने अनेक बार प्राणातिपात (हिंसा), अदत्तादान (चोरी) आदि अनेक प्रकार के पाप कर्म किये हैं । इन प्रिय और अप्रिय सभी को छोड़कर मुझे जाना है, ऐसा तो मूर्ख मैंने कभी सोचा ही नहीं ।

अप्रिया न भविष्यन्ति प्रियो मे न भविष्यति ।

अहं च न भविष्यामि सर्वं च न भविष्यति ॥ ३६॥

མི་མཛེན་རྣམས་ཀྱང་མེད་འགྱུར་ཞིང་། ।

མཛེན་པ་རྣམས་ཀྱང་མེད་པར་འགྱུར། ।

བདག་ཀྱང་མེད་པར་འགྱུར་བ་སྟེ། ।

དེ་བཞིན་ཐམས་ཅད་མེད་པར་འགྱུར། ३६ ।

मेरे अप्रिय न रहेंगे, प्रिय भी न रहेगा, मैं भी न रहूंगा तथा यह सब कुछ भी न रहेगा ।

तत्तत् स्मरणतां याति यद् यद् वस्त्वनुभूयते ।

स्वप्नानुभूतवत् सर्वं गतं न पुनरोक्ष्यते ॥ ३७ ॥

མི་ལམ་རྣམས་སྲུ་མྱོང་བ་བཞིན། ।

དངོས་པོ་གང་དང་གང་སྲུད་པ། ।

དེ་དེ་དཔྱད་བཞི་ཡུལ་དུ་འགྱུར། ।

འདས་པ་ཐམས་ཅད་མཐོང་མི་འགྱུར། ३७ ।

सुखहेतु और दुःखहेतु जिन जिन वस्तुओं का अनुभव किया जाता है, वे वे वस्तुएँ स्मृतिशेष हो जाती हैं। स्वप्न में अनुभूत वस्तु के समान सभी अतीत वस्तुएं पुनः दिखलाई नहीं देतीं ।

इहैव तिष्ठतस्तावद् गता नैके प्रियाप्रियाः ।

तन्निमित्तं तु यत् पापं तत् स्थितं घोरमग्रतः ॥ ३८ ॥

དེ་ཞིག་གསོན་ཆོའདི་ཉིད་ལའང་། ।

མཛེན་དང་མི་མཛེན་དུ་མ་འདས། ।

དེ་དག་དོན་དུ་བྱས་པའི་སྟོག་པོ། ।

མི་བཟད་གང་ཡིན་མདུན་ན་གནས། ३८ ।

यहीं मेरे जीवित रहते अनेक प्रिय और अप्रिय चले (मृत्यु को प्राप्त हो) गये । उन प्रिय आदि के लिए मैंने जो पाप किया, वह (पाप) मेरे सामने खड़ा है ।

एवमागन्तुकोऽस्मीति न मया प्रत्यवेक्षितम् ।

मोहानुत्तयविद्वेषैः कृतं पापमनेकधा ॥ ३९ ॥

དེ་ལྟར་བདག་ནི་སྒྲོ་བྱར་ཞེས།

བདག་གིས་རྟོགས་པར་མ་གྱར་པས། །

གཏི་ཐུག་ཆགས་དང་ཞེ་སྤང་གིས། །

མྱེག་པ་རྣམ་པ་དུ་མ་བྱས། ༣༧ །

मैं इस तरह क्षणभंगुर (आगन्तुक) हूँ, ऐसा मैंने (कभी) नहीं सोचा ।
(फलतः) राग, द्वेष और मोह के वशोभूत होकर मैंने अनेक प्रकार के अनेक बार पाप किये हैं ।

रात्रिन्दिवमविश्वाममायुषो वर्धते व्ययः ।

आयस्य चागमो नास्ति न मरिष्यामि किं न्वहम् ॥ ४० ॥

ཉིན་མཚན་སྤྱོད་པ་ཡོད་མེད་པར། །

ཆེ་འདི་ཏྲག་ཏུ་གོ་འགྱུར་ཞིང་།

སྒྲུབ་པ་གྲུང་ནས་འོང་མེད་ན།

བདག་ལྷ་འཁྱི་བར་ཅིས་མི་འགྱུར། ༥༠ །

रात-दिन निरन्तर आयु का क्षय होना बढ़ता जा रहा है। (कहीं से भी) आयु की आय अर्थात् वृद्धि के आगमन का अवसर नहीं है। फिर भला मैं कैसे नहीं मरूंगा? बहुत दिन जीवित रहने पर भी मरना निश्चित है।

जिन लोगों के निमित्त मैंने पाप किये हैं। उन कर्मों के फलस्वरूप नरक आदि में दुःख भोगते समय वे उस दुःख को नहीं बटाएंगे। अतः परलोक की तो बात ही छोड़ दीजिए—

इह शय्यागतेनापि बन्धुमध्येऽपि तिष्ठता ।

मयैवैकेन सोढव्या मर्मच्छेदादिवेदना ॥ ४१ ॥

བདག་ནི་མལ་ན་འདུག་བཞིན་དུ། ।

གཉེན་བཤེས་ཀྱན་གྱི་མཐའ་བསྐྱར་གྱང་། ।

སྒྲིག་འཆད་པ་ཡི་ཆོར་བ་དག། ।

བདག་ཉིད་གཅིག་ཕྱིས་སྤྱོད་བར་འགྱུར། ८१ ।

इस जन्म में भी स्वजन और परिजन के बीच में खटिया पर पड़े हुए ज्वर, पिपासा आदि मरणान्तिक वेदनाएं मुझे अकेले ही सहना है ।

जब यहीं ऐसी स्थिति है तो परलोक का तो कहना ही क्या है !

यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत् ।

पुण्यमेकं तदा त्राणं मया तच्च न सेवितम् ॥ ४२ ॥

གཤིན་ཇིའི་པོ་ཉམས་ཟིན་པ་ལ། ।

གཉེན་གྱི་ཅི་ཕན་བཤེས་ཅི་ཕན། ।

དེ་ཆོ་བསྟོན་ནམས་གཅིག་བསྐྱབས་ན། ।

དེ་ཡང་བདག་གིས་མ་བསྐྱེན་དོ། ८२ ।

यमदूतों द्वारा बांध लिया जाने पर (विभिन्न प्रकार की यातनाएं दी जाने पर) कौन बन्धु है और कौन मित्र है ? अर्थात् उस समय कोई सहायक या रक्षक नहीं होगा । उस समय एकमात्र पुण्य ही मेरा रक्षक होगा, जिसका मैंने (कभी) अर्जन नहीं किया ।

अनित्यजीवितासङ्गादिदं भयमजानता ।

प्रमत्तेन मया नाथा बहु पापमुपार्जितम् ॥ ४३ ॥

མགོན་པོ་བག་མེད་བདག་གིས་ནི། ।

འཇིགས་པ་འདི་འདྲ་མ་མཆོལ་ནས། ।

མེད་ཀྱི་ཆོ་འདིའི་ཆེད་དག་དུ། ।

སྒྲིག་པ་མང་པོ་ཉེ་བར་བསྐྱབས། ८३ ।

इस क्षणिक जीवन के प्रति आसक्ति होने के कारण भावी नरक आदि दुःख के भय को न जानते हुए, हे नाथ, धन, यौवन, रूप, प्रभुता आदि मद से प्रमत्त मैंने बहुत पाप अर्जित किये हैं ।

अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य नीयमानो विशुष्यति ।

पिपासितो दीनदृष्टिरन्यदेवेक्षते जगत् ॥ ४४ ॥

सुखं यत्कालमात्रं नैव विदुः ।

देहि मे विदुः सदा विदुः सदा ॥

मम ज्ञानं न विदुः सदा विदुः ।

सुखं यत्कालमात्रं नैव विदुः ॥ ८८ ॥

नरक आदि में होनेवाले दुःख की अपेक्षा यहाँ हाथ या पैर काटने से होनेवाला दुःख अत्यल्प होता है, किन्तु उसके लिए भी आज ले जाता हुआ व्यक्ति (डर के मारे) सूख जाता है, तृषादित (प्यासा) हो जाता है, कातर दृष्टि वाला हो जाता है और सारा जगत् उसे कुछ और ही दिखाई देता है ।

किं पुनर्भरवाकारैर्यमदूतैरधिष्ठितः ।

महात्रासज्वरग्रस्तः पुरोषोत्सर्गवेष्टितः ॥ ४५ ॥

कातरैर्दृष्टिपातैश्च त्राणान्वेषी चतुर्दिशम् ।

को मे महाभयादस्मात् साधुस्त्राणं भविष्यति ॥ ४६ ॥

त्राणशून्या दिशो दृष्ट्वा पुनः सम्मोहमागतः ।

तदाहं किं करिष्यामि तस्मिन् स्थाने महाभये ॥ ४७ ॥

मम ज्ञानं न विदुः सदा विदुः सदा ॥

मम ज्ञानं न विदुः सदा विदुः सदा ॥

मम ज्ञानं न विदुः सदा विदुः सदा ॥

मम ज्ञानं न विदुः सदा विदुः सदा ॥ ८९ ॥

स्तु'र्नि'मा'द'ई'मा'स'के'द'ई'ल'स'व'द'मा ।
 ले'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ॥ ८७ ॥

सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ॥ ८८ ॥

भयंकर रूप वाले यमपुरुषों द्वारा पकड़े जाने पर महाभयरूपी ज्वर से ग्रस्त, मल-मूत्र से लथपथ, 'कौन अकारणवत्सल (साधु) मेरी इस महाभय से रक्षा करेगा'-इस प्रकार कातर दृष्टि से चारों दिशाओं में शरण खोजता हुआ, (फिर) दिशाओं को शरण से रहित देखकर मूर्छित हो जाने पर उस समय उस महाभय के स्थान में मैं (असमर्थ) क्या करूँगा ?

अद्यैव शरणं यामि जगन्नाथान् महाबलान् ।
 जगद्रक्षार्थमुदद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान् ॥ ४८ ॥

सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ।
 सु'द'ई'मा'स'व'स्त्र'व'स'सु'द'ई'मा'स'ले'मा ॥ ८९ ॥

इसलिए मैं आज ही शान्ति देनेवाले जगत् के नाथ, महा-बलशाली, सभी सत्त्वों के परित्राण के लिए सर्वदा तत्पर बुद्धों की शरण में जाता हूँ, जो समस्त दुःखों का अपहरण करते हैं ।

तैश्चाप्यधिगतं धर्मं संसारभयनाशनम् ।
 शरणं यामि भावेन बोधिसत्त्वगणं तथा ॥ ४९ ॥

दे'यिस'सुमस'सु'कुट'पदि'कसा ।

दाम'पदि'दईमस'प'सोप'प'द' ।

सुट'कुप'सोमस'द'पदि'कसा'प'प'द' ।

दे'प'दि'प'द'द'प'सु'मस'सु'म' । ८० ।

धर्म और संघ की शरण में गमन

उन भगवान् बुद्धों द्वारा साक्षात्कृत धर्म (निर्वाण) की परम श्रद्धा के साथ शरण में जाता हूँ, जो समस्त क्लेशों का प्रतिपक्ष होने से संसाररूपी भय का नाश करनेवाला है तथा परम श्रद्धा के साथ (सन्देह और कपटभाव से रहित होकर) बोधिसत्त्व-संघ की शरण जाता हूँ ।

समन्तभद्रायात्मानं ददामि भयविह्वलः ।

पुनश्च मञ्जुघोषाय ददाम्यात्मानमात्मना ॥ ५० ॥

पद'प'दि'दईमस'प'सोप'प'द' ।

पु'द'प'द'प'द'प'द'प'द' ।

दईम'द'प'द'प'द'प'द'प'द' ।

पद'प'दि'प'द'प'द'प'द' । ५० ।

भय से व्याकुल होकर मैं स्वयं प्रसन्नचित्त हो (न कि दूसरों की प्रेरणा से) बोधिसत्त्व समन्तभद्र के लिए और फिर बोधिसत्त्व मञ्जुघोष के लिए अपने को अर्पित करता हूँ ।

तं चावलोकितं नाथं कृपाव्याकुलचारिणम् ।

विरौम्यातंरवं भीतः स मां रक्षतु पापिनम् ॥ ५१ ॥

सुमस'दईम'सु'कुट'पदि'कसा ।

सु'द'प'सोमस'द'पदि'कसा'प'प'द' ।

कु'द'प'सोमस'द'पदि'कसा'प'प'द' ।

सु'द'प'सोमस'द'पदि'कसा'प'प'द' । ५१ ।

करुणा के कारण दूसरों के दुःखों से व्याकुल होकर रक्षा के लिए दौड़ पड़ने-
वाले स्वामी अवलोकितेश्वर को मैं भयभीत होकर कातर स्वर से पुकारता हूँ, वे
भगवान् अवलोकितेश्वर मुझ पापी की रक्षा करें।

आर्यमाकाशगर्भं च क्षितिगर्भं च भावतः ।

सर्वान् महाकृपांश्चापि त्राणान्वेषी विरौम्यहम् ॥ ५२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५२ ॥

मैं त्राण (शरण) खोजता हुआ अन्तरतम से बोधिसत्त्व आकाशगर्भ,
बोधिसत्त्व क्षितिगर्भ एवं उन सभी परदुःखदुःखी, परम कारुणिक बोधिसत्त्वों को
पुकारता हूँ (जिनका यहाँ नाम नहीं लिया जा रहा है)।

यं दृष्ट्वैव च संतस्ताः पलायन्ते चतुर्दिशम् ।

यमदूतादयो दुष्टास्तं नमस्यामि वज्रिणम् ॥ ५३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५३ ॥

जिनके दर्शनमात्र से यक्ष, राक्षस, यमदूत आदि सभी दुष्ट डर कर चारों
दिशाओं में भाग जाते हैं, उन वज्रपाणि बोधिसत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ।

अतोत्य युष्मद्वचनं साम्प्रतं भयदर्शनात् ।

शरणं यामि वो भीतो भयं नाशयत द्रुतम् ॥ ५४ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५४ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५४ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५४ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५४ ॥

राजा ने चारों दिशाओं से वैद्यों को आमन्त्रित किया। उन वैद्यों ने भी सारे चिकित्सा-शास्त्रों का मन्थन करके सद्योजात (तत्काल उत्पन्न) रोहित मत्स्य के मांस से अतिरिक्त कोई औषधि प्राप्त नहीं की। अर्थात् एक मात्र वही औषधि खोज सके।

उपर्युक्त कारिका के अर्थ की पुष्टि में इस 'काशिराज-पद्मकजातक' को देखना चाहिए।

तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य सर्वशल्यापहारिणः ।

वाक्यमुल्लंघयामीति धिङ् सामत्यन्तमोहितम् ॥ ५७ ॥

दे'ल'क्ष्म'न'स'प्रम'स'उ'न'म'सि' ।

ह'न'ह'प्रम'स'उ'न'र'सि'न'स' ।

न'ग'न'ह'न'स'सि'स'स'स'स' ।

सि'न'ह'न'स'सि'स'स'स'स' । ५७ ।

ऐसा होने पर भी, कायिक, मानसिक आदि सभी प्रकार के शल्यों को दूर हटाने वाले सर्वज्ञ वैद्य (बुद्धों) की बातों का मैं उल्लंघन कर रहा हूँ, मुझ अत्यन्त मूढ़ को धिक्कार है।

अत्यप्रमत्तस्तिष्ठामि प्रपातेष्वितरेष्वपि ।

किमु योजनसाहस्रे प्रपाते दीर्घकालिके ॥ ५८ ॥

न'ग'न'स'स'स'स'स'स' ।

न'ग'न'स'स'स'स'स'स' ।

न'ग'न'स'स'स'स'स'स' ।

न'ग'न'स'स'स'स'स'स' । ५८ ।

पहाड़ों में होनेवाले छोटे-मोटे प्रपातों, जिन से गिरने पर या तो हड्डी टूट सकती है या मृत्यु हो सकती है, से मैं अत्यन्त सावधान रहता हूँ, फिर हजारों योजन गहरे अवीचि-आदि प्रपात, जहाँ चिरकाल तक रहना पड़ता है, उनके बारे में तो कहना ही क्या !

अद्यैव मरणं नैति न युक्ता मे सुखासिका ।

अवश्यमेति सा वेला न भविष्याम्यहं यदा ॥ ५९ ॥

दे'दि'मि'क'मि'द'कि'ले'सा ।

मदे'मर'द'गु'म'र'म'स'म'प'र' ।

मद'म'र'म'द'म'र'द'गु'म'र'म'द'गु'म' ।

दे'र'म'द'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ५० ।

आज ही तो मृत्यु नहीं आ रही है, अतः (ऐसा सोचकर) मेरे लिए सुख से बैठना ठीक नहीं है । वह समय निश्चित आएगा, जब मैं नहीं रहूंगा ।

अभयं केन मे दत्तां निःसरिष्यामि वा कथम् ।

अवश्यं न भविष्यामि कस्मान्मे सुस्थितं मनः ॥ ६० ॥

मद'म'र'म'द'म'र'द'गु'म'र'म'द'गु'म' ।

मदे'मर'द'गु'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ।

मदे'मर'द'गु'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ।

मदे'मर'द'गु'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ६० ।

किसने मुझे अभय प्रदान किया है, जिससे मैं निर्भय रहूँ । निःसरण का यदि कोई उपाय ज्ञात हो तब भी भय अयुक्त है, किन्तु वह भी नहीं है, अतः इस दुःख से कैसे मैं निकलूँगा ? अवश्य ही मैं (एक दिन) नहीं रहूँगा (जीवन निश्चित ही मरण पर्यवसित होता है-ऐसा भगवान् ने कहा है), फिर क्यों मन सुस्थिर है ?

पूर्वानुभूतनष्टेभ्यः किं मे सारमवस्थितम् ।

येषु मेऽभिनिविष्टेन गुरुणां लङ्घितं वचः ॥ ६१ ॥

मदे'मर'द'गु'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ।

मदे'मर'द'गु'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ।

मदे'मर'द'गु'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ।

मदे'मर'द'गु'म'र'म'द'म'र'द'गु'म' ६१ ।

पूर्वाभिूत (वस्तुओं) का नाश हो जाने से अब मेरे पास सार ही क्या वचा है कि जिनमें आसक्त हो अब तक मैंने गुरुओं अर्थात् बुद्ध, बोधिसत्त्व एवं कल्याणमित्रों के वचनों का उल्लंघन किया ?

जीवलोकमिमं त्यक्त्वा बन्धून् परिचितांस्तथा ।

एकाकी क्वापि यास्यामि किं मे सर्वः प्रियाप्रियैः ॥ ६२ ॥

གསལ་ཆེ་འདི་དང་དེ་བཞིན་དུ།

གཉེན་དང་བཤེས་བ་རྣམས་ཐུངས་ནས།

གཅིག་ལྟ་བུ་ག་ཤེད་འགྲོ་དགོས་ན།

མཛེའ་དང་མི་མཛེའ་ཀུན་ཅི་རུང་། ༤༣ །

यह प्राणि-लोक, बन्धु, परिचित इन सभी को छोड़कर मैं अकेला असहाय कहीं अनिश्चित स्थान पर चला जाऊंगा, अतः फिर इन सब प्रिय और अप्रियों से मेरा (लेना-देना) क्या ?

इयमेव तु मे चिन्ता युक्ता रात्रिन्दिवं सदा ।

अशुभान्नियतं दुःखं निःसरेयं ततः कथम् ॥ ६३ ॥

མི་དགེ་བ་ལས་སྤྲུལ་བཟུང་། །

དེ་ལས་རྒྱ་ལྟར་ངས་ཐུང་།

ཉིད་མཚན་དྲུག་དུ་བདུག་གིས་ནི།

འདི་ཉིད་འབད་ཞིག་བསམ་བཞི་རིགས། ༤༣ །

तब रात-दिन मुझे यही चिन्ता करना युक्त है कि अशुभ अर्थात् अकुशल कर्म से दुःख होना निश्चित है, अतः उस अकुशल कर्म से मैं कैसे पार होऊँ ?

मया बालेन मूढेन यत् किञ्चित् पापमाचितम् ।

प्रकृत्या यच्च सावद्यं प्रज्ञप्त्यावद्यमेव च ॥ ६४ ॥

तत्सर्वं देशयाम्येष नाथानामग्रतः स्थितः ।

कृताञ्जलिर्दुःखभीतः प्रणिपत्य पुनः पुनः ॥ ६५ ॥

तृतीय परिच्छेद

बोधिचित्तपरिग्रह

अपायदुःखविश्रामं सर्वसत्त्वैः कृतं शुभम् ।

अनुमोदे प्रमोदेन सुखं तिष्ठन्तु दुःखिताः ॥ १ ॥

सोमस'उर'गु'र'सु'र'सो'र'मी ।

सु'मा'स'सु'र'र'स'सो'र'र'सो'र'र' ।

सु'मा'स'सु'र'र'स'र'स'स'स'स' ।

र'स'र'स'स'स'स'स'स'स'स' । १ ।

पुण्यानुमोदना

नरक आदि योनियों में दीर्घकाल तक दुःखों का अनुभव कर अब पुण्यविपाक के कारण जो सुख प्राप्त कर कुछ समय के लिए विश्राम कर रहे हैं, उस विश्रान्ति का मैं प्रसन्नचित्त होकर शरीर, वाणी और मन से अनुमोदन करता हूँ। दुःखी जनों ने जिस फल के लिए पुण्य कर्म किया है, उनका वह कर्म समृद्ध हो और उसके फल-स्वरूप चिरकाल तक वे सुखपूर्वक रहें।

संसारदुःखनिर्मोक्षमनुमोदे शरीरिणाम् ।

बोधिसत्त्वत्व-बुद्धत्वमनुमोदे च तायिनाम् ॥ २ ॥

चित्तोत्पादसमुद्रांश्च सर्वसत्त्वसुखावहान् ।

सर्वसत्त्वहिताधानाननुमोदे च शासिनाम् ॥ ३ ॥

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

र'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

र'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

र'स'स'स'स'स'स'स'स' । ३ ।

सोमस'उक्'प्रसस'उक्'मने'मई'स'प'।

सुमास'मज्ञे'र'र'मो'म'कु'म'ई'र'।

सोमस'उक्'स'स'म'म'म'ई'स'प'।

र'म'र'म'स'ई'स'सु'प'र'र'। ३ ।

मैं प्राणियों की सांसारिक दुःखों से मुक्ति (श्रावकबोधि एवं प्रत्येकबुद्धबोधि) का अनुमोदन करता हूँ तथा तायिओं की बोधिसत्त्वता और बुद्धता (सम्यक् संबोधि) का भी अनुमोदन करता हूँ ।

बोधिसत्त्वता—भगवान् बुद्ध के साधनाकाल की अवस्था ।

बुद्धता—भगवान् बुद्ध के फलकाल की अवस्था ।

तायिन्—जिस मार्ग से बुद्धत्व फल की प्राप्ति हुई है, उस मार्ग का उपदेशक 'तायिन्' कहलाता है^१ अथवा ताय शब्द का अर्थ है चित्तसन्तति का दीर्घकाल तक रहना । अप्रतिष्ठित निर्वाण को प्राप्त कर बुद्ध जब तक संसार है, तब तक अवस्थान करते हैं, अतः वे तायिन् कहलाते हैं^२ ।

सभी सत्त्वों के हित एवं सुख का विधान करने वाले बोधिसत्त्वों के समुद्र के समान चित्तोत्पादों का मैं अनुमोदन करता हूँ ।

[बोधिसत्त्वों का प्रतिक्षणभावी चित्त अगाध एवं असीम होता है, अतः उसकी समुद्र से उपमा की गई है]

शासिनाम्—शासी का अर्थ शासन करनेवाला अर्थात् शास्ता है ।

शासन करना और त्राण करना शास्तृत्व है । राग, द्वेष आदि क्लेशरूपी शत्रुओं को अनुशासित करना तथा दुर्गतियों और आवागमन से रक्षा करना—ये दो गुण शास्तृत्व कहलाते हैं^३ ।

१. तायः स्वदृष्टमार्गोऽस्ति । द्र०—प्रमाणवार्तिक, १. १४७ पृ० ५४ (बौद्धभारती, वाराणसी-संस्करण) ।

२. द्र०—बोधिचर्याविवतार—पंजिका, पृ० ३७ ।

३. यच्छास्ति वः क्लेशरिपूनशेषान् संत्रायते दुर्गतितो भवाच्च ।

तच्छासनात् त्राणगुणाच्च शास्त्रमेतद् द्वयं चान्यमतेषु नास्ति ॥

द्र०—मध्यमकशास्त्र, प्रसन्नपदा में उद्धृत, पृ० १ ।

बुद्धत्व के उपाय करुणा और प्रज्ञा हैं। इन उपायों का अभ्यास बुद्धत्व की प्राप्ति में पर्यवसित होता है, अतः कारण में कार्योपचार के द्वारा उपाय का अभ्यास भी शास्तृत्व कहलाता है^१।

वस्तुतः भगवान् बुद्ध की उपायकुशलता शास्तृत्व है। चार संग्रहवस्तुओं के प्रयोग द्वारा बोधिसत्त्व समस्त प्राणियों का संग्रह करके उन्हें सन्मार्ग पर आरूढ करते हैं, अतः बोधिसत्त्व शास्ता कहलाते हैं। दान, प्रियवचन, अर्थचर्या एवं समानार्थता ये चार संग्रहवस्तुएं हैं^२।

सर्वासु दिक्षु संबुद्धान् प्रार्थयामि कृताञ्जलिः ।

धर्मप्रदीपं कुर्वन्तु मोहाद् दुःखप्रपातिनाम् ॥ ४ ॥

सुमास'क्षमा'गुण'सु'समा'सुमा' ।

समा'सु'सुमा'सु'सुमा'सु' ।

सुमा'सु'सुमा'सु'सुमा'सु' ।

सुमा'सु'सुमा'सु'सुमा'सु' ।

अध्येषणा

सभी दिशाओं में स्थित सम्यक् संबुद्धों की मैं हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने अज्ञान के कारण दुःख की खाई में गिरनेवाले लोगों के लिए धर्म का प्रदीप जलाएं।

धर्मप्रदीप—अज्ञानरूपी अन्धकार से आवृत्त लोग यह नहीं जानते कि मार्ग क्या है और अमार्ग क्या है। ऐसे लोगों के लिए धर्मदेशनारूपी आलोक पैदा करना धर्मप्रदीप को जलाना है।

निर्वानुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः ।

कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत् ॥ ५ ॥

१. उप'याभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम् ॥

द्र०—प्रमाणवार्तिक १:१४०, पृ० ५१ (बौद्धभारती, वाराणसी—संस्करण)।

२. द्र०—धर्मसंग्रह, महायानसूत्रसंग्रह, प्रथम खण्ड, पृ० ३३० (मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभंगा—संस्करण १९६१)।

सु॒वा॒स॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 स॒वा॒स॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 स॒वा॒स॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ॥ ५ ॥

याचना

कृतकृत्य, कृतकार्य हो जाने से जो अब परिनिर्वाण चाहने लगे हैं, ऐसे बुद्ध और बोधिसत्त्वों से मैं हाथ जोड़ कर याचना करता हूँ कि वे अनन्त काल तक लोक में स्थित रहें, जिससे जगत् अन्धा न हो जाए, अन्धकाराच्छन्न न हो जाए, अर्थात् मार्गचेतना से रहित न हो जाए ।

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम् ।
 तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥ ६ ॥
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ॥ ७ ॥

सामान्य परिणामना

पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदना आदि उपर्युक्त पुण्यों को करके मैंने जो पुण्य अर्जित किया है, उस पुण्य से मैं समस्त प्राणियों के सम्पूर्ण दुःखों के शमन में समर्थ होऊँ ।

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च ।
 तदुपस्थायकश्चैव यावद् रोगापुनर्भवः ॥ ७ ॥
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ।
 द॒सु॒द॒र॒द॒र॒स॒वे॒र॒वा ॥ ८ ॥

सोमस'उक्'सो'स'पि'द'सु'प'प'प' ।
 व'स'प'प'प'प'प'प'प'प'प'प' ।
 प'प'प'प'प'प'प'प'प'प'प' ।
 स'प'प'प'प'प'प'प'प'प'प' ७ ।

मैं धनविकल दरिद्र लोगों के लिए कभी समाप्त न होनेवाली अक्षय निधि बन जाऊँ और उनके सम्मुख शयन, आसन, वस्त्र, भोजन, आभूषण, विलेपन आदि नाना सामग्री लेकर उपस्थित होऊँ ।

आर्यवज्रध्वजसूत्र में यह परिणामना विस्तार के साथ वर्णित है । बोधिसत्त्व इस प्रकार की परिणामना केवल वचनमात्र के द्वारा नहीं करता, अपितु अध्या-शयचित्त, प्रसन्न चित्त, प्रमुदित चित्त, मैत्री-चित्त, हित-सुख चित्त द्वारा सम्पन्न करता है^१ ।

आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम् ।

निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥ १० ॥

सु'स'प'प'प'प'प'p'p'p'p'p' ।

प'p'p'p'p'p'p'p'p'p'p'p' ।

सो'स'प'प'p'p'p'p'p'p'p'p'p' ।

प'p'p'p'p'p'p'p'p'p'p'p' १० ।

आत्मभाव (जीवन) आदि का विसर्जन

समस्त गतियों और योनियों में उत्पन्न शरीरों को; अश्व, गज, रथ, भवन, आभूषण आदि समस्त उपभोग्य सामाग्री को; तीनों कामधातु, रूपधातु एवं अरूप-धातु में अर्जित अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों कालों में किए हुए कुशल एवं आनेञ्ज्य स्वभाव पुण्यों को निरासक्त अर्थात् अपने लिए फल की आकांक्षा से विरहित होकर तीनों लोकों के प्राणियों के अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्ध के लिए मैं त्यागता हूँ ।

आर्याक्षयमतिसूत्र में अतीत, अनागत पुण्यों का त्याग विस्तारपूर्वक वर्णित है, उसे वहीं देखना चाहिए ।

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः ।

त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम् ॥ ११ ॥

स्रमस'उद'मद'मस'सु'द'द'द' ।

मद'स'सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' ।

स्रमस'उद'मद'मद'मस'सु'द'द' ।

स्रमस'उद'मद'मद'मस'सु'द'द' ११ ।

आत्मभाव (शरीर) आदि समस्त सास्त्रव धर्मों का निरोध (समाप्ति) ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाण का अभिलाषी है । निर्वाण के समय यदि आत्मभाव आदि समस्त का त्याग अवश्यभावी है, तो यह अच्छा है कि मैं उन्हें सत्त्वों (प्राणियों) के लिए अर्पित कर दूँ ।

यश्चासुखीकृतश्चात्मा मया सर्वदेहिनाम् ।

घ्नन्तु निन्दन्तु वा नित्यमाकिरन्तु च पांसुभिः ॥ १२ ॥

क्रीडन्तु मम कायेन हसन्तु विलसन्तु च ।

दत्तस्तेभ्यो मया कायश्चिन्तया किं समानया ॥ १३ ॥

कारयन्तु च कर्माणि यानि तेषां सुखावहम् ।

अनर्थः कस्यचिन्मा भून्मामालम्ब्य कदाचन ॥ १४ ॥

मद'स'सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' ।

सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' ।

मद'स'सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' ।

मद'स'सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' १२ ।

मद'स'सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' ।

सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' ।

मद'स'सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' ।

मद'स'सु'द'द'द'स'म'म'सु'म' १३ ।

दे'ल'म'क'र'स'र'म'र'गु'र'र'र' ।
 ल'स'म'र'ल'क'स'र'र'र'र'र' ।
 स'र'म'ल'र'र'म'र'र'र'r'r' ।
 र'म'र'r'r'र'r'r'r'r'r'r' १८ ।

मैंने अपना यह शरीर (काय) सभी प्राणियों के लिए 'जैसा वे चाहें, वैसा करने के लिए' न्यौछावर कर दिया है। अब वे चाहें तो इसकी हत्या करें, निन्दा करें या इस पर धूल फेंके।

मेरे शरीर के साथ (वे चाहें) खेलें, हंसे या विलास करें। जब मैंने यह शरीर उन्हें अर्पित कर ही दिया है तो अब मुझे सम-विषम चिन्ता करने की क्या जरूरत।

जो जो कार्य उन्हें सुखप्रद प्रतीत हों, वे वे (कुशल) कार्य वे इस शरीर से कराएं। मुझे निमित्त बनाकर किसी भी प्राणी का अनिष्ट न हो, न इस लोक में और न परलोक में यह मेरी अभिलाषा है।

येषां क्रुद्धाप्रसन्ना वा मामालम्ब्य मतिर्भवेत् ।

तेषां स एव हेतुः स्यान्नित्यं सर्वार्थसिद्धये ॥ १५ ॥

स'र'म'ल'र'r'r'r'r'r'r' ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' ।

दे'र'r'r'r'r'r'r' ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' १५ ।

मुझे निमित्त बनाकर जिनकी बुद्धि क्रुद्ध या अप्रसन्न हो रही हो, उनकी वह (क्रुद्ध या अप्रसन्न) मति ही उनके और दूसरों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि का सर्वदा हेतु बने।

अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्येऽप्यपकारिणः ।

उत्प्रासकास्तथान्येऽपि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः ॥ १६ ॥

म'r'r'r'r'r'r'r'r'r' ।

म'r'r'r'r'r'r'r'r'r' ।

दे'र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' ।

स'r'r'r'r'r'r'r'r'r' १६ ।

जो मुझे मिथ्या दोषारोपण द्वारा दूषित करेंगे, जो मेरा कायिक या मानसिक अपकार करेंगे, अथवा जो मेरा उपहास करेंगे तथा और जो मेरे प्रति उदासीन आदि होंगे, वे सब बुद्धत्व के लाभी हों ।

अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम् ।

पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ॥ १७ ॥

मन्मथं कर्मोक्तं मन्मथं कर्मोक्तं ।

मन्मथं कर्मोक्तं कर्मोक्तं कर्मोक्तं ।

मन्मथं कर्मोक्तं कर्मोक्तं कर्मोक्तं ।

मन्मथं कर्मोक्तं कर्मोक्तं कर्मोक्तं १७ ।

मैं अनाथों (असहायों) का नाथ बनूँ, मार्ग में चलनेवालों का सार्थवाह बनूँ, जो नदी के उस पार जाना चाहते हैं, उनके लिए नौका, सेतु एवं बजड़ा बनूँ ।

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।

दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।

दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।

दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।

अन्धकार में अवस्थित लोगों के लिए मैं दीपक बनूँ, शयन की अभिलाषा वालों के लिए बिछौना बन जाऊँ तथा सेवा-टहल के लिए जो नौकर-चाकर चाहते हैं, ऐसे सभी लोगों का मैं दास बनूँ ।

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः ।

भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनाम् ॥ १९ ॥

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः ।

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः ।

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः ।

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः १९ ।

बोधिसत्त्वप्राप्तिमोक्ष में उल्लिखित है कि 'शारिपुत्र, बोधिसत्त्व सभी धर्मों में परकीय संज्ञा का उत्पाद करता है, वह किसी भी भाव (पदार्थ) का उपादान नहीं करता, क्योंकि उपादान भय है' ।

पुनश्च, 'बोधिसत्त्व निःसन्देह चित्तशूर होते हैं, वे अपने हाथ, पैर, आंख, नाक आदि सभी अंग-प्रत्यंगों का दान कर देते हैं'^१ ।

नारायणपरिपृच्छा में भी कहा है कि 'उस वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिए, जिसके प्रति त्याग-बुद्धि न हो । बोधिसत्त्व को ऐसा सोचना चाहिए कि जब मैंने अपना जीवन ही सभी प्राणियों के लिए अर्पित कर दिया है तो बाह्य वस्तुओं के बारे में तो कहना ही क्या है'^२ ?

आर्याक्षयमत्तिसूत्र में भी कहा गया है कि मुझे अपने शरीर को सभी सत्त्वों के लिए 'कहिए मैं आपके लिए क्या करूँ'—इस भावना से अर्पित कर देना चाहिए^३ ।

द्वितीय परिच्छेद की प्रथम कारिका से लेकर यहाँ तक बोधिसत्त्वसंवर के ग्रहण का प्रयोग दिखलाया गया है । इस प्रकार पूजा आदि करके बोधिचित्त की अनुशंसा जानते हुए दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त कर दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न करके दुःखी, अनाथ प्राणियों के प्रति करुणा करते हुए, स्वसुख के प्रति उपेक्षा करते हुए तथा पर-दुःख से दुःखी होते हुए, उनके उद्धार का मार्ग एकमात्र बुद्धत्व ही है, ऐसा समझते हुए बुद्धत्वप्राप्ति के लिए बद्धपरिकर हो जाना चाहिए ।

यथा गृहीतं सुगतैर्बोधिचित्तं पुरातनैः ।

ते बोधिसत्त्वशिक्षायामानुपूर्व्या यथा स्थिताः ॥ २२ ॥

१. पुनरपरं शारिपुत्र, बोधिसत्त्वः सर्वधर्मेषु परकीयसंज्ञामुत्पादयति, न कंचिद् भावमुपादत्ते, तत्कस्य हेतोः ? उपादानं हि भयमिति ।

पुनश्च—तथा चित्तशूराः खलु बोधिसत्त्वा भवन्ति । यावत् स्वहस्तपरित्यागी भवति, पादपरित्यागी सर्वस्वपरित्यागी ति ।

द्र० — शिक्षासमुच्चय, पृ० १४, १६ (उद्धृत) तथा बोधिचर्यावितार, पृ० ४१, (उद्धृत) ।

२. न तद् वस्तु उपादातव्यं यस्मिन् वस्तुनि नास्य त्याग-चित्तमुत्पद्येत, न त्यागबुद्धिः क्रमेत् अयं ममात्मभावः सर्वसत्त्वभ्य उत्सृष्टः परित्यक्तः, प्रागेव बाह्यानि वस्तुनि ।

द्र० — शिक्षासमुच्चय, पृ० १६ (उद्धृत), बोधिचर्यावितार, पृ० ४१-४२ (उद्धृत) ।

३. अयं मया कायः सर्वसत्त्वानां किकरणीयेषु क्षपितव्यः ।

द्र० — शिक्षासमुच्चय, पृ० १६ (उद्धृत), बोधिचर्यावितार, पृ० ४२ (उद्धृत) ।

बोधिसत्त्वदीक्षा लेते समय और बोधिसत्त्व संवर ग्रहण करने के बाद व्यक्ति को मन में ऐसा विचार बार-बार लाना चाहिए कि मैं शिक्षा के अनुरूप अपने को ढालूंगा। यदि मैं शिक्षा के विपरीत आचरण करूंगा तो अपने गुरु और धर्म की वंचना करनेवाला होऊंगा। मुझे ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिए, जिससे भगवान् बुद्ध के निर्मल कुल में किसी तरह का कलंक लगे।

जिस शिक्षा का अनुशीलन करना हो, उसकी मन में तीव्र उत्कण्ठा लिए कल्याणमित्र के सम्मुख उपस्थित होकर अपने नाम, गोत्र का उच्चारण करते हुए दीक्षा के लिए प्रार्थना करना चाहिए तथा इस प्रकार की मन में भावना करना चाहिए—

जब तक इस संसार की स्थिति है, जब तक आकाश है, तब तक प्राणियों के कल्याण हेतु विविध-चर्याओं का अनुष्ठान करूंगा।

सेवा करने के लिए यह सारा संसार मेरे द्वारा निमन्त्रित है। सारे जगत् को मैं दरिद्रता, जरा, व्याधि, कलह, अज्ञान आदि की अवस्था से ऊपर उठाऊंगा और तब तक बुद्धत्व पद प्राप्त नहीं करूंगा, जब तक सभी प्राणियों को सुख और बुद्धत्व प्राप्त नहीं करा दूंगा।

ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, कृपणता आदि अकुशल विचारों को आज के बाद अपने मन में स्थान नहीं दूंगा। शील, संवर से युक्त होकर बुद्ध की शिक्षा का हृदय से पालन करूंगा—आदि।

बोधिचित्त की दीक्षा लेने के लिए यदि कल्याणमित्र उपलब्ध न हो सके तो दशों दिशाओं में स्थित बुद्ध और बोधिसत्त्वों की उपस्थिति की भावना कर उनके सम्मुख दीक्षा ली जा सकती है। बोधिचित्त की दीक्षा के स्त्री, शूद्र आदि सभी पात्र होते हैं।

बोधिचित्त के उत्पाद के लिए सर्वप्रथम कुशल धर्मच्छन्द का उत्पाद करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति, जिसमें बोधिसत्त्व गोत्र विद्यमान है, फिर भी बोधिचित्त का उत्पाद नहीं कर रहा है, उसे देख कर तथा किसी व्यक्ति को श्रावक मार्ग में प्रेरित किया जाता हुआ देखकर बोधिसत्त्व दुःखी होता है। बोधिचित्त की प्रशंसा सुनकर बोधिसत्त्व प्रसन्न होता है। अनाथ, अशरण, आश्रयहीन एवं दुःखी सत्त्वों को देखकर बोधिसत्त्व में करुणा का उत्पाद होता है। तथागत के लक्षण-व्यञ्जनों से परिपूर्ण गात्र को देखकर अनुत्तर बोधि को प्राप्त करने की अभिलाषा बोधिसत्त्व में उत्पन्न होती है। संक्षेप में यही बोधिसत्त्व में बोधिचित्त उत्पन्न होने के लक्षण हैं। इस प्रकार बोधिचित्त उत्पन्न हो जाने पर ही व्यक्ति 'बोधिसत्त्व' कहलाता है।

एवं गृहीत्वा मतिमान् बोधिचित्तं प्रसादतः ।

पुनः पृष्ठस्य पुष्ट्यर्थं चित्तमेवं प्रहर्षयेत् ॥ २४ ॥

दे'हृ'र'ज्ञे'र'द'क्ष'व'य'सा ।

र'म'र'द'सु'द'कु'म'र'म'स'म'हृ'द'र'सा ।

र'हृ'म'गु'द'कु'म'र'सु'द'र'सु'द'र' ।

सो'म'स'र'दे'हृ'र'म'ज्ञे'र'द'क्ष'व'य'सा ॥ २८ ॥

इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक (अपने में) बोधिचित्त का उत्पाद कर मतिमान् बोधिसत्त्व पूर्व की पुष्टि अर्थात् उत्तरोत्तर विकास करने के लिए अपने चित्त को इस प्रकार हर्षित करे—

[बुद्धिमान् व्यक्ति बोधिचित्त उत्पन्न हो जाने के बाद ही 'बोधिसत्त्व' कहलाता है । प्रसन्नतापूर्वक का अर्थ श्रेष्ठ आनन्द और श्रद्धा तथा उसके प्रति (अर्थात् उत्पन्न बोधिचित्त के प्रति) सत्कार और गौरवबुद्धि होने से है । उत्तरोत्तर विकास का तात्पर्य है कि बोधिचित्त के प्रति आस्थाहीनता या उपेक्षाभाव नहीं आने देना चाहिए, अन्यथा उसका यथेच्छ विस्तार नहीं किया जा सकेगा । अतः बोधिचित्त की रक्षा, शुद्धि और वृद्धि का सतत प्रयास करना चाहिए] ।

अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भवः ।

अद्य बुद्धकुले जातो बुद्धपुत्रोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ २५ ॥

दे'हृ'र'ज्ञे'र'द'क्ष'व'य'सा ।

सो'म'स'र'दे'हृ'र'म'ज्ञे'र'द'क्ष'व'य'सा ।

दे'हृ'र'ज्ञे'र'द'क्ष'व'य'सा ।

सो'म'स'र'दे'हृ'र'म'ज्ञे'र'द'क्ष'व'य'सा ॥ २९ ॥

आज मेरा जन्म सफल हो गया है । मुझे मनुष्य योनि में जन्म लेने का लाभ मिल गया है । आज मैं बुद्ध के कुल में उत्पन्न हो गया हूँ । अब मैं बुद्ध का पुत्र हो गया हूँ ।

ऊपर कहा गया था कि अपने चित्त को हर्षित करे । हर्षित करने का यही प्रकार है । अनादिकालीन भवपरम्परा में मुझमें ऐसे विचार कभी उत्पन्न नहीं हुए थे, आज मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ कि मुझमें इस प्रकार के भाव उदित हुए हैं । अब मैं बुद्ध का प्रिय पुत्र हो गया हूँ ।

यह जीव अनन्तानन्त जन्मों से संसार में भटक (संसरण कर) रहा है । संसार और समस्त सांसारिक पदार्थ निःसार हैं, दुःख हैं । अतः सारहीन जन्म (भव)-परम्परा को यहाँ कूड़े के ढेर की उपमा दी गई है ।

बोधि (प्रज्ञा) ही इस संसार रूपी दुःखों से मुक्ति का एकमात्र उपाय है । बोधिसत्त्व दुःखों से केवल अपनी वैयक्तिक मुक्ति नहीं चाहता, अपितु समस्त प्राणियों की दुःखधारा का समापन करना चाहता है, क्योंकि उसमें दुःखों के प्रति संवेदन-शीलता है और दुःखी सत्त्वों के प्रति करुणा है । वह अनुभव करता है कि जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे किसी को भी दुःख प्रिय नहीं है । अतः क्यों मैं केवल अपने को ही दुःखों से मुक्त करने का प्रयास करूँ ? केवल अपनी ही दुःखों से मुक्ति चाहना कौन बड़ा पुरुषार्थ है ? बल्कि यह तो एक प्रकार का स्वार्थ का ही व्यापार है । अतः बोधिसत्त्व करुणार्द्र होकर बुद्धत्व प्राप्त कर समस्त प्राणियों को अशेष दुःखों से मुक्त करने का संकल्प लेता है ।

समस्त प्राणियों को दुःखों से मुक्त करा कर उन्हें बुद्धत्व प्राप्त कराने का इतना ऊँचा जीवन का आदर्श बोधिचित्त होने की ही परिणति (फल) है । बोधिचित्त की वजह से ही यह आदर्श निष्पन्न हुआ है । बोधिचित्त करुणा और प्रज्ञा से विशिष्ट है । अतः इसका उत्पाद अत्यन्त दुर्लभ है, इसीलिए इसको रत्न से उपमा दी गई है ।^१

बोधिचित्त के गुण

जगन्मृत्युविनाशाय जातमेतद् रसायनम् ।

जगद्दारिद्र्यशमनं निधानमिदमक्षयम् ॥ २८ ॥

འགྲོ་བའི་འཆི་བདག་འཛམ་ས་སྤྱོད་བའི།

བདུད་ཅི་མཆོག་ཀྱང་འདི་ཡིན་ནོ། །

འགྲོ་བའི་དབྱུང་བ་སེལ་བ་ཡི།

མི་ཟད་གཏོར་ཡང་འདི་ཡིན་ནོ། ३८ །

जागतिक मृत्यु के विनाश के लिये यह (बोधिचित्त) (उत्तम) रसायन है तथा जागतिक दरिद्रता के शमन (नाश) के लिए यह अक्षय निधि (खजाना) है ।

१. बोधिचित्त की दुर्लभता के विशेष ज्ञान के लिए द्रष्टव्य—बोधिचर्यावितार १:४, पृ० १० ।

प्रस्तुत ग्रन्थ ।

रसायन—आयुर्वेद शास्त्रों में अनेक ऐसे रसायनों (औषधियों) का विधान है, जिनके विधिवत् सेवन से जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जीव (प्राणी) इस संसार में पुनः पुनः जन्म लेते हुए लगातार बुढ़ापे और मृत्यु को बार-बार प्राप्त हुआ है। उसे आज तक ऐसा रसायन प्राप्त नहीं हुआ है, जिससे जन्म, जरा, मृत्यु के इस चक्र से छुटकारा पा सके। बोधिचित्त ही एक ऐसा उत्तम रसायन है, जिसकी भावना (अभ्यास) से व्यक्ति जन्म, मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाकर, आवागमन से रहित होकर मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त कर सकता है। साथ ही बोधिचित्त दरिद्रता के नाश के लिए अक्षय निधि के समान है। ऐसी निधि जो कभी समाप्त न होनेवाली हो, चाहे कितना ही खर्च क्यों न किया जाए।

जगद्व्याधिप्रशमनं भैषज्यमिदमुत्तमम् ।

भवाध्वभ्रमणभ्रान्तजगद्विश्रामपादपः ॥ २९ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ३० ।

जागतिक व्याधियों (बीमारियों) को शान्त करने के लिए यह (बोधिचित्त) (एक) उत्तम भैषज्य (औषधि) है तथा संसाररूपी रास्ते पर चलते-चलते थके हुए लोगों के लिए यह (बोधिचित्त) विश्राम देने वाले वृक्ष के समान है।

भैषज्य—व्याधियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—१. शारीरिक तथा २. मानसिक। ज्वर, अतिसार, वमन आदि शारीरिक तथा राग, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि मानसिक बीमारियाँ हैं। जिस प्रकार उत्तम वैद्य द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठ औषधि शारीरिक बीमारियों का नाश कर देती है, ठीक उसी प्रकार राग, द्वेष, मोह आदि मानसिक बीमारियों के शमन के लिए बोधिचित्त एक उत्तम औषधि है।

विश्रामपादप—रास्ते में चलते चलते थके हुए पथिक को जैसे घना, छायादार, बड़ा वृक्ष विश्राम देता है, उसकी थकान को दूर करता है और इसीलिए वह विश्राम-पादप कहलाता है। उसी प्रकार जीव च्युति (मरण), अन्तराभव एवं उपपत्तिभव के क्रम से नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य और देव आदि योनियों में घूमते-घूमते थक गया है। बोधिचित्त की भावना से निर्वाण प्राप्त होता है और विभिन्न योनियों में घूमने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। अतः बोधिचित्त थके पथिक को विश्राम देनेवाले महावृक्ष के समान है।

दुर्गत्युत्तरणे सेतुः सामान्यः सर्वयायिनाम् ।

जगत्क्लेशोष्मशमन उदितश्चित्तचन्द्रमा ॥ ३० ॥

ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३० ॥

दुर्गतियों (नरक, प्रेत, तिर्यक् आदि योनियों अर्थात् संसाररूपी समुद्र) को पार करने के लिए (यह बोधिचित्त) समस्त पथिकों (यात्रियों) के लिए सर्व-साधारण सेतु (पुल) है । तथा जगत् के (राग, द्वेष आदि) क्लेशों की ऊष्मा (ताप) को शान्त करने के लिए यह बोधिचित्तरूपी चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है ।

जगदज्ञानतिमिरप्रोत्सारणमहारविः ।

सद्धर्मक्षीरमथनान्नवनीतं समुत्थितम् ॥ ३१ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३१ ॥

जगत् के अज्ञानरूपी अन्धकार को नाश करनेवाला यह (बोधिचित्त) महा-सूर्य है । तथा सद्धर्मरूपी क्षीर के मन्थन से उत्पन्न यह (बोधिचित्त) नवनीत (सदृश) है ।

अज्ञानतिमिर—अज्ञान की उपमा तिमिर (अन्धकार) से दी जाती है । जैसे अन्धकार के कारण विद्यमान भी वस्तु दिखाई नहीं देती, उसी तरह अज्ञान के कारण यथार्थ विद्यमान तत्त्व भी दृष्टिगोचर नहीं होता ।

ऊपर की कारिका में यह कह दिया गया है कि यह बोधिचित्तरूपी चन्द्रमा जागतिक क्लेशों अर्थात् क्लेशावरण को शान्त करनेवाला है । यहाँ पर 'अज्ञान' का तात्पर्य 'ज्ञेयावरण' से है । अर्थात् बोधिचित्त क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों को दूर करनेवाला है । ये दोनों आवरण ही मोक्ष और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में बाधक है ।

बोधिचित्त प्रज्ञा से युक्त होता है और प्रज्ञा ही अज्ञान का नाश करने में समर्थ होती है। अतः यहाँ प्रज्ञा की प्रखरता महासूर्य की उपमा द्वारा समझाई गई है।

सद्धर्म—सद्धर्म की उपमा क्षीर (दूध) से दी गई है। दूध जैसे श्वेत (कालिमारहित) और पवित्र होता है, वैसे ही सद्धर्म है। यहाँ सद्धर्म का तात्पर्य बुद्धवचनों से है। मन्थन का तात्पर्य बुद्धवचनों के श्रवण, उनमें प्रतिपादित तत्त्वों का चिन्तन और उनकी भावना से है। समस्त बुद्धवचनों (सद्धर्म) का उद्देश्य प्रत्येक प्राणी को बुद्धत्व प्राप्त कराना है। जब तक बोधिचित्त की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक बुद्धत्व प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः बुद्धवचन रूपी क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न यह बोधिचित्त नवनीत (मक्खन) है। अर्थात् समस्त धर्मों का सार है।

सुखभोगबुभुक्षितस्य वा जनसार्थस्य भवाध्वचारिणः ।

सुखसत्त्रमिदं ह्युपस्थितं सकलाभ्यागतसत्त्वतर्पणम् ॥ ३२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३२ ॥

नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३२ ॥

सोमस्य उक्त्वा भगवते वासुदेवाय ॥ ३३ ॥

भव (संसार)-रूपी मार्ग के यात्री तथा सुख-भोग के भूखे जनसमूह के लिए यह (बोधिचित्त) समस्त अतिथियों (की इच्छाओं) को तृप्त करने वाला सुखसत्र (आरामदेह आश्रयस्थान) सदृश है।

तीर्थों की परिक्रमा करनेवाले यात्रियों की सुविधा के लिए समृद्ध धार्मिक पुरुष आश्रयशालाओं का निर्माण कर देते हैं, जहाँ अभ्यागत यात्रियों को भोजन, वस्त्र, बिस्तर, पात्र आदि सभी की सुखसुविधा उपलब्ध रहती है, जिससे उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। ऐसे स्थान को यहाँ 'सुखसत्र' कहा गया है।

'सुखभोग' का तात्पर्य देवलोक के सुख और भोग तथा मनुष्य लोक के सुख और भोग से है तथा अन्त में निर्वाणसुख से भी उसका तात्पर्य है। इन सुखभोगों की लालसा वाले जीवों के लिए बोधिचित्त 'सुखसत्र' की भाँति शरणस्थल है। दृढ़तापूर्वक बोधिचित्त का ग्रहण निश्चितरूप से प्राणियों की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला है।

जगदद्य निमन्त्रितं मया सुगतत्वेन सुखेन चान्तरा ।

पुरतः खलु सर्वतायिनामभिनन्दन्तु सुरासुरादयः ॥ ३३ ॥

मममा'मीश'दे'दी'ल्लो'म'प'प्र'म'स'उ'ग'गु ।

सु'र'सु'र'र'सु'म'म'दे'मा'मे'म'स'उ'ग'गु ।

म'र'दु'म'दे'म'म'सु'र'दु'म'स'उ'ग'गु ।

सु'र'दु'सु'र'म'सु'र'म'सु'र'म'सु'र'म'सु'र' ३३ ।

सभी बुद्ध और बोधिसत्त्वों के सामने (उनको साक्ष्य बनाकर) मैं जगत् के समस्त प्राणियों को अन्त में बुद्धत्व और इस बीच (जब तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता, तब तक) देव और मनुष्य सुख से युक्त करने के लिए निमन्त्रित करता हूँ । (मैंने बोधिचित्त उत्पन्न कर लिया है, अतः मेरे इस कार्य का) सभी देव और असुर अभिनन्दन (अनुमोदन) करें ।

॥ बोधिचर्यावतार में बोधिचित्तपारेग्रह नामक तृतीय परिच्छेद समाप्त ॥

चतुर्थपरिच्छेद

बोधिचित्त-अप्रमाद

एवं गृहीत्वा सुदृढं बोधिचित्तं जिनात्मजः ।

शिक्षानतिक्रमे यत्नं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ १ ॥

सुखं भवति श्रमोऽपि न भवति ।

सुखं भवति श्रमोऽपि न भवति ।

सुखं भवति श्रमोऽपि न भवति ।

सुखं भवति श्रमोऽपि न भवति ।

इस प्रकार दृढ़ता के साथ बोधिचित्त को ग्रहण कर बोधिसत्त्व (बुद्धपुत्र) को सावधान रहते हुए शिक्षा का अतिक्रमण (उल्लंघन) न हो—इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

बोधिसत्त्व अपने चित्त की रक्षा तभी कर सकता है, जब वह सदा सावधान रहे, आलस्य न करे तथा विहित शिक्षा का पालन करे ।

षट् पारमिताओं^१ का सेवन, चार ब्रह्मविहारों^२ (अप्रमाणों) की भावना तथा चार संग्रह वस्तुओं^३ का अनुपालन आदि बोधिसत्त्व की शिक्षाएं हैं । प्रज्ञा-पारमिता द्वारा त्रिकोटि-परिशुद्ध दान, शील आदि ही बुद्धत्व की प्राप्ति में सहायक होते हैं तथा मैत्री, आदि ब्रह्मविहारों की भावना से और दान, प्रियवचन आदि संग्रह वस्तुओं के अनुष्ठान से अपरिमित जनकल्याण, सत्त्वपरिपाक तथा क्षेत्रपरिशुद्धि होती है । अन्त में बुद्धत्व की प्राप्ति भी होती है ।

१. दान, शील, वीर्य (कुशल उत्साह), धैर्य (सहिष्णुता), ध्यान एवं प्रज्ञा—ये छह पारमिताएं हैं ।

२. मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—ये चार ब्रह्मविहार हैं । इन्हें ही 'अप्रमाण' कहते हैं, क्योंकि मैत्री, करुणा आदि के आलम्बन जो सत्त्व (प्राणी) हैं, उनका कोई परिमाण (सोमा) नहीं होती ।

३. दान, प्रियवचन, अर्थ (हित)-चर्या एवं समानार्थता—ये चार संग्रहवस्तुएं हैं । इनके अनुष्ठान से सत्त्वपरिपाक होता है ।

बोधिसत्त्व के सभी कार्य परोपकार की भावना से प्रेरित होने चाहिए । वह ऐसा कोई कार्य न करे, जिससे परहित बाधित हो । बोधिसत्त्व को इन सभी शिक्षाओं के पालन में आलस्य न करते हुए सावधानी के साथ यत्न करना चाहिए ।

इस परिच्छेद में प्रज्ञा और उपाय के द्वारा बोधिचित्त की रक्षा, उसकी परिशुद्धि और वृद्धि कही जाएंगी ।

सहसा यत् समारब्धं सम्यग् यद्विचारितम् ।

तत्र कुर्यान्न वेत्येवं प्रतिज्ञायापि युज्यते ॥ २ ॥

सप्त'उत्'सङ्खल्ल'स'म'अ'स'स'स' ।

म'अ'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

दे'व'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ३ ।

जिस कार्य का सहसा (अकस्मात् झटके में) आरम्भ कर दिया गया हो तथा जिस पर भलीभाँति विचार न किया गया हो, उसे (निरन्तर) किया जाए अथवा नहीं—ऐसा विकल्प (पुनर्विचार) उपयुक्त है, चाहे उसे करने की प्रतिज्ञा ही क्यों न कर ली गई हो ।

विचारितं तु यद् बुद्धेर्महाप्राज्ञैश्च तत्सुतैः ।

मयापि च यथाशक्ति तत्र किं परिलम्ब्यते ॥ ३ ॥

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

मे'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

दे'व'स'स'स'स'स'स'स'स' । ३ ।

(किन्तु बोधिचित्त ऐसा नहीं है, जिस पर पहले भली-भाँति विचार किये बिना उसका सहसा आरम्भ कर दिया गया हो, अपि तु) जिस पर सभी बुद्धों और महाप्रज्ञावान् बोधिसत्त्वों ने ठीक-ठीक विचार किया है तथा मैंने भी अपनी शक्ति के अनुसार परीक्षण किया है, अतः इस इस विषय में अब विलम्ब क्यों किया जाए ।

वेत्ति सर्वज्ञ एवैतामचिन्त्यां कर्मणो गतिम् ।
यद् बोधिचित्तत्यागेऽपि मोक्षयत्येव तान् नरान् ॥ ७ ॥

खै'मा'सु'कु'सो'म'स'स'स' ।
दे'न'म'स'स'स'स'स' ।
म'स'स'स'स'स'स'स' ।
म'स'स'स'स'स'स'स' ७ ।

सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ही कर्मों की अचिन्त्य गति को जानते हैं, जो बोधिचित्त का त्याग कर देने पर भी उन मनुष्यों को मुक्त करते हैं ।

ऐसी कथा है कि शारीपुत्र ने बोधिचित्त का त्याग कर दिया था । जब कि ऊपर बोधिचित्त के त्याग का नरक फल कहा गया है । उन्होंने भी बुद्ध, बोधिसत्त्वों के सम्मुख जगत् के सभी प्राणियों को दुःख से मुक्त करने का चित्त (बोधिचित्त) उत्पन्न किया था और अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण किया । अर्थात् बोधिचित्त का त्याग कर दिया । किन्तु उन्हें प्रेत, नरक आदि में जन्म नहीं मिला, अपितु श्रावकीय परम पद अर्हत्त्व की प्राप्ति हुई । इसके समाधान में कहा गया है कि कर्म की गति सामान्य जन के लिए बोधगम्य नहीं है, अपि तु भगवान् बुद्ध, जो सर्वज्ञ हैं, वे ही इसे जानते हैं ।

दूसरा समाधान यह भी है कि यद्यपि उन्होंने बोधिचित्त का त्याग किया था, किन्तु मोक्षचित्त का त्याग नहीं किया था । फलतः उन्होंने श्रावक बोधि प्राप्त की और उसके बल से अनेक कल्प पर्यन्त असंख्य प्राणियों का कल्याण किया । अतः उनके अर्हत्त्व की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं है ।

बोधिसत्त्वस्य तेनैवं सर्वापत्तिर्गरीयसी ।
यस्मादापद्यमानोऽसौ सर्वसत्त्वार्थहानिकृत् ॥ ८ ॥

दे'के'सु'कु'सो'म'स'स' ।
सु'कु'सो'म'स'स' ।
म'स'स'स'स'स' ।
सो'म'स'स'स'स' ८ ।

इसलिए इस प्रकार (बोधिचित्त का त्याग) बोधिसत्त्व के लिए सबसे गुरुतर (बड़ी) आपत्ति है, क्योंकि इस आपत्ति को प्राप्त बोधिसत्त्व सभी प्राणियों के हित की हानि करता है ।

शास्त्रों में बोधिसत्त्व के लिए १८ मूल-आपत्तियाँ कही गई हैं। उनमें से बोधिचित्त का त्याग सबसे बड़ी (गुरुतम) आपत्ति है। बोधिसत्त्वसंवर का जिसने ग्रहण किया है, ऐसे बोधिसत्त्व का इस आपत्ति की वजह से संवर नष्ट हो जाता है, क्योंकि इससे असंख्य प्राणियों के हित की हानि होती है।

योऽप्यन्यः क्षणमप्यस्य पुण्यविधनं करिष्यति ।

तस्य दुर्गतिपर्यन्तो नास्ति सत्त्वार्थधातिनः ॥ ९ ॥

གང་གཞན་སྐད་ཅིག་ཅེས་ཡང་འདི་ནི།

བསོད་ནམས་བར་མད་གཤམ་བྱེད་པ། །

སེམས་ཅན་དོན་ལ་དམན་གྱུར་པས།

དེ་ཡི་ངན་འགྲོ་ཐུ་མཐུན་མེད། ཅ །

जो कोई दूसरा व्यक्ति इस बोधिसत्त्व की चर्या में बाधा डालता है, एक दिन, दो दिन तो दूर, क्षणमात्र के लिए भी उसके पुण्य कार्य में विघ्न पहुँचाता है, प्राणियों के हित का नाश करने वाले उस व्यक्ति की दुर्गति का अन्त नहीं है।

एकस्यापि हि सत्त्वस्य हितं हत्वा हतो भवेत् ।

अशेषाकाशपर्यन्तवासिनां किमु देहिनाम् ॥ १० ॥

སེམས་ཅན་གཅིག་གི་བདེ་བ་ཡང་། །

བཤེལ་ན་བདལ་ཉིད་ཉམས་འགྱུར་ན།

ནམ་མཁའ་མ་ལུས་མཐའ་གྲས་པའི།

ལྷན་ཅན་བདེ་བ་ཤིག་སྟོན་ཅི་དགོས། ༡༠ །

एक भी प्राणी के हित का नाश करके (नाश करनेवाला) व्यक्ति (मरने से भी बढ़कर) अधमाधम हो जाता है तो सम्पूर्ण आकाशपर्यन्त निवास करनेवाले सम्पूर्ण प्राणियों के व्यापक हित में बाधा पहुँचाने वाले के बारे में तो कहना ही क्या है ? बोधिसत्त्व समस्त प्राणियों के कल्याण में निरत है। उसके कार्य में बाधा पहुँचाना वस्तुतः घोर पाप है।

एवमापत्तिबलतो बोधिचित्तबलेन च ।

दोलायमानः संसारे भूमिप्राप्तौ चिरायते ॥ ११ ॥

दे'हृर'हृर'व'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' । ११ ।

इस प्रकार आपत्ति के बल से (नीचे की ओर पतन) तथा पुनः बोधिचित्तोत्पाद (रूपी पुण्य) के बल से (ऊपर की ओर उत्थान इस तरह) संसार में दोलायमान (झले के समान उतार-चढ़ाव के क्रम में फंसा) रहने के कारण (प्रमुदिता आदि) भूमि को प्राप्त करने में (साधक बोधिसत्त्व को) बिलम्ब होता है ।

तस्माद् यथाप्रतिज्ञातं साधनीयं मयादरात् ।

नाद्य चेत् क्रियते यत्नस्तलेनास्मि तलं गतः ॥ १२ ॥

दे'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' । १२ ।

इसलिए जैसी प्रतिज्ञा की है, तदनुसार श्रद्धापूर्वक मुझे उसे सिद्ध करना चाहिए । यदि मैंने आज ही (अभी ही) यत्न करना प्रारम्भ नहीं किया (और आलस्यवश कल, परसों पर टालता रहा) तो तल से भी नीचे तल (रसातल) तक (दुर्गति में पतन के नीचे से नीचे कगार तक) समझो पहुँच गया ।

अप्रमेया गता बुद्धाः सर्वसत्त्वगवेषकाः ।

नैषामहं स्वदोषेण चिकित्सागोचरं गतः ॥ १३ ॥

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' ।

हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर'हृर' । १३ ।

मन्त्रं कर्त्तव्यं श्रुत्वा श्रुत्वा श्रुत्वा ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

कुशल (पुण्य) कर्मों को करने में योग्य (समर्थ) होने पर भी जब मैं कुशल कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता, तब नरक के दुःखों से मूर्छित होकर मैं क्या करूँगा ?

अकुर्वतश्च कुशलं पापं चाप्युपचिन्वतः ।
 हतः सुगतिशब्दोऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥ १९ ॥
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

(वहाँ नरक में) पुण्य न करते हुए और पाप का ही संचय करते हुए सैकड़ों-करोड़ों कल्प तक 'सुगति'—शब्द सुनना भी कठिन होगा ।

अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभम् ।
 महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ॥ २० ॥
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।
 नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो ।

इसीलिए भगवान् ने मनुष्य जन्म को अत्यन्त दुर्लभ कहा है । उन्होंने इसकी दुर्लभता निम्नलिखित दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट की है—

महासमुद्र में एक लकड़ी का जुआँ (Yoke) तैर रहा है, जो उसकी उत्ताल तरङ्गों की वजह से स्थिर नहीं है । समुद्र की तलहटी में एक कछुआ रहता है, जो

सौ वर्षों में एक बार अपना सिर पानी की सतह से ऊपर निकालता है। लकड़ी के जुएँ में एक छिद्र है। उस जुएँ के छेद में उस कछुए की गर्दन का फँस जाना जितना कठिन है, मनुष्य जन्म प्राप्त करना उतना ही कठिन है। इसलिए इसे अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है।

एकक्षणकृतात् पापादवीचौ कल्पमास्यते ।

अनादिकालोपचितात् पापात् का सुगतौ कथा ॥ २१ ॥

སྒྲུབ་ཅིག་གཅིག་ཕུས་སྒྲིག་པས་ཀྱང་། །

བསྐྱེད་པར་མཁར་མེད་གནས་འགྱུར་ན། །

ཐོག་མེད་འཁོར་བར་བསམས་སྡིག་གིས། །

བདེ་འགྲུར་མི་འགྲུ་སྒྲུལ་ཅི་དགོས། ༣༡ །

काल के सबसे सूक्ष्म अंश क्षण में भी किये गये पाप कर्म के कारण कल्प-कल्पों पर्यन्त अवीचि नामक नरक में वास करना होता है। (ऐसी स्थिति में) अनादि काल से जो पाप संचित हैं, उनकी वजह से सुगति (मनुष्य और देव योनि में जन्म) की चर्चा ही व्यर्थ है।

न च तन्मात्रमेवासौ वेदयित्वा विमुच्यते ।

यस्माद् तद्वेदयन्नेव पापमन्यत् प्रसूयते ॥ २२ ॥

དེ་ཅུམ་ཁོ་ན་སྤྱོད་གྱུར་ནས།

འདི་ནི་རྣམ་ཐར་མི་འགྱུར་དེ།

འདི་ལྟར་དེ་ནི་སྤྱང་བཞིན་དུ།

སྒྲིག་པ་གཞན་དག་རབ་དུ་སྒྲི། ༣༣ །

उन संचित पापों के अनिष्ट फल भोग कर छुटकारा हो जाता तो गनीमत थी, किन्तु उन पापों का फल भोगते हुए व्यक्ति अन्य अनेक पापों को पैदा कर लेता है।

इसलिए दुःख से छुटकारे के लिए आज से ही प्रयत्नपूर्वक पाप कर्म करना छोड़ना होगा। जो भविष्य के दुःखों के निरोध के लिए आज उपाय करते हैं, वे ही विद्वान् कहलाते हैं।

नरक की असह्य अग्नि मेरे शरीर को चिरकाल तक जलाएगी तथा (बुद्ध की) शिक्षा पर न चलनेवाले मेरे चित्त को पश्चात्ताप की आग चिरकाल तक दग्ध करेगी ।

कथञ्चिदपि सम्प्राप्तो हितभूमिं सुदुर्लभाम् ।

जानन्नपि च नीयेऽहं तानेव नरकान् पुनः ॥ २६ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय । २७ ।

किसी तरह (सौभाग्य से) (धर्माचरण करने में स्वतन्त्र) दुर्लभ मनुष्य जन्म (हितभूमि) को प्राप्त करके भी और (पाप-पुण्य का विभेद) जानते हुए भी फिर (पुण्य कर्मों का सम्पादन न करके मैं अपने आपको) उन्हीं नरकों की ओर लिए जा रहा हूँ ।

हितभूमि—मनुष्य जन्म ही हित भूमि है, क्योंकि इसे क्षणसम्पत्ति कहा गया है । इसी में कल्याणमित्र के सम्पर्क से सर्वविध लौकिक लोकोत्तर हित, सुख का सम्पादन किया जा सकता है ।

अत्र मे चेतना नास्ति मन्त्रैरिव विमोहितः ।

न जाने केन मुह्यामि कोऽत्रान्तर्मम तिष्ठति ॥ २७ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय । २८ ।

मन्त्रों से मोहित हुए की भाँति इस विषय में मुझे कुछ भी जानकारी (चेतना) नहीं है कि कौन मेरे भीतर बैठा हुआ मुझे विवेकशून्य बना रहा है ।

हस्तपादादिरहितास्तृष्णाद्वेषादिशत्रवः ।

न शूरा न च ते प्राज्ञाः कथं दासीकृतोऽस्मि तैः ॥ २८ ॥

बि'क्ष्म'क्षे'सो'मा'स'द'मा'क्ष'मा'क्ष' । ।

क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष' । ।

क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष' । ।

क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष' । २८ ।

तृष्णा, द्वेष आदि शत्रुओं के पास (पकड़ने के लिए) हाथ, (पीछा करने के लिए) पैर, (मारने के लिए हथियार) आदि कुछ भी नहीं हैं । न तो वे शूरवीर हैं और न ही बुद्धिमान हैं, फिर भी उन्होंने कैसे मुझे दास बना लिया है (अर्थात् कैसे वे मुझे पाप करने के लिए विवश कर रहे हैं ?)

मच्चित्तावस्थिता एव घ्नन्ति मामेव सुस्थिताः ।

तत्राप्यहं न कुप्यामि धिगस्थानसहिष्णुताम् ॥ २९ ॥

क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष' । ।

क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष' । ।

क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष' । ।

क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष'मा'क्ष' । ३० ।

मेरे चित्त में ही अच्छी तरह बैठकर (ये राग, द्वेष आदि) स्वयं मुझे ही नष्ट कर रहे हैं । तिस पर भी मैं उन पर क्रोधित नहीं हो रहा हूँ । इस अस्थान (वे-जगह) सहिष्णुता को धिक्कार है ।

जिस पात्र में खाया जाता है, उसमें छेद करना विश्वासघात माना जाता है और ये राग, द्वेष आदि ऐसा ही कर रहे हैं । ये राग, द्वेष आदि क्लेश वंचना करने में अत्यन्त निपुण हैं । जब काम (तृष्णा) उत्पन्न होता है तो घनिष्ट मित्र की तरह प्रतीत होता है, जो हमारे लिए मानों अत्यधिक सुखसामग्री जुटाने के लिए सचेष्ट हो । इसी तरह जब क्रोध उत्पन्न होता है, तब वह ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह हमारी सुरक्षा के लिए और हमें दूसरों से होनेवाली हानि से बचाने के लिए सचेष्ट हो । व्यक्ति उनके झांसे में आ जाता है और उनके वशीभूत होकर अपने दुःख की अपार कारण-सामग्री जुटा लेता है ।

सर्वे देवा मनुष्याश्च यदि स्युर्मम शत्रवः ।
तेऽपि नावीचिकं वह्निं समुदानयितुं क्षमाः ॥ ३० ॥

म०५०॥५८॥५९॥६०॥

म०५०॥५९॥६०॥६१॥

५९॥६०॥६१॥६२॥

६०॥६१॥६२॥६३॥ ३० ।

सम्पूर्ण देव और मनुष्य भी मेरे शत्रु हो जाएं तो भी वे (मात्र शरीर को तो नष्ट कर सकते हैं, किन्तु) मेरे लिए अवीचि नरक की अग्नि पैदा करने में समर्थ नहीं हैं । अर्थात् वे मुझे अवीचि की नरकाग्नि में नहीं झोंक सकते ।

अवीचि की अग्नि क्षण मात्र में सुमेरु पर्वत को भी भस्मसात् करने में समर्थ होती है । ये क्लेश मुझे उसमें फेंक देंगे । इस प्रकार के भयंकर परिणाम देने वाले क्लेशरूपी शत्रुओं से बैर न करके छोटे-मोटे सांसारिक शत्रुओं से बैर मोल लेना कहाँ तक उचित है ? अतः छोटे-मोटे बैरियों से बदला लेने की प्रवृत्ति को त्याग कर अपने चित्त का दमन करना न्यायसंगत है ।

मेरोरपि यदासङ्गान्त भस्माप्युपलभ्यते ।

क्षणात् क्षिपन्ति मां तत्र बलिनः क्लेशशत्रवः ॥ ३१ ॥

३१॥३२॥३३॥३४॥

३२॥३३॥३४॥३५॥

३३॥३४॥३५॥३६॥

३४॥३५॥३६॥३७॥ ३१ ।

बलवान् क्लेशरूपी शत्रु क्षणभर में मुझे वहाँ फेंक रहे हैं, जिस (अवीचि-नरकाग्नि) के छू जाने मात्र से सुमेरु जैसे महान् पर्वत की भस्म का भी पता नहीं चलता ।

न हि सर्वान्यशत्रूणां दीर्घमायुरपीदृशम् ।

अनाद्यन्तं महादीर्घं यन्मम क्लेशवैरिणाम् ॥ ३२ ॥

मन्त्राणां श्रेष्ठं सर्वेषां मन्त्राणां ।

सुखादिभ्योऽप्यस्य भवति ।

मन्त्राणां श्रेष्ठं सर्वेषां मन्त्राणां ।

सुखादिभ्योऽप्यस्य भवति ॥ ३३ ॥

सभी अन्य (देव, मनुष्य आदि) शत्रुओं की इतनी लम्बी आयु नहीं है, जितनी मेरे क्लेशरूपी शत्रुओं की है । इनकी आयु तो आदि, अन्त रहित अत्यन्त दीर्घ (लम्बी) है ।

बाहरी शत्रु तो कुछ वर्षों या एक जीवन के लिए शत्रुता का भाव रख सकते हैं, किन्तु समय की दृष्टि से ये आन्तरिक शत्रु (क्लेश) तो अनादि काल से पीड़ा पहुँचाते आ रहे हैं और यदि इनका समुचित प्रतिकार नहीं किया गया तो अनन्त काल तक पीड़ा पहुँचाते रहेंगे ।

सर्वे हिताय कल्पन्ते आनुकूल्येन सेविताः ।

सेव्यमानास्त्वमी क्लेशाः सुतरां दुःखकारकाः ॥ ३३ ॥

मन्त्राणां श्रेष्ठं सर्वेषां मन्त्राणां ।

सुखादिभ्योऽप्यस्य भवति ।

मन्त्राणां श्रेष्ठं सर्वेषां मन्त्राणां ।

सुखादिभ्योऽप्यस्य भवति ॥ ३३ ॥

अनुकूलता के साथ सेवा करने पर (देखा जाता है कि) सभी (देव, मनुष्य आदि बाह्य शत्रु) हित करने और सुख देने वाले हो जाते हैं, किन्तु ये क्लेशरूपी शत्रु (हृदय में स्थान देकर) अच्छी तरह सेवा करने पर भी और अधिक (नरकादि) दुःख देनेवाले ही होते हैं ।

वास्तव में धर्माचरण का यही अर्थ है कि क्लेश रूपी शत्रुओं को पहचान कर प्रयत्नपूर्वक उनका विनाश करना, न कि प्रतिदिन कुछ समय भगवान् की स्तुति, पूजन या मन्त्र जप आदि करना ।

इति सन्ततदीर्घवैरिषु व्यसनौघप्रसवैकहेतुषु ।

हृदये निवसत्सु निर्भयं मम संसाररतिः कथं भवेत् ॥ ३४ ॥

ने'ङ्ग'र'पु'न'र'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ।
 म'न'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ।
 म'न'ग'न'ग'न'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ।
 म'न'ग'न'ग'न'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ३८ ।

इस प्रकार लगातार लम्बे (अनादि) समय से शत्रुता का भाव रखनेवाले, दुःखों की बाढ़ को उत्पन्न करने के एकमात्र हेतु तथा (मेरे) हृदय में निवास करनेवाले इन क्लेशरूपी शत्रुओं के रहते यह कैसे सम्भव है कि निर्भयतापूर्वक मेरी संसार के प्रति रति (अनुराग) हो ।

बोधिसत्त्व संसार का त्याग नहीं करते, अपितु सत्त्व-संसार के प्रति उनका पुत्रवत् अनुराग होता है, किन्तु यह निर्भय असीम प्रेम तभी सम्भव है, जब पहले क्लेशरूपी शत्रुओं का पराभव कर दिया जाए ।

भवचारकपालका इमे नरकादिष्वपि वध्यघातकाः ।

मतिवेशमनि लोभपञ्जरे यदि तिष्ठन्ति कुतः सुखं मम ॥ ३५ ॥

म'न'ग'न'ग'न'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ।

म'न'ग'न'ग'न'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ।

म'न'ग'न'ग'न'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ।

म'न'ग'न'ग'न'द'म'न'क'म'न'द'म'न'ग'न'ग'न' ३५ ।

ये रागादि क्लेश ही संसार रूपी कारागार के रक्षक हैं (क्योंकि इनके रहते व्यक्ति संसारचक्र से मुक्त अर्थात् बाहर नहीं हो पाता) तथा ये ही नरकों में वध्य (वध, ताड़न, पीडन आदि के योग्य पुरुष) के घातक (मारनेवाले) हैं (वस्तुतः क्लेशवश होकर किये गये पाप कर्मों के कारण ही नरक और नरकपाल आदि प्रकट होते हैं) । जब तक ये क्लेश मेरे बुद्धिरूपी घर में लोभरूपी पिंजड़े में विद्यमान हैं, तब तक मुझे सुख कहाँ ? अर्थात् क्लेशों के रहते सुख की आशा करना व्यर्थ है ।

तस्मान्न तावदहमत्र धुरं क्षिपामि

यावन्न शत्रव इमे निहताः समक्षम् ।

स्वल्पेऽपि तावदपकारिणि बद्धरोषा

मानोन्नतास्तमनिहत्य न यान्ति निद्राम् ॥ ३६ ॥

དེ་ལྟར་ཟེ་སྟོན་པར་གཤིས་དགའ་འདི་མཛོད་སྟུམ་དུ།

ངེས་པར་མ་བཅོམ་དེ་མྱོད་པད་ལ་འདྲིར་བཅོན་མི་འདོར།

རི་ཞིག་གཞོན་བྱེད་ཆུང་ཆུང་ལ་ཡང་ཁྱིམ་གྱུར་གསུམ།

ར་གྱུ་ལ་བདེ་ནམས་དེ་མ་བཅོམ་པར་གཉིད་མི་འོང་། ༣༩ །

(मैंने जान लिया है कि सारे दोषों के मूल ये क्लेश ही हैं) अतः तब तक मैं (उनको नाश करने की) धुरा को नहीं फेकूंगा (नाश करने के व्रत से विरत नहीं होऊंगा), जब तक ये शत्रु मेरे समक्ष पूर्णतया विनष्ट नहीं हो जाते । थोड़ा भी अपराध करनेवालों के प्रति जिन्हें क्रोध उत्पन्न हो गया है, ऐसे स्वाभिमानी लोग बिना उस (अपकारी) का नाश किये चैन से नहीं सोते ।

आत्मीय (माता, पिता, बन्धु आदि) जनों का अपकार करनेवाले या द्रव्य की हानि करनेवाले या अपमान करने वाले स्वल्प अपकारी हैं । उनसे जब तक बदला नहीं ले लिया जाता, तब तक अहंकारी व्यक्ति को नींद नहीं आती । ये क्लेश तो महान् अपकारी हैं । अतः इनका विनाश किये बिना चैन न लेना बुद्धिमानों के लिए परम आवश्यक है ।

प्रकृतिमरणदुःखितान्धकारान्

रणशिरसि प्रसभं निहन्तुमुग्राः ।

अगणितशरशक्तिघातदुःखा

न विमुखतामुपयान्त्यसाधयित्वा ॥ ३७ ॥

རང་བཞིན་འཛི་བས་སྐྱུལ་བསྐྱུལ་གྱུར་པའི་ཉིན་མེངས་དག

གཡུལ་ངར་དངར་ཆེན་གྱིས་གཞིས་པར་འདོད་པ་ཡང་། །

མདུང་མདུང་མཚོན་གྱིས་ཐོག་པའི་རྒྱལ་བཟུལ་བྱུང་བམད་ནས། །

དེས་མ་གྲུབ་པར་སྤྱིར་སྤྱོད་མ་འབྱོར་བར་མི་བྱེད་ན། ༣༧ །

प्रकृत्या (स्वभाव से) मरणशील, अतः दुःखी और अज्ञानी शत्रुओं का (भी) युद्धक्षेत्र में बलपूर्वक नाश करने लिए उद्यत तेजस्वी पुरुष, अगणित बाणों और बछियों के आघात से उत्पन्न पीड़ा को झेलते हुए भी जब तक अपना कार्य (शत्रुनाश) सिद्ध नहीं कर लेते, तब तक उससे विरत नहीं होते । तो फिर—

किमुत सततसर्वदुःखहेतून्

प्रकृतिरिपूनुपहन्तुमुद्यतस्य ।

भवति मम विषाददैन्यमद्य

व्यसनशतैरपि केन हेतुना वै ॥ ३८ ॥

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ।

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ।

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ।

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ॥ ३८ ॥

फिर निरन्तर (तीनों कालों में) सारे दुःखों के कारणभूत अहेतुक (सहज) शत्रुओं (क्लेशों) का नाश करने के लिए उद्यत मुझे सैकड़ों दुःखों के होने पर भी आज विषाद और दैन्य किस कारण हो सकता है ?

अकारणेनैव रिपुक्षतानि

गात्रेष्वलङ्कारवदुद्वहन्ति ।

महार्थसिद्धये तु समुद्यतस्य

दुःखानि कस्मान्मम बाधकानि ॥ ३९ ॥

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ।

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ।

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ।

दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं दुःखं ॥ ३९ ॥

अकारण (अर्थात् ऐहलौकिक, पारलौकिक किसी भी प्रयोजन का साधक न होने पर भी कुछ मनस्वी लोग अपने अहंकार की तृप्ति के लिए युद्ध ठान कर) शत्रुओं द्वारा किये गये घावों को अलंकार की तरह धारण करते हैं । फिर महान् अर्थ (निर्वाण और समस्त प्राणियों के हितसम्पादक बुद्धत्व) की सिद्धि के लिए उद्यत मुझे दुःख कैसे बाधा पहुंचा सकते हैं । अर्थात् नहीं पहुंचा सकते ?

स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ताः

कैवर्त-चाण्डाल-कृषीवलाद्याः ।

शीतातपादिदिव्यसनं सहन्ते

जगद्धितार्थं न कथं सहेयम् ॥ ४० ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८० ॥

अपनी (और अपने परिवार की) जीविका चलाने मात्र में आसक्त मन वाले मछुए, चाण्डाल और किसान आदि (जाड़े में) सर्दी, (गर्मी में) धूप, (हिंस्र जन्तुओं और चोर, डकैतों का भय) आदि अनेक प्रकार के दुःखों (और उपद्रवों) को सहन करते हैं तो फिर समस्त प्राणियों का हितसाधन करने के लिए (उद्यत) मैं क्यों दुःखों को सहन न करूं ?

दशदिग्ध्योमपर्यन्तजगत्क्लेशविमोक्षणे ।

प्रतिज्ञाय मदात्मापि न क्लेशेभ्यो विमोचितः ॥ ४१ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८१ ॥

(बोधिचित्त का उत्पाद कर) दशों दिशाओं में आकाश की सीमा तक संसार के समस्त प्राणियों की क्लेशों से विमुक्ति की प्रतिज्ञा करके मैंने अपनी आत्मा (स्वयं) को भी क्लेशों से मुक्त नहीं किया ? (यह अत्यन्त दुःखद स्थिति है) ।

अभिप्राय यह है कि यदि स्वयं को भी क्लेशों से मुक्त नहीं किया जा सकता तो दूसरों को उनसे कैसे मुक्त किया जा सकता है ? अपि च, अपने सामर्थ्य को देखे बिना सारे जगत् को दुःख से मुक्त करने की प्रतिज्ञा करने से अर्थात् वचनमात्र से क्या होने वाला है ? मेरे द्वारा परकल्याण की बातें करना निरा पागलपन नहीं तो और क्या है ? अतः कार्य रूप में परिणत करना उचित है ।

आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ब्रुवन्तुन्मत्तकस्तदा ।

अनिवर्ती भविष्यामि तस्मात् क्लेशवधे सदा ॥ ४२ ॥

मदमा'मी'ऊँ'गु'म'मे'स'म' ।

झ'म'ई'ह'र'झ'र'म'मी' ।

दे'ह'स'ऊँ'म'स'म'ल'म'म' ।

ह'म'हु'म'ई'म'ल'म'म' । ८२ ।

तब अपनी शक्ति की सीमा जाने बिना मैं उन्मत्त की तरह बोलता रहा ।
इसलिए अब कभी भी क्लेशों का नाश करने से मैं पीछे लौटनेवाला नहीं हूँ ।

अत्र ग्रही भविष्यामि बद्धवैरश्च विग्रहो ।

अन्यत्र तद्विधात् क्लेशात् क्लेशघातानुबन्धिनः ॥ ४३ ॥

म'द'म'म'द'म'मी'ल'म'ल' ।

म'द'हु'म'ल'म'म'ल'म'ल' ।

म'म'म'दे'म'ल'म'ल'म'ल' ।

ऊँ'म'स'म'ल'म'ल'म'ल' । ८३ ।

क्लेशों के नाश के प्रति मैं (अब) आग्रहशील होऊँगा । क्लेशों को अपना शत्रु मानकर उनसे विग्रह (लड़ाई) करूँगा । (क्या इस प्रकार वैरभाव रखना और कलह ठानना स्वयं में क्लेश नहीं है ? उत्तर है-नहीं, यह तो क्लेशों का प्रतिपक्ष (मार्ग) है) उस प्रतिपक्ष से सम्बद्ध क्लेशों से अर्थात् उस प्रतिपक्ष द्वारा जिन क्लेशों का नाश होनेवाला है, उस प्रकार के क्लेशों से यह भिन्न (विपरीत) है ।

गलन्त्वन्त्राणि मे कामं शिरः पततु नाम मे ।

न त्वेवावर्तति यामि सर्वथा क्लेशवैरिणाम् ॥ ४४ ॥

म'द'म'मी'म'ल'म'ल'म'ल' ।

म'द'म'मी'म'ल'म'ल'म'ल' ।

म'म'म'ल'म'ल'म'ल'म'ल' ।

म'म'ल'म'ल'म'ल'म'ल' । ८४ ।

(जब मैंने प्राणिमात्र के कल्याण की महती प्रतिज्ञा की है, तब इस क्षणभंगुर मेरी) भले ही आतें गल जाएं, चाहे मेरा सिर कट कर गिर पड़े, किन्तु किसी भी तरह मैं इन क्लेशरूपी शत्रुओं के सामने झुकूंगा नहीं ।

निर्वासितस्यापि हि नाम शत्रो—

देशान्तरे स्थानपरिग्रहः स्यात् ।

यतः पुनः सम्भृतशक्तिरेति

न क्लेशशत्रोर्गतिरीदृशी तु ॥ ४५ ॥

स'म'ल'य'म'स'पु'ल'क'स'पु'ल'य'न' ।

पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स' ।

कु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न' ।

कु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न' । ८४ ।

(साधारण) शत्रु को (एक बार) निर्वासित कर दिया जाने पर भी वह किसी दूसरे स्थान में शरण (स्थान) ग्रहण कर लेता है । वहाँ वह अपनी शक्ति बटोर कर (निर्वासन करने वाले की कमजोरी तथा अपनी शक्ति को देखकर) वहाँ से फिर आक्रमण करने के लिए आ सकता है । किन्तु क्लेश रूपी शत्रु को एक बार चित से निर्वासित कर देने पर फिर वह वहाँ दुबारा नहीं आ सकता । क्लेश रूपी शत्रु की यही दशा या स्थिति है ।

ववासौ यायान्मन्मनस्तो निरस्तः

स्थित्वा यस्मिन् मद्वधार्थं यतेत ।

नोद्योगो मे केवलं मन्दबुद्धेः

क्लेशाः प्रज्ञादृष्टिसाध्या वराकाः ॥ ४६ ॥

कु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न' ।

पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न' ।

कु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न' ।

कु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न'क'स'पु'ल'य'न' । ८५ ।

मेरे चित्त से निर्वासित होकर यह क्लेशरूपी शत्रु कहाँ जाकर स्थान ग्रहण कर सकेगा, जहाँ स्थित होकर वह मेरे वध के लिए प्रयत्न कर सके ? (मैं ऐसा कोई स्थान नहीं देख पा रहा हूँ, क्योंकि तत्त्व दर्शन (प्रज्ञा) के द्वारा उन्मूलित क्लेशों का पुनः उत्पन्न हो सकना असम्भव है) मन्दबुद्धि होने के कारण केवल मैं ही अनुत्साही हूँ । ये क्लेश तो बेचारे (निर्मूल होने के कारण) परमार्थतः तत्त्वदर्शन-मात्र से हेय (प्रहाणयोग्य) हैं ।

न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे नाप्यन्तराले स्थिताः

नातोऽन्यत्र कुह स्थिताः पुनरमी मथन्ति कृत्स्नं जगत् ।

मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय त्रासं भजस्वोद्यमं

प्रज्ञार्थं किमकाण्ड एव नरकेष्वात्मानमाबाधसे ॥ ४७ ॥

ॐ क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः ।

देवताः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः ।

देवताः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः ।

देवताः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः क्लेशाः । ८७ ।

(यदि क्लेश स्वभाव से सिद्ध हों तो खोजने पर उन्हें कहीं मिलना चाहिए, किन्तु कहीं नहीं मिलते) क्लेश न तो रूप, शब्द आदि विषयों में; न चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियसमूह में और न ही कहीं उनके मध्य में स्थित हैं । तथा न इन स्थानों से अतिरिक्त किसी अन्य स्थान में स्थित हैं । (ये क्लेश मूलरहित तत्त्वशून्य एवं आगन्तुकमात्र हैं, ये केवल मिथ्याविकल्प से उत्पन्नमात्र हैं) ऐसे निःसत्त्व होने पर भी ये सारे जगत् को मथ रहें हैं (हानि पहुँचा रहे हैं) । तब क्या तथ्य है ?—ये केवल मायास्वरूप हैं । जैसे मायाकार (जादूगर) द्वारा निर्मित माया वस्तुतः हाथी-घोड़े के आकार से रहित होने पर भी मन्त्र, औषधि आदि के प्रभाव से हाथी-घोड़े के आकार के रूप में दिखलाई पड़ती है, वैसे ही यह क्लेश हैं । (जादूगर अपने मन्त्र आदि के प्रभाव से लकड़ी, कागज, रस्सी, मिट्टी आदि अवयव-समूह को चलते-फिरते हाथी-घोड़े के रूप में दिखला देता है, उसी तरह ये क्लेश भी मिथ्या ज्ञान और विपरीत ज्ञान आदि की वजह से निस्तत्त्व होने पर भी प्रतीत होते हैं) इसलिए ऐ मेरे हृदय, क्लेशों का भय छोड़ो, प्रज्ञा के लिए अर्थात् तत्त्व के अधिगम के लिए प्रयत्न (उत्साह) करो । क्यों निष्प्रयोजन संघात, रौरव, अवीचि आदि नरकों में क्लेश परवश होकर स्वयं को पीड़ित किये जा रहे हो ।

एवं विनिश्चित्य करोमि यत्नं

यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहेतोः ।

वैद्योपवेशाच्चलतः कुतोऽस्ति

भैषज्यसाध्यस्य निरामयत्वम् ॥ ४८ ॥

དེ་ལྟར་རྣམས་བསམས་ཅི་སྐད་བཤད་བ་ཡི། །

བསྐྱེད་པ་བསྐྱེད་པའི་ཆེད་དུ་འབད་པར་བྱ། །

སྒྲུབ་པའི་ངག་མ་མཉམ་ན་སྒྲུབ་དག་གིས།

བཅོས་དགོས་ནད་པ་སྐྱེས་པ་ག་ལ་ཡོད། ༨༤ །

इस प्रकार (पूर्वोक्त सभी बातों पर विचारपूर्वक) निश्चय करके मैं उन उन बुद्धोपदिष्ट सूत्रों और शास्त्रों में बोधिसत्त्व को आचरण करने की जैसी शिक्षाएं कही गई हैं, उन पर चलने का यत्न करूंगा (क्योंकि धर्मोपदेश सुनने मात्र से या धर्म का ज्ञान कर लेने मात्र से कोई लाभ नहीं होता, यदि उनके अनुसार जीवन में आचरण न किया जाए । इसीलिए कहा गया है कि) जो औषधि से अच्छा हो सकता है ऐसे रोगी की भी वैद्य के उपदेश से विचलित होने पर अर्थात् तदनुसार आचरण न करने पर नीरोगता (रोग से मुक्ति) कैसे सम्भव है ?

इसी प्रकार सर्वज्ञ महावैद्य भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट शिक्षाओं के अनुसार यदि आचरण न किया जाए तो कर्म और क्लेशों से उत्पन्न जाति, व्याधि, जरा, मरण आदि दुःखों और महाभयों से विमुक्ति कैसे सम्भव है ?

॥ बोधिचर्यावतार में बोधिचित्त-अप्रमाद नामक चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ॥

पञ्चम परिच्छेद

सम्प्रजन्य^१-रक्षण

बोधिसत्त्व समस्त प्राणियों के हित और सुख के लिए अपने शरीर (आत्म-भाव), अपने भोग के उपकरणों और तीनों काल के पुण्यों का परित्याग करता है । अतः उनके त्याग और रक्षा की बात ऊपर के परिच्छेदों में कही गई हैं । अब पुनः विस्तारपूर्वक उनके रक्षण, उनके शोधन और उनकी वृद्धि का प्रतिपादन किया जा रहा है । यदि रक्षा, शोधन आदि नहीं किये जाएंगे तो कैसे उनका दान किया जा सकेगा और कैसे उनका भोग ही सम्भव होगा ।

शिक्षां रक्षितुकामेन चित्तं रक्ष्यं प्रयत्नतः ।

न शिक्षा रक्षितुं शक्या चलं चित्तमरक्षता ॥ १ ॥

संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च ।

संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च ।

संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च ।

संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च संस्मृतं च । १ ।

शिक्षा की रक्षा या परिपालन करने की इच्छा करने वाले बोधिसत्त्व को सबसे पहले अपने चित्त की रक्षा करनी चाहिए । (ऐसा इसलिए आवश्यक है, क्योंकि) चञ्चल अर्थात् अनियन्त्रित चित्त की रक्षा न करने वाले व्यक्ति के द्वारा शिक्षा की रक्षा कर पाना असम्भव है ।

शिक्षा की स्थिरता के लिए चित्त की स्थिरता आवश्यक है ।

शिक्षा—बोधिसत्त्व संवर का जिसने ग्रहण किया है, उसके द्वारा तदनुकूल विहित कर्तव्यों का पालन और निषिद्ध कर्मों का वर्जन या असेवन (न करना) ही शिक्षा है ।

१. सम्प्रजन्य के स्वरूपावबोध के लिए कारिका सं० १०८ तथा कारिका सं० २३ देखें ।

चित्तरक्षा आवश्यक है

अदान्ता मत्तमातङ्गा न कुर्वन्तीह तां व्यथाम् ।

करोति यामवोच्यादौ मुवतश्चित्तमतङ्गजः ॥ २ ॥

सोमस'गु'सू'सो'य'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सू'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स' ।

इस लोक में उन्मत्त (मदमत्त उन्मत्त) हाथी भी उतनी पीड़ा (दुःख) नहीं पैदा करते, जितनी अवीचि आदि नरक में अर्थात् परलोक में अनियन्त्रित चित्तरूपी हाथी उत्पन्न करता है । अतः उस पर तथागत का आज्ञारूपी अंकुश लगाकर उसे वश में करना जरूरी है ।

बद्धश्चेत् चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्वा समन्ततः ।

भयमस्तङ्गतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम् ॥ ३ ॥

गु'स'स'स'स'स'स'स' ।

सोमस'गु'सू'सो'य'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स' ।

यदि स्मृतिरूपी रस्सी से चित्तरूपी हाथी को (अकुशल पक्ष की ओर जाने से) चारों ओर से अच्छी तरह बाँध लिया जाए तो (मानों) सारा भय अस्त है और समस्त कल्याण (अभ्युदय और निःश्रेयस) प्राप्त है ।

स्मृति—संक्षेप में विहित कर्तव्यों और निषिद्ध कर्तव्यों का हमेशा याद रखना ही स्मृति है ।

व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः सर्पाः सर्वे च शत्रवः ।

सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा ॥ ४ ॥

सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात् ।

चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति च ॥ ५ ॥

श्रुत्वा'द'सि'सो'मो'क्ष'द'के'द'ने' ।

श्रुत्वा'द'द'म'क्ष'स'प्र'स'उ'द'द' ।

सो'स'उ'द'द'म'स'स'स'स'स' ।

सु'द'स'द'स'स'स'स'स'स' । ८ ।

सो'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

द'द'म'स'स'स'स'स'स' ।

सो'स'स'स'स'स'स'स' ।

द'द'म'स'स'स'स'स' । ९ ।

बाघ, सिंह, हाथी, रीछ, साँप, समस्त शत्रु, डाकिनी और राक्षस—ये सबके सब एकमात्र चित्त के बाँध लिये जाने पर अपने-आप बंध जाते हैं। एकमात्र चित्त का दमन करने से सबका दमन हो जाता है।

क्योंकि—

यस्माद् भयानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च ।

चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्त्ववादिना ॥ ६ ॥

स'स'स'स'स'स'स' ।

श्रुत्वा'द'द'म'क्ष'स'स' ।

सो'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स' । ७ ।

ये (सिंह, व्याघ्र आदि से उत्पन्न) सभी भय और अपरिमित दुःख चित्त से ही पैदा होते हैं।

ये सब कर्म के वश से ही अनिष्ट (दुःख) फल देनेवाले होते हैं और कर्म तो चेतना ही है, जैसे भगवान् ने कहा है—“चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि” (मैं चेतना को कर्म कहता हूँ)। काय और वाक् (वाणी) के कर्मों का समुत्थापक

(उत्पादक) भी चित्त ही है । चित्त के बिना वे (काय-वाक् कर्म) उत्पन्न नहीं होते । अतः इन्हें 'चेतयित्वा' कर्म कहते हैं^१ । इसलिए सब कुछ कर्म से ही निर्मित है । चित्त से अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

इसीलिए तत्त्ववादी (वस्तु के अविपरीत स्वभाव का कथन करने वाले) भगवान् ने कहा है कि सब कुछ चित्त से ही उत्पन्न हैं । अतः चित्त (मन) ही प्रधान है^२ ।

शस्त्राणि केन नरके घटितानि प्रयत्नतः ।

तप्तायःकुट्टिमं केन कुतो जाताश्च ताः स्त्रियः ॥ ७ ॥

सोमस'उ'र'द'सु'र'म'र'म'र'क'र'क'र'स' ।

सु'र'म'म'र'र'क'र'क'र'स' ।

सु'र'म'म'र'र'क'र'क'र'स' ।

सो'र'क'र'क'र'स' । ७ ।

नरक में नरकपालों के हाथ में दिखाई पड़नेवाले कुन्त, असि (तलवार), मुसल आदि अनेकविध शस्त्र किसने बनाए हैं ? ईश्वर ने तो बनाए नहीं हैं, क्योंकि उसका बौद्ध शास्त्रों में बहुशः खण्डन किया गया है और इस शास्त्र में भी आगे किया जाएगा^३ । तप्त लाल लौहमयी भूमि किसने बनाई है और वे स्त्रियाँ जो परस्त्रीसेवन करनेवालों को नरक में शाल्मली वृक्ष पर ऊपर नीचे दिखलाई देती हैं, वे किसने बनाई हैं और वह शाल्मली वृक्ष भी ? इसलिए चित्त से अतिरिक्त किसी कारण की कल्पना नहीं करना चाहिए^४ ।

१. कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत् ।

चेतना मानसं कर्म तज्जे कायवाक्कर्मगो ॥ — ४०—अभिधर्मकोश, ४:१, पृ० ५६७-५६८ ।

२. चित्तेन नोयते लोकः चित्तेन परिकृष्यते ।

एकधर्मस्य चित्तस्य सर्वधर्मा वशानुगाः ॥ तु०—सं० निकाय १, २, ७ ।

३. ४०—बोधिचर्यावतार (प्रस्तुत ग्रन्थ), ९ : ११९-१२६ कारिकाएं ।

४. सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचत्ययतिचित्रम् ।

कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय च नास्ति ॥ ४०—

मध्यमकावतार, चन्द्रकीर्तिविरचित ६ : ८९ ।

५. सु'र'म'म'र'र'क'र'क'र'स' ।

पापचित्तसमुद्भूतं तत्तत् सर्वं जगौ मुनिः^१ ।

तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये चित्तादन्यो भयानकः ॥ ८ ॥

दे० १५ दे० ५ मा० घ० ५५ ७८ । ।

स्त्री मा० सो० ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ । ।

दे० १५ दे० ५ मा० ५५ ५५ ५५ ५५ । ।

सो० ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ । ८ ।

वे सभी (भय और दुःख जनक पदार्थ) पाप चित्त से ही उत्पन्न हैं—ऐसा भगवान् ने कहा है । इसलिए तीनों लोकों में पाप चित्त से अन्य कोई भी भयजनक नहीं है ।

इसलिए चित्त को ही वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए । सभी धर्म चित्तपूर्वगामी हैं^२ । चित्त निरन्तर अलातचक्र की भाँति, तरंग की भाँति चलायमान रहता है । इस प्रकार जिसकी स्मृति सदा उपस्थित रहती है, ऐसा व्यक्ति चित्त के वशीभूत नहीं होता, बल्कि चित्त उसके वश में रहता है और चित्त के वशीभूत होने पर सारे धर्म उसके वशीभूत हो जाते हैं ।

अदरिद्रं जगत् कृत्वा दानपारमिता यदि ।

जगद् दरिद्रमद्यापि सा कथं पूर्वतायिनाम् ॥ ९ ॥

मा० ५ दे० ५ मा० ५५ ५५ ५५ ५५ । ।

स्त्री मा० सो० ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ । ।

दे० १५ दे० ५ मा० ५५ ५५ ५५ ५५ । ।

स्त्री मा० सो० ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ ५५ । ९ ।

यदि सारे जगत् को अदरिद्र (साधनसमृद्ध) बना कर ही दानपारमिता पूरी होती हो तो वह पहले के बुद्धों द्वारा कैसे परिपूर्ण की गई ? (अर्थात् नहीं की गई), क्योंकि जगत् तो आज भी पहले जैसे ही दरिद्र है । यह एक प्रश्न है ।

१. शब्द का मूल कारण विकल्प है, भगवान् ने सभी विकल्पों का प्रहाण कर दिया है । विकल्पजनित शब्दों का उनमें अभाव होने से भगवान् बुद्ध मुनि हैं । यही मौन होने का अर्थ है ।

२. मनोपुद्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया । द्र०—धम्मपद (चित्तवग्ग) ।

दारिद्र्य—सास्त्रव सुखों के भोग की भूख की वजह से चित्त की कृपणता (दीनता) और सुख के उपकरणों का अभाव दारिद्र्यता है ।

समाधान

दानपारमिता

फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले ।

दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥ १० ॥

सद्वैराग्यसंयमसंन्याससंयमः ।

शुद्धचित्तवैराग्यसंयमः ।

शुद्धचित्तवैराग्यसंयमः ।

देवदेवदेवदेवदेवदेव १० ।

समस्त बाह्य (भूमि, स्वर्ण, रत्न आदि) और आध्यात्मिक (शरीर आदि) वस्तुओं का समस्त प्राणियों के लिए त्याग (दान) करने वाले चित्त से, साथ ही उस दान के फल के प्रति भी त्याग चित्त से (भावना का प्रकर्ष होने पर जब चित्त समस्त वस्तुओं के प्रति आसक्ति से रहित हो जाता है, तब) दानपारमिता निष्पन्न होती है । इसलिए वह (दानपारमिता) चित्त ही है (अन्य नहीं) ।

शीलपारमिता

मत्स्यादयः क्व नीयन्तां मारयेयं यतो न तान् ।

लब्धे विरतिचित्ते तु शीलपारमिता मता ॥ ११ ॥

शुद्धचित्तवैराग्यसंयमः ।

देवदेवदेवदेवदेवदेवदेव ।

शुद्धचित्तवैराग्यसंयमः ।

देवदेवदेवदेवदेवदेवदेव ११ ।

(प्राणातिपात आदि पाप कर्मों से विरत चित्त ही शील है, न कि उन हिंसा आदि कर्मों के आश्रयभूत बाह्य विषय अर्थात् मछली, बकरे आदि वस्तुओं से विरत होना 'शील' है। यदि उन बाह्य विषयों से विरत होना शील हो) तो मछली आदि को

कहाँ ले जाएं (जिससे उनका दर्शन न हो) और जिससे उनको मार न सकें (दिखलाई पड़ने पर मारने की सम्भावना हो सकती है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिए उनके विद्यमान रहने पर भी) हिंसा आदि से विरत चित्त के उत्पन्न होने पर शील पारमिता निष्पन्न होती है। (इसलिए वह भी चित्त ही है)।

क्षान्ति पारमिता

कियतो मारयिष्यामि दुर्जनान् गगनोपमान् ।

मारिते क्रोधचित्ते तु मारिताः सर्वशत्रवः ॥ १२ ॥

सोमस'उक्'म'सुक्'वम'माम'मव' ।

दे'दम'मव'म'सु'म'म'म' ।

म'म'सोमस'म'म'म'म' ।

दम'दे'ममस'उक्'म'म'म' १२ ।

(अपकार किये जाने पर भी चित्त का कुपित न होना ही क्षान्ति है) मैं कितने दुर्जनों (अपकारियों) को मारूंगा, वे तो जैसे आकाश अपरिमित है, वैसे अनन्त हैं (उन सब का वध करना तो सम्भव नहीं है। इसलिए सभी को मार देने पर कोई नहीं बचेगा तो बदला लेने की भावना भी नहीं रहेगी, फलतः क्षान्ति पारमिता सम्पन्न हो जाएगी—ऐसा कोई सोचे तो यह सर्वथा असम्भव है, इसलिए) अपने क्रोध चित्त को मार देने से ही सभी शत्रु मार दिये गये की तरह हैं।

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति ।

उपानच्चर्ममात्रेण छान्ना भवति मेदिनी ॥ १३ ॥

स'सु'म'म'म'म'म' ।

दे'सु'म'म'म'म' ।

सु'म'म'म'म'म' ।

स'सु'म'म'म'म'म' १३ ।

(काँटे, कंकड़ आदि से अपनी रक्षा के लिए) सारी पृथ्वी को आच्छादित करने (ढँकने) के लिए इतना चमड़ा कहाँ मिलेगा ? (किन्तु उपाय से यह सम्भव है) जूते के चमड़े मात्र से सारी पृथ्वी ढंक जाती है।

बाह्या भावा मया तद्वच्छब्दया वारयितुं न हि ।
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं समान्यैर्निवारितैः ॥ १४ ॥

दे'स'वै'र'सु'र'द'स'स'य'द' ।
म'म'म'स'सु'र'म'स'स'स' ।
म'म'म'स'स'स'स'स'स'स' ।
म'म'म'स'स'स'स'स'स'स' ।

उसी तरह बाहरी पदार्थ (बाह्य शत्रु) भी मेरे रोके रुक नहीं सकते । अतः अपने चित्त को ही रोकूंगा । अन्यो को रोकने से मेरा क्या लाभ ? (इसलिए क्षान्ति पारमिता भी चित्त ही है) ।

वीर्यं पारमिता

सहापि वाक्शरीराभ्यां मन्दवृत्तेर्न तत्फलम् ।
यत्पटोरेककस्यापि चित्तस्य ब्रह्मतादिकम् ॥ १५ ॥

स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।
स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।
स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।
स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

(कुशल पक्ष में उत्साह वीर्य का लक्षण है) वाणी और शरीर के साथ भी मन्दवृत्ति (अनुत्साहपूर्ण) चित्त का वह फल नहीं होता, जो ब्रह्मता आदि (फल) एकाकी (अकेले) भी, किन्तु तीव्रवृत्ति (उत्साहपूर्ण) चित्त का होता है । (अतः वीर्यपारमिता भी चित्त ही है) ।

ध्यान पारमिता

जपास्तपांसि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि ।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित् ॥ १६ ॥

मल्लस'मई'द'द'क'द'ग'द'सु'गु'ग' ।

पु'द'द'द'स'सु'सु'द'स'गु' ।

सोमस'म'ल'क'म'प'द'स'स'स'स'स' ।

द'द'द'द'स'स'स'स'स'स'स' । १७ ।

(चित्त का एक ही आलम्बन में लगातार प्रवृत्त होना ध्यान कहलाता है) सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ने कहा कि अन्यत्र (दूसरे दूसरे विषयों में) आसक्त और मन्द-वृत्ति (तन्द्रा आदि में डूबे हुए) चित्त से बहुत समय तक भी किये गये सारे जप, तपस् आदि निष्फल ही हैं । (इसलिए ध्यान पारमिता भी चित्त ही है) ।

जप—मन्त्र आदि का बार बार आवर्तन करना जप है, जो वाणी का व्यापार (क्रिया) है ।

तपस्—इन्द्रिय दमन आदि कायिक क्रियाएं तपस् हैं ।

सर्वज्ञ—किसे ग्रहण करना है, किसे त्यागना है, इस तरह जो हेय और उपा-देयों को अच्छी तरह जानता है, अर्थात् चार आर्य सत्यों का सम्यग् जानकार है, वह सर्वज्ञ कहलाता है । ऐसे केवल भगवान् बुद्ध ही हैं ।

प्रज्ञापारमिता

दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे ।

यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं गुह्यं न भावितम् ॥ १७ ॥

म'म'स'स'स'स'स'स'स' ।

सोमस'स'स'स'स'स'स' ।

म'म'स'स'स'स'स'स' ।

द'द'द'द'स'स'स' । १८ ।

जिन (संसार दुःख से भीत और सुख चाहनेवाले) लोगों ने सभी धर्मों के सार गुह्य चित्त की भावना नहीं की, ऐसे लोग दुःख (जाति, जरा, व्याधि आदि) का ग्रहण करने के लिए तथा सुख (निर्वाण) की प्राप्ति के लिए व्यर्थ ही आकाश के नीचे (संसार में) भ्रमण कर रहे हैं । (इस तरह प्रज्ञापारमिता भी चित्त ही है) ।

१. हेयोपादेयतत्त्वस्य सांभ्रुपायस्य वेदकः ।

यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥

द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसिद्धि, ३४ का० पृ० १९ ।

धर्मसर्वस्व—लौकिक और लोकोत्तर सभी कर्मों का कारण चित्त है, अतः उसे धर्मसर्वस्व कहा गया है।

गुह्य—सामान्य पृथग्जनों की बुद्धि का विषय नहीं होने से चित्त को गुह्य कहा गया है। सामान्य लोग चित्त की प्रकृति (स्वभाव) को नहीं जान पाते।

उपसंहार

तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितम् ।

चित्तरक्षाव्रतं सुकृत्वा बहुभिः किं सम व्रतैः ॥ १८ ॥

དེ་ལྟམ་བདག་གི་སེམས་འདི་ནི།

ལེགས་བརྒྱུང་ལེགས་བར་བསྐྱུང་བར་བྱ། །

སེམས་བསྐྱེད་བདུལ་ཞུགས་མ་གཏོང་པ། །

བདུལ་བྱུགས་མང་པོས་ཅི་ཞིག་བྱ། ༡༤ །

(जिसने बोधिचित्त का उत्पाद कर लिया है, ऐसे बोधिसत्त्व को पुनः पुनः ऐसा चिन्तन-मनन करना चाहिए) इसलिए भलीभाँति अधिष्ठित चित्त की ही (स्मृति और सम्प्रजन्य के द्वारा) मुझे सुरक्षा करनी चाहिए। (चित्त में ही सभी धर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः चित्तरक्षा ही प्रधान धर्म है)। इसे (चित्तरक्षा को) छोड़कर अन्य ढेर सारे व्रतों से मेरा क्या प्रयोजन है ? (अर्थात् कुछ नहीं, अन्य सब निष्फल हैं)।

धर्म चित्ताधीन है और बोधि धर्माधीन है। इसलिए चित्तरक्षा के व्रत का अत्यधिक महत्त्व है।

यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात् ।

एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ॥ १९ ॥

མ་གྲངས་གྲུལ་བའི་ཁྱེད་གནས་ན།

བསྐྱེམས་ཏེ་མ་ཡི་བག་བྱེད་བཞིན།

ཕྱེ་བོ་ངན་བྱུང་གནས་པས་ཀྱང་།

སེམས་ཀྱི་མ་འདི་དག་ཏུ་བསྐྱེད་། ༡༩ །

जैसे अप्रमादी (लापरवाही न करनेवाला) व्यक्ति चंचल लोगों के बीच में बैठा हुआ सावधानी पूर्वक अपने व्रण (घाव) की रक्षा करता है, वैसे ही दुर्जन (अकारण वैरी) लोगों के बीच में वास करते हुए (बोधिसत्त्व को) दूसरों से अपने चित्तरूपी व्रण की रक्षा करनी चाहिए ।

व्रणदुःखलवाद् भीतो रक्षामि व्रणमादरात् ।

संघातपर्वताघाताद् भोतश्चित्तव्रणं न किम् ॥ २० ॥

ལྷ་ཡི་ཐུག་པའུམ་ཅུང་ཏུ་ཡིས།

སྐྱུ་ལུང་མ་ཡི་བག་བྱེད་ན།

བསྐྱེད་འཛིན་སྤྱི་ལོ་འཛིན་སྐྱེད་ལྷན་པ་དག།

སེམས་ཀྱི་མ་ལུ་ཅི་ས་མི་སྤང་། ༣༠ །

(थोड़े दुःख को दुःखलव कहते हैं,) जब उस दुःखलव से भी भयभीत मैं ब्रण (घाव) की सावधानी पूर्वक रक्षा करता हूँ (तो फिर) संघात आदि (नरकों) में (चूर्ण-विचूर्ण कर देनेवाले लौहमय) पर्वतों के आघात से डर कर क्या मुझे चित्तरूपी ब्रण की रक्षा नहीं करनी चाहिए ।

अनेन हि विहारेण विहरन् दुर्जनेष्वपि ।

प्रमदाजनमध्येऽपि यतिर्धोरो न खण्ड्यते ॥ २१ ॥

སྒྲོན་པ་འདི་འདྲམ་གནས་བྱེད་ན། །

ཕྱི་བོ་ངན་པའི་བྱེད་ཀྱིས་སམ།

བྱད་མེད་ཁྱོད་ན་གནས་ཀྱང་ཅུང་། །

སྒྲོམ་བཅོན་བཏོན་པ་ཉམས་མི་འགྲུང་། ༣༡ །

दुर्जनों और (महलों में) युवति जनों के बीच में भी इस (उपर्युक्त स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त) विहार से विहार करता हुआ धीर यति (चित्तरक्षा व्रत से) स्खलित नहीं होता।

लाभा नश्यन्तु मे कामं सत्कारः कायजोवितम् ।

नश्यत्वन्यच्च कुशलं मा तु चित्तां कदाचन ॥ २२ ॥

ममसा'मी'ङ्गे'द'द'म'गु'र'ङ्गे'द' ।

सुखा'द'द'द'द'म'मे'द'सु'वि'द' ।

ममो'म'म'वि'द'द'द'म'सु'वि' ।

सोमसा'वि'द'द'द'म'सु'वि' । ३३ ।

मेरे लाभ (चीवर, पिण्डपात आदि) चाहे नष्ट हो जाएं, सत्कार (पाद-वन्दन आदि), शरीर, जीवन और चाहे अन्य जो कुछ (सुख, सौमनस्य के साधन मेरे पास हैं, नष्ट हो जाएं) परन्तु मेरा (कुशल) चित्त कभी भी नष्ट न हो ।

चित्तां रक्षितुकामानां मयैष क्रियतेऽञ्जलिः ।

स्मृतिं च सम्प्रजन्यं च सर्वयत्नेन रक्षत ॥ २३ ॥

सोमसा'म'सु'द'द'द'म'मे'द'सु'वि' ।

मम'म'द'द'वि'मे'द'सु'वि' ।

ममसा'उ'द'द'द'म'सु'वि' ।

ममसा'वि'द'द'द'म'सु'वि' । ३३ ।

चित्त की रक्षा के अभिलाषियों से मेरी हाथ जोड़ कर प्रार्थना है कि वे पूर्ण प्रयत्न के साथ स्मृति और सम्प्रजन्य (जागरूकता) की रक्षा करें ।

‘स्मृतिं च सम्प्रजन्यं च’ में चकार के द्वारा यह कहा गया है कि केवल स्मृति या केवल सम्प्रजन्य की नहीं, अपितु दोनों की रक्षा करें । चित्तरक्षा के लिए दोनों की अपेक्षा है ।

स्मृति—स्मृति पहरेदार की भाँति होती है । उसके रहने पर कोई भी अकुशल धर्म भीतर (चित्त में) प्रवेश नहीं करता । संक्षेप में विहित कर्तव्यों और निषिद्ध कर्मों का स्मरण ही स्मृति है ।

सम्प्रजन्य—काय (शरीर) और चित्त की अवस्था का प्रतिक्षण अवलोकन सम्प्रजन्य (जागरूकता, होश) सम्प्रजन्य है ।

व्याध्याकुलो नरो यद्वन्न क्षमः सर्वकर्मसु ।

तथाभ्यां विकलां चित्तां न क्षमं सर्वकर्मसु ॥ २४ ॥

१५ ग्रीस'दगुमास'सदि'सि'दमा'वि । ।
 लस'दुमस'गुव'ल'मसु'मेद'स । ।
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।
 लस'दुमस'गुव'ल'मसु'मेद'स । ३८ ।

रोग से ग्रस्त व्यक्ति जैसे किसी भी काम (जाना, आना, भोजन आदि) में समर्थ नहीं होता, उसी तरह स्मृति और सम्प्रजन्य से वियुक्त चित्त भी किसी कार्य (अध्ययन, ध्यान आदि) में समर्थ नहीं होता ।

असम्प्रजन्यचित्तस्य श्रुतचिन्तितभावितम् ।
 सच्छिद्रकुम्भजलवन्न स्मृताववतिष्ठते ॥ २५ ॥
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।

जिस में सम्प्रजन्य (जागरूकता या होश) नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति की श्रुतमय, चिन्तामय और भावनामय प्रज्ञा द्वारा श्रुत, चिन्तित और भावित वस्तु स्मृति में उसी प्रकार नहीं ठहरती, जैसे छिद्रवाले (फूटे) घड़े में पानी ।

अनेके श्रुतवन्तोऽपि श्रद्धा यत्नपरा अपि ।
 असम्प्रजन्यदोषेण भवन्त्यापत्तिकश्मलाः ॥ २६ ॥
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।
 २० स'वि'व'सि'दस'स'स'मेस'दगुमास'स । ।

बहुत से यत्नशील (शिक्षा के प्रति आदर करनेवाले), बहुश्रुत (पढ़े-लिखे) और श्रद्धावान् भी असम्प्रजन्य (काय और चित्त की अवस्था को न देखना) दोष के कारण आपत्ति (विहित कर्तव्य के न करने या निषिद्ध कर्म के आचरण) से कलुषित होते हैं ।

असम्प्रजन्त्यचौरेण स्मृतिमोषानुसारिणा ।

उपचित्यापि पुण्यानि मुषिता यान्ति दुर्गतिम् ॥ २७ ॥

येस'म'वे'क'मे'न'म'दे'के'म'कु'न'द'मा ।

द'क'प'कु'म'स'म'दे'हे'स'द'म'द'म'स' ।

म'स'द'क'म'स'द'मा'के'के'र'म'स'म'स'ग'द' ।

कु'न'म'स'द'म'स'म'स'म'वे'क'द'क'द'म'स'd'म' ३७ ।

स्मृति के अभाव का अनुसरण करने वाले असम्प्रजन्त्य रूपी चोर (कुशल धन को चुराने वाले चोर) के कारण बहुत से लोग ढेर सारे पुण्यों का संचय करके भी चोरों द्वारा लुटे हुए की भाँति दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

क्लेशतस्करसंघोऽयमवतारगवेषकः ।

प्राप्यावतारं मुष्णाति हन्ति सद्गतिजीवितम् ॥ २८ ॥

कु'न'म'द'स'के'म'कु'न'के'म'स'd'द'के' ।

म'स'म'स'म'स'd'के'm'म'र'कु'न'p'स' ।

म'स'm'कु'न'ग'd'k'स'd'मा'd'म'g'd' ।

म'र'd'म'g'd'm'g'd'd'के'm's'p'd' ३८ ।

क्लेश रूपी चोरों का समूह हमेशा छिद्रान्वेषण करता है और छिद्र (कोई छोटा-मोटा दोष) पाते ही सद्गति से युक्त जीवन का अपहरण कर लेता है ।

तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारान्नापनेया कदाचन ।

गतापि प्रत्युपस्थाप्या संस्मृत्यापायिकीं व्यथाम् ॥ २९ ॥

दे'म'स'द'k'p'p'द'के'k' ।

ग'd'g'k'p'p'd'के'k' ।

के'k'p'd'd'k'p'g'd'के'k'p'd'p' ।

द'k'p'p'g'd'के'k'p'd'p' ३९ ।

(ऊपर स्मृति के अभाव में अनेक दोष कहे गये हैं) इसलिए (दोष देखते हुए) मन के द्वार से स्मृति को कभी भी हटने नहीं देना चाहिए । (यदि किसी

कारण) हट भी जाए तो नारकीय दुःखों की याद करके उसे फिर स्थापित करना चाहिए ।

उपाध्यायानुशासन्या भीत्याप्यादरकारिणाम् ।

धन्यानां गुरुसंवासात् सुकरं जायते स्मृतिः ॥ ३० ॥

क्षिप्तं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं । ३० ।

आचार्य, उपाध्याय (गुरु) आदि के सान्निध्य में रहते हुए उनके उपदेश (अनुशासनी) से, भय से भी उनकी आज्ञा का उल्लंघन न करनेवाले (अर्थात् आदर करनेवाले) प्रयत्नशील पुण्यात्माओं को अनायास स्मृति उत्पन्न हो जाती है ।

बुद्धाश्च बोधिसत्त्वाश्च सर्वत्राव्याहतेक्षणाः ।

सर्वमेवाग्रतस्तेषां तेषामस्मि पुरः स्थितः ॥ ३१ ॥

इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् त्रपादरभयान्वितः ।

बुद्धानुस्मृतिरप्येवं भवेत्तस्य मुहुर्मुहुः ॥ ३२ ॥

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं । ३१ ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं ।

नृपं नृपं विद्वत्पुत्रं नृपं । ३२ ।

समस्त वस्तुओं में जिनका ज्ञान अप्रतिहत (बिना रोक-टोक) रूप से प्रवृत्त होता है, ऐसे बुद्ध और बोधिसत्त्वों के समक्ष सभी वस्तुएं आगे रखी हुई की तरह

हैं । (उसी तरह) मैं भी उनके सामने स्थित हूँ । ऐसा सोचकर बोधिसत्त्व अनुचित कर्म में) लज्जा, (उनकी शिक्षाओं के प्रति) आदर और (आज्ञा के उल्लंघन में) भय से युक्त रहे । ऐसा करने से (अन्य भी गुण उत्पन्न होते हैं, जैसे) उसे बार-बार बुद्धानुस्मृति भी उत्पन्न होती है ।

सम्प्रजन्यं तदायाति न च यात्यागतं पुनः ।

स्मृतिर्यदा मनोद्वारे रक्षार्थमवतिष्ठते ॥ ३३ ॥

मदं कंठे न च पश्येत्क्षेत्रम् ।

ममृदं च विद्वत्तुं मया न च शक्यम् ।

देवेन्द्रोऽपि न विद्वत्तुं शक्यम् ।

सिद्धं च न च शक्यम् । ३३ ।

जब मन के द्वार पर (पहरेदार की भाँति क्लेशों से) रक्षा करने के लिए स्मृति उपस्थित रहती है तो अनायास सम्प्रजन्य (विवेक, जागरूकता या होश) भी उपस्थित हो जाता है और आकर फिर लौटता नहीं अर्थात् स्थिर हो जाता है ।

निष्फल चेष्टाओं को रोकने के लिए कहा गया है—

पूर्वं तावदिदं चित्तं सदोपस्थाप्यमीदृशम् ।

निरिन्द्रियेणेव मया स्थातव्यं काष्ठवत् सदा ॥ ३४ ॥

देवेन्द्रोऽपि न विद्वत्तुं शक्यम् ।

ममृदं च विद्वत्तुं मया न च शक्यम् ।

देवेन्द्रोऽपि न विद्वत्तुं शक्यम् ।

सिद्धं च न च शक्यम् । ३४ ।

सर्व प्रथम मुझे अपने में (उक्त क्रम से युक्त विकल्परहित) चित्त हमेशा उपस्थित रखना चाहिए और बिना इन्द्रियवाले काष्ठ (लोहे-लकड़ी) की तरह सदा स्थित रहना चाहिए । (जिससे कोई बेकार की चेष्टा न हो सके) ।

निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्त्तव्या कदाचन ।

निध्यायन्तीव सततं कार्या दृष्टिरधोगता ॥ ३५ ॥

དོན་མེད་གཡེང་བར་ལྟ་བ་ནི།

ནམ་ཡང་བདག་གིས་མི་བྱ་རྒྱུ།

ངེས་པར་སེམས་པས་དྲག་ཏུ་ནི། །

མིག་ནི་ཕར་རྩེ་བརྩེ་བར་བྱ། ༣༥ །

कभी बेकार दृष्टिविक्षेप (आँखों की चेष्टा) नहीं करना चाहिए तथा हमेशा नीची, मानों ध्यान कर रहे हों--ऐसी दृष्टि रखना चाहिए । (थोड़ी खुली हुई, नासाग्र के ऊपर केन्द्रित तथा आगे केवल दो हाथ देखने वाली दृष्टि रखनी चाहिए)।

दृष्टिविश्रामहेतोस्तु दिशः पश्येत् कदाचन ।

आभासमात्रं दृष्ट्वा च स्वागतार्थं विलोकयेत् ॥ ३६ ॥

ལྟ་བ་ངལ་བསོའི་ཆེད་དུ་ནི།

རེས་འགའ་ཕྱིགས་སྤྱ་བཏུ་བར་བྱ།

འགྲུབ་ཞིག་མིག་ལ་མ་སྒྲུབ་ཀྱང་ན། །

བུ་ས་ན་མ་འོངས་པ་ལེགས་ཞེས་བརྗོད། ༣༦ །

आंखों की थकावट मिटाने के लिए कभी-कभी खुली दिशाओं (आकाश की ओर) अवलोकन करना चाहिए । (यदि कोई समीप आए तो उसे) आभास की तरह अर्थात् छाया या प्रतिबिम्ब की तरह देखकर स्वागत के लिए दृष्टि घुमानी चाहिए । (अन्यथा उसका अपमान होगा, जिससे अकुशल की उत्पत्ति होगी) ।

मार्गादौ भयबोधार्थं मुहुः पश्येच्चतुर्दिशम् ।

दिशो विश्रम्य वीक्षेत परावृत्यैव पृष्ठतः ॥ ३७ ॥

ལམ་སོགས་འཛིགས་པ་བརྟག་བཞི་ཕྱིར། །

ཡང་དང་ཡང་དུ་སྒྲིགས་བཞིན་བཟུ།

ངལ་བསོ་ཁ་ནི་ཕྱིར་བརྟུས་ནས།

ཡུལ་གྱི་ཕུགས་སུ་བལྟ་བར་བྱ། ༣༧ །

रास्ते में (ऊबड़-खाबड़ होने एवं चोर, लुटेरे आदि के कारण उत्पन्न) भय की जानकारी के लिए क्रमशः चारों दिशाओं में देखना चाहिए । (ऐसा न करने पर

सोमस'ग्री'म्रा'के'सु'स'प'रि । ।

के'स'प'सोमस'प'रि'ग'के'प' । ।

दे'प'र'प'र'प'स'प'र'के'प'र' । ।

दे'प'र'प'र'प'ग'प'स'प'र' ८० ।

चित्त रूपी मदमत्त हाथी का सभी प्रकार से ऐसा निरीक्षण करना चाहिए, जिससे वह धर्मचिन्तन रूपी विशाल खम्भे में बाँध दिया जाने पर उससे छूट न सके ।

धर्म—अपने तथा दूसरे का हित करना ।

कुत्र मे वर्तत इति प्रत्यवेक्ष्यं तथा मनः ।

समाधानधुरं नैव क्षणमप्युत्सृजेद् यथा ॥ ४१ ॥

के'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' । ।

प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' । ।

प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' । ।

दे'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' ८१ ।

मेरा मन इस समय कहाँ (किस आलम्बन में) है—इसे बार-बार देखते रहना चाहिए । (पहले ही आलम्बन में है या दूसरे में चला गया है । यदि दूसरे आलम्बन में चला गया हो तो उसे पुनः पूर्व आलम्बन में स्थापित करना चाहिए) इस प्रकार ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे मन एक क्षण के लिए भी समाधि की धुरा को छोड़ न सके । इसलिए साधक को समाधि के लिए स्मृति और सम्प्रजन्य शील से युक्त होना चाहिए ।

भयोत्सवादिसम्बन्धे यद्यशक्तो यथासुखम् ।

दानकाले तु शीलस्य यस्मादुक्तमुपेक्षणम् ॥ ४२ ॥

प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' । ।

प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' । ।

प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' । ।

प'र'प'र'प'र'प'र'प'र'प'र' ८२ ।

(अग्निदाह आदि) भय, (पूजा आदि) उत्सव के अवसर पर यदि साधक (बोधिसत्त्व) समाधि में स्थित न रह सके तो जिसमें सुख हो वैसा रहे । (ऐसे अवसर पर यथेच्छ आचरण की आज्ञा है । इसमें आपत्ति नहीं है) । जैसे दान पारमिता के अभ्यास काल में शील की उपेक्षा की बात कही गई है ।

यद् बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ततोऽन्यन्न विचिन्तयेत् ।

तदेव तावन्निष्पाद्यं तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ४३ ॥

ग्राह्यं नान्यथा ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

(युक्ति, आगम, कल्याणमित्र के वचन और अपने बल को) जानकर जो कोई भी कर्म (ध्यान, अध्ययन आदि) करना निश्चित किया गया है, सर्व प्रथम उसे ही पूरे मन से निष्पन्न करना चाहिए । उसको सम्पन्न किये बिना बीच में ही छोड़ कर दूसरा कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिए ।

एवं हि सुकृतं सर्वमन्यथा नोभयं भवेत् ।

असम्प्रजन्यक्लेशोऽपि वृद्धिं चैवं गमिष्यति ॥ ४४ ॥

६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

इस प्रकार करने से सब सध जाता है, नहीं तो (समारब्ध और आरम्भमाण) दोनों ही (कार्य) निष्पन्न नहीं होते । और इस प्रकार असम्प्रजन्य (विवेकहीनता, असावधानी) क्लेश भी बढ़ जाता है ।

नानाविधप्रलापेषु वर्तमानेष्वनेकधा ।

कौतूहलेषु सर्वेषु हन्यादौत्सुक्यमागतम् ॥ ४५ ॥

त्रे'मि'द'मा'न'ब'ि'स्त्र'क'मा'न'द' । ।

द'म'क'र'द'न'म'ि'न'म'म'द'प' । ।

गु'न'ल'द'द'मा'न'गु'न'प' । ।

द'ल'क'मा'न'प'स्त्र'क'म'द'गु । ८५ ।

नाना प्रकार की चल रही गप-शपों में तथा (अनेक प्रकार के देखने, सुनने आदि) सभी कौतूहलों में उत्सुकता उत्पन्न हो जाए तो उसे रोके ।

मृन्मर्दनतृणोच्छेदरेखाद्यफलमागतम् ।

स्मृत्वा तथागतीं शिक्षां भीतस्तत्क्षणमुत्सृजेत् ॥ ४६ ॥

द'न'म'द'न'स'म'ि'द'न'म'ि'द'न' । ।

स'द'स'द'द'स'म'ि'द'न'म'i'द'न' । ।

म'द'न'म'i'द'न'म'i'द'न'म'i'द'न' । ।

स्त्र'क'म'd'न'म'i'द'न'm'i'द'न' । ८६ ।

मिट्टी मसलना, तिनका तोड़ना, रेखा खींचना आदि निरर्थक (निष्फल) प्रवृत्तियों को तथागत (बुद्ध) की शिक्षा का स्मरण कर, डर कर उसी क्षण त्याग देना चाहिए ।

भगवान् ने ऐसी निरर्थक क्रियाओं को करने से रोका है । उनकी आज्ञा के उल्लंघन के दुष्परिणाम को सोचकर उन्हें छोड़ देना चाहिए ।

यदा चलितुकामः स्याद् वक्तुकामोऽपि वा भवेत् ।

स्वचित्तं प्रत्यवेक्ष्यादौ कुर्याद् धैर्येण युक्तिमत् ॥ ४७ ॥

मा'द'क'म'i'द'न'म'i'द'न'm'i'द'न' । ।

स्त्र'क'm'i'द'न'm'i'द'न'm'i'द'न' । ।

द'n'p'd'n'p'd'n'p'd'n'p'd'n' । ।

म'd'n'p'd'n'p'd'n'p'd'n'p'd'n' । ८७ ।

जब चलने की इच्छा हो या बोलने की इच्छा हो तो पहले अपने चित्त को अच्छी प्रकार देखकर फिर धैर्यपूर्वक युक्तियुक्त कार्य करे ।

अनुनीतं प्रतिहतं यदा पश्येत् स्वकं मनः ।

न कर्त्तव्यं न वक्तव्यं स्थातव्यं काष्ठवत् तदा ॥ ४८ ॥

माम्.के.र.म.अ.र.म.स.र.म. ।

म.र.म.र.र.म.र.म.के ।

म.स.स.म.स.स.म.स. ।

म.र.म.र.र.म.र.म.स.स. ८८ ।

जब अपना मन राग से युक्त अथवा द्वेष से युक्त दिखे तो उस समय न कुछ करे और न कुछ बोले, अपितु अचेतन काष्ठ की तरह निष्क्रिय हो जाए ।

उद्धतं सोपहासं वा यदा मानमदान्वितम् ।

सोत्प्रासातिशयं वक्रं वञ्चकं च मनो भवेत् ॥ ४९ ॥

म.र.र.म.र.म.र.म.स.र.म. ।

म.र.र.म.र.म.र.म.स.र.म. ।

म.र.र.म.र.म.र.म.स.र.म. ।

म.र.र.म.र.म.र.म.स.र.म. ८९ ।

जब चित्त उद्धत (अशान्त), उपहास (हँसी-ठिठौली) करने वाला, मान और मद से युक्त शारीरिक उपहास के साथ उत्कट, कुटिल और वञ्चक हो जाए तो (अचेतन काष्ठ की तरह स्थित हो जाए) ।

यदात्मोत्कर्षणाभासं परपंसनमेव वा ।

साधिक्षेपं ससंरम्भं स्थातव्यं काष्ठवत् तदा ॥ ५० ॥

माम्.के.र.म.अ.र.म.स.र.म. ।

म.र.म.र.र.म.र.म.के ।

म.र.म.र.र.म.र.म.स.र.म. ।

म.र.म.र.र.म.र.म.स.र.म. ९० ।

जब अपने मन को अपनी प्रशंसा, दूसरों की निन्दा, गाली-गलौज और कलह-विवाद से युक्त देखे तो (साधक) अचेतन काष्ठ की तरह स्थित हो जाए ।

लाभसत्कारकीर्त्यर्थि परिवारार्थि वा पुनः ।

उपस्थानार्थि मे चित्तं तस्मात् तिष्ठामि काष्ठवत् ॥ ५१ ॥

छेदं न दत्तं च गुरुं श्रेष्ठं मन्त्रं न दत्तं च न दत्तं ।

मन्त्रं न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं । ५१ ।

मेरा चित्त लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी है, दास-दासी आदि परिवार का अभिलाषी है तथा सेवा-टहल (पाँव दबाना, तैल मर्दन) चाहता है, इसलिए मैं अचेतन काष्ठ की तरह रहता हूँ ।

परार्थरुक्षं स्वार्थार्थि परिषत्काममेव वा ।

वक्तुमिच्छति मे चित्तं तस्मात् तिष्ठामि काष्ठवत् ॥ ५२ ॥

मन्त्रं न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं । ५२ ।

मेरा चित्त परहितविमुख, स्वार्थपरायण, जनसमाज का अभिलाषी होकर बोलना चाहता है, इसलिए मुझे अचेतन काष्ठ की भाँति रहना चाहिए ।

असहिष्णुवलसं भीतं प्रगल्भं मुखरं तथा ।

स्वपक्षाभिनिविष्टं च तस्मात् तिष्ठामि काष्ठवत् ॥ ५३ ॥

मन्त्रं न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं ।

न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं च न दत्तं । ५३ ।

मेरा चित्त असहनशील, आलसी, भयभीत, धृष्ट, मुखर (दुर्भाषी अथवा बिना सोचे-समझे बोलनेवाला) तथा अपने पक्ष की ओर आग्रहशील है । इसलिए मैं अचेतन काष्ठ की तरह रहता हूँ ।

एवं संविलष्टमालोक्य निष्फलारम्भि वा मनः ।

निगृह्णीयाद् दृढं शूरः प्रतिपक्षेण तत् सदा ॥ ५४ ॥

दे'हृ'र'गु'र'क'स'त्रि'र'सि'र'र'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ५५ ।

ऊपर कहे गए क्रम के अनुसार अपने मन को क्लेशों से युक्त और व्यर्थ कार्य करनेवाला जान कर शूरवीर बोधिसत्त्व प्रतिपक्ष (विपरीत भावना, जैसे राग की विरोधी अशुभ भावना) मार्ग के द्वारा हमेशा दृढतापूर्वक उसे निगृहीत करे । जिससे वह पुनः उस प्रकार उत्पन्न न हो सके ।

सुनिश्चितं सुप्रसन्नं धीरं सादरगौरवम् ।

सलज्जं सभयं शान्तं पराराधनतत्परम् ॥ ५५ ॥

परस्परविरुद्धाभिर्बालेच्छाभिरखेदितम् ।

क्लेशोत्पादादिदं ह्येतदेष्टामिति दयान्वितम् ॥ ५६ ॥

आत्मसत्त्ववशं नित्यमनवद्येषु वस्तुषु ।

निर्माणमिव निर्माणं धारयाम्येष मानसम् ॥ ५७ ॥

दे'हृ'र'गु'र'क'स'त्रि'र'सि'र'र'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ५८ ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ।

दे'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र'सि'र' । ५९ ।

ཁ་ན་མ་ཐོ་མེད་དང་ས་ལ། ।

བདག་དང་སེམས་ཅན་དབང་ཤུམ་ཤིང་། ।

སྒྲུལ་པ་བཞིན་དུ་ང་མེད་པར། ।

ཡིད་འདི་དྲག་དུ་གཟུང་བར་བྱ། ५७ ।

सुनिश्चित (सन्देह और विपर्यास से रहित), सुप्रसन्न (प्रीति और सौम-
नस्य से युक्त), धीर (अचंचल), आदर और गौरव (नम्रता) से युक्त, लज्जा
और भय से युक्त, शान्त (संयतेन्द्रिय), परहित में निरत,

पृथग्जन (सामान्य जन) की तरह परम्पर विरोधी इच्छाओं से अखिन्न, ये
परस्पर विरोधी इच्छाएं इन (लोगों) में क्लेशों की उत्पत्ति होने के कारण हैं ये
लोग क्लेशपरतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं—ऐसा सोचकर दयालु.

अनवद्य (कुशल, पुण्य या धर्म) वस्तुओं में हमेशा स्वाधीन और सत्त्वाधीन
तथा (ऋद्धियों द्वारा) निर्मित (निर्माण) की तरह मैं मानरहित चित्त धारण
करता हूँ - ऐसा बोधिसत्त्व सोचता है ।

चिरात् प्राप्तं क्षणवरं स्मृत्वा स्मृत्वा मुहुर्मुहुः ।

धारयामीदृशं चित्तमप्रकम्प्यं सुमेरुवत् ॥ ५८ ॥

རིང་ཞིག་ཁོན་ནས་དཔ་བའི་མཆོག། ।

ཐོབ་པ་ཡང་དང་ཡང་བསམས་ནས། ।

སེམས་དེ་ལྟ་བུར་རི་བབ་ལྟར། ।

རབ་དུ་མི་གཡོ་གཟུང་བར་བྱ། ५८ ।

बहुत दिनों के बाद ऐसा उत्तम क्षण प्राप्त हुआ है । अतः मैं बार-बार उसे
अपने स्मृति-पथ में लाकर इस प्रकार धारण करता हूँ, जिससे वह (कामराग, वितर्क,
व्यापाद आदि पवनों से) प्रकम्पित नहीं हो सके, जैसे सुमेरु पर्वत झंझावात आदि
से प्रकम्पित नहीं होता ।

गृध्रैरामिषसंगृद्धैः कृष्यमाण इतस्ततः ।

न करोत्यन्यथा कायः कस्मादत्र प्रतिक्रियाम् ॥ ५९ ॥

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां । ५० ।

(शरीर में किसी भी प्रकार का यहाँ तक कि अपनी रक्षा करने का भी सामर्थ्य नहीं है) नहीं तो मांसलोभी गृध्रों के द्वारा इधर-उधर खींचा जाने पर मृत शरीर क्यों इस पर अपनी प्रतिक्रिया नहीं करता ।

रक्षसीमं मनः कस्मादात्मोक्त्य समुच्छ्रयम् ।

त्वत्तश्चेत् पृथगेवायं तेनात्र तव को व्ययः ६० ॥

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां । ६० ।

हे मन, शरीर नामक इस हड्डी, मांस आदि के समुदाय को जो आत्मा (स्वयं) नहीं है, उसको आत्मा मानकर क्यों उसकी रक्षा कर रहे हो । यदि यह तुमसे पृथक् (भिन्न) है, तो इसके नाश से तुम्हारा क्या नष्ट हुआ ?

न स्वोक्तरोषि हे मूढ कठपुत्तलकं शुचिम् ।

अमेध्यघटितं यन्त्रं कस्माद् रक्षसि पूतिकम् ॥ ६१ ॥

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां ।

सुखेत्तं भवत्तमासां भवत्तमासां । ६१ ।

ऐ मूढ मन, क्यों तुम (शरीर से अधिक) शुचि कठपुतली को अपना नहीं लेते । इस सड़ने के स्वभाव वाले अशुचि-निर्मित (शरीर नामक इस) यन्त्र की क्यों रक्षा कर रहे हो ?

न खादितव्यमशुचि त्वया पेयं न शोणितम् ।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यसि ॥ ६५ ॥

सु० गु० षी० म० उ० व० ३२० मी० उ० ।
सु० गु० उ० व० ३० मी० उ० ।
सु० उ० व० म० ३० मी० उ० ।
सु० गु० सु० उ० व० ३० मी० उ० । ६५ ।

(इस शरीर में कुछ भी तो ऐसा नहीं है, जो कुछ भी उपयोगी हो) इसमें अशुचि है, जो खाया नहीं जा सकता, खून पिया नहीं जा सकता और न तो आतें चूसी जा सकती हैं । फलतः इस शरीर से (हे मन) तू क्या करेगा ?

युक्तं गृध्रशृगालादेराहारार्थं तु रक्षितुम् ।
कर्मापकरणं त्वेतन्मनुष्याणां शरीरकम् ॥ ६६ ॥

श्री० व० म० उ० व० ३० मी० उ० ।
३० मी० उ० व० ३० मी० उ० ।
मी० उ० व० मी० उ० व० ३० मी० उ० ।
मी० उ० व० मी० उ० व० ३० मी० उ० । ६६ ।

(पुण्य) कर्मों का यह साधन है (इसमें स्थित मस्तिष्क तत्त्वज्ञान का साधन है) इसलिए इस मनुष्य शरीर की रक्षा करना उचित है, (नहीं तो) यह गिद्ध, सियार आदि के भोजन के लिए ही उपयुक्त है ।

एवं ते रक्षतश्चापि मृत्युराच्छिद्य निर्दयः ।
कायं दास्यति गृध्रेभ्यस्तदा त्वं किं करिष्यसि ॥ ६७ ॥

मी० उ० व० मी० उ० व० ३० मी० उ० ।
मी० उ० व० मी० उ० व० ३० मी० उ० ।
मी० उ० व० मी० उ० व० ३० मी० उ० ।
मी० उ० व० मी० उ० व० ३० मी० उ० । ६७ ।

इस प्रकार (प्रेमपूर्वक) तुम्हारे द्वारा रक्षा करने पर भी निर्दयी मृत्यु जब बलपूर्वक इस शरीर को छीन कर गीधों (कुत्तों, कौओं आदि) को दे देगा, तब तुम क्या करोगे ? अर्थात् तुम्हारे पास इसका कोई प्रतिकार नहीं है ।

न स्थास्यतीति भृत्याय न वस्त्रादि प्रदीयते ।

कायो यास्यति खादित्वा कस्मात् त्वं कुरुषे व्ययम् ॥ ६८ ॥

स्रजं नालं नालं नालं नालं नालं नालं ।

नालं नालं नालं नालं नालं नालं ।

नालं नालं नालं नालं नालं नालं ।

नालं नालं नालं नालं नालं नालं ।

नहीं ठहरेगा—ऐसा जानकर (कोई भी व्यक्ति) नौकर-चाकर आदि को कपड़े-लत्ते आदि (उपहार) नहीं देता । यह शरीर खा पी कर चला जाने वाला है, तुम इस पर क्यों खर्च करते हो ?

दत्त्वाऽस्मै वेतनं तस्मात् स्वार्थं कुरु मनोऽधुना ।

न हि वैतनिकोपात्तं सर्वं तस्मै प्रदीयते ॥ ६९ ॥

नदी नदी नदी नदी नदी नदी ।

नदी नदी नदी नदी नदी नदी ।

नदी नदी नदी नदी नदी नदी ।

नदी नदी नदी नदी नदी नदी ।

इसलिए हे मन, (कर्मों के साधक, क्षणभंगुर) इस शरीर को (कर्म के अनुसार) उचित वेतन (मजदूरी) देकर अब अपने प्रयोजन को सिद्ध करो । (उसने जितना कमाया है, सब उसे क्यों नहीं दिया जाता ? लोक में यह न्याय प्रसिद्ध है कि) मजदूरों के द्वारा अर्जित सारी सम्पत्ति उन्हें नहीं दे दी जाती ।

काये नौबुद्धिमाधाय गत्यागमननिश्चयात् ।

यथा कामङ्गमं कायं कुरु सत्त्वार्थसिद्धये ॥ ७० ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
 सुखं वा सुखं वा सुखं वा सुखं वा ।
 सोमसोऽयं नमो भगवते वासुदेवाय ।
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७० ॥

(इधर-उधर) आने-जाने का साधन (आधार) होने के कारण शरीर के प्रति नौका-बुद्धि को रख कर सत्त्वों (प्राणियों) का हित साधने के लिए इसे इच्छा-धीन बरतने वाला बनाओ ।

एवं वशीकृतस्वात्मा नित्यं स्मितमुखो भवेत् ।
 त्यजेद् भृकुटिसंकोचं पूर्वाभाषो जगत्सुहृत् ॥ ७१ ॥
 नमो भगवते वासुदेवाय ।
 नमो भगवते वासुदेवाय ।
 नमो भगवते वासुदेवाय ।
 नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७२ ॥

उपर्युक्त प्रकार से जिसने अपने (काय और चित्त) को वश में कर लिया है, उसे हमेशा हँस-मुख रहना चाहिए । भौहे टेढ़ी करना छोड़ दे (क्योंकि इससे प्रसन्नता की हानि होती है) दूसरों से मिलने पर पहले स्वागत-वचन बोले और जगत् का कल्याणमित्र बनना चाहिए ।

सशब्दपातं सहसा न पोठादीन् विनिक्षिपेत् ।
 नास्फालयेत् कपाटं च स्यान्निःशब्दरुचिः सदा ॥ ७३ ॥
 नमो भगवते वासुदेवाय ।
 नमो भगवते वासुदेवाय ।
 नमो भगवते वासुदेवाय ।
 नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७४ ॥

पीढ़े आदि को सहसा ऐसा न रखे जिससे आवाज हो और न किवाड़ भड़-भड़ाए । हमेशा चुपचाप (शान्त) रहना पसन्द करे ।

बको बिडालश्चौरश्च निःशब्दो निभृतश्चरन् ।

प्राप्नोत्यभिमतं कार्यमेवं नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ७३ ॥

ཆུ་ཕྱུང་གི་ལ་ཚལ་གྱི་དཔ

ཐུག་མཉམ་འཇུག་ཅིང་འགྲོ་བ་ཡིས།

མངོན་པར་འདོད་པའི་རོན་ལྷུ་པ་། །

ཐུབ་པས་དྲག་རྩི་བཞིན་སྒྱུད། ༧༣ །

वक (वगुला) बिडाल (विलार) और चोर शान्त (अनुद्धत) और निःशब्द रहते हुए अपनी इष्टसिद्धि कर लेते हैं । यति (योगी) को भी हमेशा इसी तरह आचरण करना चाहिए ।

परचोदनदक्षाणामनधीष्टोपकारिणाम् ।

प्रतीच्छेच्छिरसा वाक्प्रं सर्वशिष्यः सदा भवेत् ॥ ७४ ॥

གཞན་ལ་གཞིན་སྐྱེལ་འདེབས་མཁས་ཤིང་།

མ་བཅོལ་པན་པར་བྱེད་པའི་ངག།

གུས་པས་སྒྲིབ་པ་གུས་ཏེ།

དྲིལ་རྩ་ཀུན་གྱི་སྒྲོལ་མར་གྱུར། ཡ= །

दूसरों को उपदेश देने में समर्थ एवं बिना प्रार्थना किए दूसरों का हित करने में लगे हुए उत्तम जनों के हितकारी वचनों को सिर से ग्रहण करना चाहिए (अपने चित्त को ऐसे लोगों के प्रति दूषित नहीं करना चाहिए और न उनकी अवमानना करनी चाहिए) तथा सभी सत्त्वों से अच्छी बातें सीखने के लिए शिष्य के रूप में सदा तैयार रहना चाहिए ।

सुभाषितेषु सर्वेषु साधुकारमुदीरयेत् ।

पुण्यकारिणमालोक्य स्तुतिभिः सम्प्रहर्षयेत् ॥ ७५ ॥

ལེགས་པར་སྐྱེས་པ་བྲམས་ཅད་ལ།

དག་པར་གསུངས་ཞེས་བརྗོད་པར་བྱ།

བསོད་ནམས་བྱེད་པ་མཐོང་གྲུང་ན།

བསྐྱོད་པས་ལེགས་པར་དགའ་བ་བསྐྱེད། ཕ་ ༥ །

किसी के द्वारा अच्छी बातें कही जाने पर उसे साधुवाद देना चाहिए। अच्छे काम (पुण्य) करने वाले को देख कर प्रशंसा-वचनों द्वारा उसे प्रोत्साहित करना चाहिए।

परोक्षं च गुणान् ब्रूयादनुब्रूयाच्च तोषतः ।

स्ववर्णे भाष्यमाणे च भावयेत् तद्गुणज्ञताम् ॥ ७६ ॥

क्षिण्णं व'अ'व'5व'स'इ'5'सु'वि' । ।

अ'व'5व'स'इ'5'व'इ'स'सु'स'इ'5 । ।

स'स'म'अ'व'5व'स'इ'5'व'स' । ।

अ'व'5व'स'इ'5'स'स'स'स'स'स'स' । ७७ ।

दूसरे के वास्तविक गुणों को भी पीठ-पीछे कहे (सामने नहीं, नहीं तो वह उसे चापलूसी समझ सकता है)। दूसरे के द्वारा किसी के गुण सामने कहे जाने पर समर्थन के रूप में सामने भी (गुण) कहे जा सकते हैं (नहीं तो वह समझेगा कि इनमें मेरे प्रति कोई रुचि नहीं है और वह बुरा मान सकता है)। दूसरे के द्वारा अपने गुण कहे जाने पर घमण्ड को हटाते हुए उसकी गुणग्राहकता पर विचार करना चाहिए।

सर्वारम्भा हि तुष्टिचर्थाः सा वित्तैरपि दुर्लभा ।

भोक्ष्ये तुष्टिसुखं तस्मात् परश्रमकृतैर्गुणैः ॥ ७७ ॥

कु'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ७८ ।

सभी (उत्तम, मध्यम, अधम) सत्त्वों के सभी कार्य (दुःखनिवृत्ति के साथ-साथ) तुष्टि (सन्तोष) के लिए होते हैं। जो तुष्टि धन से प्राप्त नहीं की जा सकती। इसलिए अन्य लोगों द्वारा परिश्रम से अर्जित गुणों से मैं (बिना प्रयत्न के) सन्तोष सुख का भोग करूंगा। (दूसरे के गुणों को सुनकर चित्त की रूक्षता को हटाना चाहिए और उनके प्रति प्रीति का उत्पाद करना चाहिए)।

न चात्र मे व्ययः कश्चित् परत्र च महत् सुखम् ।

अप्रीतिदुःखं द्वेषैस्तु महद् दुःखं परत्र च ॥ ७८ ॥

नदना'ल'र'r'
 स'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'r'
 र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'r'
 स'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'r' ७८ ।

परकीय गुणों का अभिनन्दन करने से इस लोक में मेरी कुछ हानि नहीं है और परलोक में तो महान् सुख है। इसके विपरीत ईर्ष्या या द्वेष करने से इस लोक में अप्रसन्नता (या असन्तोष) रूपी दुःख है और परलोक में भी महान् दुःख है। अर्थात् उभय लोक में हानि ही हानि है।

विश्वस्तविन्यस्तपदं विस्पष्टार्थं मनोरमम् ।
 श्रुतिसौख्यं कृपामूलं मृदुमन्दस्वरं वदेत् ॥ ७९ ॥
 र'र'र'र'र'र'र'र'r'
 र'र'र'र'r'
 र'र'r'
 र'र'r' ७९ ।

(बुरी भावना या भ्रान्ति से रहित होने से) विश्वस्त, व्यवस्थित पदों से युक्त, (सन्देहरहित होने से) स्पष्ट अर्थ से युक्त, मन को प्रसन्न करनेवाली, सुनने में आनन्द देने वाली, करुणा से पूरित (न कि रागादि से उत्पन्न), कर्कशता न होने से मृदु, जितना जोर से बोलने से सुनाई पड़ जाए, उससे न अधिक न कम अर्थात् मन्दस्वर से युक्त वाणी बोले।

ऋजु पश्येत् सदा सत्त्वांश्चक्षुषा सम्पिबन्निव ।
 एतानेव समाश्रित्य बुद्धत्वं मे भविष्यति ॥ ८० ॥
 र'र'r'
 र'र'r'
 र'r'
 र'r' ८० ।

कुटिलता से रहित और प्रति से युक्त आंखों से पीते हुए की तरह (जैसे प्यासा शीतल जल को देखते हुए पीता है) हमेशा सत्त्वों (प्राणियों) की ओर देखना चाहिए । राग, द्वेष, मोह से युक्त होकर न देखे । ये प्राणी परम उपकारक हैं, क्योंकि इन्हीं सत्त्वों की (सेवा की) वजह से मुझे (दुर्लभ) बुद्धत्व की प्राप्ति होगी । सत्त्वों को प्रसन्न करने से बढ़कर बोधिसत्त्व का कोई कार्य नहीं होता । धर्मसंगीति सूत्र में कहा है—

न भगवन्, बोधिसत्त्वस्य अन्यत् करणीयमस्ति, अन्यत्र सत्त्वावर्जनात्^१ ।

सातत्याभिनिवेशोत्थं प्रतिपक्षोत्थमेव च ।

गुणोपकारिक्षेत्रे च दुःखिते च महच्छुभम् ॥ ८१ ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

लगातार प्रसन्नता (श्रद्धा आदि) से उत्पन्न, रागादि क्लेशों की प्रतिपक्ष शून्यताभावना से उत्पन्न, बुद्ध, बोधिसत्त्व आदि गुणक्षेत्र, माता-पिता आदि उपकारी क्षेत्र, रोगी, वृद्ध आदि दुःखित क्षेत्र में किये गये (कृत) दानादि कर्मों का महान् पुण्य होता है ।

दक्ष उत्थानसम्पन्नः स्वयंकारी सदा भवेत् ।

नावकाशः प्रदातव्यः कस्यचित् सर्वकर्मसु ॥ ८२ ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥ ५३० ॥

(बोधिसत्त्व को) सभी कार्यों में कुशल, उत्साहवान् एवं दूसरों की बिना अपेक्षा किए स्वयं काम करनेवाला होना चाहिए । अपने सभी कामों में किसी को कुछ भी करने का अवसर नहीं देना चाहिए ।

१. द्र० — धर्मसंगीतिसूत्र, बोधिचर्यावतार-पंजिका में उद्धृत, पृ० ६८ (दरभंगा संस्करण) ।

उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः ।

नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुतः ॥ ८३ ॥

सुखं च विदुः सत्त्वमिदं सुखं च विदुः ।

मोक्षं च विदुः सत्त्वमिदं मोक्षं च विदुः ।

कुलं च विदुः सत्त्वमिदं कुलं च विदुः ।

मार्गं च विदुः सत्त्वमिदं मार्गं च विदुः ॥ ८३ ॥

दान, शील, क्षान्ति, वीर्य ध्यान और प्रज्ञा पारमिताओं में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर (वाद-वाद की) पारमिता श्रेष्ठ है । नीचे की पारमिता के लिए ऊपर की श्रेष्ठ पारमिता का त्याग नहीं करना चाहिए । किन्तु इसमें एक अपवाद (छूट) यह है कि बोधिसत्त्वों का जो शिक्षा-संवर है अर्थात् आचारसंहिता है, जो कि कुशल (पुण्य) रूपी जल का सेतु है, वह नष्ट न होता हो । अर्थात् यदि संवर का उल्लंघन हो रहा हो तो ऊपर की पारमिता का त्याग किया जा सकता है । परोपकार ही बोधिसत्त्व का परम कर्तव्य है, उसका घात नहीं होना चाहिए । वस्तुतः सभी पारमिताओं का एक-साथ ही आचरण करना चाहिए ।

एवं बुद्ध्वा परार्थेषु भवेत् सततमुत्थितः ।

निषिद्धमप्यनुज्ञातं कृपालोरर्थदर्शिनः ॥ ८४ ॥

देहं च विदुः सत्त्वमिदं देहं च विदुः ।

रूपं च विदुः सत्त्वमिदं रूपं च विदुः ।

सुखं च विदुः सत्त्वमिदं सुखं च विदुः ।

मार्गं च विदुः सत्त्वमिदं मार्गं च विदुः ॥ ८४ ॥

ऐसा जान कर प्राणियों का हित, सुख सम्पादन करने के लिए बोधिसत्त्व सदा उद्यत रहे । सत्त्वहितदर्शी कर्णवान् बोधिसत्त्व के लिए भगवान् ने कदाचित् निषिद्ध के आचरण की भी अनुमति प्रदान की है । परोपकारनिरत उपायकुशल बोधिसत्त्व का आचरण, जो प्रज्ञा और कर्णा से उत्पन्न है, वह कदाचित् निषिद्ध भी प्रतीत हो, फिर भी भगवान् ने उसे करने को छूट दी है । दूसरी अवस्थाओं में और दूसरे लोगों के लिए वह छूट नहीं है ।

विनिपातगतानाथव्रतस्थान् संविभज्य च ।

भुञ्जीत मध्यमां मात्रां त्रिचीवरवह्निस्त्यजेत् ॥ ८५ ॥

विंश'स'द्व'द'स'स'स'स'स'स' ।

स'द्व'द'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ८५ ।

(परार्थ में उपयोगी होने के कारण भोजन, वस्त्र आदि से शरीर का पालन करना चाहिए । ग्राम में पिण्डपात के लिए जाने पर जो भोजनसामग्री प्राप्त हो, उसके चार भाग करना चाहिए) उनमें से एक भाग पतितों को, एक भाग अनाथों को, एक भाग सन्नद्धचारियों (सहपाठियों) को चौथा भाग अपने ग्रहण करना चाहिए । (उस एक भाग को भी आसक्ति के साथ नहीं, अपितु शरीर की रक्षा के लिए) मध्यम मात्रा में लेना चाहिए । (इतनी मात्रा में ले, जिससे शरीर न अधिक कृश (दुबला-पतला कमजोर) हो जाए और न मोटापा बढ़ जाए । क्योंकि कमजोर व्यक्ति कुशल पक्ष (ध्यान-भावना आदि) की परिपूर्ति में अक्षम हो जाता है और भारी शरीर आलसी, तन्द्रालु हो जाता है । खाते समय भी यह सोचना कि इस शरीर में हजारों कृमियाँ हैं । वे इस भोजन के रस से सन्तुष्ट हों) ।

तीन चीवर^१ से अधिक हो तो किसी के माँगने पर उसे देना चाहिए ।

बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष में कहा गया है कि यदि कोई आकर पात्र, चीवर आदि की याचना करे तो बुद्ध द्वारा अनुज्ञात तीन चीवरों से अधिक हो तो उसका दान कर देना चाहिए । यदि तीन चीवर से कम हो तो नहीं देना चाहिए । भगवान् ने तीन चीवर का किसी भी अवस्था में त्याग न करने का आदेश दिया है । तीन चीवर से भी कम रखने से अल्पेच्छता की सिद्धि नहीं होती ।

सद्धर्मसेवकं कायमितरार्थं न पीडयेत् ।

एवमेव हि सत्त्वानामाशामाशु प्रपूरयेत् ॥ ८६ ॥

१. त्रिचीवर = अधोवस्त्र, उत्तरासंग और संघाटी ।

नमः पदं क्लेशं विमुक्तं पदं सुखम् ।

सुखं क्लेशं क्लेशं नृणां विमुक्तं सुखम् ।

देवैः सुखं नृणां विमुक्तं सुखम् ।

नमः पदं क्लेशं विमुक्तं पदं सुखम् ॥ ८७ ॥

सत्पुरुष बोधिसत्त्वों का धर्म सद्धर्म कहलाता है। प्राणियों के लौकिक और लोकोत्तर हित एवं सुख का सम्पादन बोधिसत्त्वों का धर्म है। यह शरीर उस सद्धर्म का सेवक है। छोटे-मोटे मामूली उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे पीडित नहीं करना चाहिए। अन्यथा उससे महान् उद्देश्य की सिद्धि में बाधा होगी। इस प्रकार आचरण से बोधिसत्त्व शीघ्र ही प्राणियों की आशाओं को पूर्ण करने में समर्थ होगा।

त्यजेन्न जीवितं तस्मादशुद्धे करुणाशये ।

तुल्याशये तु तत्त्याज्यमित्थं न परिहीयते ॥ ८७ ॥

क्षीणं हि विमलं पदं नृणां सुखम् ।

सुखं नृणां विमुक्तं पदं सुखम् ।

उत्तमं नृणां विमुक्तं पदं सुखम् ।

देवैः सुखं नृणां विमुक्तं पदं सुखम् ॥ ८८ ॥

इसलिए करुणाचित्त अशुद्ध हो, अधूरा हो या उससे अल्प हित (एकाग्र व्यक्ति का हित) सिद्ध हो रहा हो तो जीवन का त्याग नहीं करना चाहिए।

दानपारमिता के अभ्यास के समय यद्यपि बोधिसत्त्व को शरीरदान, मस्तकदान आदि कर देना चाहिए—ऐसा उल्लेख है, किन्तु इस शरीर से महान् सत्त्वराशि का हित सिद्ध किया जा सकता है। अत्यधिक उत्साह के वशीभूत होकर अपरिपक्व अवस्था में या आत्मीय जन के लिए उसका त्याग नहीं करना चाहिए। अन्यथा अधिक प्राणियों के हित में बाधा होगी।

तुल्य आशय होने पर अर्थात् परिपक्व अवस्था में या महान् सत्त्वराशि का हित सध रहा हो तो उस अवस्था में शरीर के त्याग का निषेध नहीं है। अर्थात् सर्वजन के हित का अवसर होने पर शरीर का दान कर देना चाहिए। इस प्रकार का आचरण करने से बोधिसत्त्व बोधिमार्ग से परिभ्रष्ट नहीं होता।

धर्मं निर्गौरवे स्वस्थे न शिरोवेष्टिते वदेत् ।

सच्छत्रदण्डशस्त्रे च नावगुण्ठितमस्तके ॥ ८८ ॥

स'गुण'स'व'व'व'व'व'व' ।

स'व'व'व'व'व'व'व' ।

ग'गुण'स'व'व'व'व'व' ।

स'व'व'व'व'v'v'v' । ८८ ।

(भगवान् का धर्म देव-मनुष्यों द्वारा पूजित है) जिसमें धर्म के प्रति गौरव बुद्धि नहीं है, उसको तथा स्वस्थ (नीरोग) होते हुए भी जिसने कपड़े (पगड़ी-साफा) आदि से सिर को लपेट रखा हो, उसको (बीमार के लिए छूट है), स्वस्थ होते हुए भी छत्र, दण्ड या शस्त्र धारण करने वाले को और माथा ढँके पुरुषों को धर्म की देशना नहीं करनी चाहिए ।

ऊपर कुछ उदाहरण दिये गए हैं, वैसे खड़े धर्मोपदेशक द्वारा सोते या बैठे हुए श्रोता को, बैठे हुए द्वारा सोते हुए को, आसनरहित द्वारा आसन पर बैठे को, बे-रास्ते चलते हुए मार्ग पर चलने वाले को, पीछे पीछे चलते हुए द्वारा आगे-आगे चलने वाले को, अलंकारहीन द्वारा अलंकार पहने हुए को धर्मोपदेश नहीं करना चाहिए ।

गम्भीरोदारमल्पेषु न स्त्रीषु पुरुषं विना ।

हीनोत्कृष्टेषु धर्मेषु समं गौरवमाचरेत् ॥ ८९ ॥

ग'म'भी'रो'दा'र'म'ल्'प'ए'षु' ।

ही'नो'त्कृ'ष्ट'ए'षु' ।

ग'म'भी'रो'दा'र'म'ल्'प'ए'षु' ।

ग'म'भी'रो'दा'र'म'ल्'प'ए'षु' । ८९ ।

असंस्कृत (असभ्य) और छोटे (हीन) उद्देश्य वालों को गम्भीर^१ और उदार^२ (महायान) धर्म का उपदेश नहीं करना चाहिए तथा अकेले एकान्त में स्त्री-जनों को धर्मोपदेश न करे यदि, साथ में पुरुष हो तो दोष नहीं है ।

१. अल्पबुद्धि और दुर्बुद्धि वालों की समझ के बाहर होने से महायान धर्म गम्भीर है ।

२. अत्यन्त विस्तृत और व्यापक होने से महायान धर्म उदार है ।

हीनयान और महायान धर्म में समान गौरव रखना चाहिए । अन्यथा सद्धर्म की अवमानना होगी ।

नोदारधर्मपात्रं च हीने धर्मे नियोजयेत् ।

न चाचारं परित्यज्य सूत्रमन्त्रैः प्रलोभयेत् ॥ ९० ॥

गुंकेव'केस'गु'स्त्रे'गु'र'वा । ।

रुम'व'र'केस'वा'स्त्र'मी'गु । ।

स्त्रे'वा'र'केस'वा'र'केस'मी'गु । ।

रु'र'र'स्त्र'वा'गु'र'केस'मी'गु ॥ ९० ।

अमुक व्यक्ति गम्भीर और उदार महायान धर्म का पात्र है—ऐसा निश्चित चिह्नों द्वारा जान लेने पर उसे हीनयान में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए । आचार (शील) को छोड़ कर सूत्र और मन्त्रों के पाठ से धर्म होने का प्रलोभन नहीं देना चाहिए ।

दन्तकाष्ठस्य खेटस्य विसर्जनमपावृतम् ।

नेष्टं जले स्थले भोग्ये मूत्रादेशचापि गहितम् ॥ ९१ ॥

रु'र'र'र'केस'मी'गु'र'वा । ।

रु'र'र'केस'मी'गु'र'वा । ।

गु'र'र'केस'मी'गु'र'वा । ।

रु'र'र'केस'मी'गु'र'वा ॥ ९१ ।

दतौन और खखार (मुख और नाक आदि से निर्गत कफ) को खुले स्थान में न छोड़े तथा भोग्य जल के स्थान में घृणित मूत्र आदि का त्याग भी उचित नहीं है ।

मुखपूरं न भुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननम् ।

प्रलम्बपादं नासीत न बाहू मर्दयेत् समम् ॥ ९२ ॥

रु'र'र'केस'मी'गु'र'वा । ।

रु'र'र'केस'मी'गु'र'वा । ।

गु'र'र'केस'मी'गु'र'वा । ।

रु'र'र'केस'मी'गु'र'वा ॥ ९२ ।

न बाहूत्क्षेपकं कञ्चिच्छब्दयेदल्पसम्भ्रमे ।

अच्छटादि तु कर्त्तव्यमन्यथा स्यादसंवृतः ॥ ९५ ॥

लम'प'प'स'के'म'सु'न'म'न'र' । ।

उ'न'न'स'सु'न'ल'सु'न'सु'न'स' । ।

सो'म'ल'ल'सो'म'स'स'स' । ।

म'ल'ल'स'स'स'स'स'स'स' । ९५ ।

छोटा प्रयोजन हो तो बांहें उठाकर, चिल्ला कर किसी को न पुकारे (कोई बड़ा प्रयोजन हो तो दोष नहीं है) । चुटकी बजाना, ताली बजाना आदि किया जा सकता है । नहीं तो संवरहीन माना जाएगा ।

नाथनिर्वाणशय्यावच्छयीतेप्सितया दिशा ।

सम्प्रजानंल्लघूत्यानः प्राग्वश्यं नियोगतः ॥ ९६ ॥

म'ल'ल'स'स'स'स'स'स' । ।

ल'ल'स'स'स'स'स'स' । ।

म'ल'ल'स'स'स'स'स'स' । ।

म'ल'ल'स'स'स'स'स'स' । ९६ ।

महापरिनिर्वाण के समय भगवान् की निर्वाणशय्या की भाँति शय्या बनाकर (दाहिने करवंट, पाँव के ऊपर पाँव रखकर, दाहिने बाजू का तकिया बनाकर, बाएं हाथ को जाँघ पर फैलाकर, चीवर से ढँका-दुपा, स्मृतिमान्, होश के साथ), जिधर इच्छा हो उधर सिर करके सोए (नींद का सुख, लेटने का सुख न ले, न तो गाढ़ आलस्य में रहे) । सावधान रहते हुए (जंभाई, अंगड़ाई, अंगों को तोड़ना, मरोड़ना आदि न करते हुए) किसी के कहने से पूर्व शीघ्र उठ जाए ।

आचारो बोधिसत्त्वानामप्रमेय उदाहृतः ।

चित्तशोधनमाचारं नियतं तावदाचरेत् ॥ ९७ ॥

सुदं कुव'सोमस'दपदि'सुद'व'दमा ।

सुद'मेद'पद'र'म'सुदस'व'दमा ।

सोमस'सुद'व'द'सुद'व'र' ।

देस'पद'दे'सुद'सुद'पद'सु । ७७ ।

प्रातिमोक्ष आदि सूत्रों में बोधिसत्त्वों के असंख्येय आचरण कहे गये हैं, परन्तु निश्चितरूप से उसी का आचरण करे, जिससे चित्त शुद्ध हो ।

रात्रिन्दिवं च त्रिस्कन्धं त्रिष्कालं च प्रवर्तयेत् ।

शेषापत्तिशमस्तेन बोधिचित्तजिनाश्रयात् ॥ ९८ ॥

शुद'द'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' ।

सुद'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' ।

सुद'द'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' ।

सुद'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' । ७८ ।

रात्रि में तीन बार और दिन में तीन बार त्रिस्कन्ध (पापदेशना, पुण्यानुमोदना एवं बोधिपरिणामना) की आवृत्ति करनी चाहिए । अन्य अनजान में की हुई आपत्तियों (दोषों) का बोधिचित्त और बुद्ध के आश्रय से उपशम हो जाता है ।

या अवस्थाः प्रपद्येत स्वयं परवशोऽपि वा ।

तास्ववस्थासु याः शिक्षाः शिक्षेत् ता एव यत्नतः ॥ ९९ ॥

सुद'द'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' ।

सुद'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' ।

सुद'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' ।

सुद'स'सुद'स'सुद'स'सुद'स' । ७९ ।

स्वाधीन या पराधीन होते जिन अवस्थाओं को प्राप्त हुआ हो (अर्थात् परहित क्रिया में प्रवृत्त हो), उन अवस्थाओं में जो-जो शिक्षणीय हों, उन्हें यत्न-पूर्वक सीखना चाहिए ।

न हि तद् विद्यते किञ्चिद् यन्न शिक्ष्यं जिनात्मजैः ।

न तदस्ति न यत् पुण्यमेवं विहरतः सतः ॥ १०० ॥

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

देवि मां यत्तु देवि देवि । ।

देवि मां सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । १०० ।

(सर्वाकार वस्तुतत्त्व का अधिगम करके समस्त प्राणियों का सभी प्रकार का हित करने के लिए उद्यत) बोधिसत्त्वों के लिए ऐसा वह कुछ नहीं है, जो शिक्षणीय न हो । इस प्रकार विहार करनेवाले बोधिसत्त्व की ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जो पुण्य न होती हो ।

पारम्पर्येण साक्षाद् वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत् ।

सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत् ॥ १०१ ॥

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । १०२ ।

साक्षात् अथवा परम्परा से जो प्राणियों के हित के लिए न हो, उसे न करे । संसारदुःख में पतित प्राणियों के हित के लिए अर्थात् उन्हें दुःख से निःसारण के लिए सभी कुशल मूलों की बोधि के लिए परिणामना करे ।

सदा कल्याणमित्रं च जोवितार्थेऽपि न त्यजेत् ।

बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदम् ॥ १०२ ॥

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । १०३ ।

बोधिसत्त्वों की शिक्षा का व्रत धारण करनेवाले एवं महायान के अर्थ को भली-भाँति जाननेवाले कल्याणमित्र का त्याग अपने प्राणों के नाश का भय उपस्थित होने पर भी न करे । सदा उसके सान्निध्य में रहे ।

शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः ।

विस्तरेण सदाचारो यस्मात् तत्र प्रदर्शितः ॥ १०५ ॥

नाद'भ्रि'र'द'मा'दु'क्षु'न'प'रि ।

दे'ल'स'कु'के'र'र'म'क्षु'न'प'रि ।

म'क्षु'न'प'गु'न'ल'स'म'दु'स'प'रि ।

दे'स'प'र'प'र'द'प'र'द'प'र' १०५ ।

शिक्षासमुच्चय^१ नामक ग्रन्थ का भी नियम पूर्वक बार-बार अभ्यास करना चाहिए । क्योंकि बोधिसत्त्वों का आचार शिक्षासमुच्चय में विस्तारपूर्वक स्पष्टतया प्रकाशित है ।

संक्षेपेणायवा तावत् पश्येत् सूत्रसमुच्चयम् ।

आर्यनागार्जुनाबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः ॥ १०६ ॥

प'र'द'प'र'द'प'र'म'द'र'म'क्षु'न'प'रि ।

म'द'र'म'क्षु'न'गु'न'ल'स'म'दु'स'प'रि ।

द'स'प'र'प'र'द'प'र'म'द'र'म'क्षु'न'प'रि ।

ना'द'भ्रि'र'द'मा'दु'क्षु'न'प'रि १०६ ।

अथवा संक्षेप से (देखना हो तो मेरे) सूत्रसमुच्चय^२ को देखना चाहिए । अथवा आचार्य नागार्जुन द्वारा संगृहीत दूसरे सूत्रसमुच्चय (शिक्षासमुच्चय) को प्रयत्नपूर्वक देखना चाहिए ।

यतो निवार्यते यत्र यदेव च नियुज्यते ।

तल्लोकचित्तरक्षार्थं शिक्षां दृष्ट्वा समाचरेत् ॥ १०७ ॥

नाद'भ्रि'र'द'मा'दु'क्षु'न'प'रि ।

दे'ल'स'कु'के'र'र'म'क्षु'न'प'रि ।

म'क्षु'न'प'गु'न'ल'स'म'दु'स'प'रि ।

दे'स'प'र'प'र'द'प'र'द'प'र' १०७ ।

१. शिक्षासमुच्चय भी प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शान्तिदेव की रचना है ।

२. यह ग्रन्थ भी आचार्य शान्तिदेव की ही कृति है ।

जिस शिक्षासमुच्चय एवं सूत्रसमुच्चय में जिन अकरणीय कर्मों से निवारण किया जाता है तथा जिन करणीय कर्मों को करने के लिए प्रेरित किया जाता है, वह सब लोकचित्त की रक्षा के लिए है। अर्थात् यह सब इसलिए है, जिससे लोकचित्त विक्षुब्ध न हो। अतः उन ग्रन्थों में प्रतिपादित शिक्षाओं को जानकर उनके अनुसार आचरण करना चाहिए।

एतदेव समासेन सम्प्रजन्यस्य लक्षणम् ।

यत् कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः ॥ १०८ ॥

ལུས་དང་སེམས་ཀྱི་གནས་སྐབས་ལ། །

ཡང་དང་ཡང་དྲ་བཏྲ་བ།

འདི་ཉིད་ཁོ་ན་མདོར་ན་ནི།

ཤེས་བ་ཤིན་བསྐྱང་བའི་མཚན་ཉིད་དོ། ༡༠༤།

सम्प्रजन्य का संक्षेप में यही लक्षण है कि सभी ईर्यापथों^१ में काय और चित्त की अवस्थाओं का बार-बार प्रत्यवेक्षण किया जाए ।

कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ।

चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति ॥ १०९ ॥

ལུས་ཀྱིས་འདི་དག་སྤྱད་པར་བྱ།

ཆོག་ཙམ་བརྗོད་པས་ཅི་ཞིག་འགྲུབ།

མཉམ་དབྱུང་བསྐྱེད་པ་ཙམ་གྱིས་ནི།

ནད་བ་དག་ལ་ཕན་འགྱུར་རེ། ༡༠༩ །

(काय की क्रिया मनःपूर्वगामी होती है) अतः मैं काय (क्रिया के अनुष्ठान) के द्वारा पढूंगा (साधना के द्वारा सम्पादित करूंगा) । वाणी के उच्चारणमात्र (वाक्-पाठ) से क्या होगा । वैद्यक शास्त्रों के पाठ मात्र से भला रोगी का क्या लाभ होना है ?

॥ बोधिचर्यावतार में सम्प्रजन्य-रक्षण नामक पञ्चम परिच्छेद समाप्त ॥

१. काय (शरीर) की विभिन्न स्थितियाँ, जैसे—चलना, खड़े रहना, बैठना और सोना (लेटना) आदि 'ईर्यापथ' कहलाती हैं ।

षष्ठ परिच्छेद

क्षान्ति पारमिता

शीलविशुद्धि का अनेक प्रकार से वर्णन करके तथा आत्मभाव (शरीर) आदि की रक्षा और शुद्धि का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब शुभ (कुशल) की विशुद्धि का विशेष रूप से प्रतिपादन किया जा रहा है ।

सर्वमेतत् सुचरितं दानं सुगतपूजनम् ।
कृतं कल्पसहस्रैर्यत् प्रतिघः प्रतिहन्ति तत् ॥ १ ॥

सल्लभ'स'सु'द'सु'सल्लभ'स'सु' ।
सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु' ।
सल्लभ'सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु' ।
सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु' १ ।

शील, संवर आदि से उत्पन्न समस्त पुण्य (कुशल कर्म), सर्वविध दान, सभी प्रकार से सुगत के पूजन, जो हजारों कल्पों में अर्जित किये गये हैं, वे सब प्रतिघ के द्वारा क्षण भर में वैसे ही नष्ट कर दिये जाते हैं, जैसे आग की छोटी-सी चिनगारी घास के ढेर को तत्काल जलाकर खाक कर देती है ।

प्रतिघ का तात्पर्य है—सत्त्वविद्वेष । इसे प्रतिघ इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह सैकड़ों कल्पों में उपार्जित कुशल को शीघ्र प्रतिहत (नष्ट) कर देता है ।

न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः ।
तस्मात् क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद् विविधैर्नयैः ॥ २ ॥

वे'सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु' ।
सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु' ।
सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु' ।
सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु'द'स'सु' ३ ।

द्वेष के समान दूसरा कोई पाप नहीं है और क्षान्ति (तितिक्षा, सहिष्णुता) के समान कोई तप नहीं है । अतः प्रयत्न पूर्वक अनेक उपायों से क्षान्ति की भावना करनी चाहिए ।

मनः शमं न गृह्णाति न प्रीतिमुखमश्नुते ।

न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते ॥ ३ ॥

ले'क्ष्म'हृमा'हृदि'सोमसा'दक'व । ।

अ'द'वे'वि'म'हृमसा'म'क्षि' । ।

दमा'द'म'दे'म'द'म'म'द'म' । ।

मा'द'म'द'म'द'म'द'म'द'म' । ३ ।

द्वेषरूपी शल्य (काँटे) के हृदय में स्थित रहते व्यक्ति का मन कदापि शान्ति को प्राप्त नहीं करता, न तो वह प्रीति-मुख (सौमनस्य एवं सुख) को ही प्राप्त करता है । न तो उसे ठीक से नींद ही आती है और न वह धैर्य (चैन) को प्राप्त करता है ।

चित्त की कठोर, रूक्ष या कर्कश अवस्था को द्वेष कहते हैं । इसी द्वेष की उस अवस्था को क्रोध कहते हैं, जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति लाठी, भाला, गैडासा आदि उठा लेता है ।

पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः ।

तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम् ॥ ४ ॥

मा'द'म'द'म'द'म'द'म'द'म' । ।

द'म'द'म'द'म'द'म'द'म' । ।

द'म'द'म'द'म'द'म'द'म' । ।

द'म'द'म'द'म'द'म'द'म' । ४ ।

जिन लोगों को धन और सम्मान देकर मालिक (स्वामी) सत्कार करता है और जो उस स्वामी के आश्रित (पालित) हैं, ऐसे लोग भी उस स्वामी का अपकार (हनन) करना चाहते हैं, जो स्वामी द्वेष से युक्त होता है ।

सुहृदोऽप्युद्विजन्तेऽस्माद् ददाति न च सेव्यते ।

संक्षेपान्नास्ति तत् किञ्चित् क्रोधनो येन सुस्थितः ॥ ५ ॥

दे'यि'स'म'ह'र'व'पे'स'सु'म'र'र'गु'र ।

सु'व'प'स'व'सु'स'गु'र'म'सु'व'म'सु'र ।

म'र'र'व'सु'स'म'र'र'गु'र' ।

दे'व'र'म'र'र'य'र'स'य'र' । ५ ।

द्वेषी व्यक्ति से उसके मित्र भी उखड़े-उखड़े-से रहते हैं। वह खूब धन देता है, फिर भी नौकर-चाकर उसकी सेवा नहीं करते। संक्षेप में दुनियाँ में ऐसी कोई चीज नहीं है, जिससे क्रोधी व्यक्ति सुखपूर्वक रह सके।

एवमादीनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया ।

यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च ॥ ६ ॥

सु'व'र'र'गु'र'य'र'स'य'र' ।

सु'व'र'r'गु'र'y'र's'y'r' ।

म'र'र'v'स'm'r'r'g'u'r' ।

दे'v'र'm'r'r'y'r's'y'r' । ७ ।

जो क्रोध शत्रु की तरह उपर्युक्त प्रकार से नाना प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करता है, उस क्रोध को जो पुण्यात्मा आग्रहपूर्वक नष्ट करता है, वह इस लोक में और परलोक में भी सुखी रहता है।

अनिष्टकरणाज्जातमिष्टस्य च विघातनात् ।

दौर्मनस्याशनं प्राप्य द्वेषो दृप्तो निहन्ति माम् ॥ ७ ॥

म'र'r'v'स'm'r'r'g'u'r' ।

सु'v'र'r'g'u'r'y'r's'y'r' ।

य'r'v'स'y'r'v'स'y'r'v'स'y'r' ।

ले'स'v'स'y'r'v'स'y'r'v'स'y'r' । ८ ।

(आत्मग्रह और आत्मीयग्रह के वश से इष्ट और अनिष्ट उत्पन्न होते हैं। आत्मा और आत्मीय के लिए सुख के साधन इष्ट होते हैं और इससे विपरीत अनिष्ट होते हैं) अनिष्ट करने से तथा इष्ट का नाश करने से मानसिक दुःख अर्थात् दौर्मनस्य उत्पन्न होता है। इसलिए ऐसा करनेवाले के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार

दौर्मनस्य रूपी पुष्टिकारक भोजन को प्राप्त कर वलिष्ठ बना द्वेषरूपी शत्रु मुझे नष्ट कर रहा है ।

तस्माद् विघातयिष्यामि तस्याशनमहं रिपोः ।

यस्मान्न मद्बधादन्यत् कृत्यमस्यास्ति वैरिणः ॥ ८ ॥

दे'बु'स'स'न'म'स'न'स'न'स'न' ।

स'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न' ।

स'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न' ।

स'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न' ।

इसलिए मैं उस वैरी (द्वेष) को पुष्ट करनेवाले भोजन (दौर्मनस्य) का ही पहले नाश कर दूँगा, जिससे वह नष्ट हो जाए । क्योंकि मेरे नाश के अलावा उस शत्रु (द्वेष) का अन्य कोई दूसरा काम ही नहीं है ।

इस प्रकार द्वेष के दोषों को जानकर उसकी प्रतिपक्षभूत क्षान्ति की भावना करनी चाहिए । क्षान्ति भी तीन प्रकार की होती है, यथा— (१) दुःखाधिवासन क्षान्ति, (२) परापकारमर्षण क्षान्ति और (३) धर्मनिध्यान क्षान्ति ।

(१) दुःखाधिवासन क्षान्ति

अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया ।

दौर्मनस्येऽपि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहोयते ॥ ९ ॥

स'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न' ।

स'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न' ।

स'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न' ।

स'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स'न' ।

(अनिष्ट के आगमन से होनेवाले दुःख से डर (भय) तथा इष्ट के नाश की आशंका से सुख के प्रति आसक्ति—इन दोनों से दौर्मनस्य (मानसिक दुःख) तथा उससे द्वेष उत्पन्न होता है । इसलिए सुख के प्रति अनासक्ति और दुःख से भयभीत न होना ही इस (क्षान्ति) का उपाय है । अतः जो ये शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास आदि आध्यात्मिक भाव हैं, उन्हें सहन कर लेना ही दुःखाधिवासन क्षान्ति है) ।

कथञ्चिल्लभ्यते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः ।

दुःखेनैव च निःसारश्चेतस्तस्माद् दृढोभव ॥ १२ ॥

नरे'नरे'सु'रि'रे'र'र'र'र'र'र' । ।

सु'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' । ।

सु'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' । ।

रे'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' १३ ।

बड़ा प्रयत्न करके किसी तरह कभी सुख की उपलब्धि होती है। दुःख तो बिना प्रयत्न के सर्वदा सुलभ ही है। (जब दुःख की यह स्थिति है तो उसे स्वीकार करके उससे लाभ उठाना चाहिए) संसार से मुक्ति भी दुःख के बिना नहीं होती। इसलिए हे चित्त, दुःख का अनुभव करने के लिए दृढ़ हो जाओ अर्थात् दैन्य मत धारण करो।

इसलिए दुःख क्योंकि महान् अर्थ को सिद्ध करनेवाला है, अतः उसे सहन करना ही उचित है।

दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदनाम् ।

वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थमहं कस्मात्तु कातरः ॥ १३ ॥

र'र'र'र'र'र'र'r'र'r' । ।

र'र'र'र'r'r'र'र'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' १३ ।

दुर्गा के पुत्र अर्थात् भक्त और कर्णाटक आदि प्रदेश में उत्पन्न दाक्षिणात्य लोग मुक्ति की इच्छा से या नाम के लिए निर्जल उपवास, देह को अग्नि से दागना, काटना आदि अनेकविध वेदनाओं (पीडाओं) को जब निरर्थक ही सहते हैं तो अपने और दूसरों के हितसाधक बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए उद्यत मुझे क्यों दुःखों से घबड़ाना चाहिए ?

न किञ्चिदस्ति तद् वस्तु यदभ्यासस्य दुष्करम् ।

तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा ॥ १४ ॥

गौमस'न'सु'वर'सि'दगु'र'वर्ग। ।
 द'स'दे'म'द'य'द'य'द'स'य'व। ।
 दे'न'स'म'वे'द'स'कु'द'गौमस'व'स। ।
 म'वे'द'स'के'व'स'वे'द'स'सु'स। १८ ।

(दुनियाँ में) ऐसी कोई (शस्त्र-शास्त्र--कला-कौशल आदि) वस्तु नहीं है, जो अभ्यास करने पर दुष्कर रह जाए। अर्थात् अभ्यास द्वारा कठिन से कठिन काम भी सुकर हो जाता है। इसलिए अल्प, अल्पतर, अल्पतम दुःखों (व्यथाओं) को सहन करने का क्रमशः अभ्यास करते रहने पर (नारकीय) महाव्यथाएँ भी सहन करने योग्य (सह्य) हो जाती हैं।

उद्दंशदंशमशकक्षुत्पिपासादिवेदनाम् ।
 महत् कण्डवादिदुःखं च किमनर्थं न पश्यसि ॥ १५ ॥

सु'द'द'स'सु'द'द'स'द'द'। ।
 म'स'स'स'स'स'स'स'स'स'। ।
 म'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'। ।
 दे'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'। १९ ।

जंगल में डँसने वाले डांस, मच्छर, भूख-प्यास आदि की वेदना तथा खुजली (फोड़े-फुन्सी) आदि महान् दुःखों और अनर्थों को अभ्यास से सहे जाते हुए क्या नहीं देखते हो ?

शीतोष्णवृष्टिवाताध्वव्याधिबन्धनताडनैः ।
 सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा ॥ १६ ॥

क'स'क'द'द'स'स'स'स'। ।
 द'द'द'द'द'द'द'द'द'द'। ।
 म'स'स'स'स'स'स'स'स'स'। ।
 दे'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'। २० ।

मामस'मस'सुमा'वसुमा'मुद'यद'र्ग। ।

सोमस'गु'रव'दद'ज्ञेमा'सि'गु। ।

ज्ञे'मोद'स'दम'स'द'मा'यु'द'मुद'य'। ।

मा'यु'द'मुद'य'ज्ञे'म'ग'द'स'म'द'। १७ ।

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह दुःख पड़ने पर भी चित्त की प्रसन्नता में विकार न आने दे, क्योंकि क्लेशों (राग, द्वेष आदि) के साथ युद्ध छिड़ गया है और युद्ध में पीडा होना स्वाभाविक है।

उरसारातिघातान् ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन् ।

ते ते विजयिनः शूराः शेषास्तु मृतमारकाः ॥ २० ॥

सुमा'वसुमा'मस'स'उ'द'मुद'य'द'म'स'। ।

ज्ञे'म'द'स'सो'म'स'द'मा'द'म'स'। ।

द'द'मा'मु'द'मुद'य'द'म'स'। ।

ज्ञे'म'द'स'सो'म'स'द'मा'द'म'स'। २० ।

युद्ध में सम्मुख स्थित शत्रुओं के प्रहारों को छाती पर झेलते हुए जो उन पर विजय प्राप्त करते हैं, वास्तव में वे ही शूरवीर एवं विजयशाली कहलाते हैं। बाकी के (छल-कपट के साथ विजय प्राप्त करने वाले) लोग तो मृत (मुर्दे) को मारनेवाले हैं।

गुणोऽपरश्च दुःखस्य यत् संवेगान्मदच्युतिः ।

संसारिषु च कारुण्यं पापाद् भीतिर्जिने स्पृहा ॥ २१ ॥

ग'ग'द'स'सुमा'वसुमा'मु'द'य'द'म'स'। ।

ज्ञे'म'द'स'सो'म'स'द'मा'द'म'स'। ।

द'द'मा'मु'द'मुद'य'द'म'स'। ।

ज्ञे'म'द'स'सो'म'स'द'मा'द'म'स'। २१ ।

दुःख के अन्य अनेक गुण भी हैं। दुःख के कारण संसार के प्रति संवेग (यह संसार एक क्षण भी रहने योग्य नहीं है—इस प्रकार का वैराग्य) उत्पन्न होता है।

संवेग से (धन, यौवन आदि से उत्पन्न) घमण्ड का नाश (निरभिमानता) होता है, संसारदुःख से पीड़ित प्राणियों के प्रति करुणा उत्पन्न होती है, (यह सारा दुःख पाप का फल है—ऐसा सोचकर) पाप करने से भय उत्पन्न होता है तथा भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न होती है (क्योंकि एक-मात्र भगवान् बुद्ध ने ही दुःख के नाश का मार्ग बतलाया है) ।

पित्तादिषु मे न कोपो महादुःखकरेष्वपि ।

सचेतनेषु किं कोपः तेऽपि प्रत्ययकोपिताः ॥ २२ ॥

मल्लिख'म'ल'सोम'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ।

म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ।

सोम'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ।

मे'न'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ३३ ।

(वात, पित्त और श्लेष्मा याने कफ) ये तीनों धातु हैं, क्योंकि सम अवस्था में रहने पर ये शरीर को धारण करते हैं । किन्तु आहार-विहार में व्यतिक्रम (गड़बड़ी) होने पर जब इनमें विषमता आ जाती है तो अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, इस प्रकार) महान् दुःखों के कारण होने पर भी मुझ में पित्त-आदि के प्रति क्रोध उत्पन्न नहीं होता । (क्योंकि ये अचेतन हैं, सोच-समझ कर दुःख नहीं देते, अपितु हेतु-सामग्री के कारण कुपित होने पर दुःख के कारण होते हैं) यदि ऐसा है तो सचेतन प्राणियों के प्रति मुझ में क्यों क्रोध उत्पन्न होता है ? वे भी पूर्व कर्मों के कारण उस प्रकार की हेतु-सामग्री से कुपित होकर दुःखदायी होते हैं । (इसलिए पित्त-आदि के समान उन पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए) ।

अनिष्यमा मप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा ।

अनिष्यमाणोऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा ॥ २३ ॥

म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ।

म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ।

मे'न'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ।

मे'न'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल'सु'म'ल' ३३ ।

जैसे नहीं चाहने पर भी पित्त-आदि की वजह से शूल (दर्द) उत्पन्न होता है, वैसे ही नहीं चाहने पर भी दौर्मनस्य आदि प्रत्यय-सामग्री के कारण हठात् क्रोध उत्पन्न होता है । (अर्थात् हेतु-प्रत्यय सामग्री के कारण उत्पन्न होना—इन दोनों में समानता है । (अतः प्राणियों पर नहीं, अपितु क्लेशों पर कुपित होना चाहिए) ।

कुप्यामीति न सञ्चिन्त्य कुप्यति स्वेच्छया जनः ।

उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च ॥ २४ ॥

सिं'वर'सु'लेख'म'वसमस'गु' । ।

श्ले'म'कमस'के'सु'वर'सि । ।

म'श्ले'वर'सु'लेख'म'वसमस'गु' । ।

सिं'वर'म'लेख'श्ले'वर'म'गु' ३० ।

‘क्रोध करूंगा’—ऐसा बुद्धिपूर्वक सोचकर स्वेच्छा से कोई व्यक्ति क्रोध नहीं करता । इसी तरह ‘उत्पन्न होऊंगा’—इस अभिप्राय से स्वतन्त्रतापूर्वक क्रोध भी उत्पन्न नहीं होता ।

अपितु वैसी-वैसी हेतु-प्रत्यय सामग्री के होने पर प्रतीत्यसमुत्पाद नियम के अनुसार वैसा-वैसा फल उत्पन्न होता है । अतः क्रोध करनेवालों पर कुपित नहीं होना चाहिए ।

ये वे चिदपराधाश्च पापानि विविधानि च ।

सर्वं तत्प्रत्ययबलात् स्वतन्त्रां तु न विद्यते ॥ २५ ॥

लेख'म'के'श्ले'म'वसमस'उ'द' । ।

श्ले'म'कमस'म'श्ले'म'वसमस' । ।

रे'गु'वर'लेख'सु'म'वसमस'गु' । ।

म'रे'गु'वर'लेख'सु'म'वसमस' ३१ ।

जितने भी प्रकार के अपराध होते हैं और जो विविध प्रकार के पाप होते हैं, वे सब हेतु-प्रत्ययों के बल से होते हैं । स्वतन्त्र इस जगत् में कोई वस्तु नहीं है ।

सभी प्रकार के उत्पाद के पीछे प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम कार्य करता है । स्वतन्त्र प्रवृत्ति (बिना हेतुप्रत्यय की अपेक्षा किए अपनी ओर से निरपेक्षतया प्रवृत्ति) किसी की भी नहीं है ।

न च प्रत्ययसामग्र्या जनयामीति चेतना ।

न चापि जनितस्यास्ति जनितोऽस्मीति चेतना ॥ २६ ॥

गुणैर्द्वयस्यैकस्यैव देवस्य गुणः ।

संज्ञेयस्यैव गुणैर्द्वयस्यैव देवस्य ।

देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव ।

देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव ॥ २७ ॥

प्रत्यय-सामग्री में भी 'मैं कार्य को उत्पन्न कर रही हूँ'—इस प्रकार की चेतना नहीं होती है और न तो उत्पन्न कार्य में ही 'मैं हेतु-प्रत्यय सामग्री से जनित हूँ'—इस प्रकार की चेतना होती है ।

सभी पदार्थ (धर्म) निर्व्यापार होते हैं । 'इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है'—इस तरह सारा जगत् इस (इदम्प्रत्ययतामात्र या प्रतीत्यसमुत्पाद) नियम से परिचालित है । यहाँ कोई भी वस्तु या व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है । सभी हेतु-प्रत्यय के अधीन हैं ।

यत् प्रधानं किलाभीष्टं यत्तदात्मेति कल्पितम् ।

तदेव हि भवामीति न सञ्चिन्त्योपजायते ॥ २७ ॥

यत्तदेव देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव ।

देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव ।

देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव ।

देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव देवस्यैव ॥ २८ ॥

(जो आप सांख्य लोगों को) प्रधान (अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस की साम्यावस्था प्रकृति) अभिमत (इष्ट) है और (जो नैयायिक वैशेषिक लोगों ने नित्य) आत्मा की कल्पना की है, वे भी स्वयं 'मैं उत्पन्न होता हूँ'—ऐसा सोचकर उत्पन्न नहीं होते ।

१. तस्मान्निर्व्यापारतया सर्वधर्माणाम्, अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते, इति इदम्प्रत्ययतामात्रमिदं जगत्, नात्र कश्चित् स्वतन्त्रः सम्भवति, हेतु-प्रत्ययाधीनत्वात् सर्वधर्माणाम् । द्र० — बोधिचर्यावितारपंजिका, प्रज्ञाकरमतिविरचिता, पृ० ८७ ।

अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितुं तदा ।

विषयव्यापृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते ॥ २८ ॥

संज्ञेसां सत्त्वं हि ते नो न ।

हे क्वे संज्ञे सत्त्वं नो न ।

युक्तं सत्त्वं नो न ।

नाना सत्त्वं नो न । ३८ ।

(प्रकृति, पुरुष, आत्मा आदि क्योंकि नित्य होने से उत्पन्न नहीं होते, अतः) जो अनुत्पन्न है, वह (वन्ध्यापुत्र आदि तरह) नहीं (अर्थात् असत्) है, तब होने की इच्छा ही कौन करेगा ?

[यदि सांख्य कहे कि कोई भी असत् उत्पन्न नहीं होता, अपि तु सत्कार्यवाद के अनुसार सभी पदार्थ उत्पन्न होने के पहले सत् ही होते हैं । किन्तु वे जो पहले अव्यक्त होते हैं, बाद में कारण-सामग्री की वजह से व्यक्त हो जाते हैं और इसी को हम 'परिणाम' भी कहते हैं । आचार्य (शान्तिदेव) का कहना है कि यदि ऐसा है तो यह जो अभिव्यक्ति या परिणाम है, उसे भी पहले से ही सत् होना चाहिए, क्योंकि आपके सत्कार्यवाद के अनुसार (अभिव्यक्ति या परिणाम आदि) जो भी कार्य होता है, वह पहले से ही सत् होता है । तब आप यह नहीं कह सकते कि पहले वह अनभिव्यक्त था और बाद में अभिव्यक्त हो गया । वस्तु (पदार्थ) और उसकी अभिव्यक्ति (या परिणाम) ये दोनों यदि एक-स्वभाव हैं तो कारण-सामग्री द्वारा अभिव्यक्ति के उत्पन्न होने पर वस्तु की भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी (अर्थात् दोनों की असद्-उत्पत्ति माननी पड़ेगी) । यदि आप कहें कि वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति एक-स्वभाव नहीं हैं, अपि तु दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाववाले हैं तो उन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं बनेगा । तब अभिव्यक्ति के उत्पन्न होने पर भी वस्तु अभिव्यक्त न हो सकेगी । यदि वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति दोनों के बीच में किसी तीसरे सम्बन्ध की कल्पना करेंगे तो अनवस्था दोष होगा ।

यदि पुनः सांख्य कहे कि आपने ऊपर प्रकृति (प्रधान) के बारे में जो दोष दिए हैं, वे हमारे पुरुष-पक्ष में लागू नहीं होते, क्योंकि पुरुष (आत्मा) नित्य होता है, अतः उसका कभी उत्पाद होता ही नहीं ?

१. विस्तार से सांख्य दर्शन के खण्डन के लिए ९ वें परिच्छेद की १२७ से १३८ तक की कारिकाएं देखें ।

इस पर आचार्य का कहना है कि नित्य आत्मा (पुरुष) तो जगद्विपाण (या बन्ध्यापुत्र) की तरह असत् होगा, क्योंकि उसका हेतु-प्रत्ययों से उत्पाद ही नहीं होता। बौद्धों के अनुसार अस्तित्व उसी वस्तु का होता है, जो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हो अर्थात् नित्य न हो। किसी तरह थोड़ी देर के लिए उसका अस्तित्व मान भी लिया जाए तो भी स्थिति यह है कि उसका अपने ऊपर भी स्वामित्व (प्रभुत्व) नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति द्वारा लाए गए (उपस्थापित) विषयों का ही भोग करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृति द्वारा लाए गए विषयों के भोग के पहले उसमें भोक्तृत्व भी नहीं था, बाद में भोक्तृत्व उत्पन्न हुआ। फिर उस भोक्तृत्व और पुरुष का स्वभाव एक मानना पड़ेगा, नहीं तो उसका भोक्तृत्व नहीं बनेगा। फलतः भोक्तृत्व के उत्पाद के साथ-साथ उस (पुरुष) का भी उत्पाद मानना पड़ेगा। तब आप कैसे कहते हैं कि नित्य होने से उसका उत्पाद नहीं होता।

यद्यपि आप यह मानते हैं कि प्रकृति के द्वारा लाए गए विषयों के उपभोग के लिए पुरुष प्रवृत्त होता है, किन्तु जो पहले प्रवृत्त नहीं है, उसकी बाद में भी प्रवृत्ति युक्ति-युक्त नहीं है। यदि किसी तरह मान भी लिया जाए कि]

वह विषय में व्यापृत है अर्थात् विषय में प्रवृत्त होने की क्रिया उसमें होती है तो फिर उसकी विषयभोग से निवृत्ति सम्भव नहीं होगी [क्योंकि विषयभोग में प्रवृत्ति उसका स्वभाव हो जाएगा और क्योंकि वह नित्य है, अतः उसका प्रवृत्तिस्वभाव भी नित्य ही होगा। यदि आप कहें कि विषयभोग से निवृत्ति होगी तो प्रवृत्तिस्वभाव से निवृत्तिस्वभाव में परिवर्तन होने के कारण उसे अनित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि परिवर्तन अनित्य वस्तु का धर्म होता है। नित्य में किसी तरह के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं होती। नैयायिक-वैशेषिकों का आत्मा भी नित्य ही होता है।

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत् स्फुटमक्रियः ।

प्रत्ययान्तरसङ्गेषि निर्विकारस्य का क्रिया ॥ २९ ॥

उ'ह्ये'वदमा'दे'दमा'व'वै ।

मास'म'वै'व'सु'द'म'मे'द'म'म'व'वै ।

गु'व'व'म'म'म'व'व'द'म'मे'द'म'म'व'वै ।

म'म'म'म'मे'द'म'मे'द'म'मे'द'म'मे'द' ३० ।

(न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार) आत्मा नित्य है, अचेतन है। (सांख्य से इनकी यह विशेषता है। सांख्य आत्मा को चेतन मानते हैं और ये अचेतन। इनके

अनुसार अन्य चैतन्य (चेतना) के योग से आत्मा में चेतनता आती है। स्वभाव से वह जड़ है)। आत्मा क्योंकि आकाश के समान व्यापक है और इसीलिए वह क्रियारहित है।

नित्य—पहले और पीछे (बाद में) जिसका स्वभाव एक समान रहे, उसे नित्य कहते हैं।

[यदि वह नित्य है तो उसमें किसी भी तरह की क्रिया सम्भव नहीं है। अर्थात् किसी भी कार्य की उत्पत्ति में वह उपकारी नहीं हो सकता।

यदि नैयायिक कहे कि अन्य दूसरे सहकारी कारणों से उस निष्क्रिय में भी क्रिया करने की सामर्थ्य आ जाती है ?

आत्मा नित्य है। नित्य का अर्थ है, जिसके स्वभाव में परिवर्तन न हो। ऐसी में ज्ञान, प्रयत्न आदि] अन्य सहकारी कारणों से भी निर्विकार उस नित्य आत्मा में क्रिया कैसे होगी ? अर्थात् क्रिया युक्त नहीं है।

यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृतम् ।

तस्य क्रियेति सम्बन्धे कतरत्तन्निबन्धनम् ॥ ३० ॥

सुद'सद'के'अ'सु'सु'सु'सु' ।

सुद'सद'के'अ'सु'सु'सु'सु' ।

दे'अ'सु'सु'सु'सु'सु'सु' ।

सुद'सद'के'अ'सु'सु'सु'सु' ३० ।

जो आत्मा नित्य होने के कारण क्रिया से पूर्व (अक्रिया) काल में जैसा (क्रियारहित) है, वैसा ही क्रिया काल में भी निष्क्रिय ही होगा, ऐसी स्थिति में सहकारी प्रत्ययों से योग होने पर भी उसके द्वारा क्रिया का क्या उपकार होगा ? (अर्थात् उसके द्वारा क्रिया का कुछ नहीं होगा^१)। फलतः सहकारी कारणों से भी उसमें क्रिया की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अपि च, क्रिया और आत्मा में किसी तरह का सम्बन्ध

१. नित्यं प्रमाणं नैवास्ति प्रामाण्याद् वस्तुसद्गतेः ।

ज्ञेयानित्यतया तस्या अध्रौव्यात् क्रमजन्मनाम् ॥

नित्यादुत्पत्तिविश्लेषादपेक्षाया अयोगतः ।

कथञ्चिन्नोपकार्यत्वात्

दृ० --- प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसिद्धि, १:१०-११, पृ० ९-१० (बौद्धभारती-संस्करण) ।

न वन पाने के कारण 'यह आत्मा की क्रिया है'—ऐसा सम्बन्ध स्थापित करने का क्या निमित्त होगा ? अर्थात् कोई निमित्त न हो सकेगा ।

इसलिए किसी का भी स्वतन्त्र होना सम्भव नहीं है^१ ।

एवं परवशं सर्वं यद्वशं सोऽपि चावशः ।

निर्माणवदच्चेष्टेषु भावेऽप्येवं क्व कुर्यते ॥ ३१ ॥

दे'हृ'र'प्रम'स'उ'र'म'व'श'मि'द'व'द' । ।

दे'अ'द'व'द'मि'स'दे'द'व'द'मे'द' । ।

दे'हृ'र'मे'स'व'स'सु'म'हृ'सु'द' । ।

दे'स'म'गु'व'म'मि'मे'द'गु'र' ३१ ।

इस प्रकार (उपर्युक्त नय के अनुसार बाह्य, आध्यात्मिक) सभी वस्तुएं हेतु-प्रत्ययाधीन (परवश) हैं । वस्तुएं (कार्य) जिस (हेतु-प्रत्यय) के अधीन हैं, वे (हेतु-प्रत्यय) भी स्वतन्त्र नहीं हैं (अर्थात् वे भी अपने हेतु-प्रत्यय के अधीन हैं) । इसलिए क्योंकि सभी धर्म निर्मित (माया से रची गई वस्तु) के समान वस्तुतः व्यापाररहित (निश्चेष्ट) हैं, अतः परमार्थतः कौन किस पर क्रोध कर सकता है ।

हेतु-प्रत्ययों की अनादि परम्परा होने के कारण जब कोई स्वतन्त्र कर्ता (कारक) नहीं है, सभी धर्म मनोनिर्मित पुरुष की भाँति निर्व्यापार हैं, तो ऐसी स्थिति में किसी का किसी अपराध के लिए किसी अपराधी पर द्वेष करना वास्तव में युक्त नहीं है । इसलिए बुद्धिमानों द्वारा कोप करना युक्त नहीं है ।

वारणापि न युक्तैवं कः किं वारयतीति चेत् ।

युक्ता प्रतीत्यता यस्माद् दुःखस्योपरतिर्मता ॥ ३२ ॥

म'द'मि'स'म'द'वि'म'म'हृ'म'सु'द' । ।

म'हृ'म'म'द'मि'स'म'म'व'वि'व' । ।

दे'म'म'हृ'व'स'सु'म'म'हृ'म'सु'द' । ।

सु'व'क'द'गु'र'म'मे'मे'म'मे'द' ३२ ।

१. स्वतन्त्र आत्मा के निराकरण के लिए ९वें परिच्छेद की ५८-६० कारिकाएं तथा ईश्वर के निराकरण के लिए उसी परिच्छेद की ११९-१२६ कारिकाएं देखें !

उपर्युक्त प्रकार से (प्रत्ययाधीन होने के कारण किसी के स्वतन्त्र न होने से जब कहीं प्रवृत्ति युक्त नहीं है तो निर्मितवत् निर्व्यापार पदार्थों की किसी से) निवृत्ति भी युक्तियुक्त नहीं है। इस स्थिति में कौन (स्वतन्त्र कर्ता) किस (स्वतन्त्र-तया प्रवृत्त व्यक्ति) को किस (स्वतन्त्र निषेध्य) से निवृत्त करता है ? अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या दोनों युक्त नहीं हैं ? यदि ऐसा प्रश्न किया जाए तो —

(सभी पदार्थों के माया के समान, निर्मित के समान निर्व्यापार होने पर भी 'इसके होने पर यह होता है'—इस प्रकार की उनमें) क्योंकि इदम्प्रत्ययता (प्रतीत्यसमुत्पाद) युक्तियुक्त है, अतः दुःखात्मक संसार की निवृत्ति सम्भव है।

यद्यपि सभी धर्म निर्व्यापार, निश्चेष्ट हैं, फिर भी उनमें प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम लागू है, सभी हेतु-प्रत्ययाधीन हैं। इसीलिए 'एवं परवशं सर्वम्' ऐसा ऊपर की कारिका में कहा गया है^१। इसीलिए 'अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान'—इस प्रकार का अनादि काल से संसार का प्रवाह चल रहा है और पूर्व पूर्व की निवृत्ति से अर्थात् 'अविद्या की निवृत्ति से संस्कार की, संस्कार की निवृत्ति से विज्ञान की निवृत्ति'—इस प्रकार सम्पूर्ण दुःखमय संसार की निवृत्ति सम्भव होती है। इसलिए द्वेष आदि से निवृत्ति युक्तियुक्त है और इस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति सम्भव है।

तस्मादमित्रं मित्रं वा दृष्ट्वाप्यन्यायकारिणम् ।

ईदृशाः प्रत्यया अस्थेत्येवं मत्वा सुखी भवेत् ॥ ३३ ॥

दे'मस'दस'दस'मस'द'म'द'द' ।

म'दे'म'स'दे'म'स'दे'म'स'दे'म'स' ।

द'दे'द'द'दे'म'स'स'दे'म'स' ।

दे'म'स'स'म'स'दे'म'स'स'म'स' ३३ ।

(क्योंकि सभी सापेक्ष, सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं) इसलिए किसी भी अन्याय (अपकार) करने वाले शत्रु या मित्र को देखकर इसके (भीतर अपकार करने के) ऐसे ही हेतु-प्रत्यय हैं (इसलिए यह ऐसा आचरण कर रहा है), ऐसा सोचकर (व्यक्ति के प्रति द्वेष न करके) सुख का ही आलम्बन करना चाहिए ।

१. द्र० — ६ : ३१ प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६८ ।

यदि तु स्वैच्छया सिद्धिः सर्वेषामेव देहिनाम् ।
न भवेत् कस्यचिद् दुःखं न दुःखं कश्चिदिच्छति ॥ ३४ ॥
गण'५'२८'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

५गण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ३८ ।

इच्छामात्र से (अर्थात् अहेतुक) अभिमत की सिद्धि (और अनिष्ट की निवृत्ति) नहीं होती । यह नियम सभी प्राणियों पर लागू है । यदि ऐसा होता (अर्थात् इच्छामात्र से इष्ट-सिद्धि और अनिष्ट निवृत्ति होने लगती) तो किसी प्राणी को दुःख नहीं होता, क्योंकि कोई भी दुःख की इच्छा नहीं करता है । सभी प्राणी अपने सुख के अभिलाषी ही होते हैं ।

(२) परापकारमर्षण क्षान्ति

प्रमादादात्मनात्मानं बाधन्ते कण्टकादिभिः ।

भक्तच्छेदादिभिः कोपाद् दुरापस्त्र्यादिलिप्सया ॥ ३५ ॥

उद्बन्धनप्रपातैश्च विषापथ्यादिभक्षणैः ।

निघ्नन्ति केचिदात्मानमपुण्याचरणेन च ॥ ३६ ॥

यदेवं क्लेशवश्यत्वाद् घ्नन्त्यात्मानमपि प्रियम् ।

तद्वेषां परकायेषु परिहारः कथं भवेद् ॥ ३७ ॥

गण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ३९ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ।

गुण'५२'५गण'५गुण'५गुण'५ ३७ ।

मम'क'उ'व'म'द'स'द'म'द'स' ।

मम'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

दे'के'दे'द'म'म'म'म'म' ।

मम'म'म'म'म'म'म'म'म' । ३७ ।

बिना सोचे-समझे काम करने वाले प्रमादी लोग काँटे-कंकड़ आदि से अपने शरीर को अपने ही द्वारा बाधा (पीडा) पहुँचाते हैं । तथा कुछ लोग कोप से अथवा अगम्य परस्त्री और धन आदि के लोभ से भोजन-पानी छोड़कर अपने को सताते हैं ।

फाँसी लगाकर, पर्वत आदि से गिर कर, विष या अन्य अपथ्य आदि का भक्षण कर या पाप (अपुण्य) का आचरण कर कुछ अज्ञानी लोग आत्मघात करते हैं ।

उक्त प्रकार से जब क्लेश (द्वेष, मोह आदि) के वशीभूत होकर ये प्राणी अपने प्रिय आत्मा को पीड़ित करते हैं तो दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करने से कैसे विरत होंगे ?

क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेषु प्रवृत्तोऽवात्मघातने ।

न केवलं दया नास्ति क्रोध उत्पद्यते कथम् ॥ ३८ ॥

उ'व'म'द'स'म'म'म'म'म' ।

मम'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ३८ ।

क्लेशों के द्वारा उन्मत्त (विक्षिप्त) बनाए जाने के कारण आत्मघात में प्रवृत्त ऐसे लोगों के प्रति केवल दया न की जाए, इतना भी युक्त नहीं (अपितु बोधिसत्त्वों की उनके प्रति उदासीनता भी ठीक नहीं), तो फिर दया के पात्र उन लोगों के प्रति क्रोध कैसे हो सकता है ? (यदि होता है तो यह बड़ा उल्टा (विपरीत) होगा) ।

यदि स्वभावो बालानां परोपद्रवकारिता ।

तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके ॥ ३९ ॥

[जिस कार्य का जो कारण है, उस कारण से वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है, अन्य से नहीं—ऐसा सोचकर कोप न करे]

उस अपकार करने वाले का शस्त्र और मेरा शरीर—ये दोनों दुःख के कारण हैं (कारण होने पर कार्य अवश्य होगा, नहीं तो कारण कारण ही नहीं कहलाएगा) । उसने शस्त्र का और मैंने शरीर का ग्रहण किया है । अतः किस पर कोप किया जाए ?

यदि कारण को प्रस्तुत करनेवाले के ऊपर आप क्रोध करते हैं तो आपको अपने ऊपर भी कोप करना चाहिए, क्योंकि आप भी एक कारण (शरीर) को धारण करते हैं । यदि आप अपने पर कोप नहीं करते तो आपका दूसरे पर कोप करना भी उचित नहीं है ।

गण्डोऽयं प्रतिमाकारो गृहीतो घट्टनासहः ।

तृष्णान्धेन मया तत्र व्यथायां कुत्र कुप्यते ॥ ४४ ॥

सु'म'ख'य'म'हृण'स'५'म ।

रे'म'५'ख'म'३'५'सु'म'स'५'५' ।

सु'५'५'५'स'५'म'५'स'५'५'५'५' ।

रे'५'म'५'५'५'स'५'५'५'५' ८८ ।

शरीर के आकार वाला, ताडन-पीडन आदि को सहन करने वाला यह फोड़ा मैंने धारण किया है । दुःख के परिहार और सुख की प्राप्ति की तृष्णा के द्वारा जिसके प्रज्ञारूपी नेत्र विकृत कर दिए गए हैं, ऐसे मुझ अन्धे के द्वारा उस (शरीर) में व्यथा (पीड़ा) होने पर मेरे द्वारा किसके ऊपर कोप किया जाता है ? अर्थात् फोड़े में दीवार, दरवाजा आदि का धक्का लग जाने पर विवेकी पुरुष द्वारा किसी पर भी कोप नहीं किया जाता ।

दुःखं नेच्छामि दुःखस्य हेतुमिच्छामि बालिशः ।

स्वापराधागते दुःखे कस्मादन्यत्र कुप्यते ॥ ४५ ॥

सु'स'५'सु'म'स'५'५'५'५'५'५' ।

सु'म'स'५'५'५'५'५'५'५'५' ।

५'५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ।

म'५'५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ८९ ।

བདག་གི་ལས་ཀྱིས་བསྐྱེད་བྱས་ནས། །

བདག་ལ་གཞིན་བྱེད་ནམས་འབྱུང་ཏེ།

དེས་ནི་སེམས་ཅན་དབྱུང་འདོད་ན། །

བདག་གིས་དེ་དག་མ་བརྒྱུག་གམ། ༥༧ །

मेरे ही कर्म (अपकार) से प्रेरित होकर ये मेरा अपकार करनेवाले (प्रत्यपकारी) होकर नरक में उत्पन्न होंगे । एक प्रकार से मैंने ही इन प्रत्यपकारियों को नष्ट (हत) किया है (न कि इन प्रत्यपकारियों द्वारा मैं हत हुआ हूँ) ।

यदि मैं इस प्रकार का कर्म न करता तो ये भी मेरे इस प्रकार अपकारी न हुए होते। अतः इस सब के लिए मेरे कर्म ही उत्तरदायी हैं।

एतानाश्रित्य मे पापं क्षीयते क्षमतो बहु ।

सामाश्रित्य तु यान्त्येते नरकान् दीर्घवेदनान् ॥ ४८ ॥

अहमेवापकार्येषां समैते चोपकारिणः ।

कस्माद् विपर्ययं कृत्वा खलचेतः प्रकुप्यसि ॥ ४९ ॥

འདི་དག་ལ་ནི་བ་དྲིན་བཅས་ནས།

བཟེད་པས་བདག་མིག་མང་དུ་འབྱུང་།

བདག་ལ་བདེན་ནས་དེ་དག་ནི།

ཡུན་རིང་སྐྱུག་བསྐྱེལ་དཔྱུལ་བར་འདོང་། ༧༤ །

བདག་ཉི་དེ་ལ་གནོད་བྱེད་ལ།

དེ་དག་བདག་ལ་ཕྱག་འདོགས་ན།

ཕྱིན་ཅི་ལོག་ཏུ་ཅི་ཡི་ཕྱིར།

མ་རྒྱུ་མ་མེས་མེས་ཁྱེད་ཁྱོད་བར་བྱེད། ༥༧ །

क्षमा करने से इनके सहारे मेरे ढेर सारे पाप कट जाते हैं। किन्तु मेरी वजह से (मेरा अपकार करने से) ये (प्रत्यपकारी) तीव्र वेदनादायक नरकों में जाते हैं।

एक प्रकार से मैं ही इनका अपकारी हूँ और ये मेरे उपकारी हैं। फिर उलटा सोचकर (उपकारियों को अपकारी समझ कर) ऐ मेरे मन, तुम क्यों इन पर कुपित होते हो।

भवेन्ममाशयगुणो न यामि नरकान् यदि ।

एषामत्र किमायातं यद्यात्मा रक्षितो मया ॥ ५० ॥

नाम० ५० वदना० वदना० वदना० ।

वदना० वदना० वदना० वदना० ।

नाम० ५० वदना० वदना० वदना० वदना० ।

वदना० वदना० वदना० वदना० । ५० ।

यदि मैं अपकारी हूँ तो मुझे ही नरक में जाना चाहिए, इनको नहीं ? इसके समाधान हेतु आचार्य कहते हैं—

यह मेरे चित्त का माहात्म्य है कि मैं नरक में नहीं जाता हूँ। इससे इनकी क्या क्षति है, जो मैंने अपने आत्मा की रक्षा कर ली ।

आशय यह है कि अपकारी होते हुए भी किसी क्षान्तिरूपी उपायकौशल को अपना कर यदि मैं नरक में नहीं जाता हूँ, तो इससे इनकी क्या हानि है । मैंने अपनी रक्षा कर ली है ।

अथ प्रत्यपकारी स्यां तथाप्येते न रक्षिताः ।

होयते चापि मे चर्या तस्मान्नष्टास्तपस्विनः ॥ ५१ ॥

वदना० ५१ वदना० वदना० वदना० ।

वदना० वदना० वदना० वदना० ।

वदना० वदना० वदना० वदना० ।

वदना० वदना० वदना० वदना० । ५१ ।

यदि (डण्डे आदि से आघात करने वालों के प्रति) मैं प्रत्यपकारी (बदले में मैं भी आघात करने वाला) हो जाऊँ, तो भी ये रक्षित नहीं होंगे (नरक-गमन आदि उनका नहीं रुकेगा) । इस प्रकार द्वेष चित्त उत्पन्न करने से मेरी बोधिसत्त्व चर्या की ही हानि होगी । फलतः ये बेचारे तो नष्ट ही होंगे । (क्योंकि दुर्गति में पतन से इनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है) ।

अतः कोई उपाय खोजूंगा, जिससे इन्हें दुःख न हो ।

(३) धर्मनिध्यान क्षान्ति

मनो हन्तुममूर्तत्वान्न शक्यं केनचित् क्वचित् ।

शरीराभिनिवेशात्तु चित्तं दुःखेन बाध्यते ॥ ५२ ॥

अ० ५० 'सुखं उक्त्वा' अ० ५१ 'सुखं' ।

सुखं गुणं नानुभूयमानं नानुभूयमानं ।

सुखं नानुभूयमानं नानुभूयमानं ।

सुखं नानुभूयमानं नानुभूयमानं ॥ ५३ ॥

(दुःख दो प्रकार का होता है—कायिक और मानसिक । उनमें से) मन के ऊपर दण्ड (डण्डे) आदि से प्रहार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि मन अमूर्त (आकाररहित) होता है । किन्तु 'यह मेरा शरीर है'—ऐसे कल्पनाजनित अभ्यास (अभिनिवेश) के कारण काय के दुःख से चित्त बाधित (दुःखित) होता है । अर्थात् शरीर के प्रति 'यह मेरा है'—ऐसे मिथ्या अभिनिवेश के कारण चित्त दुःखी होता है ।

न्यक्कारः परुषं वाक्यमयशश्चेत्ययं गणः ।

कायं न बाधते तेन चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि ॥ ५३ ॥

सुखं नानुभूयमानं नानुभूयमानं ।

सुखं नानुभूयमानं नानुभूयमानं ।

सुखं नानुभूयमानं नानुभूयमानं ।

सुखं नानुभूयमानं नानुभूयमानं ॥ ५३ ॥

तिरस्कार, कठोर वचन, अपयश इत्यादि का समूह काय (शरीर) को तो पीड़ा नहीं पहुँचाता । फिर हे चित्त, तुम क्यों वृथा कुपित होते हो ।

यद्यपि तिरस्कार आदि काय को पीड़ा तो नहीं पहुँचाते, फिर भी दूसरे लोग मुझे तिरस्कृत, अपमानित जानकर मुझ पर अप्रसन्न होते हैं, जो मैं नहीं चाहता ?

मय्यप्रसादो योऽन्येषां स मां किं भक्षयिष्यति ।

इह जन्मान्तरे वापि येनासौ मेऽनभीप्सितः ॥ ५४ ॥

ग॒ल॒क्'द॒ग'स॒द॒ग'ल'सि'द॒ग'ल'ग' ।

दे॒स'रि'के'ल॒दि॒ल'स'के'ग॒ल॒क्'ल' ।

स॒द॒ग'ल'त्र'स'स'सि'सु॒दे'र' ।

स॒द॒ग'रि'उ'सु॒दे'र'सि'ल॒दे'र' । १८ ।

मेरे तिरस्कार आदि को सुनकर अन्य लोगों के मन में जो मेरे प्रति यह अप्रसन्नता उत्पन्न होती है, वह क्या मुझे इस जन्म में या परलोक में खा जाएगी ? जिससे कि यह अप्रसाद (अप्रसन्नता) मुझे अप्रिय लगता है ?

ऐसा सोचकर इस बारे में चिन्तित नहीं होना चाहिए ।

लाभान्तरायकारित्वाद् यद्यसौ मेऽनभीप्सितः ।

नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

छे॒द'स'दि'स'स'ल॒दे'स'सि'सु॒दे'र' ।

ग'ल'दे'ल॒दि'स॒द॒ग'सि'ल॒दे'र' ।

स॒द॒ग'सि'स'छे॒द'स'ल॒दे'र'ल॒दे'र'सु॒ ।

सु॒दे'र'स'द॒ग'रि'स॒द॒ग'स'स'ग'ल॒क्'ल' । १९ ।

लोगों की अप्रसन्नता से मेरे लाभ की हानि होती है, अतः मुझे वह (तिरस्कार आदि समूह) अप्रिय है ? (ऐसा सोचना भी उचित नहीं है, क्योंकि संसार की सभी वस्तुएं अनित्य अर्थात् विनाशस्वभाव हैं, अतः) वह लाभ भी कुछ दिनों में यहीं स्वभावतः नष्ट हो जाएगा । (परलोक में वह लाभ नहीं जाएगा, किन्तु उस तिरस्कार आदि की प्रतिक्रिया के रूप में) जो पाप किया जाएगा, वह स्थायी रहेगा । (अर्थात् वह परलोक तक जाएगा और जब तक उसका फल नहीं भोग लिया जाएगा, तब तक नष्ट नहीं होगा) ।

वरमद्यैव मे मृत्युर्न मिथ्याजीवितं चिरम् ।

यस्माच्चिरमपि स्थित्वा मृत्युदुःखं तदेव मे ॥ ५६ ॥

मरमा'की'दे'ति'ये'य'स'स'सि ।
 मे'म'र'के'स'यु'र'दे'म'स'र'मे'र' ।
 मरमा'य'यु'र'दे'म'र'स'गु'र'गु'र' ।
 र'के'म'र'स'यु'र'म'स'य'दे'ति'ये'य' । ५७ ।

यह अच्छा है कि (लाभ आदि के अभाव में) आज ही मेरी मृत्यु हो जाए, न कि (दूसरों का अपकार करके) मिथ्या आजीव (गलत कमाई) से बहुत दिन तक जीवित रहूँ । क्योंकि बहुत दिन जिन्दा रह कर भी मेरे लिए वह मृत्यु का दुःख तो अवश्यंभावी (निश्चित) ही है ।

स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं भुक्त्वा यश्च विबुध्यते ।
 मुहूर्तमपरो यश्च सुखो भूत्वा विबुध्यते ॥ ५७ ॥
 ननु (नूनं ?) निवर्तते सौख्यं द्वयोरपि विबुध्ययोः ।
 सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनोः ॥ ५८ ॥
 स'य'स'मे'म'गु'र'म'दे'ति'ये'य' ।
 स'य'स'गु'र'म'म'ग'य'ये'य' ।
 म'र'र'मे'म'यु'र'स'म'दे'ति'ये'य' ।
 स'य'स'गु'र'म'म'ग'य'ये'य' । ५७ ।
 स'य'स'दे'म'म'ग'य'ये'य' ।
 म'दे'म'दे'की'यु'र'दे'मे'य' ।
 के'दे'के'यु'र'म'ग'य'ये'य' ।
 र'के'म'र'स'य'दे'मे'य' । ५८ ।

स्वप्न में जो सौ वर्ष सुख भोग कर जागता है और जो वहाँ क्षण भर सुख भोग कर जागता है, उन दोनों जागने वालों का सुख निश्चित ही निवृत्त हो जाता है। यही उपमा अधिक काल तक और थोड़े समय तक जीवित रहने वालों की मृत्यु के काल में होने वाले दुःख के बारे में समझना चाहिए । (अर्थात् मृत्यु-दुःख दोनों के लिए समान है, अतः मिथ्या-आजीव से विरत ही रहना चाहिए) ।

लब्ध्वापि च बहूल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि ।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ॥ ५९ ॥

ཉིད་པ་མང་པོ་ཐོབ་ཀྱི་རེ།

ཡུན་རིང་རྟམ་སྤྱ་བདེ་སྤྱད་གྲང་།

ཆེས་པོས་བྲོགས་པ་ཅི་བཞིན་དུ། །

ཕྱིན་མོ་ལག་པ་སྟོང་པར་འགྱུ ༥༩ ।

ढेर सारे लाभों को प्राप्त करके एवं बहुत दिनों तक सुख भोग कर भी (जब मृत्यु आ जाएगी तब) मैं खाली हाथ (कुछ भी साथ में नहीं जाएगा, यहाँ तक कि कमर का डोरा भी हटा दिया जाएगा), अथ च, नग्न मानों चोरों ने पूरा लूट लिया हो, इस प्रकार इस लोक से परलोक में जाऊँगा ।

पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जोवन् करोमि चेत् ।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु ॥ ६० ॥

གཤམ་ཏེ་རྩེད་པས་གསོན་གྱུར་ན། །

ཕྱིག་ཟད་བསོད་ནམས་བྱ་ཞེ་ན།

ཆེད་པའི་དོན་དུ་བྱིས་གྲུང་ན།

བསོད་ནམས་ཟད་མི་ག་མི་འགྱུར་རམ། ༤༠ །

(लाभ की अन्य विशेषताएं हैं । खाने-पीने, पहिने-ओढ़ने की सुविधाएं होने के कारण जिन्दगी (आयु) लम्बी होती है, अतः) लाभों से (अधिक दिन) जीवित रहता हुआ मैं अपने पापों का क्षय और पुण्यों का अर्जन करूंगा ? यदि सोचें तो स्थिति यह है कि —

लाभ के (प्रति आसक्ति के) कारण (लाभ में विघ्न करने वालों के प्रति) क्रोध या द्वेष करते हुए मेरे पुण्यों का ही क्षय होगा और पाप की ही वृद्धि होगी ।

यदर्थमेव जीवामि तदेव यदि नश्यति ।

किं तेन जीवितेनापि केवलाशुभकारिणा ॥ ६१ ॥

माम्मीर्द्धु'सन्मा'मार्द्ध'मा ।

दे'द्ध'मा'दे'द्ध'मा'सु'मा ।

सु'मा'स'स'स'स'स'स'स' ।

मार्द्ध'मा'दे'मा'गे'ते'स'मा' ७१ ।

(फिर भी किसी तरह चिरजीवन का लाभ तो है ही ? इस पर आचार्य का कहना है—)

जिस (पुण्य और ज्ञान सम्भारों के अर्जन एवं पापक्षय) के लिए मैं जीता हूँ, उसी का नाश हो जाए तो उस प्रकार के केवल अशुभ (पाप) करने वाले जीवन से क्या लाभ ?

(बोधिसत्त्व का जीवन दूसरे लोगों के जीवन की भाँति निष्प्रयोजन नहीं होता, अपि तु पुण्य और ज्ञान सम्भारों के अर्जन के लिए होता है। यदि वह जीवन पुण्यक्षय का निमित्त बन जाए तो ऐसे जीवन से क्या लाभ ?)

अवर्णवादिनि द्वेषः सत्त्वान्नाशयतीति^१ चेत् ।

परायशस्करेऽप्येवं कोपस्ते किं न जायते ॥ ६२ ॥

मा'मा'दे'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

मा'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

दे'स'स'स'स'स'स'स'स' । ७२ ।

निन्दा करने वालों के प्रति तुम्हें इसलिए द्वेष होता है, क्योंकि वह (तुम्हारे दोषों को प्रकट करने और गुणों को छिपाने के कारण) तुम्हारा अपकार कर रहा है या वह (निन्दक) सत्त्वों (प्राणियों) का (तुम्हारे प्रति आदर और विश्वास करने वालों के चित्त में अप्रसन्नता का उत्पाद कर) अपकार करता है तो जितने भी दूसरे प्राणियों का अपयश करनेवाले दुनियाँ में निन्दक हैं, उन सब के प्रति तुम्हारे मन में क्रोध (द्वेष) क्यों नहीं पैदा होता ?

१. 'सत्त्वान्नाश' यहाँ पर सन्धि के वश से दो रूप हो जाते हैं—(१) सत्त्वान् (प्राणियों को) तथा (२) स त्वाम् (वह तुझको) । नाश का अर्थ यहाँ अपकार है । प्रज्ञाकरमति (बोधिचर्यावतार के टीकाकार) ने दोनों रूपों को सही मानकर व्याख्या की है । ब्र०—बोधिचर्यावतार, पृ० ९७ (दरभंगा-संस्करण) ।

परायत्ताप्रसादत्वादप्रसादिषु ते क्षमा ।

क्लेशोत्पादपरायत्तो क्षमा नावर्णवादिनि ॥ ६३ ॥

म'५५'म'५५'म'५५'म'५५'म'५५' ।

५५'म'५५'म'५५'म'५५'म'५५' ।

५५'म'५५'म'५५'म'५५'म'५५' ।

५५'म'५५'म'५५'म'५५'म'५५' । ५३ ।

उन अपकारियों के प्रति तो तुम्हारे मन में क्षमा का भाव है, जिन के अपकार के आश्रय या निमित्त दूसरे लोग (पर) हैं, ऐसी स्थिति में तुम्हारी निन्दा करने वाले के प्रति भी तुम्हारे मन में क्षमा क्यों नहीं है ? क्योंकि उसके द्वारा की जा रही तुम्हारी निन्दा भी क्लेशनिमित्त (परनिमित्त) से ही उत्पन्न हुई है ।

प्रतिमा-स्तूप-सद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च ।

न युज्यते मम द्वेषो बुद्धादीनां न हि व्यथा ॥ ६४ ॥

स्तु'मा'दृ'मा'स'म'५५'५५'५५'५५'५५' ।

५५'म'५५'म'५५'म'५५'म'५५' ।

५५'म'५५'म'५५'म'५५'म'५५' ।

५५'म'५५'म'५५'म'५५'म'५५' । ५४ ।

प्रतिमा (मूर्ति), स्तूप और सद्धर्म का नाश करनेवालों एवं दोषबुद्धि से विकृत कथन करनेवालों (आक्रोशक) के प्रति भी मेरा द्वेष (क्रोध) उत्पन्न करना उचित नहीं है, क्योंकि बुद्ध, बोधिसत्त्व, आर्य श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध आदि को (जिनमें आत्मदृष्टि का प्रहाण हो जाने के कारण आसक्ति का सर्वथा नाश हो गया है, उनमें ऐसे लोगों के कृत्यों से) कोई व्यथा (पीड़ा) नहीं होती ।

बल्कि धर्मविपरीत आचरण करनेवालों के प्रति कष्ट ही करना चाहिए, नहीं तो द्वेष चाहे जिसके प्रति हो, उससे पाप ही उत्पन्न होता है । हाँ, यदि उन्हें समझा-बुझा कर उन दुष्कृत्यों से रोका जा सके, तो कोई दोष नहीं है ।

गुरु-सालोहितादीनां प्रियाणां चापकारिषु ।

पूर्ववत् प्रत्ययोत्पादं दृष्ट्वा कोपं निवारयेत् ॥ ६५ ॥

སྤྱི་མ་ལ་ཉེན་ལ་སྤྱི་མ་ལ་དང་། ।

མཁེས་ལ་ལྷོད་པ་བྱེད་ནམས་ལ་དང་། ।

སྤྱི་མའི་ཚུལ་གྱི་ཉེན་དལ་ལས། ।

འགྲུར་བར་མཐོང་ནས་སྤྱི་བ་བརྩོན། ७४ ।

गुरु (धर्म का उपदेश करनेवाले और पाप से निवारण करनेवाले), कुटुम्बी जन (सगोत्र, जाति-बन्धु, जिनसे खून का रिश्ता है) एवं प्रिय जनों (आत्मीय जन, मित्र) आदि का अपकार करनेवालों के प्रति भी पूर्व की तरह (६ : २५ में कथित नीति के अनुसार) 'सभी हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है' (अर्थात् सभी अपने पूर्वकृत कर्मों का ही फल भोगते हैं—) ऐसा विचार कर क्रोध को उत्पन्न होने से रोके ।

[दूसरे धर्म-सिद्धान्तों में जो यह माना जाता है कि देव, गुरु, द्विजाति, माता, पिता आदि की स्थिति में अर्थात् उनके लिए पाप करने में कोई दोष नहीं है, वैसा इस बौद्ध मत में नहीं है] ।

चेतनाचेतनकृता देहिनां नियता व्यथा ।

सा व्यथा चेतने दृष्टा क्षमस्वैनां व्यथामतः ॥ ६६ ॥

ལུས་ཅན་ནམས་ལ་སྤྱི་མ་ལ་དང་། ।

སྤྱི་མས་མེད་ལྷོད་པ་ལྷོད་པ་བྱེད་པ་ལ། ।

སྤྱི་མས་ལྷོད་ཅི་སྤྱི་བལྟར་དེ་བལྟར། ।

དེ་བས་ལྷོད་པ་བྱེད་པར་བྱེད་པ་བྱེད། ७७ ।

शरीरधारियों की पीड़ाओं के निश्चित हेतु होते हैं, वह व्यथा या तो चेतन-कृत (हाथ, पैर आदि के प्रहार से) होती है या अचेतनकृत (दण्ड, शस्त्र, रोग आदि से) होती है । दोनों प्रकार के कारणों (चेतन एवं अचेतन) से उत्पन्न वह व्यथा सचेतन शरीर में ही देखी जाती है (अचेतन पदार्थों में तो किसी प्रकार की पीड़ा होती नहीं, क्योंकि उनमें वेदनेन्द्रिय का अभाव है । इसलिए जो जिसकी उत्पत्ति का उचित स्थान है, वह वहीं होता है । सचेतन शरीर में ही पीड़ा हो सकती है, इसलिए हो रही है) अतः ऐसा सोचकर दोनों प्रकार के कारणों से उत्पन्न व्यथा को सहन करना चाहिए ।

दे'हृत्'मर्षे'न'न'स'उ'न'स'गु'न' । ।

प्र'म'स'उ'न'स'उ'न'स'उ'न'स'उ'न'स' । ।

न'गु'न'स'दे'हृत्'म'न'स'गु'न'स' । ।

म'स'न'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स' । ७० ।

(सभी प्राणी क्लेश और कर्मों के अधीन हैं—) ऐसा जानकर मुझे पुण्य के लिए वैसा यत्न करना है, जिससे सभी मानव आपस में मैत्री चित्त के साथ एक-दूसरे का हित-सुख सम्पादन करते हुए रहें ।

दह्यमाने गृहे यद्वदग्निर्गत्वा गृहान्तरम् ।

तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते ॥ ७० ॥

एवं चित्तं यदासङ्गाद् दह्यते द्वेषवह्निना ।

तत्क्षणं तत्परित्याज्यं पुण्यात्सोदाहशङ्कया ७१ ॥

न'गु'न'स'दे'हृत्'म'न'स'गु'न'स' । ।

म'स'न'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स' । ।

न'गु'न'स'दे'हृत्'म'न'स'गु'न'स' । ।

म'स'न'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स' । ७० ।

न'गु'न'स'दे'हृत्'म'न'स'गु'न'स' । ।

म'स'न'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स' । ।

न'गु'न'स'दे'हृत्'म'न'स'गु'न'स' । ।

म'स'न'न'स'न'स'न'स'न'स'न'स' । ७१ ।

घर में आग लगने पर जैसे वह आग दूसरे घर में जाकर जहाँ तृण (काष्ठ) आदि रखे हैं, उनमें न लग जाए, इस आशंका से उन्हें खींचकर हटा दिया जाता है, उसी प्रकार जिस पदार्थ के प्रति आसक्ति होने से मन द्वेषाग्नि से जलने लगता है, उस पदार्थ (आसक्ति के निमित्त) का परित्याग कर देना चाहिए । पुण्य की आत्मा शरीर है, उसके नष्ट होने की आशंका से आसक्ति के निमित्त (पदार्थ) का त्याग कर देना चाहिए । नहीं तो दूसरे घर में स्थित तृण-काष्ठ आदि की तरह द्वेष-रूपी अग्नि उसका भी नाश कर देगी ।

न चेदं तादृशं दुःखं महार्थं च करिष्यति ।

जगद्दुःखहरे दुःखे प्रीतिरेवात्र युज्यते ॥ ७५ ।

འདོད་པའི་དོན་དུ་བསྐྱེག་ལ་སོགས། ।

དཔྱལ་བར་སྤོང་སྤྱལ་སྤོང་གུར་ཀྱང་། ।

བདག་གིས་རང་གི་དོན་དང་ནི། ।

གཞན་གྱི་དོན་ཡང་སྤྱུས་སོ། ७८ ।

འདི་ནི་དེ་ཙམ་གཞོད་མིན་ལ། ।

དོན་ཆེན་དག་ཀྱང་འགྲུབ་འགྲུབ་བས། ।

འགྲོ་བའི་གཞོད་སེལ་སྤྱལ་བསྤུལ་ལ། ।

དགའ་བ་འབའ་ཞིག་འདིར་བྱ་རྒྱལ། ७९ ।

कोप (क्रोध करने) के कारण व्यर्थ ही मैंने संजीव, अवीचि आदि नरकों में (चीरना-फाड़ना आदि अनेक) भीषण दुःखों को भोगा है । मैंने कभी न अपना हित, न दूसरों का हित सम्पन्न किया । (इसलिए क्षान्ति की भावना न करना मेरे लिए युक्त नहीं है) ।

यह इहलौकिक दुःख वैसा (नरक के दुःख की तरह) नहीं है । इसे सहन कर लिया जाए तो यह (क्षान्ति = सहनशीलता) महान् हित को सिद्ध करेगा (अर्थात् प्राणिमात्र का हित-सुख करनेवाले बुद्धत्व को सिद्ध करेगा) इसलिए सांसारिक दुःख को दूर करने वाले इस लोक के दुःख के प्रति प्रीति (सौमनस्य) करना ही युक्त है । उसके प्रति अरुचि रखना उचित नहीं है ।

यदि प्रीतिसुखं प्राप्तमन्यैः स्तुत्वा गुणोर्जितम् ।

मनस्त्वमपि तं स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि ॥ ७६ ॥

གཞན་གྱིས་ཡོན་ཏན་ལྷན་བསྟོད་ནས། ।

གལ་ཏེ་དགའ་བའི་བདེ་སྤྱོད་ན། ।

ཡིད་ཁྱོད་ཀྱང་ནི་དེ་བསྟོད་ནས། ।

ཅིའི་སྤྱིར་དེ་ལྟར་དགའ་བའི་བྱེད། ७७ ।

यदि गुणों की महिमा गाकर कई लोगों ने प्रीति-सुख की प्राप्ति की है तो हे मन, तुम भी क्यों उनके गुणों का वर्णन करके हर्ष, सुख का अनुभव नहीं करते । (क्यों व्यर्थ ईर्ष्या रूपी अग्नि की ज्वाला में अपने को जला रहे हो ?) ।

इदं च ते हृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदयम् ।

न वारितं च गुणिभिः परावर्जनमुत्तमम् ॥ ७७ ॥

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ।

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ।

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ।

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ॥ ७७ ॥

(भगवान् बुद्ध के शासन में कुशल बोधिसत्त्व, महासत्त्वों ने ऐसे हर्ष या सुख का निषेध किया है, जो पाप से युक्त और अकुशल का हेतु हो) यह दूसरों के गुणों का वर्णन करने से उत्पन्न हर्ष-सुख तो निष्पाप एवं सुख का हेतु है, अतः ऐसे सुख का गुणी, महात्माओं ने वर्जन नहीं किया है । यह तो दूसरों के मन को आवर्जित (अपनी ओर आकृष्ट) करने का उत्तम साधन है । (यह व्यक्ति गुणग्राही है, ऐसा सोचकर अन्य लोग भी आकृष्ट होते हैं) ।

तस्यैव सुखमित्येवं तवेदं यदि न प्रियम् ।

भृतिदानादिविरतेर्दृष्टादृष्टं हतं भवेत् ॥ ७८ ॥

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ।

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ।

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ।

सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः सुखं हृष्टिः ॥ ७८ ॥

गुण-गान से तो जिसकी स्तुति होगी, उसी को सुख होगा, इसलिए परगुण वर्णन से उत्पन्न सुख तुम्हें प्रिय नहीं है तब तो अपने नौकर आदि को पारिश्रमिक देने, उपकारी का प्रत्युपकार करने आदि से भी (पर सुख से द्वेष करने वाले) तुम को विरत होना पड़ेगा, क्योंकि इससे दूसरों को ही सुख होगा । फलतः तुम्हारा इहलोक (दृष्ट) और परलोक दोनों नष्ट होंगे ।

जो चाहता हैं कि सभी प्राणियों को बोधि प्राप्त हो, वह उनके लिये लौकिक, लोकोत्तर कौन-सा सुख नहीं चाहता ? जो दूसरों की सुख-समृद्धि देखकर कुपित होता है, उसमें बोधिचित्त कैसे हो सकता है ? व्यर्थ ही उसने बोधिचित्त की प्रतिज्ञा की है।

यदि तेन न तल्लब्धं स्थितं दानपतेर्गृहे ।

सर्वथापि न ततोऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किम् ॥ ८४ ॥

माम्हे'देस'दे'म'स'हे'द'म' । ।

सु'व'म'म'सु'म'व'म'स'गु'र'म' । ।

गु'व'द'द'दे'सु'द'म'स'व' । ।

सु'व'म'सु'व'द'दे'स'उ'गु' ८४ ।

यदि उस व्यक्ति ने वह लाभ प्राप्त नहीं किया, तो वह वस्तु (लाभ) देने वाले के घर में ही रह जाएगी। वह वस्तु उसे दी जाए या देनेवाले के घर में रहे, किसी भी स्थिति में वह तुम्हारी तो होगी नहीं। अतः दी जाए या न दी जाए, उससे तुम्हारा क्या (सम्बन्ध या लाभ) है ?

तुम्हारा उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। अतः ऐसे अवसरों पर विद्वान् के लिए उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर है।

किं वारयतु पुण्यानि प्रसन्नान् स्वगुणानथ ।

लभमानो न गृह्णातु वद केन न कुप्यसि ॥ ८५ ॥

म'स'व'म'स'द'व'द'म'द'म' । ।

द'म'म'म'v'v'उ'द'सु'द'म' । ।

हे'द'म'द'गु'द'म'स'द'व' । ।

म'द'म'स'सु'द'म'सु'द'स' ८५ ।

(जिसे लाभ मिलने जा रहा है, वह लाभी पुरुष) क्या अपने पुण्यों का निवारण करे (जिनकी वजह से उसे लाभ-सत्कार प्राप्त हो रहे हैं) या दायक लोगों को जो उस पर प्रसन्न हैं, उनका वारण करे या अपने गुणों का निवारण करें (जिन गुणों के प्रति आकृष्ट होकर दायक उससे प्रसन्न हैं) अथवा जिस वस्तु को वह प्राप्त कर रहा है, उस वस्तु को ग्रहण न करे ? बोलो, तुम क्या चाहते हो, जिससे तुम्हें असन्तोष न हो और तुम कुपित न होओ ?

पूर्व कृत पुण्यों को फल देने से रोकना तो सम्भव नहीं है। प्राप्त हो रही वस्तु को स्वीकार न करने पर भी वह वस्तु तुम्हारी तो हो नहीं जाएगी—इस प्रकार तुम्हारे सन्तोष का कोई कारण नहीं दीखता। अतः असन्तुष्ट होना व्यर्थ है।

न केवलं त्वमात्मानं कृतपापं न शोचसि ।

कृतपुण्यैः सह स्पर्धामपरैः कर्तुमिच्छसि ॥ ८६ ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

(यदि तुम सोचते हो सारे लाभ-सत्कार उसी के हैं, मेरे पास नहीं। यदि मेरे पास नहीं तो उसके पास भी न हो और यही तुम्हारे असन्तोष का यदि कारण है तो यह भी उचित नहीं) ।

जितने भी दुःख, मनोरथ की सिद्धि न होना आदि हैं, वे सब पूर्वकृत पाप की वजह से हैं तथा सारे सुख पुण्य की वजह से होते हैं।

तुम अपने पूर्व किए पापों के बारे में तो शोक नहीं करते, केवल जिन्होंने पुण्य किये हैं, उन पुण्यात्माओं से केवल स्पर्धा करना चाहते हो। यह स्पर्धा उचित नहीं है।

जातं चेदप्रियं शत्रोस्त्वत्तुष्ट्या किं पुनर्भवेत् ।

त्वदाशंसनमात्रेण न चाहेतुर्भविष्यति ॥ ८७ ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

सु० ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥ ५०० ॥

यदि तुम्हारे शत्रु का कुछ अनिष्ट घटित हुआ तो तुम्हारे सन्तुष्ट होने से क्या होने-जाने वाला है ? (तुम यह सोचकर सन्तुष्ट हो सकते हो कि मेरे चाहने से ऐसा हुआ है, किन्तु) बिना हेतु के विद्यमान हुए तुम्हारी इच्छा मात्र से कुछ होने वाला नहीं है।

अथ त्वदिच्छया सिद्धं तद्दुःखे किं सुखं तव ।

अथाप्यर्थो भवेदेवमनर्थः को न्वतः परः ॥ ८८ ॥

सुखं तु न भवेत्तुम्हारे दुःखं तुम्हारे ॥ ८८ ॥

सुखं तु न भवेत्तुम्हारे दुःखं तुम्हारे ॥ ८८ ॥

माया तु न भवेत्तुम्हारे दुःखं तुम्हारे ॥ ८८ ॥

देवता तु न भवेत्तुम्हारे दुःखं तुम्हारे ॥ ८८ ॥

मान लो कि तुम्हारी इच्छा से ही तुम्हारे शत्रु का अनिष्ट हुआ, किन्तु उसके दुःख से तुम्हें सुख क्यों ? (तुम्हारा सुखी होना निःप्रयोजन है) । मान लो कि दूसरे के दुःख से सन्तुष्ट होना सप्रयोजन है तो इससे बढ़कर अनर्थ दूसरा कौन है ? अर्थात् यह महान् अनर्थकारी है ।

एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशिकार्पितम् ।

यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥ ८९ ॥

कुम्भिषु नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥ ८९ ॥

कुम्भिषु नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥ ८९ ॥

देवता तु न भवेत्तुम्हारे दुःखं तुम्हारे ॥ ८९ ॥

देवता तु न भवेत्तुम्हारे दुःखं तुम्हारे ॥ ८९ ॥

यह दूसरों का अनर्थ-चिन्तन रूपी (मछली फँसाने वाला) काँटा (बडिश) महा भयंकर है, जो क्लेश-रूपी (मछली पकड़ने वाले) मछुआरों द्वारा गृहीत है । क्योंकि (जैसे मछुआरों से लोग मछली खरीद कर ले जाते हैं, वैसे ही) नरकपाल तुम्हें खरीद कर कुम्भी आदि नरकों में तुम्हें पकाएंगे । इसलिए दूसरों के अनर्थ की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ।

स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे ।

न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय मे ॥ ९० ॥

एतावांश्च भवेत् स्वार्थो धीमतः स्वार्थवेदिनः ।

मद्यद्यूतादि सेव्यं स्यान्मानसं सुखमिच्छता ॥ ९१ ॥

वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् । ७० ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् । ७१ ।

विद्वानों के पुरुषार्थ पांच ही प्रकार के होते हैं, यथा — पुण्य, आयुष्य, बल, आरोग्य और कायिक सुख। जो ये स्तुति, यश और लाभ-सत्कार आदि हैं, इनका इन पाँचों में से किसी एक की प्राप्ति के लिए भी उपयोग नहीं है। अर्थात् किसी की भी उत्पत्ति में ये हेतु नहीं हैं।

स्वार्थ को समझनेवाले बुद्धिमान् का (कम से कम) इतना (उपर्युक्त पंच-विध) ही स्वार्थ है। (यदि कहो कि स्तुति आदि से मानसिक सुख होता है, तब तो) इससे भी अधिक बुद्धिहीन लोगों की तरह मानसिक सुख चाहने वालों के द्वारा तो शराब, जुआँ आदि भी सेवनीय हो जाएगा, क्योंकि बुद्धिहीन लोगों को इनसे मानसिक सुख मिलता है।

यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि ।
 किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य च तत्सुखम् ॥ ९२ ॥
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 वसुधैव कुटुम्बकम् । ७२ ।

कुछ मूढ पुरुष (बन्दी, भाट आदि द्वारा स्तुति की जाने पर प्रसन्न होते हुए) अपने यश के लिए (उनको हाथी, घोड़े रत्न, सोना-चाँदी आदि) धन (तृण के

मात्रं नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

मात्रं नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ७४ ।

दूसरे के मन में मेरे प्रति प्रीति है तो उस परकीय (दूसरे की) प्रीति से मेरा क्या सम्बन्ध है ? वह प्रीति और तज्जन्य सुख तो उस (स्तुति करने वाले) का ही है । उस प्रीति-सुख का थोड़ा-सा भी भाग (हिस्सा) मेरा नहीं है ।

तत्सुखेन सुखित्वं चेत् सर्वत्रैव ममास्तु तत् ।

कस्मादन्यप्रसादेन सुखितेषु न मे सुखम् ॥ ९६ ॥

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

मात्रं नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ७५ ।

उसके सुख से मुझे सुख हो रहा है—यदि आप ऐसा कहें तो उसके और दूसरों के सभी के सुख से मुझे सुख होना चाहिए । क्यों मेरी स्तुति करने वाले की प्रसन्नता से ही मुझे सुख होता है ? शत्रु की स्तुति करने वाले की प्रसन्नता से सुख क्यों नहीं होता ? वह भी उसकी स्तुति करके प्रसन्न हो रहा है । उसकी भी प्रीति (सौमनस्य) से मुझे प्रसन्न होना चाहिए । तब आप शत्रु की स्तुति सुन कर कुपित क्यों होते हैं ?

तस्मादहं स्तुतोऽस्मीति प्रीतिरात्मनि जायते ।

तत्राप्येवमसम्बन्धात् केवलं शिशुचेष्टितम् ॥ ९७ ॥

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

मात्रं नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ।

नमः पद्मं नमः पद्मं नमः । ७६ ।

मेरी स्तुति की गई, इतने मात्र से यदि मुझ में प्रसन्नता उत्पन्न होती है तो उसका भी अपने से सम्बन्ध न होने के कारण यह कोरी बालकल्पना है ।

वदमा'र्त्ति'मो'ल'व'दे'व'मा'त्रे'न'।
 छे'द'द'व'गु'र'स्त्रि'स'द'हि'र'सि'द'मो'स'।
 मा'द'द'मा'वदमा'व'उ'द'स'मो'ल'ग्रे'द'स'।
 दे'ल'वदमा'र्त्ति'हि'ह'र'सि'। १०० ।

मोक्षार्थी के लिए लाभ-सत्कार आदि बन्धन ही होते हैं। इसलिए मुझ मोक्षार्थी के लिए ये लाभ-सत्कार आदि बन्धन उचित नहीं हैं। जो मुझे इस बन्धन से मुक्त कर रहे हैं (अर्थात् जो लाभ-सत्कार की प्राप्ति में विघ्न डाल रहे हैं, उन्हें यद्यपि मैं अपना विरोधी या शत्रु समझ रहा हूँ, फिर भी क्योंकि वे मेरे बन्धन को काट रहे हैं, अतः कल्याणमित्र का ही कार्य कर रहे हैं) ऐसे लोगों के प्रति मुझमें द्वेष क्यों है ? अर्थात् उनके प्रति द्वेष युक्त नहीं है।

दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ये कपाटत्वमागताः ।
 बुद्धाधिष्ठानत इव द्वेषस्तेषु कथं मम ॥ १०१ ॥
 वदमा'र्त्ति'सु'मा'व'सु'ल'द'ह'र'मा'द'दे'न'।
 स'द'स'सु'स'गु'स'र्त्ति'सु'व'स'स'स'स'।
 सि'मा'दे'न'सु'ल'द'स'र'हि'द'गु'र'स'।
 दे'ल'वदमा'र्त्ति'हि'ह'र'सि'। १०१ ।

लाभ-सत्कार आदि के प्रति आसक्ति के कारण दुःख में प्रवेश करने जा रहे मेरे लिए मानों भगवान् बुद्ध की कृपा से ये (मेरे लाभ-सत्कार के विरोधी) कपाट की तरह (रोकने के लिए) उपस्थित हो गये हैं, इन (उपकारी लोगों) के प्रति मेरा द्वेष क्यों ? अर्थात् इनके प्रति द्वेष उचित नहीं है।

पुण्यविघ्नः कृतोऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते ।
 क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत् तदुपस्थितम् ॥ १०२ ॥
 द'दे'र्त्ति'स'स'द'द'स'स'स'स'स'स'।
 दे'ल'द'स'स'स'स'स'स'स'स'।
 स'स'द'स'स'स'स'स'स'स'स'।
 दे'ल'वदमा'र्त्ति'सि'मा'द'स'स'। १०२ ।

इसने मेरे पुण्य करने में विघ्न डाला है—इस कारण भी उस पर कोप करना युक्त नहीं है, क्योंकि क्षान्ति (सहिष्णुता) के समान कोई दूसरा तप नहीं है और वह अवसर (इसके द्वारा) अनायास उपस्थित हो गया है। अतः उसके प्रति भी द्वेष उचित नहीं है।

अथाहमात्मदोषेण न करोमि क्षमामिह ।

मयैवात्र कृतो विघ्नः पुण्यहेतावुपस्थिते ॥ १०३ ॥

मा'अ'दे'मदमा'की'र'द'ल्लु'क'सु'सा ।

अ'दे'अ'म'वे'द'म'र'म'सु'द'वा ।

म'वे'द'क'म'सा'ल्लु'की'दे'र'मा'क'सा'वा ।

अ'दे'अ'म'दमा'मो'मा'सा'सु'द'म'र'वे'द' १०३ ।

यदि मैं अपने दोष (असहिष्णुता) के कारण इस पुण्य में विघ्न करने वाले को क्षमा नहीं करता तो वस्तुतः मैंने ही पुण्यों का हेतु (क्षान्ति का अवसर) उपस्थित होने पर भी पुण्य में विघ्न ही किया है।

यो हि येन बिना नास्ति यस्मिंश्च सति विद्यते ।

स एव कारणं तस्य स कथं विघ्न उच्यते ॥ १०४ ॥

मा'र'वे'मा'मा'र'वे'द'म'र'द'ल्लु'क'वा ।

मा'र'वे'मा'अ'दे'क'अ'दे'द'ल्लु'क'वा ।

दे'दे'दे'अ'ल्लु'क'वा ।

दे'ल्लु'क'दे'अ'मो'मा'सा'वे'द'सा' १०४ ।

पुण्य में विघ्न करने वाला पुण्य का हेतु कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—

जो (कार्य) जिस (कारण) के बिना उत्पन्न नहीं होता, जिस (कारण) के होने पर जो (कार्य) उत्पन्न होता है, वह (कारण) उस कार्य का 'हेतु' या 'जनक' कहलाता है। इसके अनुसार पुण्यविघ्नकारी भी क्षान्ति, जो सभी पुण्यों का हेतु है, —का जनक (कारण या हेतु) है, अतः उसे पुण्य में विघ्न (करनेवाला) कैसे कह सकते हैं ?

न हि कालोपपन्नेन दानविघ्नः कृतोऽर्थिना ।

न च प्रव्राजके प्राप्ते प्रव्रज्याविघ्न उच्यते ॥ १०५ ॥

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । १०५ ।

दान देने की इच्छा के काल में यदि कोई याचक दानी के यहाँ पहुँच जाए तो वह दान का विघ्न नहीं कहा जाता, अपि तु वह तो दान का हेतु (कारण) होता है। इसी तरह कोई प्रव्रज्या (संन्यास) लेना चाहता है, उसी समय प्रव्राजक (संन्यास देने वाला) पहुँच जाए तो वह प्रव्रज्या में विघ्न नहीं कहा जाता, अपि तु वह उसका हेतु ही कहा जाएगा। इसी तरह प्रकृत में सभी पुण्यों की हेतु क्षान्ति की साधना के समय पुण्यविघ्नकारी के उपस्थित हो जाने पर वह पुण्य का हेतु ही कहा जाएगा, पुण्य का विघ्न नहीं।

क्षान्ति के हेतु का उपस्थित हो जाना सौभाग्य की ही बात है, अतः उसके प्रति प्रीति होना ही उचित है।

सुलभा याचका लोके दुर्लभास्त्वपकारिणः ।

यतो मेऽनपराधस्य न कश्चिदपराध्यति ॥ १०६ ॥

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं । १०६ ।

याचक तो लोक में बहुत हैं अर्थात् सुलभ हैं, किन्तु अपकारी (सैंकड़ों, हजारों में एक) अत्यन्त दुर्लभ हैं। क्योंकि जिसने किसी का भी अपकार करना छोड़ दिया है, उस अनपराधी अर्थात् मेरा बिना वजह कोई (एक) भी व्यक्ति अपकार नहीं करता। इसलिए अपकारी का होना मेरे लिए दुर्लभ है, अतः उसके प्रति द्वेष न करके मुझे उसके प्रति प्रीति ही करना चाहिए।

अश्रमोपार्जितस्तस्माद् गृहे निधिरिवोत्थितः ।

बोधिचर्यासहायत्वात् स्पृहणीयो रिपुर्मम ॥ १०७ ॥

दे'सस'दस'सस'स'सस'सस'स' ।

सि'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सु'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' १०७ ।

क्योंकि अपकारी बड़ा दुर्लभ है और वह घर में अकस्मात् प्रादुर्भूत निधि (खजाने) के समान उपस्थित हो गया है और क्योंकि वह मेरी बोधिचर्या में सहायक हो रहा है, अतः वह (अपकारी) शत्रु मेरे द्वारा सर्वथा अभिनन्दनीय ही है ।

वह मेरे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायता कर रहा है, अतः उस उपकारी का प्रत्युपकार करना, उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना ही मेरे लिए उपयुक्त है ।

मया चानेन चोपात्तं तस्मादेतत् क्षमाफलम् ।

एतस्मै प्रथमं देयमेतत्पूर्वा क्षमा यतः ॥ १०८ ॥

दे'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

दे'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

दे'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

दे'स'स'स'स'स'स'स'स'स' १०८ ।

इसने अपकार करते हुए और मैंने क्षमा का अभ्यास करते हुए अर्थात् दोनों ने मिलकर यह धर्माधिगम (तत्त्व-साक्षात्कार) रूपी क्षमा का फल प्राप्त किया है । उस फल को मुझे सबसे पहले इसी (अपकारी) को देना चाहिए, क्यों इसका अपकार ही मेरी क्षमा का पूर्वगामी है । अर्थात् यदि यह पहले अपकार न करता तो मैं अपने में क्षमा का उत्पाद कैसे करता ? क्योंकि अपकारी को छोड़ कर क्षान्ति का कोई दूसरा कारण नहीं है ।

क्षमासिद्ध्याशयो नास्य तेन पूज्यो न चेदरिः ।

सिद्धिहेतुरचित्तोऽपि सद्धर्मः पूज्यते कथम् ॥ १०९ ॥

गण'५'सर्व'सङ्ख्य'संख्य'संख्य' ।

५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ।

५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ।

५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' १०० ।

मुझ में क्षमा प्रतिष्ठित (सिद्ध) हो जाए, —यह तो शत्रु (अपकारी) का अभिप्राय था नहीं, इसलिए वह (शत्रु) मेरे द्वारा पूज्य नहीं हो सकता । यदि ऐसा सोचो तो बताओ कुशल-पक्ष की सिद्धि का हेतु सद्धर्म (बुद्ध प्रवचन = आगम) भी, जो अचित्त है अर्थात् जिसमें किसी तरह का कोई अभिप्राय नहीं है, वह क्यों (तुम्हारे द्वारा) पूजा जाता है ?

यदि कहो कि सद्धर्म में जैसे उपकाराशय नहीं है, वैसे अपकाराशय भी तो नहीं है, किन्तु शत्रु में तो अपकाराशय है, अतः कैसे पूजित हो सकता है ?

अपकाराशयोऽस्येति शत्रुर्यदि न पूज्यते ।

अन्यथा मे कथं क्षान्तिभिषजीव हितोद्यते ॥ ११० ॥

गण'५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ।

५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ।

५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ।

५'५'५'५'५'५'५'५'५'५' ११० ।

यदि ऐसा सोचते हो कि शत्रु (अपकारी) में तो अपकार करने का आशय (अभिप्राय या इच्छा) है, अतः वह पूजा के योग्य (अभिनन्दनीय) नहीं है तो सोचो अपकारी न होता तो क्षान्ति ही कैसे होती ? अपकारी के होने पर ही क्षान्ति हो सकती है । इसके विपरीत जो उपकारी है ऐसे वैद्य के उपस्थित होने पर कहीं उसके प्रति क्षान्ति पैदा होती है ? अर्थात् नहीं होती । उपकारी के प्रति तो आदर, श्रद्धा, गौरव ही होता है, क्षान्ति नहीं ।

तद्दुष्टाशयमेवातः प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा ।

स एवातः क्षमाहेतुः पूज्यः सद्धर्मवन्मया ॥ १११ ॥

དེ་བས་རབ་ཏུ་སྒྲུང་སེམས་ལ།

བདེན་ནས་བཟོད་པ་ལྟེ་བས་ན།

དེ་ཉིད་བཟོད་པའི་གྲུ་ཡིན་པས། །

དམ་པའི་ཆེས་བཞིན་མཆོད་པར་འོས། ༡༡༡

क्योंकि हित (भलाई) करने के लिए तत्पर वैद्य के प्रति क्षान्ति युक्त नहीं है, इसलिए अनिष्ट करने के अभिलाषी (अपकारी) की अपेक्षा से (उसे निमित्त बना कर) ही क्षमा उत्पन्न होती है । इसलिए जिस दुष्ट आशय (चित्त) वाले की वजह से क्षमा उत्पन्न होती है, वही क्षमा का हेतु है (न कि हिताशय वैद्य क्षमा का हेतु है) । इसलिए सद्धर्म की पूजा की तरह मेरे द्वारा उसकी पूजा (आदर-सत्कार) करना चाहिए ।

अभिप्राय यह है कि मुझे किसी के आशय पर विचार ही क्यों करना चाहिए । यदि मेरे साध्य की सिद्धि में वह उपयोगी है तो मुझे उसको अपनाना चाहिए । यदि मेरे प्रति उसका बुरा (अनिष्ट करने का) भाव है तो उस बुराई का फल उसे मिलेगा । मेरे तो वह कल्याण का हेतु है, अतः मेरे द्वारा क्यों वह पूजित नहीं होना चाहिए ? फलतः सम्भार के संचय में उपयोगी के चित्त (आशय) की विवेचना से क्या लाभ ?

सत्त्वक्षेत्रं जितक्षेत्रमित्यतो मुनिनोदितम् ।

एतान् आराध्य बहवो सम्पत्पारं यतो गताः ॥ ११२ ॥

དེ་ཕྱིར་སེམས་ཅན་གྱིང་དང་ནི།

ཀྱལ་བའི་ཞིང་ཞེས་ཐུབ་པས་གསུངས།

འདི་དག་མགྲ་བྱས་མང་པོ་ཞིག

འདི་ལྟར་སྤྱན་རྒྱལ་ས་པོ་ལ་ཕྱིན། ༢༢༣ །

बुद्धत्व की प्राप्ति के हेतु पुण्य-सम्भार और ज्ञान-सम्भार हैं और उनकी उत्पत्ति के कारण होने से सत्त्व (प्राणी) और बुद्ध 'क्षेत्र' (खेत या उत्पत्तिस्थान) हैं—ऐसा भगवान् ने (अनेक बार) कहा है । क्योंकि इन प्राणियों और बुद्धों की आराधना करके ढेर सारे बोधिसत्त्वों ने बुद्धत्व प्राप्त करके सभी लौकिक और लोकोत्तर सम्पत्ति की परकाष्ठा (अन्तिम सीमा) प्राप्त की है ।

सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे ।

जिनेषु गौरवं यद्वन्न सत्त्वेष्विति कः क्रमः ॥ ११३ ॥

सोमस'उक्'कमस'द'मु'स'स' ।

स'स'मु'स'क'स'द'मु'स'द'स' ।

मु'स'स'मु'स'मु'द'दे'स'व'द' ।

सोमस'उक्'स'स'स'उ'प'स' । ११३ ।

जब कि बुद्ध-धर्म^१ अर्थात् दश बल, चार वैशारद्य आदि गुणों के अधिगम (प्राप्ति) में सत्त्व और बुद्ध समानरूप से हेतु हैं (कोई कम समर्थ और कोई अधिक समर्थ नहीं है), तब जैसे बुद्ध के प्रति गौरव (आदर) है, वैसा (उतना) ही सत्त्वों के प्रति नहीं—यह बुद्धिमानों की कौन-सी परिपाटी है? अर्थात् ऐसा करना युक्त नहीं है ।

यह ठीक है कि बुद्ध-गुणों की प्राप्ति में दोनों समानरूप से हेतु हैं, फिर भी राग आदि मलों के कारण सत्त्वों का आशय (चित्त-स्थिति) हीन है, अतः बुद्ध से उनकी समानता कैसी ? इस पर आचार्य कहते हैं—

आशयस्य च माहात्म्यं न स्वतः किं तु कार्यतः ।

समं च तेन माहात्म्यं सत्त्वानां तेन ते समाः ॥ ११४ ॥

१. बुद्ध के गुण अनन्त हैं, फिर भी शास्त्रों में उनका चार भागों में विभाजन किया गया है, यथा—कायगुण, वाग्-गुण, चित्तगुण एवं कर्मगुण । (१) बत्तीस महापुरुष लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन और जन्मग्रहण, धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि लीलाएँ 'कायगुण' हैं । (२) स्निग्ध वाग्, मृदु वाग्, ब्रह्मस्वर आदि 'वाग्-गुण' हैं । (३) चित्तगुण भी दो प्रकार के होते हैं, यथा—ज्ञानगत एवं कर्णगत । इनमें स्थानास्थानज्ञान, कर्मविपाकज्ञान, सर्वत्रगामिनी प्रतिपद्-ज्ञान एवं लोकोत्तर अभिज्ञाएँ आदि तथा दस बल, चार वैशारद्य, तीन अभिन्न स्मृत्युपस्थान, तीन अगुप्त, नास्ति मुषिता स्मृति एवं सर्वज्ञ ज्ञान आदि अष्टादश आवेणिक (असाधारण) गुण, जो केवल बुद्ध में ही होते हैं तथा महाकर्णा आदि 'चित्तगुण' हैं । (४) निराभोग कर्म एवं अविच्छिन्न कर्म आदि 'कर्मगुण' हैं । इन सब गुणों के विस्तारपूर्वक स्वरूप के ज्ञान के लिए महायानसूत्रालंकार, अभिसमयालंकार आदि प्रामाणिक ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

ससस'सदि'अ'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सोसस'उ'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' । ११८ ।

यद्यपि अपरिमित ज्ञान और पुण्य के धनी होने के कारण भगवान् का लोकोत्तर माहात्म्य है, फिर भी आशय (चित्त-स्थिति) का माहात्म्य स्वतः अर्थात् स्वगत नहीं होता, अपि तु कार्य के आधार पर उसका मूल्याङ्कन होता है। बुद्ध-गुणों के लाभ में दोनों (प्राणी और बुद्ध) समानरूप से कारण हैं, अतः दोनों की महत्ता बराबर है, अतः प्राणी और बुद्ध तुल्य अर्थात् समान हैं।

मैत्र्याशयश्च यत्पूज्यः सत्त्वमाहात्म्यमेव तत् ।

बुद्धप्रसादात् यत् पुण्यं बुद्धमाहात्म्यमेव तत् ॥ ११५ ॥

सुसस'सोसस'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

ससस'सुस'र'र'र'र'र'r' ।

र'र'र'र'र'r'r' । ११५ ।

सत्त्वों के प्रति मैत्रीचित्त से विहार करने वाले व्यक्ति की जो लोगों के द्वारा पूजा की जाती है, (उसमें) सत्त्व का ही माहात्म्य (निहित) है। इसी तरह बुद्ध के प्रति श्रद्धा होने से जो पुण्य होता है, वह बुद्ध का ही माहात्म्य है।

बुद्धधर्मगमांशेन तस्मात् सत्त्वा जिनैः समाः ।

न तु बुद्धैः समाः केचिदनन्तांशैर्गुणार्णवैः ॥ ११६ ॥

ससस'सुस'र'r'r' ।

र'र'r'r'r'r' ।

अ'र'r'r'r'r' ।

ससस'सुस'र'r'r' । ११६ ।

जहाँ तक बुद्ध-गुणों के अधिगम का प्रश्न है, उस अंश में सत्त्व बुद्ध के समान हैं, किन्तु गुणों के समुद्र और जिन गुणों का एक-एक अंश भी असीम है—ऐसे बुद्धों के बराबर परमार्थतः कोई भी सत्त्व नहीं है।

गुणसारैकराशीनां गुणोऽणुरपि चेत् क्वचित् ।
दृश्यते तस्य पूजार्थं त्रैलोक्यमपि न क्षमम् ॥ ११७ ॥

ཨོན་ཏན་མཆོག་ཆོག་ས་གཅིག་སུ་ཡི།
ཨོན་ཏན་ཤས་ཅམ་འབྲུག་ཞིག་ལ།
སྒྲུང་ནང་དེ་ལ་མཆོད་དོན་དུ།
ཁམས་གསུམ་སུ་ལ་ཡང་རྒྱུ་བར་འགྱུར། ११७ ।

जो भगवान् प्रधान (अनुत्तर) गुणों के एक समूह हैं, उनमें से एक छोटा-सा गुण भी यदि कहीं (किसी सत्त्व में) दिखलाई दे, तो उसकी पूजा के लिए तीनों लोक भी पर्याप्त नहीं हैं ।

बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते ।
एतदंशानुरूपेण सत्त्वपूजा कृता भवेत् ॥ ११८ ॥

སངས་རྒྱས་ཆོས་མཆོག་སྤེ་བའི་ཤས།
སེམས་ཅན་ནམས་ལ་ཡོད་པས་ན།
འདི་ཅམ་དག་གིས་ཆ་བསྟན་ནས།
སེམས་ཅན་མཆོད་བྱར་རིགས་བར་འགྱུར། ११८ ।

सत्त्वों में वह श्रेष्ठ अंश विद्यमान है, जिससे बुद्धगुणों का उदय (उत्पाद) होता है । अतः उस श्रेष्ठ अंश के अनुरूप ही सत्त्वों की पूजा (आदर-सत्कार) होनी चाहिए ।

किं च निश्छिन्नबन्धूनामप्रमेयोपकारिणाम् ।
सत्त्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत् ॥ ११९ ॥

གཞན་ཡང་གཡོ་མེད་གཉིན་གྱུར་ཅིང་།
ཕན་བ་དབག་མེད་མཛད་ནམས་ལ།
སེམས་ཅན་མགྱ་བྱ་མ་གཏོགས་པ།
གཞན་གང་ཞིག་གིས་ལན་ལོན་འགྱུར། ११९ ।

सम्पादन करते हैं। इस प्रकार सत्त्वाराधन लोक के दुःखहरण का हेतु है, अतः वही लोक के दुःखों का हरण है—ऐसा कहा गया है)। इसलिए यह सत्त्वाराधन ही मेरा व्रत हो।

स्वार्थ—बुद्धत्व की प्राप्ति के हेतु जो दो सम्भार हैं—पुण्यसम्भार और ज्ञान-सम्भार, उनकी पूर्ति ही स्वार्थ है। सत्त्वाराधन से सम्भारों का सम्भरण होता है।

यथैको राजपुरुषः प्रमथ्नाति महाजनम् ।

विकर्तुं नैव शक्नोति दीर्घदर्शी महाजनः ॥ १२८ ॥

यस्मान्नैव स एकाकी तस्य राजबलं बलम् ।

तथा न दुर्बलं कञ्चिदपराद्धं विमानयेत् ॥ १२९ ॥

यस्मान्नरकपालाश्च कृपावन्तश्च तद्बलम् ।

तस्मादाराधयेत् सत्त्वान् भृत्यश्चण्डनृपं यथा ॥ १३० ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३८ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३९ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १४० ॥

जैसे कोई एकाकी (अकेला) राजपुरुष नगर, निगम, ग्राम, जनपद में बसने वाले बड़े जनसमूह को गलत ढंग से सताता है, फिर भी वे लोग (संख्या में अधिक होने पर भी) भविष्य की बातें सोचकर उसके खिलाफ बगावत नहीं करते, क्योंकि

वह राजपुरुष अकेले अर्थात् असहाय नहीं है। उसके पीछे राजा की पूरी शक्ति (सैन्यबल) है। इसी तरह यदि कोई अपराधी दुर्बल है, फिर भी उस का अपकार नहीं करना चाहिए। वह भी अकेला या असहाय नहीं है।

क्योंकि नरकपाल (यमपुरुष) और करुणावान् बुद्ध आदि उसके पक्षपाती हैं और उस (अपराधी) के बल हैं। इसलिए सत्त्वों की आराधना (उपकार) उसी प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार किसी उग्र (प्रचण्ड) राजा की उसके अनुयायी सेवक आराधना करते हैं।

कुपितः किं नृपः कुर्याद् येन स्यान्नरकव्यथा ।

यत् सत्त्वदौर्मनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥ १३१ ॥

सुखं सौख्यं वैश्वं सुखं नृपः ।

सौख्यं सुखं नृपः सुखं नृपः ।

सुखं सौख्यं सुखं नृपः ।

सुखं सौख्यं सुखं नृपः ॥ १३१ ॥

राजा क्रोधित होकर भी क्या यह कर सकता है कि जिस से नरक की व्यथा (पीड़ा) भोगनी पड़े, जो व्यथा प्राणियों का अपकार करने या दुःख देने से वहाँ (नरक में) भोगनी पड़ती है ?

तुष्टः किं नृपतिर्दद्याद् यद् बुद्धत्वसमं भवेत् ।

यत् सत्त्वसौमनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥ १३२ ॥

सुखं सौख्यं वैश्वं सुखं नृपः ।

सौख्यं सुखं नृपः सुखं नृपः ।

सुखं सौख्यं सुखं नृपः ।

सुखं सौख्यं सुखं नृपः ॥ १३२ ॥

राजा सन्तुष्ट होकर भी क्या दे सकता है, जो बुद्धत्व के समान हो, जो (बुद्धत्व सुख) प्राणियों का उपकार करने या उनको सुख पहुँचाने से प्राप्त होता है ?

आस्तां भविष्यद्बुद्धत्वं सत्त्वाराधनसम्भवम् ।

इहैव सौभाग्ययशःसौस्थित्यं किं न पश्यसि ॥ १३३ ॥

वीर्यं पारमिता

བསོད་ནམས་བཙོན་འགྲུས་མེད་མི་འབྱུང་། ༡ །

མཛེན་ལུག་བདག་ཉིད་བརྟམས་པའོ། ༣ །

वीर्य क्या है ? (उत्तर-) कुशल (पुण्य) कर्म में उत्साह । वीर्य का विरोधी कौन है ? (अर्थात् वीर्य अपने किस विरोधी का प्रहाण करता है) (उत्तर-) १. आलस्य, २ कुविषय में आसक्ति, ३ विषाद, ४. आत्मावज्ञा । वीर्य इनका प्रहाण करता है ।

कुशल कर्म में उत्साह—दान, शील, क्षान्ति आदि पारमिताओं की पूर्ति एवं धर्म-श्रवण, चिन्तन आदि में उत्साह ।

आलस्य—काय और चित्त की अकर्मण्यता । सोने, लेटने आदि में सुख समझना और काम को टालने की प्रवृत्ति ।

कुविषय में आसक्ति—नाच-गाने, कम महत्त्व के कामों में या दूसरों के लड़ाई झगड़े में रुचि । इसी तरह अन्य निन्दनीय कामों में आसक्ति ।

विषाद—निराशा, दीनता, अनुत्साह आदि विषाद हैं ।

आत्मा की अवज्ञा—मैं मन्दबुद्धि हूँ, दुर्भाग्य-ग्रस्त हूँ, मुझसे बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग का अभ्यास और दुष्कर बोधिसत्त्व-चर्या आदि नहीं हो सकते आदि ।

आलस्य का निराकरण

अव्यापारसुखास्वादननिद्रापाश्रयतृष्णया ।

संसारदुःखानुद्वेगादालस्यमुपजायते ॥ ३ ॥

सुखं'वास'सदे'सदे'स'सुद'स' ।

स'सुद'स'सदे'स'सदे'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ३ ।

दुःखमय संसार से उद्वेग नहीं होने के कारण किसी भी कुशल कर्म में प्रवृत्ति न होने, निठल्लेपन में ही मजा आने और तन्द्रा (अर्ध निद्रा की अवस्था) आने तथा इनके कारण चुपचाप पड़े रहने की अभिलाषा होने के कारण आलस्य उत्पन्न होता है ।

अतः दुःखमय संसार से उद्वेग होना चाहिए ।

क्लेशवागुरिकाघ्रातः प्रविष्टो जन्मवागुराम् ।

किमद्यापि न जानासि मृत्योर्वदनमागतः ॥ ४ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

श्रीमद्वैष्णवस्य नमः ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८ ॥

क्लेश-रूपी मछुओं के वश में आकर जन्म-रूपी जाल में फँसे हुए तुम अपने को आज भी मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ नहीं जान पा रहे हो ?

स्वयूथ्यान्मार्गमाणांस्त्वं क्रमेणैव न पश्यसि ।

तथापि निद्रां यास्येव चण्डालमहिषो यथा ॥ ५ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५ ॥

क्या तुम अपने वर्ग के (संगी-साथी) लोगों को क्रम से मृत्यु द्वारा मारे जाते हुए नहीं देख रहे हो ? फिर भी कसाई के भैसे की तरह ऊँघ रहे हो ?

यमेनोद्वीक्ष्यमाणस्य बद्धमार्गस्य सर्वतः ।

कथं ते रोचते भोक्तुं कथं निद्रा कथं रतिः ॥ ६ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६ ॥

यम ने चारों ओर से तुम्हारे रास्ते बन्द कर दिये हैं तथा वह तुम्हारी सूक्ष्मता से निगरानी कर रहा है, फिर तुम्हें खाना कैसे अच्छा लग रहा है, कैसे नींद आ रही है तथा कैसे विषय सुख में आनन्द की अनुभूति हो रही है ?

यावत् सम्भृतसम्भारं मरणं शोघ्रमेष्यति ।

सन्त्यज्यापि तदालस्यमकाले किं करिष्यति ॥ ७ ॥

सु० व० ११० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

तुम्हारे वध की सारी सामग्री से सज्जित होकर जब मृत्यु शीघ्र आ जाएगी, तब आलस्य को छोड़कर भी उस असमय में तुम क्या कर लोगे ? अर्थात् उस समय आलस्य छोड़ने पर भी तुम्हारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ।

इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्धकृतं स्थितम् ।

अकस्मान्मृत्युरायातो हा हतोऽस्मीति चिन्तयन् ॥ ८ ॥

शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान् ।

बन्धून् निराशान् सम्पश्यन् यमदूतमुखानि च ॥ ९ ॥

स्वपापस्मृतिसन्तप्तः शृण्वन् नादांश्च नारकान् ।

त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वलः किं करिष्यसि ॥ १० ॥

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

११० १० १० १० १० १० १० ।

यह प्राप्तव्य मैंने प्राप्त नहीं किया, यह काम मैंने शुरू ही किया है, यह काम अभी अधूरा है (इस तरह कोई भी काम पूरा नहीं हुआ, इतने में) अफसोस, मृत्यु आ उपस्थित हो गई, मैं मारा गया—ऐसा सोचते हुए,

प्रिय वियोग के कारण उत्पन्न शोक के आवेग की वजह से सूजी हुई, आसुँओं से भरी एवं लाल-लाल आँखों से युक्त चेहरों वाले और निराश बन्धु-बान्धवों को तथा मृत्यु के समय उपस्थित भयंकर आकृति वाले यमदूतों के मुखों को देखते हुए,

अपने पहले किए हुए पापों का स्मरण होने से (मैंने ऐसा क्यों किया, इस प्रकार के पश्चात्ताप से) सन्तप्त, न केवल इतना ही, अपितु दुःख से सन्तप्त नारकीय प्राणियों के क्रन्दन (चीत्कार) को सुनते हुए (मेरी भी ऐसी ही दशा होगी—ऐसा सोचकर) मल-मूत्र से लथ-पथ शरीर वाले, सर्वथा असमर्थ तुम उस अवस्था में क्या करोगे ?

इसलिए जो करना है, उसे स्वस्थ अवस्था में ही करना चाहिए ।

जीवमत्स्य इवास्मीति युक्तं भयमिहैव ते ।

किं पुनः कृतपापस्य तीव्रान्नरकदुःखतः ॥ ११ ॥

सुखं विना जीवितं न भवति ।

कर्मफलं न भवति ।

जीवितं न भवति ।

सुखं न भवति ।

मैं उन जीवित रखी जा रही मछलियों के समान हूँ,^१ जिन्हें क्रमशः खाने के लिए जीवित रखा जा रहा है । (उसी तरह मैं भी आज या कल निश्चितरूप से मरुंगा) इसलिए इसी लोक में जीते हुए सचेत अवस्था में मरने से डरना उचित है । पाप करने के बाद नरक के तीव्र अर्थात् भयंकर दुःखों से डरने से क्या लाभ ?

बिना प्रयत्न के सुख चाहने का निराकरण

स्पृष्ट उष्णोदकेनापि सुकुमार प्रतप्यसे ।

कृत्वा च नारकं कर्म किमेवं स्वस्थमास्यते ॥ १२ ॥

१. प्रज्ञाकरमति ने लिखा है कि पूर्व देश के निवासियों में यह प्रथा है कि कुण्ड, नाद, या गड्ढे में जीवित मछलियाँ सुरक्षित रखी जाती हैं और धीरे-धीरे निकाल कर खाई जाती हैं, उन्हें यहाँ 'जीवमत्स्य' कहा गया है । डा० शान्ति भिक्षु शास्त्री का कहना है कि बंगाल में यह प्रथा आज भी है और ऐसी मछलियों को 'जीओल माछ' कहा जाता है ।

कुंळव'सुस'व'रेम'स'व' ।

म'लेव'म'उव'म'र'म'ळ'म' ।

र'सुम'स'म'व'म'स'सुस'व'स' ।

उ'सु'म'म'र'म'म'म'म'म'म' । १३ ।

सुकुमार, यहाँ तो गरम पानी को छूने से भी जलने लगते हो, (अर्थात् इतने कोमल हो कि गरम पानी को भी सह नहीं सकते) तब जिन कर्मों का फल नरक में मिलता है—ऐसे नरकवेदनीय कर्मों को करके कैसे इस प्रकार स्वस्थ (निश्चिन्त) बैठे हो ? नरक में तो भयंकर अग्नि है ।

निरुद्यम फलाकांक्षिन् सुकुमार बहुव्यथ ।

मृत्युग्रस्तोऽमराकार हा दुःखित विहन्यसे ॥ १३ ॥

म'लेव'म'उव'म'र'म'म'म'म' ।

म'लेव'म'उव'म'म'लेव'म'म' ।

म'लेव'म'उव'म'म'लेव'म'म' ।

म'लेव'म'उव'म'म'लेव'म'म' । १४ ।

(सुख के हेतुओं का उत्पाद करने में) उद्योगरहित, फिर भी (सुखरूपी) फल को चाहने वाले, (दुःख को सहने में असमर्थ होने से) सुकुमार, विविध प्रकार के दुःखों से पीड़ित तुम मृत्यु के मुख में पड़े हो, फिर भी अपने को अजर-अमर समझ रहे हो । इसलिए आचार्य करुणापूर्वक खेद के साथ कहते हैं—हा दुःखित, तुम नष्ट हो रहे हो । अथवा व्यक्ति अपने मन में ऐसा सोच रहा है ।

निद्रा के वशीभूत होने का निराकरण

मानुष्यं नावमासाद्य तर दुःखमहानदीम् ।

मूढ, कालो न निद्राया इयं नौर्दुर्लभा पुनः ॥ १४ ॥

म'लेव'म'उव'म'म'लेव'म'म' ।

म'लेव'म'उव'म'म'लेव'म'म' ।

म'लेव'म'उव'म'म'लेव'म'म' ।

म'लेव'म'उव'म'म'लेव'म'म' । १५ ।

मनुष्य जन्म रूपी इस दुर्लभ नौका को प्राप्त कर (प्रयत्नपूर्वक) इस दुःखमय नदी (संसार) को पार कर लो (अभ्युदय और निःश्रेयस रूपी पुरुषार्थ को प्राप्त करने का और दुःखमय भवसागर को पार करने का यह उत्तम साधन है) । अरे मूढ, (जब तक यह नौका तुम्हारे पास है तब तक तुम्हारे लिए) सोने का समय नहीं है । (यदि इस समय प्रयत्न नहीं करोगे तो फिर) यह नौका दुर्लभ हो जाएगी ।
कृविषयों में आसक्ति का निवारण

सुक्त्वा धर्मरतिं श्रेष्ठामनन्तरतिसन्ततिम् ।

रतिरौद्धत्यहास्यादौ दुःखहेतौ कथं तव ॥ १५ ॥

དགའ་བའི་གྲུ་ནི་མཐའ་ཡས་བའི།

དམ་ཆོས་དབང་བའི་མཆོག་སྤངས་ནས། །

སྐྱུ་བ་བཟུལ་གྱི་ཡིས་གཡེང་བ་དང་། །

དགོད་སྐབས་ལ་བྱེད་ཅི་ཕྱིར་དགའ། ༡༥ །

देव, मनुष्य आदि उत्तम योनि में जन्म देने के कारण अनन्त सुखों के प्रवाह वाली श्रेष्ठ धर्म (कुशल कर्मों में)-रति को छोड़कर दुःखों को उत्पन्न करने वाले शरीर में और मन के बाह्यात मनोरंजनों (औद्धत्य) में तथा हँसी-मजाक आदि में तुम्हारी रति क्यों है ?

विषाद और आत्मावज्ञा का निराकरण

अविषादबलव्यूहतात्पर्यात्मविधेयता ।

परात्मसमता चैव परात्मपरिवर्तनम् ॥ १६ ॥

ཕྱིན་ལུག་མེད་དང་དབྱང་ཚྭ་ས་དང་། །

ལྷ་ར་ལྷང་བདག་ཉིད་དབང་བྱ་དང་། །

བདག་དང་གཞིན་དྲ་མཉམ་པ་དང་།

བདག་དང་གཞན་དུ་བརྗེ་བར་བསྟུ། ༡༦ །

(दीनता, एवं उदासीनता आदि का विरोधी) अविषाद, बलों (उत्साह आदि) का समूह, स्वाधीनता (पराधीन न होना), परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन ये सब अकर्मण्यता के नाशक और वीर्य (उत्साह) के वर्धक हैं ।

परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन — मैं (अहम्) और तुम (पर) की सत्ता नितान्त कल्पित है । यह अज्ञान है, जो मैं और तुम की सत्ता का आरोप करता है ।

मैं और तुम का भेद करने वाली बुद्धि (आत्मदृष्टि) नितान्त मिथ्या है । इस बुद्धि का विषय (स्वात्मा या परात्मा) वस्तुतः है ही नहीं । मैं और तुम में इस अर्थ में समानता है कि हम दोनों की सत्ता कल्पित है, मिथ्या है, वस्तुतः सत्ता है ही नहीं ।

आत्मा की सत्ता सर्वथा न होने पर भी जैसे एक पंचस्कन्ध सन्तति में कल्पना द्वारा 'मैं' की कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार दूसरी पंचस्कन्धसन्तति में 'मैं' की कल्पना क्यों नहीं की जा सकती ? दूसरे की पंचस्कन्धसन्तति को 'मैं' के रूप में ग्रहण करना और अपनी सन्तति को 'पर' के रूप में ग्रहण करना 'परात्मपरिवर्तन' है । अर्थात् दूसरे की जगह अपने को और अपनी जगह दूसरे को रखकर देखना 'परात्मपरिवर्तन' है । यह सभी कल्याणों का मूल है और नैरात्म्यदृष्टि से ऐसा करना सम्भव है ।

नैवावसादः कर्त्तव्यः कुतो मे बोधिरित्यतः ।

यस्मात् तथागतः सत्यं सत्यवादीदमुक्तवान् ॥ १७ ॥

मदमा'मोक्ष'सु'कु'म'म'ल'लेख । ।

क्षी'र'सु'म'म'र'र'र'सु'क्षे । ।

म'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' । ।

म'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' १७ ।

मुझ दीन-हीन को कैसे बोधि (बुद्धत्व) प्राप्त हो सकती है (बुद्धत्व तो तीक्ष्णेन्द्रिय सत्त्वों को अनेक कल्पपर्यन्त अपरिमित पुण्य और ज्ञान सम्भार अर्जन करने पर और अनेक दुष्कर चर्या का अनुष्ठान करने पर प्राप्त होती है, मैं इसका पात्र नहीं हूँ)—ऐसी उदासीनता या अवसाद मन में नहीं लाना चाहिए । क्योंकि सत्यवादी भगवान् तथागत ने यह सत्य ही कहा है—

क्या सत्य कहा है ?

तेऽप्यासन् दंशमशका मक्षिकाः कृमयस्तथा ।

यैरुत्साहवशात् प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा ॥ १८ ॥

सु'सु'म'सु'सु'म'सु'सु' । ।

र'र'र'र'र'र'र'r'र'r' । ।

र'र'r'r'र'r'r'r'r'r'r' । ।

सु'सु'सु'सु'सु'सु'सु' । ।

वे शाक्यमुनि, रत्नशिखी, दीपंकर आदि बुद्ध भी पृथग्जन अवस्था में संसार-चक्र में घूमते हुए अतीत जन्मों में कभी डंस, मच्छर, मक्खी, कीड़े आदि रह चुके हैं। उन्होंने अपने उत्साह (वीर्य) के बल से सम्भारों का अर्जन करके दुर्लभ एवं उत्तम बोधि प्राप्त की है। प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए दुनियाँ में कोई चीज दुर्लभ नहीं हुआ करती।

बोधि अत्यन्त दुर्लभ नहीं है

किमुताहं नरो जात्या शक्तो ज्ञातुं हिताहितम् ।

सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद् बोधिं किं नाप्नुयामहम् ॥ १९ ॥

सदमा'ङ्ग'रि'मा'स'गु'स'मि'र'सु'स'वा ।

स'र'स'स'म'र'स'स'स'स'स'स' ।

सु'र'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सदमा'मी'स'सु'र'स'स'स'स'स'स' १० ।

मैं जन्म से मनुष्य हूँ, यह हित है और यह अहित है (यह शुभ है, यह अशुभ है)—इत्यादि जानने में समर्थ हूँ। समस्त वस्तुतत्त्व को जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट नीति (मार्ग) का त्याग न करते हुए, (बल्कि उसका अभ्यास करते हुए) मैं बोधि वर्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? (अर्थात् अवश्य प्राप्त करूँगा) ।

रत्नमेघसूत्र में भी कहा गया है 'मेरे लिए बोधि प्राप्त करना सम्भव नहीं है, मैं मन्द हूँ, आलसी हूँ और बोधि तो अनेक शिरोदान आदि दुष्कर चर्या करते हुए अनेक कल्पों में प्राप्त होती है। मैं इतने बड़े भार का वहन नहीं कर सकता'—इत्यादि विचार बोधिसत्त्व को कभी मन में नहीं लाना चाहिए^१ ।

अथापि हस्तपादादि दातव्यमिति मे भयम् ।

गुरुलाघवमूढत्वं तन्मे स्यादविचारतः ॥ २० ॥

१. इह बोधिसत्त्वो नैवं चित्तमुत्पादयति—दुष्प्राया बोधिर्मनुष्यभूतेन सता । इदं च मे वीर्यं परीतं च हीनं च । कुसीदोऽहम् । बोधिश्च आदीप्तशिरश्चैलोपमेन बहून् कल्पान् बहूनि कल्प-शतानि बहूनि कल्पसहस्राणि समुदाचरता समुदानेतव्या । तन्नाहमुत्सहे ईदृशं भारमुद्वोढुम् ।
द्र०—रत्नमेघसूत्र, उद्धृत, बोधिचर्यावितार, पृ० १२१ ।

ॐ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३० ॥

हाथ, पैर, सिर आदि के दान के बिना बोधि पाना सम्भव नहीं है और मैं ऐसे दुष्कर कार्य नहीं कर सकता—इस भय से बोधि के लिए उत्साह नहीं हो रहा हो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह मेरे अज्ञान वश छोटे काम को बड़ा और बड़े काम को छोटा समझने की वजह से है। वस्तुतः ऐसा नहीं है।

छेतव्यश्चास्मि भेतव्यो दाह्यः पाटयोऽप्यनेकशः ।

कल्पकोटीरसंख्येया न च बोधिर्भविष्यति ॥ २१ ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३१ ॥

भवचक्र में भ्रमण करते हुए पूर्व कर्मों के कारण नरक आदि में असंख्य करोड़ों कल्प तक अनेक बार नुकीले शस्त्रों से छेदा जाऊँगा, धारदार शस्त्रों से भेदा जाऊँगा, नरक की अग्नि द्वारा जलाया जाऊँगा तथा आरे से काटा जाऊँगा। फिर भी मेरा इतना दुःख उठाना बोधि-प्राप्ति के काम नहीं आएगा अर्थात् इतना दुःख उठाने पर भी बोधि नहीं मिलेगी।

बोधि-प्राप्ति के लिए जो दुःख उठाना पड़ता है, वह तो सचमुच इससे बहुत कम है।

इदं तु मे परिमितं दुःखं सम्बोधिसाधनम् ।

नष्टशल्यव्यथापोहे तदुत्पादनदुःखवत् ॥ २२ ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥

३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३५० ॥ ३२ ॥

बुद्धत्व का साधक जो यह दुःख है, वह तो बहुत थोड़ा (परिमित) है, (निश्चित काल के लिए होता है तथा भावी महान् दुःखों के शमन का हेतु होता है) । जैसे शरीर में काँटा आदि बाह्य पदार्थ (शल्य) घुस कर टूट जाए और शरीर के अन्दर रह जाए तो उसको हटाने के लिए जो शल्य-क्रिया की जाती है, उसमें जितना और जिस प्रकार का दुःख होता है, उसी तरह बोधि की प्राप्ति में होनेवाला दुःख है ।

यह लम्बे समय तक होनेवाले दुःख को दूर करने का उपाय है, अतः इसे सह लेना ही उचित है ।

सर्वेऽपि वैद्याः कुर्वन्ति क्रियादुःखैररोगताम् ।

तस्माद् बहूनि दुःखानि हन्तुं सोढव्यमल्पकम् ॥ २३ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ॥ २३ ॥

सभी वैद्य (कुछ ही नहीं) जिन क्रियाओं से व्यक्ति को नीरोग (स्वस्थ) करते हैं, उन लंघन, पाचन या पथ्यसेवन आदि क्रियाओं में दुःख तो होता ही है । इसलिए बहुत (अधिक) दुःखों को दूर करने के लिए थोड़ा दुःख सहन करना ही चाहिए ।

फिर ऐसा भी नहीं है कि बोधि-प्राप्ति के लिए प्रयास करने वाले बोधिसत्त्व को प्रारम्भ में ही भगवान् ने दुष्कर चर्या करने का विधान किया हो ।

क्रियामिमामप्युचितां वरवैद्यो न दत्तवान् ।

मधुरेणोपचारेण चिकित्सति महानुरान् ॥ २४ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ॥ २४ ॥

न दुःखी त्यक्तपापत्वात् पण्डितत्वान्न दुर्मनाः ।

मिथ्याकल्पनया चित्तो पापात् काये यतो व्यथा ॥ २७ ॥

स्त्रीमा'स'स्र्मस'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ।

स्र्मस'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ।

स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ।

स्त्रीमा'स'स्र्मस'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ३७ ।

(दो ही प्रकार के दुःख होते हैं—कायिक और मानसिक । दोनों ही प्रकार के दुःख बोधिसत्त्व को नहीं होते) सभी प्रकार के कायिक, वाचसिक और मानसिक पापों से विशुद्ध (रहित) होने से उन्हें कायिक दुःख नहीं होते । युक्ति और आगम से द्विविध नैरात्म्य (पुद्गल और धर्म नैरात्म्य) का निश्चय (पाण्डित्य) हो जाने से मानसिक दुःख भी नहीं होते । क्योंकि मिथ्या कल्पना (अर्थात् असद्-विकल्प, भावाभिनिवेश या आत्मा-आत्मीयग्रह) के द्वारा चित्त (मन) में दुःख होता है और प्राणातिपात (प्राणि-हिंसा) आदि से शरीर में दुःख होता है ।

इस प्रकार दुःख के कारणों को दूर कर देने से बोधिसत्त्व में दुःख उत्पन्न नहीं होता ।

पुण्येन कायः सुखितः पाण्डित्येन मनः सुखि ।

तिष्ठन् परार्थं संसारे कृपालुः केन खिद्यते ॥ २८ ॥

स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ।

स्र्मस'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ।

स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ।

स्त्रीमा'स'स्र्मस'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म'स्र्म' ३८ ।

पुण्य से शरीर और प्रज्ञा से मन सुखी रहता है । इस प्रकार कृपालु बोधिसत्त्व परहित के लिए संसार में रहता हुआ किससे खिन्न (दुःखी) हो सकता है ? अर्थात् उसे किसी से भी खेद नहीं होता ।

बुद्धत्व तो अनेक कल्पों तक पुण्यसम्भार का अर्जन करने से प्राप्त होता है,

अतः मुमुक्षु के लिए उचित है कि वह श्रावकयान द्वारा ही शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर ले ?
इस प्रश्न पर आचार्य कहते हैं—

क्षपयन् पूर्वपापानि प्रतीच्छन् पुण्यसागरान् ।

बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रगः ॥ २९ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ३० ।

पूर्वकृत पापों को क्षीण करता हुआ तथा पुण्य के समुद्रों का संग्रह करता हुआ
महायान में आरूढ़ बोधिसत्त्व बोधिचित्त के बल से ही श्रावकों (हीनयानियों) की
अपेक्षा शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

एवं सुखात् सुखं गच्छन् को विषादेत् सचेतनः ।

बोधिचित्तरथं प्राप्य सर्वखेदश्रमापहम् ॥ ३० ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ३१ ।

उपर्युक्त प्रकार से सभी खेद और श्रम (थकावट) को दूर करनेवाले बोधि-
चित्तरूपी रथ पर आरूढ़ होकर एक सुख से उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख प्राप्त करता
हुआ कौन प्रज्ञावान् विषाद करेगा ?

बलव्यूह का प्रतिपादन

छन्द-स्थाम-रति-मुक्तिबलं सत्त्वार्थसिद्धये ।

छन्दं दुःखभयात् कुर्यादनुशंसांश्च भावयन् ॥ ३१ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ३२ ।

सभी प्राणियों का सर्वविध हित साधने के लिए बल (चतुरंगिणी सेना) चाहिए । ये चार अंग इस प्रकार हैं—१. छन्द = पुण्यों की अभिलाषा, २. स्थाम = दृढ़ रहना, ३. रति = अच्छे (पुण्य) कर्मों के प्रति आसक्ति तथा ४. मुक्ति = सामर्थ्य नहीं रहने पर कुछ समय इन्तजार करना । अकुशल कर्म करने से दुःख होता है—इस भय से तथा शुभ कर्मों का मधुर फल होता है—ऐसा सोचकर पुण्य-माहात्म्य की भावना करते हुए छन्द अर्थात् अपने में वीर्य (उत्साह) उत्पन्न करे सभी प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वीर्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है ।

एवं विपक्षमुन्मूल्य यतेतोत्साहवृद्धये ।

छन्दमानरतित्यागतात्पर्यवशिताबलैः ॥ ३२ ॥

रे'ल्लर'मी'मसु'सु'मस'सु'मस'रे ।

मे'स'द'द'कु'द'द'द'द'द' ।

सु'र'मे'द'द'सु'र'मे'द'सु'र'मे' ।

मे'द'द'सु'र'मे'द'सु'र'मे'द'सु'र'मे' । ३३ ।

इस प्रकार विपक्ष (आलस्य) आदि का उन्मूलन करके उत्साह (वीर्य) की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए । उत्साह-वृद्धि के साधन ये हैं—छन्द बल (सामर्थ्य), मान बल (स्थाम = दृढ़ता), रति बल (शुभकर्मों के प्रति आसक्ति) त्याग बल (मुक्ति = प्रतीक्षा), तात्पर्यबल (तत्परता) और वशिता (स्वाधीनता = आत्मवशवर्तिता) । इन उपायों से वीर्य (उत्साह) की वृद्धि करे ।

छन्द बल का प्रतिपादन

अप्रमेया मया दोषा हन्तव्याः स्वपरात्मनोः ।

एकैकस्यापि दोषस्य यत्र कल्पार्णवैः क्षयः ॥ ३३ ॥

तत्र दोषक्षयारम्भे लेशोऽपि मम नेक्ष्यते ।

अप्रमेयव्यथाभाज्ये नोरः स्फुटति मे कथम् ॥ ३४ ॥

१. आचार्य ने अगली कारिकाओं में इनका वर्णन किया है, यथा—छन्द ३३ से ४६ कारिका के पूर्वार्धतक, मान ४६ उत्तरार्ध से ६१ कारिका तक, रति ६२ से ६५ कारिका तक, मुक्ति (इन्तजार) ६६ वीं कारिका में, तात्पर्य (तत्परता) ६७ से ७३ कारिका तक तथा वशिता (स्वाधीनता या आत्मविधेयता) ७४-७५ कारिका में वर्णित हैं ।

བདག་དང་མཉམ་གཅིག་ཏུ་སྒྲིལ་བ་ནི། ।

དབག་མེད་བདག་གིས་མཉམ་བུ་སྒྲིལ། ।

གང་དུ་སྒྲིལ་བ་རེ་རེ་ཡང་། ।

བསྐྱེད་པ་བྱ་བ་མཆོག་ཅན་འགྲུར་བ། ३३ ।

སྒྲིལ་ཟད་ཚུལ་བ་རེ་ཡི་ནི། ।

ཆ་ཡང་བདག་ལ་མ་མཐོང་ན། ।

སྤྱུག་བསྐྱེད་དབག་དུ་མེད་པའི་གནས། ।

བདག་གི་ཅིའི་ཕྱིར་སྒྲིལ་མ་གས། ३४ ।

[सभी प्राणियों का हित करने के लिए मैंने अपने समस्त क्लेशों के प्रहाण और समस्त गुणों के उत्पाद हेतु बोधिचित्त का उत्पाद किया है। शिथिल रहने से काम नहीं बनेगा-ऐसा जानकर भी यदि मुझमें उत्साह की मन्दता रहेगी तो दुर्गति में गमन के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। इस प्रकार सोचकर अपने में उद्वेग उत्पन्न करे और छन्द पैदा करे]

मुझे अपने और पराए अपरिमित काय, वाक् और चित्त के दोषों का नाश करना है। बहुतों की बात छोड़ दीजिए एक दोष के क्षय के लिए भी अनेक कल्प लगते हैं।

उन दोषों का प्रहाण करने के लिए जितने उत्साह की जरूरत है, उसका लेश अर्थात् थोड़ा अंश भी मुझमें दिखाई नहीं देता। इस अपार दुःख को सहते हुए मेरी छाती फट क्यों नहीं जाती ?

ऐसा सोचकर अपने में उद्वेग पैदा करना चाहिए।

गुणा मयार्जनीयाश्च बहवः स्वपरात्मनोः ।

तत्रैकैकगुणाभ्यासो भवेत् कल्पार्णवैर्न वा ॥ ३५ ॥

गुणलेशेऽपि नाभ्यासो मम जातः कदाचन ।

वृथा नीतं मया जन्म कथञ्चित्त्वलब्धमद्भुतम् ॥ ३६ ॥

བདག་དང་མཉམ་གཅིག་ཏུ་སྒྲིལ་བ་ནི། ।

མང་པོ་བདག་གིས་བསྐྱེད་བུ་སྒྲིལ། ।

རེ་ལ་ཡོན་ཏན་རེ་རེ་ཡང་། ।

བསྐྱེད་པ་བྱ་བ་མཆོག་གོམས་འགྲུར་ན། ३५ ।

वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ।
 म'ल'स'व'न'स'य'न'स'स'न' । ।
 व'ल'स'व'न'स'स'न' । ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ३७ ।

अपने और दूसरों के हित के लिए मुझे अपरिमित गुण उपाजित करने हैं और एक-एक गुण का अभ्यास अनन्त कल्पों में हो भी पाता है और नहीं भी ।

थोड़े (अल्प) गुण का भी मैंने कभी अभ्यास नहीं किया । किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से मिला यह अद्भुत मानव जन्म भी मैंने व्यर्थ ही गवाँ दिया ।

न प्राप्तं भवत्पूजामहोत्सवसुखं मया ।
 न कृता शासने कारा दरिद्राशा न पूरिता ॥ ३७ ॥
 भीतेभ्यो नाभयं दत्तमार्ता न सुखिनः कृताः ।
 दुःखाय केवलं मातुर्गतोऽस्मि गर्भशल्यताम् ॥ ३८ ॥
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ३७ ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ।
 वदमा'र्नि'य'न'क'ल'य'न' । ३८ ।

न तो मुझे भगवान् की पूजा के उत्सव का सुख मिला, न तो मैंने सद्धर्म की (स्तूप, प्रतिमा आदि का सत्कार और विहार आदि में दान के द्वारा) पूजा की । दरिद्रों को जो (धन की) अभिलाषा होती है, उसे भी मैंने (सम्पत्ति के दान द्वारा) पूरी नहीं की ।

भयभीत लोगों को मैंने (मत डरो-इस प्रकार) अभय नहीं प्रदान किया और दुःखों से पीड़ित लोगों को कभी सुखी नहीं किया । (सत्पुरुषों द्वारा जो उपर्युक्त भले काम किए जाते हैं, उनमें से मैंने कुछ भी तो नहीं किया । फलतः) मैं तो केवल माता के गर्भ में शल्य (बाहरी, शरीर से भिन्न वस्तु) के रूप में आकर उसको दुःख देने के लिए ही पैदा हुआ । अर्थात् मेरे जन्म का माँ को दुःख देने के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं हुआ ।

धर्मच्छन्दवियोगेन पौर्विकेण समाधुना ।

विपत्तिरोदृशी जाता को धर्मे छन्दमुत्सृजेत् ॥ ३९ ॥

५५॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

पूर्व (जन्मों) में मेरे भीतर धर्म-छन्द (धर्म की अभिलाषा) नहीं थी, उसकी वजह से इस जन्म में मेरे ऊपर ऐसी विपत्ति आ पड़ी है । (यह सब जान अब भला) कौन धर्म के प्रति अभिलाषा छोड़ेगा ।

कुशलानां च सर्वेषां छन्दं मूलं मुनिर्जगौ ।

तस्यापि मूलं सततं विपाकफलभावना ॥ ४० ॥

५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

सभी कुशल कर्मों का मूल भगवान् ने छन्द को कहा है । इस छन्द का भी मूल 'शुभ और अशुभ कर्मों का फल परलोक में इष्ट-अनिष्ट के रूप में प्राप्त होता है'— इस प्रकार की हमेशा भावना करना है । अर्थात् इस प्रकार का विचार हमेशा मन में लाना है ।

दुःखानि दौर्मनस्यानि भयानि विविधानि च ।

अभिलाषविधाताश्च जायन्ते पापकारिणाम् ॥ ४१ ॥

श्रुमा'वश्रुमा'यि'सि'वदे'व'द' । ।

अ'सि'मा'स'व'क'स'व'स'क'मा'स'द' । ।

अ'द'द'व'क'स'स'द'द'मा'व'व' । ।

श्रुमा'व'स'स'द'मा'स'अ'द'द'व'द'अ'द'द' । ८१ ।

सभी प्रकार के कायिक और मानसिक दुःख, (बन्ध-बन्धन-ताड़न आदि से) विविध प्रकार के भय तथा मनोरथों की हानि आदि पाप करनेवालों को ही प्रायः प्राप्त होते हैं ।

मनोरथः शुभकृतां यत्र यत्रैव गच्छति ।

तत्र तत्रैव तत्पुण्यैः फलार्घ्वाभिपूज्यते ॥ ४२ ॥

यि'स'मा'व'स'स'मा'स'द'द'मा'स' । ।

मा'द'द'मा'द'द'अ'द'द'मा' । ।

दे'द'द'दे'द'व'स'स'द'द' । ।

अ'द'द'मा'स'स'द'मा'स'स'द'द'मा' । ८२ ।

पुण्य करनेवालों का मनोरथ जहाँ जहाँ (जिस जिस विषय को प्राप्त करने के लिए) जाता है, उनके पुण्यों के कारण (वह मनोरथ) इष्ट फलरूपी अर्घ से पूजित होता है । अर्थात् सफलताएं उसका आलिङ्गन करती हैं ।

पापकारिसुखेच्छा तु यत्र यत्रैव गच्छति ।

तत्र तत्रैव तत्पापैर्दुःखशस्त्रैर्विह्वल्यते ॥ ४३ ॥

श्रुमा'व'स'स'द'मा'स'अ'द'द'मा' । ।

मा'द'द'मा'द'द'अ'द'द'मा' । ।

दे'द'द'दे'द'व'स'स'द'द' । ।

श्रुमा'व'स'स'द'मा'स'स'द'द'मा' । ८३ ।

पाप करने वालों की सुख की इच्छा तो जहाँ जहाँ (अर्थात् जिस जिस विषय में) जाती है, उनके पापों के कारण (वह इच्छा = मनोरथ) दुःखरूपी शस्त्रों से छिन्न-भिन्न की जाती है । अर्थात् इच्छा पूरी नहीं होती और परिणामस्वरूप दुःख ही प्राप्त होता है ।

(क) कर्म विषयक मान—जो प्राणियों के हित के लिए कर्तव्य कर्म उपस्थित हो गए हैं, उन सबको मुझे अकेले ही करना है। यह कर्म-मान है।

क्लेशस्वतन्त्रो^१ लोकोऽयं न क्षमः स्वार्थसाधने ।

तस्मान्मयैषां कर्त्तव्यं नाशक्तोऽहं यथा जनः ॥ ५० ॥

ཉེན་མེད་ས་དབང་མེད་འཛིག་རྟེན་འདིས། །

རང་དོན་གྲུབ་པར་མི་ཉན་པས།

འབྲོ་བས་བདག་ལྟར་མི་ནས་དེ།

དེ་བས་བདག་གིས་འདི་བྱུང། ༥༠ །

यह सम्पूर्ण प्राणी-जगत् राग, द्वेष आदि क्लेशों के वश में (पराधीन) है। ये अपना स्वार्थ भी सिद्ध करने में असमर्थ हैं। मैं ऐसा असमर्थ (क्लेश-पराधीन) नहीं हूँ, जैसे ये लोग हैं। (मैंने इनके हित और सुख के लिए बोधिचित्त का उत्पाद किया है) इसलिए मुझे ही सब कुछ करना है (अर्थात् इनके हित का भार भी मैं अपने कंधों पर लेता हूँ)।

नोचं कर्म करोत्यन्यः कथं मय्यपि तिष्ठति ।

मानाच्चेन्न करोम्येतन्मानो नश्यतु मे वरम् ॥ ५१ ॥

གཞན་དག་དམན་པའི་ལས་བྱེད་ན།

བདག་ཉིད་ཀྱང་ནི་ཟི་ལྷན་ལྟུགས་

ང་གྱལ་གྱིས་ནི་མི་བྱེད་དེ།

བདག་ལ་ང་གྱལ་མེད་པས་མཆོག་ ༥༡ །

मेरे (सभी प्राणियों के सेवक के) रहते कैसे दूसरा आदमी बोझा-ढोने आदि, लोक में कम महत्त्व के समझे जाने वाले (नीच=गर्हित) काम करता है। (मेरे द्वारा करने योग्य काम क्यों दूसरा करता है, मेरे द्वारा ही किया जाना उचित है-- इसका यह आशय है)।

१. क्लेशास्वतन्त्र (क्लेश + अस्वतन्त्र = क्लेश-पराधीन) यह पाठान्तर भी है, जो ठीक लगता है। क्लेश + स्वतन्त्र इस उपर्युक्त पाठ के अनुसार अर्थ होगा — क्लेश का जो स्व = आत्म-भाव है, उसके अधीन। दोनों का अर्थ क्लेशवश अर्थात् क्लेशपराधीन ही है।

(मैं अमुक का पुत्र और यह छोटा काम ?— इस प्रकार के) मान (अभिमान) के कारण यदि मैं वह काम नहीं करता हूँ तो मेरे (लक्ष्य से भ्रष्ट करनेवाले) इस मान का नष्ट हो जाना ही अच्छा है ।

मृतं दुण्डुभमासाद्य काकोऽपि गरुडायते ।

आपदाबाधतेऽल्पापि मनो मे यदि दुर्बलम् ॥ ५२ ॥

श्रीमद्विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

(ख) उपक्लेश विषयक मान—जैसे विपरहित मरे सांप को पाकर (मुंह में रखकर) कौआ भी गरुड़ के समान बन जाता है,

वैसे ही मेरे मन के दुर्बल होने पर छोटी-छोटी आपत्ति (दुष्प्रवृत्ति) भी मुझे दबोच लेती हैं ।

विषादकृतनिश्चेष्टे आपदः सुकरा ननु ।

व्युत्थितश्चेष्टमानस्तु महतामपि दुर्जयः ॥ ५३ ॥

विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

विष्णुसामान्यसूक्तम् ।

दीनता और उदासी के कारण निश्चेष्ट (हाथ पर हाथ धरे निठले) व्यक्ति पर आसानी से आपत्तियाँ आ जाती हैं । व्युत्थित (अर्थात् सावधान और उत्साह-सम्पन्न) एवं क्रियाशील (उपक्लेशों को उत्पन्न होने का अवसर न देनेवाले) व्यक्ति पर विजय प्राप्त करना बड़े बड़े लोगों के लिए भी मुश्किल होता है ।

तस्माद् दृढेन चित्तो न करोम्यापदमापदः ।

त्रैलोक्यविजिगीषुत्वं हास्यमापज्जितस्य मे ॥ ५४ ॥

आनन्द से रहित होता है । कितने ही दूसरों द्वारा दिए टुकड़ों पर जीते हैं, दास हैं, विवेकशून्य (मूर्ख) हैं, कुरूप (बीभत्स) हैं और दुर्बल हैं तथा सभी ओर से तिरस्कृत हैं । फिर भी वे बेचारे अपनी अकड़ में एँठे (अविनम्र) रहते हैं । यदि उन्हें भी मानी लोगों में गिना जाए तो बोलो फिर दीन कैसे होते हैं ?

ते मानिनो विजयिनश्च त एव शूरा

ये मानशत्रुविजयाय वहन्ति मानम् ।

ये तं स्फुरन्तमपि मानरिपुं निहत्य

कामं जने जयफलं प्रतिपादयन्ति ॥ ५९ ॥

मानं वैमानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं ।

देवं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं ।

मानं वैमानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं ।

मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं । ५९ ।

वे ही (बोधिसत्त्व वस्तुतः) मानी हैं, वे ही विजयी हैं और वे ही शूरवीर (तेजस्वी) हैं, जो मानरूपी शत्रु पर विजय के लिए गर्व को धारण करते हैं । तथा जो ज्वलन्त (प्रभावशाली) और दुर्धर्ष मान रूपी शत्रु को मारकर (बुद्धत्वावस्था में देवताओं सहित इस लोक में) मान पर विजय का फल प्रकाशित करते हैं ।

(ग) शक्तिविषयक मान

संक्लेशपक्षमध्यस्थो भवेद् दृप्तः सहस्रशः ।

दुर्योधनः क्लेशगणैः सिंहो मृगगणैरिव ॥ ६० ॥

क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं ।

क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं ।

क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं ।

क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं क्रुण्वन्मानं । ६० ।

क्लेश वर्ग के बीच में रहते हुए भी हजार-गुना अधिक दीप्तिमान् होना चाहिए । क्लेश गणों से वैसे ही पराजित नहीं होना चाहिए जैसे मृग-समूहों के बीच सिंह पराजित नहीं होता ।

महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु न रसं चक्षुरीक्षते ।

एवं कृच्छ्रमपि प्राप्य न क्लेशवशगो भवेत् ॥ ६१ ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥ ७१ ॥

बड़ी से बड़ी विपत्ति पड़ने पर भी चक्षुरिन्द्रिय रस (मधुर, खट्टा, नमकीन आदि विषय) का ग्रहण नहीं कर सकती (क्योंकि रस उस चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं है), इसी तरह कितना भी बड़ा कष्ट क्यों न आ पड़े, बोधिसत्त्व क्लेशों के वशीभूत न हो ।

रति (शुभ कर्म में आसक्ति) बल का प्रतिपादन

यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत् ।

तत्कर्मशौण्डोऽतृप्तात्मा क्रीडाफलमुखेप्सुवत् ॥ ६२ ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥

ॐ ऋं ऌं एं अं इं उं ऋं ॥ ७२ ॥

जो भी कर्म (सम्भार अर्जन का निमित्त ध्यान, अध्ययन आदि) आ जाए, उस काम (के रस) में निमग्न हो जाए, जैसे जुआँ (द्यूत) खेलने के सुख फल का इच्छुक, बार-बार उस सुख को प्राप्त करने का अभिलाषी, उस क्रिया में लम्पट व्यक्ति (उस क्रिया में) निमग्न रहता है ।

सुखार्थं क्रियते कर्म तथापि स्यान्न वा सुखम् ।

कर्मैव तु सुखं यस्य निष्कर्मा स सुखी कथम् ॥ ६३ ॥

सदेवदेवैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ।

सदेवदुःखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ।

सदेवदुःखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ।

सदेवदुःखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ७३ ।

सभी लोग सुख की इच्छा से कर्म करते हैं (अन्यथा कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी), फिर भी कभी सुख होता है और कभी नहीं भी होता (कर्म निष्फल भी हो जाता है) । परन्तु जिस व्यक्ति के लिए कर्म करना ही सुख है । (इससे अतिरिक्त भावी सुख फल की आकांक्षा नहीं है), वह निष्कर्म (कोई काम न करते हुए) कैसे सुखी रह सकता है ? अर्थात् निष्क्रिय रहते हुए सुखी नहीं रह सकता ।

कामैर्न तृप्तिः संसारे क्षुरधारामधूपमैः ।

पुण्यमृतैः कथं तृप्तिर्विपाकमधुरैः शिवैः ॥ ६४ ॥

सुखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ।

सदेवदुःखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ।

सदेवदुःखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ।

सदेवदुःखैर्दुःखैर्दुःखैर्दुःखैः । ७४ ।

छुरे की धार में लगे हुए मधु (शहद) के समान सांसारिक रूप, रस आदि विषयों से कभी तृप्ति नहीं होती । यदि मधुर रस के लोभ से कोई जीभ से उसे चाटे, तो जीभ कट जाने से परिणाम में दुःख ही होता है, इसी तरह सांसारिक पदार्थों के भोग से परिणाम में दुःख ही हाथ लगता है । किन्तु कल्याणकारी और अभ्युदय-निःश्रेयस फल देने वाले पुण्य रूपी अमृत से कैसे तृप्ति होगी ? अर्थात् पुण्य के मधुर फल से कभी तृप्ति नहीं होती ।

तस्मात् कर्मावसानेऽपि निमज्जेत्तत्र कर्मणि ।

यथा मध्याह्नसन्तप्त आदौ प्राप्तसराः करो ॥ ६५ ॥

दे'ह'स'ल'स'क'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

शु'भ'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' । ७४ ।

कर्म के समाप्त हो जाने पर भी उसी काम के आनन्द-रस में डूबे रहना चाहिए । जैसे दोपहर की धूप से तपा हुआ हाथी शीतल जल से परिपूर्ण तालाब को पाकर पहले-पहल डुबकी लगाता है (और बाद में भी उसी में डूबा रहता है) ।

मुक्ति (कुछ समय इन्तजार) बल का प्रतिपादन

बलनाशानुबन्धे तु पुनः कर्तुं परित्यजेत् ।

सुसमाप्तं च तन्मुश्चेदुत्तरोत्तरतृष्णया ॥ ६६ ॥

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' ।

सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र'सु'र' । ७७ ।

शुरू किए हुए काम के सम्पादन में अपनी असमर्थता दिखे तो 'शक्ति प्राप्त होने पर फिर करूंगा'—ऐसा सोचकर कुछ समय के लिए उसे छोड़ दे (शक्ति न रहने पर भी करते रहने से हानि की सम्भावना है) । जब कार्य अच्छी तरह सम्पन्न हो जाए, तब भी उसे छोड़ दे (किए को फिर-फिर करने से भी व्यर्थ विक्षेप होता है)। किन्तु इस आकांक्षा के साथ छोड़े कि इससे अच्छा, इससे बड़ा काम अब मैं करूंगा ।

तात्पर्य (तत्परता) का प्रतिपादन

क्लेशप्रहारान् संरक्षेत् क्लेशांश्च प्रहरेद् दृढम् ।

खड्गयुद्धमिवापन्नः शिक्षितेनारिणा सह ॥ ६७ ॥

ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।

जैसे शस्त्र-विद्या में कुशल शत्रु के साथ कोई निपुण योद्धा खड्ग-युद्ध में उसके वारों से अपनी रक्षा करता है, साथ ही उस पर प्रहार भी करता है, उसी तरह बोधिसत्त्व क्लेशों के प्रहारों से अपनी रक्षा करे और तत्परता से उनके ऊपर भरपूर प्रहार करे । जिससे वे पराभूत न कर सकें ।

तत्र खड्गं यथा भ्रष्टं गृह्णीयात् सभयस्त्वरन् ।
 स्मृतिखड्गं तथा भ्रष्टं गृह्णीयान्नरकान् स्मरन् ॥ ६८ ॥

ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।

यदि उस खड्ग-युद्ध में किसी तरह खड्ग (तलवार) हाथ से गिर जाए तो भय के साथ शीघ्रतापूर्वक फिर से उसे ग्रहण कर ले (कहीं यह शत्रु इस बीच मुझ पर वार न कर दे), इसी तरह क्लेशरूपी शत्रु पर विजय के लिए स्मृतिरूपी खड्ग यदि स्खलित (भ्रष्ट) हो जाए अर्थात् स्मृति न रहे तो रौरव आदि नरकों का स्मरण करते हुए फिर से स्मृतिमान् हो जाए ।

विषं रुधिरमासाद्य प्रसर्पति यथा तनौ ।
 तथैव छिद्रमासाद्य दोषश्चित्तो प्रसर्पति ॥ ६९ ॥

ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।
 ॐ वसुधैव कुटुम्बकम् ।

जैसे खून से सम्पर्क होने पर विष पूरे शरीर में फैल जाता है, वैसे ही छिद्र (स्मृति का अभाव) पाकर दोष (राग, द्वेष, मान आदि) चित्त में फैल जाते हैं । इसलिए दोषों को अणुमात्र भी अवकाश नहीं देना चाहिए । यदि वे कहीं प्रवेश पा गए तो उनका चित्त में फैलने से रोकना कठिन हो जाएगा ।

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः ।

स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात्तथा व्रती ॥ ७० ॥

पुनरात्मनःपण्डित्यैर्विद्वद्भिरभ्यस्य ।

तत्त्वज्ञानमवाप्नुयान्मरणमपि न भयेत् ॥

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः ।

स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात्तथा व्रती ॥ ७० ॥

कोई व्यक्ति (राजा की आज्ञा से) तैल से भरे पात्र (कटोरे आदि) को हाथ में लेकर (उबड़-खाबड़ मार्ग से) ऐसे राजपुरुषों की निगरानी में चल रहा है, जिनके हाथ में तलवार आदि शस्त्र हैं और जो कह रहे हैं कि एक बूंद भी तैल गिरा तो तुम्हें धड़ से उड़ा देंगे, वह मरने के भय से जैसे तैलपात्र के प्रति पूर्ण सावधान (तत्पर) होता है, वैसे ही बोधिसत्त्व-संवर को धारण करने का जिसने व्रत ले रखा है, उस बोधिसत्त्व को नरक आदि के दुःखों के भय से क्लेश आदि को चित्त में प्रवेश करने का अवसर न देने के लिए सदा तत्पर (सावधान) रहना चाहिए ।

तस्मादुत्सङ्गगे सर्वे यथोत्तिष्ठति सत्त्वरम् ।

निद्रालस्यागमे तद्वत् प्रतिकुर्वीत सत्त्वरम् ॥ ७१ ॥

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः ।

स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात्तथा व्रती ॥

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः ।

स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात्तथा व्रती ॥ ७१ ॥

इसलिए जैसे गोद में साँप के आ पड़ने पर व्यक्ति जैसे (कहीं मुझे यह काट न ले-ऐसा सोचकर) झट-पट उठ खड़ा होता है, वैसे ही निद्रा और आलस्य के आने पर (उनके प्रतिपक्ष अनित्यता आदि की भावना के द्वारा) तत्काल तत्परता से प्रतिकार करे ।

एकैकस्मिद्वल्ले सुष्ठु परितप्य विचिन्तयेत् ।

कथं करोमि येनेदं पुनर्मे न भवेदिति ॥ ७२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

नमो भगवते वासुदेवाय ।

नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७३ ॥

स्मृति के न रहने (भूल हो जाने) के कारण एक-एक स्खलन होने पर (चित्त में दोष का प्रवेश होने पर) अतिशय पछतावा करके सोचे कि “जानते-समझते मुझसे भूल हो गई, मैं कैसे करूँ, जिससे ऐसा स्खलन दुबारा न हो। अर्थात् दृढता से निश्चय करे, शिथिलता न बरते ।

संसर्गं कर्म वा प्राप्तमिच्छेदेतेन हेतुना ।

कथं नामास्ववस्थासु स्मृत्यभ्यासो भवेदिति ॥ ७३ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७४ ॥

इन क्लेशों के प्रवेश की दशाओं में किस उपाय से स्मृति का अभ्यास बिना प्रयत्न के बना रहे, कैसे स्मृति-भ्रंश न हो, इसके लिए साधक व्यक्ति विद्वान् (बहुश्रुत), त्रिपिटक के ज्ञाता आचार्य, उपाध्याय आदि के संसर्ग (साथ) की कामना करे अथवा उनके उपदेश का अनुष्ठान या उनके द्वारा बताए कर्म (दण्ड आदि) की कामना करे ।

आत्मवशवर्तिता का प्रतिपादन

लघुं कुर्यात् तथात्मानमप्रमादकथां स्मरन् ।

कर्मगमाद् यथा पूर्वं सज्जः सर्वत्र वर्तते ॥ ७४ ॥

ठे'क'स'ल'स'गु'र'सु'र'रे'ल'क'स' ।
 स'स'स'ठ'र'ल'क'स'सु'र'स' ।
 रे'ल'र'स'ग'स'र'स'र'स' ।
 स'र'ग'स'र'स'स'स'स' । ७८ ।

अप्रमाद-कथा का स्मरण करते हुए अपने-आपको (अर्थात् अपने काय, वाक् और चित्त को) इस प्रकार स्फूर्तिमान् बनाए, जैसे कर्म आरम्भ करने से पूर्व एक सावधान एवं स्वाधीन व्यक्ति तैयार रहता है ।

यथैव तूलकं वायोर्गमनागमने वशम् ।
 तथोत्साहवशं यायाद् ऋद्धिशचैवं समृध्यति ॥ ७९ ॥

रे'ल'र'स'ग'स'र'स' ।
 रे'ल'र'स'ग'स'र'स' ।
 रे'ल'र'स'ग'स'र'स' ।
 रे'ल'र'स'ग'स'र'स' । ७९ ।

जैसे रुई वायु के जाने-आने के वशीभूत है (अर्थात् वायु जिधर जाएगी, उधर ही रुई जाएगी), उसी तरह बोधिसत्त्व उत्साह (वीर्य) के वश में रहे । इस प्रकार के अभ्यास से उसे ऋद्धि (आकाशगमन आदि) भी प्राप्त होगी ।

॥ बोधिचर्यावतार में वीर्य पारमिता नामक सप्तम परिच्छेद समाप्त ॥

अष्टम परिच्छेद

ध्यान पारमिता

वर्धयित्वैवमुत्साहं समाधौ स्थापयेन्मनः ।

विक्षिप्तचित्तस्तु नरः क्लेशदंष्ट्रान्तरे स्थितः ॥ १ ॥

दे'वु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' । ।

य'र'व'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' । ।

सो'म'र'व'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' । ।

उ'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' २ ।

इस प्रकार (पूर्वोक्त विधि से) उत्साह (वीर्य) को अभ्यास द्वारा बढ़ाकर (तथा आलस्य आदि का उन्मूलन करके) अपने चित्त को समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता^१ में लगाए, क्योंकि जिसका चित्त विक्षिप्त (डावाँडोल) होता है, वह (चाहे वीर्यवान् ही क्यों न हो) क्लेश-रूपी राक्षसों की दाढ़ में ही मानों स्थित है ।

कायचित्तविवेकेन विक्षेपस्य न सम्भवः ।

तस्माल्लोकं परित्यज्य वितर्कान् परिवर्जयेत् ॥ २ ॥

सु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' । ।

र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' । ।

दे'व'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' । ।

र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'मु'र'म'ह'व'र'म' ३ ।

१. अग्र का अर्थ आलम्बन है । अतः चित्त का एक ही आलम्बन में स्थित रहना चित्त की 'एकाग्रता' या 'एकालम्बनता' कहलाता है । इस एकाग्रता का विरोधी विक्षेप है । एक ही आलम्बन में स्थित न रहकर चित्त का क्षण-क्षण भिन्न-भिन्न आलम्बन में जाना 'विक्षेप' है । विक्षेप बिना हटाए एकाग्रता सम्भव नहीं है ।

कायविवेक (जनसम्पर्क से रहितता) तथा चित्तविवेक (काम भोगों के विषय में चिन्तन से रहितता) होने पर चित्त में विक्षेप का उत्पाद होना सम्भव नहीं है। इसलिए लोक (बन्धु, बान्धव, स्वजन आदि) को छोड़कर (पहले) वितर्कों को (जो चित्तविक्षेप के हेतु हैं) छोड़े।

[चित्त-विक्षेप के हेतु अत्यधिक जनसम्पर्क और कामभोग (रूप, रस, स्पर्श आदि के भोग) विषयक चिन्तन (वितर्क) हैं। अतः हेतु का त्याग उचित है, न कि लोक का त्याग। महायान में लोक त्याज्य नहीं होता, अपि तु मिथ्या वितर्क (Thoughts) अर्थात् अतात्त्विक चिन्तन ही त्याज्य होता है।]

स्नेहान्न त्यज्यते लोको लाभादिषु च तृष्णया ।

तस्मादेतत्परित्यागे विद्वानेवं विभावयेत् ॥ ३ ॥

कृत्'सदि'क्षि'र'द'द'द'द'स'त्'त्' ।

क्षि'र'स'स'द'द'द'द'द'द'द' ।

द'स'स'द'द'द'द'द'द'd' ।

स'स'स'स'द'द'द'd' । ३ ।

आत्मा, आत्मीय के प्रति स्नेह और लाभ, सत्कार, यश आदि के प्रति तृष्णा (लोभ) के कारण लोक का त्याग व्यक्ति नहीं कर पाता, अतः स्नेह और लोभ के परित्याग के लिए विद्वान् को इस प्रकार (निम्न लिखित प्रकार) से चिन्तन करना चाहिए।

शमथेन विपश्यनामुयुक्तः

कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।

शमथः प्रथमं गवेषणीयः

स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥ ४ ॥

क्षि'मा'क्ष'स'स'द'd' ।

क्षि'स'स'स'd' ।

क्षि'स'स'क्ष' ।

क्षि'क्ष' ।

शमथ (समाधि अर्थात् चित्तैकाग्रता) में अच्छी तरह लगा हुआ तथा विपश्यना^१ में अच्छी तरह लगा हुआ अथवा शमथ के द्वारा विपश्यना में लगा हुआ अथवा शमथ के साथ विपश्यना में लगा हुआ मुमुक्षु (मोक्ष का आकांक्षी) बोधिसत्त्व 'शमथ और विपश्यना के युगनद्धवाही मार्ग द्वारा क्लेशों का सर्वथा प्रहाण (विनाश) किया जाता है'—ऐसा जानकर पहले अपने चित्त में शमथ (एकाग्रता) का उत्पाद करे (बाद में विपश्यना का उत्पाद करे) । वह शमथ भी लोक के प्रति अभिरति (आसक्ति) की निरपेक्षता से उत्पन्न होता है । (अर्थात् लोक के प्रति प्रेम तो हो, किन्तु आसक्ति न हो) ।

अभिरति की निरपेक्षता का उत्पाद

कस्यानित्येष्वनित्यस्य स्नेहो भवितुमर्हति ।

येन जन्मसहस्राणि द्रष्टव्यो न पुनः प्रियः ॥ ५ ॥

मि'दमा'सु'विमा'मि'दमा'वा ।

अद'दमा'कत'वर'सुद'स'अद ।

देस'के'क'र'स'स'स'स'स'स' ।

सुमा'वर'म'स'स'स'स'स'स'स' ।

किस अनित्य चेतनावान् (सचेतन) का अनित्य वस्तुओं (धन, पुत्र आदि) में स्नेह करना उचित कहा जा सकता है ? अर्थात् उचित नहीं है । क्योंकि इस अनित्यता की वजह से हजारों जन्म-जन्मान्तरों में भ्रमण करते हुए भी वह प्रिय व्यक्ति दुबारा दिखलाई पड़ने योग्य नहीं है ।

अपश्यन्नरतिं याति समाधौ न च तिष्ठति ।

न च तृप्यति दृष्ट्वापि पूर्ववद् बाध्यते तृषा ॥ ६ ॥

म'म'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

अद'दमा'कत'वर'सुद'स'अद ।

म'म'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सुमा'वर'म'स'स'स'स'स'स'स' ।

१. विपश्यना का अर्थ प्रज्ञा है । जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप (शून्यता) को जानती है, वह 'प्रज्ञा' है । अतः चित्त में पहले एकाग्रता का अभ्यास कर उस एकाग्रता को प्रज्ञा द्वारा निश्चित (वस्तुतत्त्व) पर स्थिर करना 'शमथ-विपश्यना युगनद्धवाही' मार्ग कहलाता है ।

जब प्रिय दिखलाई नहीं पड़ता तो व्यक्ति में धैर्य नहीं रहता और इस बेचैनी के कारण चित्त समाधि (एकाग्रता) में स्थित नहीं हो पाता । फिर जब वह (व्यक्ति अर्थात् प्रिय) दिखाई पड़ता है, तब भी उससे तृप्ति नहीं होती, बार-बार अधिकाधिक देखने की तृष्णा बढ़ती है । अर्थात् दोनों (दर्शन और अदर्शन) अवस्थाओं में व्यक्ति पीड़ित होता है ।

अतः प्रिय-संगति सभो अनर्थो का कारण है ।

न पश्यति यथाभूतं संवेगादवहीयते ।

दह्यते तेन शोकेन प्रियसंगमकाङ्क्षया ॥ ७ ॥

सोमस'ठक्'कमस'ल'कमस'सुस'क् ।

ल'द'म'कै'ल'गु'क्'क्'क्'क्'क्' ।

सु'स'सोमस'गु'द'द'म'स'सु' ।

स'म'ल'सु'द'क्'म'द'स'द'गु' । ७ ।

प्रिय के साथ संगम (समागम) की आकांक्षा के कारण व्यक्ति यथाभूत अर्थात् गुण को गुण के रूप में और दोष को दोष के रूप में अविपरीत नहीं देख पाता और जो दुःखमय संसार के प्रति उद्वेग होता है, उससे भी हीन (रहित) हो जाता है । इतना ही नहीं, वह उस प्रिय के वियोग से उत्पन्न शोक के द्वारा बराबर जलता रहता है ।

तच्चिन्तया मुधा याति ह्रस्वमायुर्मुहुर्मुहुः ।

अशाश्वतेन धर्मेण धर्मो भ्रश्यति शाश्वतः ॥ ८ ॥

दे'ल'सोमस'स'द'स'द'द'म'स' ।

कै'द'दे'क्'मे'द'द'स'द'गु' ।

द'म'स'मे'द'स'मे'द'स'मे'द'गु' ।

म'ल'द'द'कै'ल'गु'द'द'म'स'द'गु' । ८ ।

उस प्रिय की अथवा प्रिय के समागम की चिन्ता से (अर्थात् उसके गुणों को सोचते रहने से और उसी के प्रति तल्लीन रहने से) व्यर्थ ही आयु प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है (अर्थात् कुशल कर्म के सम्पादन का अवसर ही नहीं मिलता) जबकि

वह प्रिय निश्चितरूप से क्षण-भंगुर है अर्थात् अशाश्वत है। उस अशाश्वत (प्रियचिन्तन) के कारण जो धर्म शाश्वत (स्थिर) है (अर्थात् परलोक या बुद्धत्व प्राप्ति में नियत सहायक है) उसकी हानि होती है।

बालैः सभागचरितो नियतं याति दुर्गतिम् ।

नेष्यते विषभागश्च किं प्राप्तं बालसंगमात् ॥ ९ ॥

सुखं न भवति मम मम मम सुखं ।

दिव्यं न भवति मम मम मम मम मम ।

मम मम मम मम मम मम मम ।

सुखं न भवति मम मम मम मम मम । ९ ।

बाल और पृथग्जन के समान छिछले चरित वाले लोग निश्चित ही दुर्गति को प्राप्त करते हैं। जो उस प्रकार के चरित वाले नहीं होते अर्थात् आर्यों के समान चरित वाले होते हैं, उनसे बाल-पृथग्जन^१ द्वेष करते हैं। अतः बाल-पृथग्जनों की संगति से क्या लाभ है ?

क्षणाद् भवन्ति सुहृदो भवन्ति रिपवः क्षणात् ।

तोषस्थाने प्रकुप्यन्ति दुराराधाः पृथग्जनाः ॥ १० ॥

मम मम मम मम मम मम मम ।

सुखं न भवति मम मम मम मम मम ।

दिव्यं न भवति मम मम मम मम मम ।

सुखं न भवति मम मम मम मम मम । १० ।

पृथग्जनों को सन्तुष्ट रखना बड़ा मुश्किल है। वे (स्वार्थ होने पर) क्षण भर में मित्र हो जाते हैं और फिर वे (स्वार्थ निकल जाने पर या थोड़ा मतभेद हो जाने पर) क्षण भर में शत्रु हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वे जहाँ खुश होना चाहिए उस विषय में भी (विपरीत बुद्धि के कारण) नाराज हो जाते हैं। अर्थात् उनके सन्तुष्ट होने और असन्तुष्ट होने का कोई निश्चित निमित्त नहीं होता।

१. बाल और पृथग्जन प्रायः पर्यायवाची हैं। बौद्ध ग्रन्थों में इनका साथ-साथ प्रयोग होता है। हिन्दी में इसका अर्थ छिछला, बेसमझ, साधारण सांसारिक पुरुष आदि होता है तथा अंग्रेजी में इसके लिए Layman शब्द का प्रयोग होता है।

हितमुक्ताः प्रकुप्यन्ति वारयन्ति च मां हितात् ।

अथ न श्रूयते तेषां कुपिता यान्ति दुर्गतिम् ॥ ११ ॥

सक'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' ।

स'प'र'गु'र'स'क'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' ।

दे'प'र'गु'र'स'क'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' ।

सि'प'र'गु'र'स'क'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' ११ ।

‘यह कर्त्तव्य है, यह अकरणीय है’—इस प्रकार हित की बात कही जाए तो बाल-पृथग्जन (मूढ़ जन) कुपित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वे मुझे भी कल्याण-कर्म करने से रोकते हैं। यदि उनकी बात न सुनी जाए तो वे कुपित होते हैं और फलस्वरूप दुर्गति में पतित होते हैं।

ईर्ष्योत्कृष्टात् समाद् द्वन्द्वो हीनान्मानः स्तुतेर्मदः ।

अवर्णात् प्रतिघश्चेति कदा बालाद्धितं भवेत् ॥ १२ ॥

सि'प'र'गु'र'स'क'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' ।

स'प'र'गु'र'स'क'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' ।

सि'प'र'गु'र'स'क'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' ।

स'प'र'गु'र'स'क'प'र'क्ष'स'क'सि'प'र'मु' १२ ।

अपने से विद्या, धन आदि से उत्तम लोगों के प्रति उन (बाल-पृथग्जनों) में ईर्ष्या (असहिष्णुता) होती है। अपने समान लोगों के प्रति विवाद (अर्थात् कलह) होता है। अपने से हीन लोगों के प्रति अभिमान की भावना होती है। अपनी स्तुति (प्रशंसा) सुनकर (अर्थात् जो गुण अपने में विद्यमान नहीं है, उनका दूसरों द्वारा बखान सुनकर) घमण्ड होता है। अपयश करनेवालों के प्रति उनमें द्वेष होता है। इस तरह बाल-पृथग्जनों से कब किसके हित की सम्भावना है? अर्थात् कभी नहीं। अतः उनके साथ संगति नहीं करनी चाहिए।

आत्मोत्कर्षः परावर्णः संसाररतिसंकथा ।

इताद्यवश्यमशुभं किञ्चिद् बालस्य बालतः ॥ १३ ॥

सुखं दत्तं भवति तत्र सुखं च भवति ।
 न दत्तं न भवति न भवति न भवति ।
 न भवति न भवति न भवति न भवति ।
 न भवति न भवति न भवति न भवति । १३ ।

अपनी प्रशंसा, दूसरों की निन्दा और सांसारिक कामभोगों के सरस वर्णन आदि के समान कुछ अन्य अकुशल (पाप) एक बाल-पृथग्जन से दूसरे बाल-पृथग्जन को अवश्य प्राप्त होते हैं ।

एवं तस्यापि तत्सङ्गात् तेनानर्थसमागमः ।
 एकाकी विहरिष्यामि सुखमविलम्बमानसः ॥ १४ ॥

न भवति न भवति न भवति न भवति ।
 न भवति न भवति न भवति न भवति ।
 न भवति न भवति न भवति न भवति ।
 न भवति न भवति न भवति न भवति । १५ ।

उस दूसरे को भी इसी तरह उस (पहले) के संग से अवश्य ही कुछ अकुशल (पाप) प्राप्त होते हैं । इस तरह बालपृथग्जनों का समागम (संग) एक प्रकार से अनर्थ (अकल्याण) का ही समागम है । इसलिए आर्य धर्मों की शिक्षा के लिए दुर्जन-संगति से दूर रहते हुए अविलम्ब (क्लेशरहित) चित्त वाला होकर मैं सुखपूर्वक अकेले ही रहूंगा ।

बालाद् दूरं पलायेत प्राप्तमाराधयेत् प्रियैः ।
 न संस्तवानुबन्धेन किं तूदासीनसाधुवत् ॥ १५ ॥

सुखं दत्तं भवति तत्र सुखं च भवति ।
 न दत्तं न भवति न भवति न भवति ।
 न भवति न भवति न भवति न भवति ।
 न भवति न भवति न भवति न भवति । १६ ।

बाल-पृथग्जन से दूर ही हटा रहे (जिससे उसके साथ सम्पर्क न हो सके) ।
यदि किसी तरह दैवयोग से मिल ही जाए तो मधुर व्यवहार द्वारा उसे प्रसन्न रखे ।
किन्तु सामान्य जान-पहचान से अधिक घनिष्टता न बढ़ाए, अपितु राग-द्वेष से रहित
उदासीन (मध्यस्थ) साधु (सज्जन) पुरुष के समान वर्ताव करे ।

धर्मार्थमात्रमादाय भृङ्गवत् कुसुमान्मधु ।

अपूर्वं इव सर्वत्र विहरिष्याम्यसंस्तुतः ॥ १६ ॥

सुद'सस'मे'र'ग'सुद'के'स'ले'न ।

के'स'गु'र'क'स'सुद'स'क'स'के' ।

गु'र'स'सु'र'क'स'स'सुद'स'ले'न ।

र'स'स'मे'र'स'स'ग'स'स'सु' १७ ।

भौरे की तरह फूलों से मधु (शहद) का ग्रहण करने की भाँति मैं (बोधिसत्त्व)
धर्ममात्र (का सम्पादन करने) के लिए समाज से चीवर, पिण्डपात आदि का ग्रहण
करते हुए नवागन्तुक अपरिचित व्यक्त की तरह सभी जगह और सभी कालों में
लोगों के बीच रहूँगा (ऐसा संकल्प ले) ।

भोजन वस्त्र के बिना जीवित रहना कठिन है और जीवित रहे बिना धर्म का
अनुष्ठान नहीं किया जा सकता । अतः जीवन-धारण भर के लिए, जिससे धर्मानुष्ठान
हो सके, भोजन-वस्त्र आदि का समाज से ग्रहण करे । उनके प्रति आसक्ति न रखे ।

लाभी च सत्कृतश्चाहमिच्छन्ति बहवश्च माम् ।

इति मर्त्यस्य सम्प्राप्तान्मरणाज्जायते भयम् ॥ १७ ॥

स'स'के'के'र'स'स'ग'स'स'ले'न ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

र'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

मैं (सम्पत्ति का) लाभी हूँ, मैं पूजित (सत्कृत) हूँ, बहुत से लोग मुझे
चाहते हैं—ऐसा सोचते रहने वाले मनुष्य को मौत आने पर बड़ा भय होता है ।

दुनिया में इस अनादि संसार में बहुत से लाभ (समृद्ध लोग) हुए हैं और बहुत से यशस्वी हुए हैं, किन्तु अपने सारे लाभ और यश के साथ ये लोग न जाने कहाँ चले गए ?

सामेवान्ये जुगुप्सन्ति किं प्रहृष्याम्यहं स्तुतः ।

सामेवान्ये प्रशंसन्ति किं विषोदामि निन्दितः ॥ २१ ॥

सदमा'ल'स्त्रे'द'स'म'ल'ल'ल'ल'ल'ल' ।

स'स्त्रे'द'स'स'स'द'द'द'द'द'ल'ल'ल'ल'ल' ।

सदमा'ल'स'स्त्रे'द'स'म'ल'ल'ल'ल'ल' ।

स्त्रे'द'स'स'स'द'द'द'द'द'ल'ल'ल'ल'ल' ३१ ।

मैं प्रशंसा होने पर क्यों प्रसन्न होता हूँ, जब कि अन्य अनेक लोग मेरी निन्दा करनेवाले भी हैं। इसी तरह निन्दा होने पर भी मैं क्यों दुःखी होता हूँ, जब कि कुछ दूसरे लोग मेरी प्रशंसा भी करते हैं।

अर्थात् प्रशंसा होने पर सुख का तथा निन्दा होने पर दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिए। अपि तु बोधिसत्त्व को निन्दा और प्रशंसा दोनों अवस्थाओं में समान रहना चाहिए।

नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वा जिनैरपि न तोषिताः ।

किं पुनर्मद्विशैरज्ञैस्तस्मात् किं लोकचिन्तया ॥ २२ ॥

सोम'स'उ'उ'स'स'स'स'स'स'स' ।

सु'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सदमा'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल' ।

द'स'स'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल' ३२ ।

संसार में नाना प्रकार की रुचि वाले प्राणी हैं। उन सबको तो सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध भी सन्तुष्ट नहीं कर पाए। फिर मेरे जैसे अज्ञानी के बारे में तो कहना ही क्या ? अर्थात् मेरे जैसे लोगों के लिए सबको सन्तुष्ट कर पाना सर्वथा असम्भव है। इसलिए मुझे लोक (समाज की प्रसन्नता) की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

निन्दन्त्यलाभिनं सत्त्वमवध्यायन्ति लाभिनम् ।

प्रकृत्या दुःखसंवासैः कथं तैर्जायते रतिः ॥ २३ ॥

སེམས་ཅན་རྩིད་པ་མེད་ལ་སྟོན།

ཉིད་པ་ཅན་ལ་མི་སྟོན་བཟོད།

རང་བཞིན་འབྲེལ་ས་དཀར་དེ་དག་གིས། །

དགའ་བ་ཅི་ལྟར་སྤྱོད་པར་འགྱུར། ༣༣ །

दुनियाँ में अलाभी (लाभ-सत्कार से रहित) व्यक्ति की 'यह अभागा है, पुण्यात्मा नहीं है' कहकर सामान्य लोग निन्दा करते हैं। लाभी (लाभ-सत्कार प्राप्त) का भी यह कहकर तिरस्कार करते हैं कि 'इसने बेईमानी से लोगों को ठग कर पैसा कमाया है, क्या इसके जैसे गुण दूसरे में नहीं हैं'-इत्यादि। स्वभाव से बाल-पृथग्जनों के साथ संवास दुःखदायी है। उनके साथ रहने वालों को प्रसन्नता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

न बालो कस्यचिन्मित्रमिति चोक्तं तथागतैः ।

न स्वार्थेन विना प्रीतिर्यस्माद् बालस्य जायते ॥ २४ ॥

གང་ཕྱིར་བྱིས་པ་རང་དོན་ནི།

མེད་པར་དགའ་བ་མི་འབྱུང་བས།

གྱིས་བ་འགའ་ཡང་བཤེས་མིན་ཞེས། །

དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་རྣམས་ཀྱིས་གསུངས། ༣༧ །

बाल-पृथग्जन किसी के मित्र नहीं होते—ऐसा तथागत ने (सूत्रों में) कहा है, क्योंकि बिना स्वार्थ उनकी किसी से प्रीति नहीं होती ।

जब स्वार्थ सध जाता है तो प्रेम टूट जाता है। इसलिए ऐसे लोगों से दोस्ती (मित्रता) परिणाम में दुःख ही लाती है। अतः दुर्जनों की संगति न करे।

*स्वार्थद्वारेण^१ या प्रीतिरात्मार्थं प्रीतिरेव सा ।

द्रव्यनाशे यथोद्वेगः सुखहानिकृतो हि सः ॥ २५ ॥

नावध्यायन्ति तरवो न चाराध्याः प्रयत्नतः ।

कदा तैः सुखसंवासैः सह वासो भवेन्मम ॥ २६ ॥

* བད་དཔེ་རྣམས་ཀྱི་ཆོག་མ་བཅད་ཉི་ལྔ་ཙུ་ལ་བ་ལོ་བསྐྱར་མེད།

१. ग्रन्थ के भोट-पाठ में इस कारिका का अनुवाद नहीं है।

ས་ཕྱོགས་བདག་གི་བརྒྱུ་མེད་པ། ।

རང་བཞིན་གྱིས་ནི་ཡངས་ནམས་སྤྱ། ।

རང་དབང་སྤྱོད་ཅིང་ཆགས་མེད་པར། ।

ནམ་ཞིག་བདག་ནི་གནས་པར་འགྱུར། ३८ ।

दूर-दूर तक फैले और जो मेरे नहीं हैं--ऐसे प्रदेशों में स्वाभाविक रूप से (बनावटी रूप में नहीं) स्वच्छन्द होकर (किसी के वश में होकर नहीं) निरासक्त भाव से मैं कब विचरण करूंगा ?

मृत्पात्रमात्रविभवश्चौरासम्भोगचीवरः ।

निर्भयो विहरिष्यामि कदा कायमगोपयन् ॥ २९ ॥

ལྷུང་བཟེད་ལ་སྐྱོགས་ཉི་ཆོད་པ། ।

ཀུན་ལ་མི་མཁྱེན་གྱིས་འཆང་ཞེད། ।

ལུས་འདི་སྤྱོད་པར་མ་བྱས་ཀྱང་། ।

འཛིགས་མེད་གནས་པར་ནམ་ཞིག་འགྱུར། ३० ।

सम्पत्ति के रूप में मिट्टी का पात्र लिए और चोर भी न चुरा सकें (फटा-टूटा होने से) ऐसा चीवर (वस्त्र) पहने, (बाह्य और आध्यात्मिक परिग्रह और आग्रह न होने से) काय को बिना छिपाए (काय और जीवन के प्रति निरपेक्ष होने से) निर्भय होकर मैं कब विचरण करूंगा ?

निरासक्त होने के लिए अनित्यता की और अशुभ की भावना जरूरी है ।

कायभूमि निजां गत्वा कङ्कालैरपरैः सह ।

स्वकायं तुल्यिष्यामि कदा शतनधर्मिणम् ॥ ३० ॥

དུར་ཁྱོད་སྤོང་ནས་གཞན་དག་གི། ।

ལུས་མོང་དག་དང་བདག་གི་ལུས། ।

འཛིག་པའི་ཆོས་ཅན་དག་དུ་ནི། ।

ནམ་ཞིག་མཁྱེན་གྱིས་བྱེད་པར་འགྱུར། ३० ।

अपनी निजी कायभूमि अर्थात् श्मशानभूमि में जाकर दूसरे के अस्थि-पञ्जरों से कब मैं अपने इस सड़ने-गलने वाले शरीर की तुलना करूंगा ?

निज कायभूमि—चाहे कितने ही दिन शरीर इस दुनियाँ में जीवित रहे, किन्तु निश्चय ही यह शरीर आखिरकार एक दिन श्मशानभूमि में ही जाता है, इसलिए शरीर की यह अपनी निजी भूमि है। इसलिए श्मशानभूमि 'निज कायभूमि' कही गयी है।

अयमेव हि कायो मे एवं पूतिर्भविष्यति ।

शृगाला अपि यद् गन्धान्नोपसर्पेयुरन्तिकम् ॥ ३१ ॥

मम'मा'सुख'वि'दन्'क्रि'तु' । ।

मम'मा'द्वि'प्ल'स'पु'न'मा'तु' । ।

सु'द'क्रि'त'द'सु'ख'द'सु'ख' । ।

दे'ह'सु'ख'वि'द'सु'ख'म'द' ३१ ।

तुलना—यही मेरा शरीर (जो अत्यन्त प्रिय और सुन्दर समझा जाता है) इस प्रकार (श्मशान में स्थित दूसरे सड़े-गले शरीरों की भाँति) सड़-गल (जुगुप्सित हो) जाएगा कि जिसकी दुर्गन्ध से (मुर्दे के मांस को खानेवाले) शृगाल भी उसके पास नहीं फटकेंगे ।

अस्यैकस्यापि कायस्य सहजा अस्थिखण्डकाः ।

पृथक् पृथक् गमिष्यन्ति किमुतान्यः प्रियो जनः ॥ ३२ ॥

सुख'द'मा'तु'सु'द'मा'तु' । ।

हृ'द'मा'तु'सु'द'मा'तु' । ।

वि'द'सु'ख'द'सु'ख'द'सु'ख' । ।

म'द'सु'ख'द'सु'ख'द'सु'ख' । ३२ ।

इस, एक (अखण्ड) शरीर के साथ ही जो अस्थि-खण्ड (हड्डी के टुकड़े) उत्पन्न हुए हैं, वे भी सब अलग-अलग विसंयुक्त हो जाएंगे । (जब साथ में उत्पन्न वस्तुओं की यह हालत है तो) प्रियजन जो साथ में उत्पन्न नहीं हैं, (अर्थात् प्रारम्भ से ही विसंयुक्त हैं) उनके बारे में तो कहना ही क्या ?

एक उत्पद्यते जन्तुम्रियते चैक एव हि ।

नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः ॥ ३३ ॥

स्त्रो'व'म'उ'म'सु'स्त्रो'द'गु'र'वि'द' ।
 द'कि'व'द'द'दे'उ'द'म'उ'म'द'कि'द्वे ।
 सु'म'म'सु'द'सु'द'म'व'व'म'व'व' ।
 मो'म'स'सु'द'म'द'द'म'स'उ'वि'म'सु । ३३ ।

अकेला ही प्राणी जन्म लेता है और अकेला ही मरता है । (उसके जन्म-मरण आदि के दुःख का कोई दूसरा भागीदार नहीं होता, मनुष्य अपने किए कर्म का स्वयं फल भोगता है) उसके दुःख का कोई अन्य भागीदार नहीं है । इसलिए कुशल पक्ष में विघ्नकारक प्रिय जनों से क्या प्रयोजन ?

अध्वानं प्रतिपन्नस्य यथावासपरिग्रहः ।
 तथा भवाध्वगस्यापि जन्मावासपरिग्रहः ॥ ३४ ॥
 द'म'द'म'दु'वे'व'म'स'स'द'म'स' ।
 वि'द'द'म'व'v'वि'द'वि'द'द'द' ।
 दे'म'वि'व'सु'द'म'द'द'म'व'v'वि'd' ।
 स्त्रो'म'वि'म'v'वि'वि'द'स'सु'द'वि' । ३५ ।

कहीं जाने के लिए मार्ग में चल रहे राही का दूसरे राही लोगों के साथ जैसे किसी धर्मशाला आदि में कुछ समय के लिए निवास हो जाता है, उसी तरह कर्म के अनुसार इस संसार में भ्रमण कर रहे प्राणियों का भी अपने जाति-विरादरी, कुटुम्ब आदि के लोगों के साथ एक जन्म में आवास-निवास हो जाता है ।

किन्तु उन्हें छोड़ कर व्यक्ति फिर अकेला ही जाता है । कोई उसका सहायक नहीं होता । इसलिए संगति या सम्बन्ध का वास्तविक मूल्य नहीं है । इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि सभी अनर्थों की मूल काल्पनिक संगति का परित्याग करे ।

चतुर्भिः पुरुषैर्यावत् स न निर्धार्यते ततः ।
 आशोच्यमानो लोकेन तावदेव वनं व्रजेत् ॥ ३५ ॥
 द'वि'म'दे'व'गु'व'v'वि'म'द'म'वि'v' ।
 वि'सु'द'सु'स'सु'म'वि'वि'वि' ।
 दे'सु'स'दे'वि'म'm'वि'म'स' ।
 दे'सु'द'द'वि'v'वि'वि'वि'वि' । ३६ ।

(नहीं चाहते हुए भी व्यक्ति को मृत्यु निश्चित ही उठा लेती है और घर-द्वार छूट जाता है, इसलिए) जब तक व्यक्ति (मृत्यु के बाद) चार पुरुषों के द्वारा (अर्थी पर रख कर) घर से बाहर (श्मशान के लिए) नहीं ले जाया जाता और जब तक सगे-सम्बन्धियों के द्वारा 'हा पुत्र, हा वत्स'—इस प्रकार से विलाप नहीं किया जाता, तब तक (स्वयं अपने मन से घर छोड़ कर ध्यान-भावना आदि के लिए) वन में चले जाना उचित है ।

असंस्तवाविरोधाभ्यामेक एव शरीरकः ।

पूर्वमेव मृतो लोके म्रियमाणो न शोचति ॥ ३६ ॥

ममेक्ष'मेद'मिदं'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ।

मृक्ष'मद'मिदं'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ।

मृक्ष'मि'मद'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ।

मि'मद'मृक्ष'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ३७ ।

घर से निकला हुआ अकेला व्यक्ति पहले से ही लोगों के द्वारा मरा--जैसे मान लिया जाता है, अतः राग, द्वेष नहीं होने से मरते समय वह शोक नहीं करता ।

न चान्तिकचराः केचिच्छोचन्तः कुर्वते व्यथाम् ।

बुद्धाद्यनुस्मृतिं चास्य विक्षिपन्ति न केचन ॥ ३७ ॥

मृक्ष'मि'मद'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ।

मृक्ष'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ।

मृक्ष'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ।

मृक्ष'मम'मेद'मृक्ष'वक्ष । ३८ ।

उसके समीप ऐसे नजदीकी लोग नहीं हैं, जो उसके वियोग से शोक करते हुए व्यथा (पीड़ा) उत्पन्न करें, न तो मरने के समय बुद्ध, धर्म आदि की अनुस्मृति (या तत्त्वालम्बन) करते हुए एकान्तचारी उस व्यक्ति के धर्माचरण में ही कोई विक्षेप करते हैं ।

तस्मादेकाकिता रम्या निरायासा शिवोदया ।

सर्वविक्षेपशमनो सेवितव्या मया सदा ॥ ३८ ॥

ने'सस'येक्'हु'मन्दस'दमा'मदि । ।

दमास'ह'ल'ह'मस'हु'म'दे'सु'द' । ।

मा'ये'म'म'मस'उ'द'जे'सु'द'म' । ।

म'द'मा'हु'द'मा'सु'मा'द'स'म'स' । ३८ ।

इसलिए रमणीय, दुःखरहित, निःश्रेयस का हेतु होने से कल्याणकारी, काय, वाक्, मन के सभी विक्षेपों को शान्त करनेवाली एकाकिता (अकेलेपन) का हमेशा मुझे सेवन करना चाहिए ।

सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्तः स्वचित्तैकाग्रमानसः ।

समाधानाय चित्तस्य प्रयतिष्ये दमाय च ॥ ३९ ॥

म'स'म'म'मा'द'स'जे'गु'द'म'द' । ।

म'द'मा'ल'स'म'म'म'स'सु'म' । ।

स'म'स'जे'म'द'म'म'मा'द'स' । ।

हु'ल'म'स'सु'सु'द'म'द' । ३९ ।

सभी दूसरे प्रकार के चिन्तन (असत् विचारों) को छोड़ कर अपने चित्त (की चेष्टाओं) के ऊपर ही अपने मन को केन्द्रित करके चित्त के शमन के लिए तथा बाहरी विक्षेपों के निवारण अर्थात् एकाग्रता हेतु दमन के लिए प्रयत्न करूंगा ।

कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च ।

इह बन्धवधोच्छेदैर्नरकादौ परत्र च ॥ ४० ॥

म'द'मा'द'स'म'द'स'म'द' । ।

म'द'स'म'द'स'म'द'स'म'द' । ।

म'द'स'म'द'स'म'द'स'म'द' । ।

म'द'स'म'द'स'म'द'स'म'द' । ४० ।

रूप, शब्द, गन्ध, रस आदि काम-तृष्णा (काम भोगेच्छा) के विषय (काम विषय) सेवित होने पर क्योंकि इस लोक और परलोक दोनों में अनर्थ को पैदा करते हैं (इसलिए उनका सेवन नहीं करना चाहिए) । वध, बन्धन, छेदन आदि दुःख इन्हीं की वजह से इस लोक और नरक आदि में होते हैं ।

जब प्रिय (पत्नी, प्रेमिका) आदि की सत्ता कल्पित मात्र है, वस्तुतः वे हड्डियों के ढेर मात्र हैं तो श्मशान में उपलब्ध हड्डियों का आलिंगन करके क्यों सुखी नहीं हो लेते ?

उन्नाम्यमानं यत्नाद् यत्नीयमानमधो ह्रिया ।

पुरा दृष्टमदृष्टं वा मुखं जालिकयावृतम् ॥ ४४ ॥

तन्मुखं त्वत्परिवलेशमसहद्भिरिवाधुना ।

गृध्रैर्व्यक्तीकृतं पश्य किमिदानीं पलायसे ॥ ४५ ॥

माद'ब्रिमा'द'सो'द'स'दे'स'दे' ।

द'स'गुद'द'द'स'द'मा'द'स' ।

सु'द'द'स'द'स'द'स'द'स' ।

मा'स'गु'स'मा'द'द'स'द'स' ।

सु'द'द'स'द'स'द'स' ।

द'स'द'स'द'स' ।

सु'द'द'स'द'स' ।

द'स'द'स' ।

प्रयत्न के साथ उठाने पर भी जो मुख लज्जा से नीचे झुक जाता था और घूँघट में छिपा रहने के कारण कभी दिखता था अथवा कभी अनदेखा रह जाता था, वह मुख तुम्हारी पीड़ा को न सह सकने वाले गीधों ने आज उघाड़ दिया है, अब जी-भर देख ले, भागता क्यों है ?

परचक्षुर्निपातेभ्योऽप्यासीद् यत् परिरक्षितम् ।

तदद्य भक्षितं यावत् किमोष्यालो न रक्षसि ॥ ४६ ॥

मा'द'स'द'स' ।

मा'द'स'द'स' ।

सु'द'द'स' ।

द'स'द'स' ।

མཆོག་གི་གཅིག་གི་སྤྱི་ལོ་མཆོག་གི། ।

བཤམ་དང་ཁ་ཕྱུར་གྱི་ལྟ་བུ། ।

དེ་ལས་བཤམ་ལ་མི་དགའ་ཞིང་། ।

ཁ་ཕྱུར་གྱི་ལྟ་བུ་དགའ། ८० ।

ཤིང་བལ་རིག་ན་འཇམ་བ་ཡི། ।

ལྷ་ལ་དགའ་བར་མི་བྱེད་བར། ।

དྲིང་འཇམ་བ་མ་ཡིན་ཞེས། ।

འདྲོད་ལྷ་མི་གཙང་བ་ལ་ཆོངས། ४० ।

‘འདྲོད་ལྷ་འགྲོ་བ་ཆོངས་བ་ནམས། ।

ཤིང་བལ་རིག་ན་འཇམ་བ་ལའང་། ।

ཉལ་པོ་བྱ་བར་མི་བྱས་ཞེས། ।

དེ་ལ་ཁྱོ་བ་དགའ་བྱ་བྱེད། ।

[काम से मोहित, रागरूपी विष से मूर्च्छित व्यक्ति अपनी प्रियतमा कामिनी के मुख से निकली लार का पान करना चाहता है, इस पर यहाँ प्रश्न किया जा रहा है—]

जब एक ही प्रकार के भोजन से शरीर से निकलने वाले मल-मूत्र और लार आदि बनते हैं तो उनमें से क्यों तुम्हें लार ही पसन्द है और मल-मूत्र नहीं ?

[यद्यपि दोनों का कारण एक है, फिर भी उनमें से एक (मल-मूत्र) अत्यन्त दुर्गन्धित हैं, इसलिए अप्रिय हैं और दूसरे में वैसा नहीं है, इसलिए प्रिय है, यदि ऐसा कहा जाए ?]

अमेध्य (अपवित्र) के विषय में मूढ (अर्थात् अपवित्र को पवित्र समझने वाले) कामी पुरुष (जो मल-मूत्र एवं दुर्गन्ध से परिपूरित स्त्री-शरीर की कामना करते हैं, उनसे प्रश्न है कि) क्यों वे रुई भरे और छूने में अत्यन्त मुलायम तकियों से सन्तुष्ट हो लेते, जब कि उनसे दुर्गन्ध भी नहीं निकलती ?

[ठीक है, स्त्री शरीर में गन्दगी है, किन्तु वह ढंकी है, इसलिए प्रिय है और दूसरी जगह खुली गन्दगी है, इसलिए प्रिय नहीं है ?]

1. ཆོག་མ་བཤམ་ལ་མི་དགའ་ཞིང་ཁ་ཕྱུར་གྱི་ལྟ་བུ་དགའ། १. भोट-पाठ में यह कारिका अतिरिक्त है ।

यत्रच्छन्नेऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियम् ।

न चेत्प्रयोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृश्यते ॥ ५१ ॥

१ मा०'ल'मा०'मा०'गु०'द०'क०'मा०'मा० ।

२'मा०'मा०'मा०'क०'उ०'मा०'द०'द० ।

३'मा०'द०'मा०'मा०'द०'क०'क० ।

मा०'मा०'मा०'मा०'क०'उ०'मा०'द०'द० ॥ ५२ ॥

ढंके हुए स्त्री-शरीर के प्रति क्यों तुम्हारा राग (प्रेम) है और उसी बिना ढंके शरीर (नंगी लाश) के प्रति क्यों तुम्हारा राग नहीं है ? यदि कहो कि उस (लाश) से तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं, तो फिर ढंके शरीर (लाश) का क्यों विशेष रूप से मर्दन करते (मसलते) हो ? (जबकि मृत शरीर तो बिना वस्त्र के स्पष्टरूप से तुम्हारे सम्मुख स्थित है ?)

तुममें गन्दगी के प्रति राग है या नहीं ? यदि कहो नहीं है ? तो—

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसेऽपरम् ।

मांसकर्मसंलिप्तं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम् ॥ ५३ ॥

मा०'द०'मा०'मा०'क०'मा०'मा०'द०'क० ।

३'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा० ।

मा०'मा०'द०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा० ।

मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा० ॥ ५४ ॥

यदि तुम्हारे मन में अशुचि (शरीर की गन्दगी) के प्रति राग (आसक्ति) नहीं है तो तुम दूसरे का आलिङ्गन क्यों करते हो ? क्योंकि शरीर निश्चय ही मांस-रूपी कीचड़ से लिपा हुआ है और सारी हड्डियाँ स्नायुओं (नाड़ियों या नसों) से बँधी हुई हैं । यदि ऐसा नहीं होता तो वे बिखर जातीं ।

यदि कहो कि अशुचि (गन्दगी) के प्रति राग है ? अर्थात् द्वितीय विकल्प इष्ट है तो—

स्वमेव बह्वमेध्यं ते तेनैव धृतिमाचर ।

अमेध्यभस्त्रामपरां गूथघस्मर विस्मर ॥ ५५ ॥

१. मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा०'मा० ।

བྱེད་ཅིང་མི་གཙང་སང་ཡོད་པ། །
 དེ་ཅིང་ལ་བྱེད་གཏན་སྤྱོད་ཅིང་། །
 མི་གཙང་རྒྱལ་པ་གཞན་དག་ལ་འང་། །
 མི་གཙང་བརྟམ་པས་འདོད་པར་བྱེད། ༥༩ །

यदि अशुचि के प्रति राग है तो तुम्हारे शरीर में ही लार, थूक, नाक का मल, आंसू, मल-मूत्र आदि अनेक प्रकार की गन्दगी है, उतनी गन्दगी से ही सन्तोष कर लो। ऐ, मल को खानेवाले (मलभक्षी), मल की दूसरी धौंकनी (मल गिराने वाली) को भूल जाओ। अर्थात् अशुचि से पूर्ण स्त्री-आदि के दूसरे शरीर को भूल जाओ।

मांसप्रियोऽहमस्येति द्रष्टुं स्पष्टुं च वाञ्छसि ।
अचेतनं स्वभावेन मांसं त्वं कथमिच्छसि ॥ ५४ ॥

བདག་ནི་ཤ་འདི་ལ་དགའ་ཞེས། །
 དེག་དང་བཟླ་བར་འདོད་ན་གོ། །
 སེམས་མེད་པ་ཡི་རང་བཞིན་གྱི། །
 ཤ་ནི་བྱེད་ཀོ་ཅིས་མི་འདོད། ༥༥ །

यदि कहो कि मैं उस (स्त्री-) शरीर के माँस से प्रेम करता हूँ, इसलिए उसे देखना एवं छूना चाहता हूँ तो माँस तो अचेतन (चेतनाशून्य) अर्थात् मिट्टी के ढेले (मृत्पिण्ड) के समान है, अतः तुम कामुक होकर उसे क्यों चाहते हो ?

यदिच्छसि न तच्चिरां द्रष्टुं स्पष्टुं च शक्यते ।
यच्च शक्यं न तद् वेत्ति किं तदालिङ्गसे मुधा ॥ ५५ ॥

འདོད་པའི་སེམས་གང་ཡིན་པ་དེ། |
 དེག་དང་བརྟ་བར་མི་རྒྱས་ལ། |
 གང་ཞིག་རྒྱས་དེ་ཤེས་པ་མིན། |
 དོན་མེད་འཁྲུང་དེས་ཅི་ཞིག་བྱ། ལྟ་།

यदि कहो कि मैं उस (स्त्री आदि) के चित्त को चाहता हूँ, तब तो अरूपी (निराकार) होने से न तो उसे (चित्त को) देखा जा सकता है और न छुआ ही जा सकता है । जिसे (मांस आदि को) देखा और छुआ जा सकता है, वह (स्त्री-शरीर) संवेदनगून्य है (अर्थात् उसमें किसी प्रकार की वेदना, संज्ञा या ज्ञान आदि नहीं है) तब व्यर्थ क्यों उसका आलिंगन करते हो ?

अर्थात् उसका आलिंगन करना व्यर्थ है, नहीं तो मिट्टी के पिण्ड आदि का भी आलिंगन करो ।

नामेध्यमयमन्यस्य कायं वेत्सीत्यनद्भुतम् ।

स्वामेध्यमयमेव त्वं तं नावैष्यति विस्मयः ॥ ५६ ॥

मीमांसन्तं न वेत्सीत्यनद्भुतम् ।

मीमांसन्तं न वेत्सीत्यनद्भुतम् ।

न वेत्सीत्यनद्भुतम् ।

मीमांसन्तं न वेत्सीत्यनद्भुतम् । ५६ ।

दूसरे (स्त्री आदि) का शरीर गन्दगी से परिपूर्ण (मलमय) है, इसे तुम नहीं समझ पाते तो यह (न समझ पाना) उतना आश्चर्यजनक नहीं है । जो तुम स्वयं अपने को गन्दगी से पूर्ण (मलमय) नहीं समझ पा रहे हो, यही वस्तुतः अधिक आश्चर्य जनक बात है ।

विद्यताकांशुविकचं मुक्त्वा तरुणपङ्कजम् ।

अमेध्यशौण्डचित्तस्य का रतिर्गूथपञ्जरे ॥ ५७ ॥

श्रीकृष्णः श्रीकृष्णः श्रीकृष्णः ।

श्रीकृष्णः श्रीकृष्णः श्रीकृष्णः ।

मीमांसन्तं न वेत्सीत्यनद्भुतम् ।

मीमांसन्तं न वेत्सीत्यनद्भुतम् । ५७ ।

वादल से नहीं ढंके सूर्य की किरणों से खिले हुए नए ताजे कमल (फूल) को छोड़ कर मल से भरे हुए ठीकरे में मल के प्रति आसक्त तुम्हारे चित्त की क्यों आसक्ति है ?

यह समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों है ? अर्थात् यह सर्वथा अनुचित है ।

मृदाद्यमेध्यलिप्तत्वाद् यदि न स्पष्टुमिच्छसि ।

यतस्तन्निर्गतं कायात् तं स्पष्टुं कथमिच्छसि ॥ ५८ ॥

संश्रुमासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् । ५८ ।

मिट्टी, वस्त्र आदि में मल लग जाने के कारण यदि तुम उन्हें छूना नहीं चाहते तो जिस शरीर से वह मल निकला है, उस (स्त्री आदि) के शरीर का स्पर्श करना तुम क्यों पसन्द करते हो ?

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसे परम् ।

अमेध्यक्षेत्रसम्भूतं तद्बीजं तेन वर्धितम् ॥ ५९ ॥

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् । ५९ ।

यदि तुम्हारा अशुचि से प्रेम नहीं है तो क्यों दूसरे (के शरीर) का आलिङ्गन करते हो (अपने से लिपटाते हो) ? क्योंकि वह (शरीर) अनेक प्रकार की गन्दगी से भरे हुए माता के गर्भाशय में उत्पन्न, माता-पिता के शुक्र-शोणित (रज-वीर्य) से बना बीज ही तो है और गर्भ में माता-पिता के खाए-पिए पदार्थों से तथा बाहर निकलने पर स्वयं खाए-पिए भोजन आदि के गन्दे रस से वर्धित (बढ़ा हुआ) ही तो है।

अमेध्यभवमल्पत्वान्न वाञ्छस्यशुचिं कृमिम् ।

बह्वमेध्यमयं कायममेध्यजमपीच्छसि ॥ ६० ॥

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् ।

मासंमिमांसात्तद्विषयमासंमिमांसात् । ६० ।

मल (-मूत्र आदि) से उत्पन्न अशुचि कृमि (कीड़ों) को तुम नहीं चाहते, उसे तुम पसन्द नहीं करते हो, जबकि उसमें मल (गन्दगी) की मात्रा बहुत थोड़ी है, किन्तु माता की अत्यधिक अशुचि (गन्दगी) से उत्पन्न इस शरीर को तुम चाहते हो, जिसमें अधिक गन्दगी है ! यह आश्चर्यजनक ही है ।

न केवलममेध्यत्वमात्मीयं न जुगुप्ससि ।

अमेध्यभाण्डानपरान् गूथघस्मर वाञ्छसि ॥ ६१ ॥

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ७१ ।

यह घनघोर अज्ञान का ही प्रभाव है कि न केवल तुम अपने स्वभावतः गन्दगी से भरे शरीर के प्रति घृणा नहीं करते, अपि तु हे मलभक्षी, तुम मल से लवालब भरे दूसरे भाँडों (बर्तनों, पात्रों, कुण्डों) को भी चाहते हो । तुम्हें धिक्कार है ।

कर्पूरादिषु हृद्येषु शाल्यन्नव्यञ्जनेषु वा ।

मुखक्षिप्तविसृष्टेषु भूमिरप्यशुचिर्मता ॥ ६२ ॥

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सुद'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ७२ ।

कपूर आदि हृदय को शीतल करने वाले पदार्थ और चावल आदि अन्न तथा व्यञ्जनों को एक बार मुख में डालकर उगल देने मात्र से यह जो पवित्र धरती है, वह भी अशुचि (अपवित्र) हो जाती है, (फिर इस शरीर को कैसे तुम प्रिय समझते हो ?) ।

यदि प्रत्यक्षमप्येतदमेध्यं नाधिमुच्यसे ।

श्मशाने पतितान् घोरान् कायान् पश्यापरानपि ॥ ६३ ॥

གཤམ་ཏེ་མི་གཙང་འདི་འདྲ་བ།

མངོན་སྲུང་གྱུར་ཀྱང་མི་ཚེ་ན།

དུར་ཁྱོད་དག་དུ་བོར་བའི་ལུས། །

མི་གཙང་གཞན་ཡང་བརྟ་བར་གྱིས། ༦༩ །

यह सब गन्दगी एकदम प्रत्यक्ष है, फिर भी यदि तुम इस पर विश्वास नहीं करते हो तो श्मशान में जाकर वहाँ पड़े हुए भयंकर, बीभत्स दूसरे शरीरों को देख लो, जो फूले हुए, नीले पड़े हुए, कीड़े पड़े हुए, इधर-उधर छितराए पड़े हैं। (तब तो तुम्हें विश्वास होगा) ।

चर्मण्युत्पादिते यस्माद् भयमुत्पद्यते महत् ।

कथं ज्ञात्वापि तत्रैव पुनरुत्पद्यते रतिः ॥ ६४ ॥

གང་ལས་པགས་པའི་ཁ་ཕྱེ་ན།

འཛིགས་པ་ཆེན་པོ་སྐྱེ་འགྱུར་པར།

ཤེས་ཀྱང་རི་ལྷོང་དེ་ཉིད་ལ།

ཕྱིར་ཞིང་དཀའ་བ་སྐྱེ་བར་འགྱུར་། ༤༧ །

यदि चमड़ी (खाल) उतार ली जाए तो जिसको देखने से भी भय उत्पन्न होता है, शरीर की इस अवस्था को जानकर भी उसके प्रति कैसे रति (प्रेम या आसक्ति) उत्पन्न होती है ?

काये न्यस्तोऽप्यसौ गन्धश्चन्दनादेव नान्यतः ।

अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यसे ॥ ६५ ॥

ལྷན་ལ་བསྐྱུས་བཞི་ཉི་དེ་ཡང་། །

ཅན་དན་སོགས་ཡིན་གཞན་མ་ཡིན།

གཞན་གྱི་དེས་གཞན་དག་ལ།

ཅི་ཡི་ཕྱིར་ན་ཆགས་པར་བྱེད། ༩༡

चन्दन आदि से उत्पन्न गन्ध जो शरीर पर लगाया गया है, वह काय से उत्पन्न नहीं है, अपि तु चन्दन से उत्पन्न है, इसलिए क्यों अन्य से उत्पन्न गन्ध की

वज्रह से दूसरे स्थान पर रति की जाती है, जहाँ स्वतः गन्ध नहीं है । अर्थात् चन्दन की गन्ध से गन्धरहित शरीर को क्यों कमनीय माना जाता है ?

यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् रागो नात्र शिवं ननु ।

किमनर्थरुचिलोक्तं गन्धेनानुलिम्पति ॥ ६६ ॥

माम्हेरुमवेकहेरुमाम् । ।

महेरुमाम्हेरुमाम्हेरुमाम् । ।

महेरुमाम्हेरुमाम्हेरुमाम् । ।

हेरुमाम्हेरुमाम्हेरुमाम् । ७७ ।

यदि स्वभाव से दुर्गन्धित होने के कारण काय के प्रति राग उत्पन्न नहीं होता है तो यह कल्याण ही है । क्यों अनर्थ (अमंगल) का अभिलाषी यह लोक (प्राणी) उसे सुगन्ध से लिस करता है ।

दुर्गन्ध की वज्रह से यदि शरीर के प्रति आसक्ति नहीं होती है तो यह तो अच्छी बात है, क्योंकि इससे वैराग्य होगा और उससे सद्धर्म के आचरण के प्रति प्रगति होगी । क्यों मनुष्य उसमें गन्ध लगाकर उसके प्रति अनर्थकारी लगाव उत्पन्न करता है ?

कायस्यात्र किमायातं सुगन्धि यदि चन्दनम् ।

अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ॥ ६७ ॥

महेरुमाम्हेरुमाम्हेरुमाम् । ।

महेरुमाम्हेरुमाम्हेरुमाम् । ।

महेरुमाम्हेरुमाम्हेरुमाम् । ।

हेरुमाम्हेरुमाम्हेरुमाम् । ७८ ।

चन्दन यदि सुगन्धित है तो इससे शरीर का क्या ? (अर्थात् उससे शरीर का क्या बना या बिगड़ा, वह तो अपनी जगह पर दुर्गन्धित और बीभत्स ही है अर्थात् जैसा है, वैसा ही बना हुआ है) अन्य (चन्दन आदि) की गन्ध की वज्रह से अन्य (शरीर) से क्यों राग किया जाता है ?

(बुद्धिमान् के लिए ऐसा करना सर्वथा उपयुक्त नहीं है) ।

श्मशान में कुछ कंकालों (अस्थि-पंजरों) को पड़ा हुआ देखकर श्मशान के प्रति तुम में घृणा होती है तो चलते-फिरते कंकालों से भरे ग्रामरूपी श्मशान के प्रति क्यों प्रीति रखते हो ?

श्मशान से घृणा और ग्राम से प्रीति क्यों ? जबकि शरीर का अशुचि स्वभाव तो दोनों जगह समान है ? हाँ, इतना फर्क जरूर है कि एक जगह शरीर निश्चेष्ट पड़ा है और दूसरी जगह चल-फिर रहा है ।

एवं चामेध्यमप्येतद् विना मूल्यं न लभ्यते ।

तदर्थमर्जनायासो नरकादिषु च व्यथा ॥ ७१ ॥

दे'व'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ।

दे'व'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ।

दे'व'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ।

दे'व'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ७१ ।

इस प्रकार का अशुचि (गन्दगी से युक्त) भी (प्रेयसी का) यह शरीर बिना धन (मूल्य) के नहीं मिलता । अतः उसे पाने के लिए पहले धन कमाने के लिए खेती, वाणिज्य, नौकरी आदि में श्रम करना होता है । श्रम से दुःख ही होता है । यदि अधर्म से धन कमा लिया जाए तो उससे नारकीय दुःख सहना पड़ता है ।

इस तरह इहलोक और परलोक दोनों में यह अनर्थ का हेतु है । उससे कहीं भी सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं ।

शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं केनासौ यौवने सुखी ।

यात्यर्जनेन तारुण्यं वृद्धः कामैः करोति किम् ॥ ७२ ॥

शु'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ।

दे'व'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ।

दे'व'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ।

दे'व'र'म'म'उ'र'गु'र'दे'य'र' । ७२ ।

बाल्यावस्था में धन-अर्जन का सामर्थ्य ही नहीं होता । फिर किस धन से वह युवावस्था में सुखी होगा ? (बहुत कम ही भाग्यशालियों को अपने पितृ-पितामह आदि का कमाया धन मुफ्त में मिलता है) धन कमाते-कमाते तो पूरा यौवन ही

चला जाता है। बुढ़ापे में यदि धन हुआ भी तो इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के कारण काम-भोगों से उसे क्या लेना-देना ? यदि कहा जाए कि धन कमाते हुए ही सुख-भोग भी कर लिया जाएगा ?—

केचिद् दिनान्तव्यापारैः परिश्रान्ताः कुकामिनः ।

गृहमागत्य सायाह्ने शेरते स्म मृता इव ॥ ७३ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ॥ ७३ ॥

कुछ कुत्सित काम-भोगों के अभिलाषी दिन-भर लकड़ी काटने, घास ढोने आदि का काम शाम तक करते हुए थक जाते हैं। सूरज डूबने पर घर आकर निद्रा से आक्रान्त होने के कारण मुर्दे की तरह सो जाते हैं।

फिर सुबह अपने काम में लग जाते हैं, इस तरह छोटे-छोटे उद्देश्यों के लिए काम करते पूरी कीमती आयु बिता देते हैं।

दण्डयात्राभिरपरे प्रवासक्लेशदुःखिताः ।

वत्सरैरपि नेक्षन्ते पुत्रदारांस्तर्धिनः ॥ ७४ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ॥ ७४ ॥

दूसरे कुत्सित काम-भोगों के अभिलाषी सेवक (नौकर-चाकर) लोग दूसरों पर विजय प्राप्त करने के लिए अथवा दूसरों का धन लूटने के लिए देशान्तर (दूसरे देश) में प्रवास करते हुए वहाँ की असुविधाओं से अत्यधिक दुःखित होते हैं। जिन पुत्र-पुत्री और पत्नियों को वे चाहते हैं और जिनके लिए वे इतना कष्ट उठाते हैं, उन्हें वे वर्षों देख ही नहीं पाते।

यदर्थमेव विक्रीत आत्मा कामविमोहितैः ।

तन्न प्राप्तं मुधैवायुर्नीतं तु परकर्मणा ॥ ७५ ॥

བདག་ལ་ཕན་འདོད་ནམ་མཁའ་པམ། །

གང་དོན་ཉིད་དུ་བཅོངས་པ་ཡང་།

དེ་མ་གྲོང་པར་དོན་མེད་པའི།

གཞན་གྱི་ལས་ཀྱི་རྒྱང་གིས་བདས། ༥༥ །

काम से मोहित होकर जिस सुख के लिए उन्होंने अपनी आत्मा को भी बेच दिया अर्थात् दूसरों की सेवा (दासता) स्वीकार की, वह सुख उन्हें नहीं मिला, बल्कि दूसरों की चाकरी में उन्होंने व्यर्थ ही अपनी जिन्दगी बिता दी । किसी अच्छे काम में न लगाई ।

दिक्रीतस्वात्मभावानां सदा प्रेषणकारिणाम् ।

प्रसूयन्ते स्त्रियोऽन्येषामटवीविटपादिषु ॥ ७६ ॥

ལ་ལ་རང་གི་ལྷན་བཅོངས་ཤིང་།

དབང་མེད་གཞན་གྱིས་བཀོལ་བྱུང་དེ།

ཆུང་མ་དག་ཀྱང་བྱ་བྱུང་ན།

ཤིང་རྒྱང་དགོན་པ་བབ་བབ་འབྱུང་། ༡༩ །

जिन्होंने सुख की अभिलाषा से अपने जीवन (आत्मभाव) को बँच डाला है (अर्थात् दूसरों की दासता स्वीकार कर ली है) और जो काम के लिए सदा इधर-उधर भेजे जाते हैं, उनकी स्त्रियाँ जंगल में, पेड़ के नीचे, नदी के किनारे, मार्ग में ही प्रसव (बच्चे पैदा) कर देती हैं ।

रणं जीवितसन्देहं विशन्ति किल जीवितुम् ।

मानार्थं दासतां यान्ति मूढाः कामविडम्बिताः ॥ ७७ ॥

འདོད་པས་བསྐྱས་པའི་སྒྲིན་པ་དག

འཆོ་འདོད་འཆོ་བར་བྱའོ་ཞེས།

སྒྲིག་སྒྲུབ་དོན་མཁན་གཞིན་གཤམ་དུ་འཇུག།

ཁེ་ཕྱིར་བྱས་དུ་འགྲོ་བར་བྱེད། ཡཡ །

काम से अभिभूत और मोह से अन्धे अर्थात् मूढ़, जिन्होंने ने दासता स्वीकार की है, वे जीविका के लिए संग्राम (युद्ध) में उतरते हैं, जिसमें जीवन का भी सन्देह

होता है (मरेंगे या जीवित बचेंगे-ऐसा सन्देह रहता है) तथा वे मान की रक्षा के लिए भी दासता स्वीकार करते हैं ।

युद्ध में विजयी लोग हारनेवालों को दास बना लेते हैं या अंग-भंग करके छोड़ देते हैं । यह सब भी सहना पड़ता है ।

छिद्यन्ते कामिनः केचिदन्ये शूलसमर्पिताः ।

दृश्यन्ते दह्यमानाश्च हन्यमानाश्च शक्तिभिः ॥ ७८ ॥

२५५. छिद्यन्ते कामिनः केचिदन्ये शूलसमर्पिताः ।

मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण ।

मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण ।

मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण । ७८ ।

(परस्त्री एवं परधन का अपहरण आदि करने के कारण) कामान्ध लोगों में से कुछ काट डाले जाते हैं, कुछ शूली पर चढ़ा दिए जाते हैं, कितने ही जलाए जाते हैं तथा कितने ही बर्छी आदि से मारे जाते हुए दिखलाई देते हैं ।

अर्जन-रक्षण-नाश-विषाद—

रथमनर्थमनन्तमवेहि ।

व्यग्रतया धनसक्तमतीनां

नावसरो भवदुःखविमुक्तेः ॥ ७९ ॥

मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण ।

मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण ।

मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण ।

मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण मर्त्येण । ७९ ।

धन के अर्जन में दुःख, फिर उपार्जित धन के आग, पानी, भूकम्प आदि से रक्षण में दुःख, किसी तरह रक्षित होने पर चोर-डाकू आदि द्वारा नाश होने पर दुःख,— इस तरह धन से अनेक प्रकार के अनर्थ और सन्ताप होते हैं—ऐसा जानना चाहिए । दुःख एवं अनर्थ का कारण होने से धन को ही अनर्थ कहा गया है । धन के प्रति आसक्त व्यक्ति हमेशा अर्जन आदि में व्याकुल रहते हैं, अतः सांसारिक जन्म,

मन्द-मन्द वन की वायु से मानों पंखा झले जाते हुए पुण्यात्मा (धन्य) लोग परहित एवं परसुख का चिन्तन करते हुए चंक्रमण करते (टहलते) हैं ।

इसके द्वारा ऐश्वर्यजन्य सुख की अपेक्षा विवेक (एकान्त के)-सुख की विशेषता दिखलाई गई है ।

विहृत्य यत्र क्वचिदिष्टकालं

शून्यालये वृक्षतले गुहासु ।

परिग्रहारक्षणखेदमुक्तः

चरत्यपेक्षाविरतो यथेष्टम् ॥ ८७ ॥

मन्त्रं श्रुत्वा शून्यालये वृक्षतले गुहासु ।

मन्त्रं श्रुत्वा शून्यालये वृक्षतले गुहासु ।

मन्त्रं श्रुत्वा शून्यालये वृक्षतले गुहासु ।

मन्त्रं श्रुत्वा शून्यालये वृक्षतले गुहासु । ८७ ।

किसी भी प्रकार की अपेक्षा न करनेवाला अनासक्त व्यक्ति जहाँ-कहीं शून्यागार, वृक्षतल और गुफाओं में यथेष्ट समय तक विहार कर वस्तुओं के परिग्रह (संग्रह) और उनकी रक्षा की तकलीफ से मुक्त रहता हुआ विचरण करता है ।

स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित् ।

यत् सन्तोषसुखं भुङ्क्ते तदिन्द्रस्यापि दुर्लभम् ॥ ८८ ॥

स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित् ।

स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित् ।

स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित् ।

स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित् । ८८ ।

स्वतन्त्र विचरण करने वाला, अनागारिक या अनासक्त, जो कहीं पर भी प्रतिबद्ध नहीं है अर्थात् किसी भी बन्धन में बँधा हुआ नहीं है—ऐसा व्यक्ति जिस सन्तोष-सुख का भोग करता है, वह (सुख) इन्द्र को भी दुर्लभ है ।

एवमादिभिराकारैर्विवेकगुणभावनात् ।

उपशान्तवितर्कः सन् बोधिचित्तं तु भावयेत् ॥ ८९ ॥

ने'ल'सोम'स'दि'क'म'स'प'सा ।

र'ने'क'स'दि'प'क'र'स'स'स'स'स'स' ।

क'म'र'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ८९ ।

उपर्युक्त आकार प्रकार से कायविवेक और चित्तविवेक के गुणों की भावना करने से अर्थात् ये गुण सभी प्रकार के सुखों और सम्पत्तियों के हेतु हैं—इस प्रकार बार-बार मन में लाने से जिसके सभी असत् वितर्क शान्त हो गए हैं—ऐसा बोधिसत्त्व बोधिचित्त की भावना करे ।

इस प्रकार के परिशुद्ध, कर्मण्य और मृदु चित्त द्वारा बोधिचित्त की भावना होने पर वह बोधिचित्त उत्तरोत्तर प्रकर्ष को प्राप्त करता है—यह आशय है ।

जब तक दूसरों के साथ अपना एकत्व नहीं स्थापित कर लिया जाता, तब तक दूसरों के हित और सुख के लिए चित्त प्रवृत्त नहीं होता । आत्मग्राह या आत्म-दृष्टि तो केवल अपने तक केन्द्रित होती है । अतः आत्मग्राह की निवृत्ति सबसे पहले आवश्यक है ।

परात्मसमता

परात्मसमतामादौ भावयेदेवमादरात् ।

समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत् ॥ ९० ॥

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ९० ।

सबसे पहले उपर्युक्त प्रकार से पर-आत्म समता और पर-आत्म परिवर्तन की आदरपूर्वक भावना करे । यथा—इन दूसरे लोगों से मुझे कोई विशेषता अर्थात् फर्क नहीं है, क्योंकि दुःख जैसे मुझे बाधा पहुँचाता है, वैसे इन्हें भी । जैसे दुःख मुझे प्रिय नहीं है, वैसे ही इन्हें भी प्रिय नहीं है । इसी प्रकार सुख जैसे मुझे अच्छा लगता है, वैसे ही सुख इन्हें भी प्रिय है । इस तरह सभी प्राणी सुख, दुःख के बारे में समान हैं । अतः मुझे अपने ही समान इनका भी ध्यान रखना चाहिए । जैसे मैं अपने को

दुःख से मुक्त करने का प्रयास करता हूँ, वैसे ही मुझे इन्हें भी दुःख से मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए । जैसे मैं अपने को सुखी करने के लिए प्रयत्नशील रहता हूँ, उसी तरह मुझे इन्हें सुखी करने के लिए भी प्रयास करना चाहिए ।

बोधिसत्त्व सभी प्राणियों के साथ आत्मवत् भावना करता है । प्राणी तो अनेक योनियों, अनेक गतियों में विद्यमान हैं । भेद प्रयत्न है, फिर आत्मवत् भावना कैसे सम्भव है ?

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः

कायो यथैकः परिपालनीयः ।

तथा जगद् भिन्नमभिन्नदुःख-

सुखात्मकं सर्वमिदं तथैव ॥ ९१ ॥

अमा'स'अ'सोमा'स'रु'स'रु'स'स'स'स'स' । ।

अ'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ।

दे'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ।

हाथ, पैर, सिर आदि भेद से बहुत प्रकार का होने पर भी जैसे 'शरीर' को एक मान कर उसका परिपालन, परिपोषण किया जाता है (अर्थात् उसे दुःख से मुक्त और सुख से अन्वित (युक्त) किया जाता है), उसी प्रकार जगत् के सभी प्राणी यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी उन्हें अपने साथ अभिन्न मानकर अपनी ही तरह उनका भी हित-सुख चिन्तन करना है, क्योंकि सबके दुःख और सुख समान हैं ।

आशय यह है कि हाथ-पैर आदि के भेद से भिन्न होने पर भी जैसे शरीर के प्रति एकत्व का अध्यवसाय होता है अर्थात् स्वभावतः और सहज भाव से एक माना जाता है और यह सब अभ्यास के कारण होता है, उसी प्रकार एकत्व नहीं होने पर भी अभ्यास के बल से सम्पूर्ण जगत् को एक माना जा सकता है । इन दोनों में कोई फर्क नहीं है ।

यदि आप और जगत् एक हैं तो आपके सुख, दुःख से जगत् सुखी, दुःखी क्यों नहीं होता ?

यद्यप्यन्येषु देहेषु मद्दुःखं न प्रबाधते ।

तथापि तद्दुःखमेव ममात्मस्नेहदुःसहम् ॥ ९२ ॥

मय'ने'मदम'मो'सुम'मसु'म'गु' ।

म'ल'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

ने'म'ने'मदम'मो'सुम'मसु'म'गु' ।

मदम'म'ल'म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ०३ ।

यद्यपि मेरा दुःख अन्य शरीरों में पीड़ा नहीं पहुँचाता, तथापि वह दुःख तो है ही। वह तो मेरे आत्मस्नेह के कारण असह्य होता है।

आशय यह है कि दुःख तो दुःख ही है। वह अपनी दुःखस्वभावता को नहीं छोड़ता। जो मेरे दुःख से अन्य को और अन्य के दुःख से मुझे पीड़ा नहीं होती, उसका कारण आत्मस्नेह है। आत्मस्नेह के कारण व्यक्ति अपने दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति का अभिलाषी होता है। यदि अपने और दूसरे में समता की भावना प्रतिष्ठित हो जाए और हम अपने को दूसरे के स्थान पर रख सकें अर्थात् पर-आत्म परिवर्तन कर सकें तो हमारी प्रवृत्ति दुःखमात्र की निवृत्ति के लिए होगी। हमारे या दूसरे के दुःख का भेद नहीं रहेगा। इस लिए बोधिसत्त्व दुःख के स्रोत को सुखा देना चाहता है, जिससे कोई भी दुःखी न रहे। इसी तरह सबके लिए सुख के साधन समानरूप से उपलब्ध करा देना चाहता है।

तथा यद्यप्यसंवेद्यमन्यद्दुःखं मयःत्मना ।

तथापि तस्य तद्दुःखमात्मस्नेहेन दुःसहम् ॥ ९३ ॥

ने'म'ने'मदम'मो'सुम'मसु'म'गु' ।

मदम'म'ल'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

ने'म'ने'मदम'मो'सुम'मसु'म'गु' ।

मदम'म'ल'म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ०३ ।

उसी तरह यद्यपि दूसरे के दुःख का अनुभव भी स्वयं मुझे नहीं होता, फिर भी वह दुःख है और उसके आत्मस्नेह के कारण वह उनके लिए असह्य होता है।

इसलिए स्व और पर का भेद मिटाकर दुःखता का निवर्तन करना (हटाना) उचित है। स्व-पर के भेद का मूल आत्मस्नेह है, जो आत्मदृष्टि के कारण उत्पन्न होता है। उसकी वजह से अपना दुःख तो असह्य होता है, किन्तु दूसरों के दुःख की उपेक्षा की जाती है। अतः सभी बुराईयों, सभी क्षुद्रताओं और सभी उपद्रवों की जड़

जो आत्मदृष्टि है, उसका प्रहाण (नाश) कर स्व-पर-समता या स्व-परात्म-परिवर्तन द्वारा बोधिसत्त्व दुःखता के नाश के लिए सचेष्ट होता है ।

मयान्यदुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत् ।

अनुग्राह्या मयान्येऽपि सत्त्वत्वादात्मसत्त्ववत् ॥ ९४ ॥

मदमा'मी'मल्ल'मि'सुमा'मल्ल'मल्ल' ।

सुमा'मल्ल'मि'सुमा'मल्ल'मल्ल' ।

मदमा'मी'मल्ल'मि'सुमा'मल्ल' ।

सोमस'उ'मि'सुमा'मल्ल'मल्ल' ॥ ९५ ॥

जो जो दुःख है, वह वह नाश करने योग्य है, क्योंकि वह दुःख है, जैसे मैं अपने दुःख का नाश करता हूँ । वैसे ही दूसरे प्राणियों में होनेवाला दुःख भी दुःख ही है, अतः वह भी नाश करने योग्य है । आशय यह है कि दुःख-स्वभावता ही हनन करने योग्य (हन्तव्य) है । उसी तरह जो जो सत्त्व हैं, वे सब सुख पहुँचाने योग्य या अनुग्रह करने योग्य हैं, क्योंकि वे सत्त्व हैं, जैसे मैं भी सत्त्व हूँ । आशय यह है कि मेरे तेरे का भेद मिटाकर जीवमात्र सुख पहुँचाने के योग्य हैं, अतः बोधिसत्त्व भेदमूलक आत्मदृष्टि का प्रहाण कर प्राणी मात्र को सुख से अन्वित करने के लिए सचेष्ट होता है ।

यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियम् ।

तदात्मनः को विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ॥ ९५ ॥

मा'म'मदमा'म'मल्ल'मि'सुमा'मल्ल' ।

मदमा'म'मल्ल'मि'सुमा'मल्ल' ।

मदमा'म'मल्ल'मि'सुमा'मल्ल' ।

मा'म'मदमा'म'मल्ल'मि'सुमा'मल्ल' ॥ ९६ ॥

जब मुझे और दूसरों को सुख बराबर ही प्रिय हैं, तब मुझ में ही ऐसी कौन सी विशेषता है ? (अर्थात् नहीं है), जो मैं केवल अपने लिए ही सुख उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ ? (दूसरों के सुख के लिए नहीं ?) ।

यदा^१ सम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।

तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥ ९६ ॥

नामः क्लेशानां नामानां भयं न प्रियम् ।

शुभांशुनां भयं न प्रियम् ।

नामः क्लेशानां नामानां भयं न प्रियम् ।

नामः क्लेशानां नामानां भयं न प्रियम् ॥ ९७ ॥

जब मुझे और दूसरों को भय और दुःख समानरूप से प्रिय नहीं हैं, तब मुझमें ही ऐसी कौन सी विशेषता है कि मैं अपनी तो भय और दुःख से रक्षा करता हूँ, किन्तु दूसरों की रक्षा नहीं करता ?

ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है, इसलिए अपने ही तरह दूसरों की भी भय और दुःख से रक्षा करनी चाहिए तथा इसी तरह अपने और दूसरों के लिए समान रूप से सुख के उत्पाद की चेष्टा करनी चाहिए ।

तद्दुःखेन न मे बाधेत्यतो यदि न रक्ष्यसे ।

नागामिकायदुःखान्मे बाधा तत्केन रक्ष्यते ॥ ९७ ॥

नामः क्लेशानां नामानां भयं न प्रियम् ।

शुभांशुनां भयं न प्रियम् ।

नामः क्लेशानां नामानां भयं न प्रियम् ।

नामः क्लेशानां नामानां भयं न प्रियम् ॥ ९८ ॥

यदि कहो कि दूसरों के दुःख से मुझे पीड़ा नहीं होती, इसलिए दूसरों की दुःख से रक्षा नहीं करता ? तो भविष्य में दूसरे जन्मों में अर्थात् परलोक (नरकादि) में उत्पन्न होने वाले काय (शरीर) की पीड़ा से इस समय (वर्तमान) की काय को कुछ भी पीड़ा नहीं हो रही है तो ऐसी स्थिति में क्यों उस पीड़ा से रक्षा की जा रही है ? अर्थात् क्यों अकुशल से निवृत्ति और कुशल में प्रवृत्ति की जा रही है ? वह काय भी तो दूसरा ही है । फिर यदि दूसरे काय की दुःख से रक्षा के लिए प्रयत्न किया जा सकता है तो क्यों दूसरों (अन्य प्राणियों) को हो रहे दुःख से

१. यह कारिका शिक्षासमुच्चय में भी है, जो आचार्य की ही दूसरी रचना है । यह उसकी प्रथम कारिका है ।

उनकी रक्षा का प्रयास नहीं किया जाता ? अर्थात् किया ही जाना चाहिए । यही उचित है ।

अहमेव तदापीति मिथ्येयं परिकल्पना ।

अन्य एव मृतो यस्मादन्य एव प्रजायते ॥ ९८ ॥

मदमा'मीश'दे'के'सु'द'सु'द'म'दि । ।

क'म'म'द'दे'म'म'म'म' । ।

म'दे'म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

सु'द'म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ९८ ।

यदि कहो कि परलोक की और इस लोक की काय अवश्य भिन्न-भिन्न है, किन्तु 'मैं' (अहम्) तो उन दोनों कायों (शरीरों) में एक और अभिन्न है, इसलिए मैं अपनी दुःख से रक्षा करता हूँ, दूसरों की नहीं ?

तो यह जो अहं-बुद्धि है, वह नितान्त मिथ्या कल्पना है, क्योंकि इस अहं-बुद्धि का विषय आत्मा सर्वथा नहीं है । इसलिए यह सोचना कि काय के भिन्न-भिन्न होने पर भी 'मैं' दोनों में अनुस्यूत, एक और अभिन्न है—यह सर्वथा गलत और आरोपित धारणा है ।

जब आत्मा कोई एक, नित्य और अभिन्न नहीं है और पाँच उपादान स्कन्ध ही वस्तुतः हैं तो ऐसी हालत में जो पंच स्कन्ध यहाँ (इस लोक में) नष्ट होते हैं, वे ही परलोक में उत्पन्न होते हों, ऐसा बिलकुल नहीं है, अपितु दूसरे ही यहाँ नष्ट होते हैं और क्लेश, कर्मों की वजह से दूसरे ही परलोक में उत्पन्न होते हैं । इसलिए मिथ्या कल्पना की वासना की वजह से मायोपम पंच स्कन्धों में मिथ्या अहं-बुद्धि उत्पन्न होती है ।

यदि तस्यैव यद् दुःखं रक्ष्यं तस्यैव तन्मतम् ।

पाददुःखं न हस्तस्य कस्मात् तत् तेन रक्ष्यते ॥ ९९ ॥

मा'द'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

दे'के'दे'के'दे'के'दे'के' । ।

मा'द'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

उ'दे'के'दे'के'दे'के'दे'के' । ९९ ।

यदि कहो कि जिसको दुःख हो, वही उसकी रक्षा करे अर्थात् यह उन (दूसरों) का दुःख है, वे ही उससे अपनी रक्षा करें तो जो पैर का दुःख है, वह हाथ का दुःख नहीं है, फिर क्यों पैर पर प्रहार होते देखकर हाथ बढ़ाकर उससे उसकी रक्षा की जाती है ? क्योंकि एक शरीर में भी पैर-हाथ आदि अंगों के भेद से दुःख भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः दूसरों से कोई विशेषता न होने से ऐसा सोचना उचित नहीं है।

अयुक्तमपि चेदेतदहंकारात् प्रवर्तते ।

तदयुक्तं निवर्त्य तत् स्वमन्यच्च यथाबलम् ॥ १०० ॥

माम्'हे'रैमास'म'मि'य'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

यदि कहो कि आत्मा के न होने पर भी इस काय के प्रति 'अहं'-इस प्रकार का मिथ्या अहंकार (अहं-भाव) होता है, इसलिए पैर की पीड़ा को हाथ से हटाने का विचार उत्पन्न होता है ?

तो ऐसा सोचना भी ठीक नहीं। जो (आत्म-धारणा) अयुक्त है, उसे यथाशक्ति हटाना ही उचित है, उसमें अपना और पराए का भेद नहीं करना चाहिए।

यदि कोई कहे कि यद्यपि आत्मा नहीं है, फिर भी (बौद्ध दृष्टि से) पंच स्कन्ध-सन्तति तो एक है, क्योंकि वह तो निरन्तर जन्म जन्मान्तर में प्रवर्तित होती रहती है। इसी तरह हाथ-पैर आदि विभिन्न अंगों का समुदाय शरीर भी एक है। इसलिए इस सन्तति और इस समूह (समुदाय) के होने से इस लोक में और परलोक में अपने ही दुःखों का निवारण करना उचित होगा ?

सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा ।

यस्य दुःखं स नास्त्यस्मात् कस्य तत् स्वं भविष्यति ॥ १०१ ॥

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

सन्तति और समूह (का एकत्व) पङ्क्ति और सेना के (एकत्व के) समान मिथ्या है । जिस (आत्मा) का दुःख माना जाता है, जब वह (स्वामी या मालिक) ही नहीं है तो फिर वह (दुःख) किसकी अपनी (मितिकयत) मानी जाएगी ? अर्थात् जब आत्मा ही नहीं है तो दुःख किसका आत्मीय (अपना) होगा ? अर्थात् दुःख मात्र दुःख है, वह किसी का नहीं है ।

सन्तति (सन्तान) नामक कोई एक वस्तुसत् पदार्थ एकदम नहीं है कार्य-कारण भाव नियम के अनुसार क्षणों (विशेषों) का प्रवाह चलता रहता है, उन क्षणों से अतिरिक्त, ढूँढने पर भी सन्तति नामक किसी (सामान्य) वस्तु की प्राप्ति नहीं होती । इन अनेक क्षणों को ही व्यवहार के लिए एक 'सन्तति'—शब्द द्वारा संकेतित किया जाता है । इसलिए सन्तति की मात्र व्यावहारिक (प्रज्ञप्ति)-सत्ता है । इसलिए किसी एक सन्तति पदार्थ के प्रति अभिनिवेश (बुद्धि का आग्रह) नहीं करना चाहिए, अन्यथा आत्मा ही ने क्या अपराध किया है, जो बौद्ध उसे नहीं मानते ।

इसी तरह अवयवों से भिन्न कोई एक समूह (समुदाय या अवयवी) नामक पदार्थ भी नहीं होता । क्योंकि खोजने पर भी अवयवों से अतिरिक्त उस (समूह) की उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं होती । इसलिए समूह को भी मात्र व्यावहारिक (प्रज्ञप्ति)-सत्ता ही है । इन दोनों को समझाने के लिए पङ्क्ति और सेना का उदाहरण दिया जाता है । अर्थात् सन्तति तो पङ्क्ति के समान है और समूह जो है, वह सेना के समान है । जैसे अनेक चीटियाँ जब एक दूसरे के पीछे हो जाती हैं तो 'पङ्क्ति' (Line) कही जाती है, किन्तु एक-एक चींटी से अतिरिक्त पङ्क्ति की कोई सत्ता नहीं होती है । इसी तरह पेन्सिल से जब लाइन खींची जाती है तो बिन्दुओं से अतिरिक्त उसकी भी सत्ता नहीं होती, केवल बौद्धिक प्रतीतिमात्र होती है, इसी तरह माला का भी उदाहरण दिया जा सकता है । एक-एक पिरोए हुए फूल के अतिरिक्त उस (माला) की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं होती । इसी तरह एक-एक विशेष क्षण के अलावा उनसे भिन्न सन्तति नाम का कोई पदार्थ नहीं है । यह कालिक या दैशिक भ्रममात्र है ।

इसी तरह 'समूह' भी बौद्धिक प्रतीति मात्र है, उस की भी कोई सत्ता नहीं होती । जैसे हाथी, घोड़ा, एक-एक सिपाही से अतिरिक्त, उनसे भिन्न सेना नाम की कोई वस्तु नहीं होती । केवल व्यवहार मात्र के लिए वे एक-एक सिपाही, हाथी, घोड़ा आदि एक 'सेना' शब्द द्वारा संकेतित किये जाते हैं ।

इसलिए जिस तरह सन्तति-बुद्धि और समूह-बुद्धि एक मिथ्या प्रत्यय या भ्रम है । उसी तरह उस बुद्धि का विषय जो सन्तति या समूह है, वह भी नितान्त असत्

(मिथ्या) है। जब उनकी सत्ता पर विचार किया जाता है, तो तर्क के आगे वह (विषय) टिक नहीं पाता है।

इसी तरह आत्मा आदि नामक कोई स्वामी भी सिद्ध नहीं हो पाता। फलतः उससे सम्बन्ध रखने वाला दुःख भी नहीं होता। कहने का आशय यह है कि दुःख तो होता है, किन्तु वह किसी (स्व या पर) से सम्बद्ध नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि यदि आत्मा आदि नहीं हैं तो आप 'आत्मा के समान' (आत्मवत्) या 'सत्त्व के समान' (सत्त्ववत्)-ऐसा दृष्टान्त क्यों देते हैं? अर्थात् जो सर्वथा नहीं है, वह किसी का दृष्टान्त भी नहीं बन सकता?

समाधान—यह (प्रश्न) सत्य है। किन्तु हम किसी आदत या शौक से आत्मा का दृष्टान्त नहीं देते, अपि तु दूसरों (आत्मवादियों) की आत्मदृष्टि का प्रहाण (नाश) करने के लिए ऐसा करते हैं। यदि दूसरों का आत्मग्रह (आत्मा के प्रति विश्वास) दूर हो गया है तो दृष्टान्त या साधन (अनुमान)-प्रयोग का कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आत्माभिनिवेश दूर नहीं हुआ है तो उसे हटाने के लिए दृष्टान्त या साधन का प्रयोग किया जाता है। अतः दृष्टान्त का प्रयोग मात्र व्यवहार के लिए है।

अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि पंच स्कन्धों को ही हम आत्मा कहते हैं और इसी अर्थ में हमने 'आत्मवत्' या 'सत्त्ववत्' यह दृष्टान्त दिया है। और ऐसा करने में हमारे सिद्धान्त की कोई क्षति (हानि) नहीं है।

अस्वामिकानि दुःखानि सर्वाण्येवाविशेषतः ।

दुःखत्वादेव वार्याणि नियमस्तत्र किंकृतः ॥ १०२ ॥

श्रुणु'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व' ।

सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व' ।

श्रुणु'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व' ।

सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व'सत्त्व' । १०३ ।

सारे दुःख बिना स्वामी (मालिक) के हैं। अर्थात् दुःख किसी से भी सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि आत्मा नहीं है। (जब आत्मा नहीं है तो कोई स्व या पर का भेद भी नहीं है) और किसी से सम्बद्ध न होना—यह एक सामान्य नियम है। स्व (मेरा) या पर (पराए) का भेद न करके बस 'दुःख है' इतने मात्र से उस (दुःख) का निवारण

करना चाहिए। इसलिए यह नियम किस लिए है (अर्थात् व्यर्थ है) कि अपने ही दुःख का निवारण करना चाहिए, दूसरे के दुःख का नहीं।

आप के अनुसार जब आत्मा नहीं है तो इसका साफ अर्थ हुआ कि आपके मत में कोई दुःखी प्राणी भी नहीं है। तब दुःख का निवारण भी व्यर्थ है ? तब आप किस प्राणी (सत्त्व) पर करुणा करके उसके दुःख का निवारण करेंगे ?

दुःखं कस्मान्निवार्य चेत् सर्वेषामविवादतः ।

वार्य चेत् सर्वमप्येवं न चेदात्मापि सत्त्ववत् ॥ १०३ ॥

उ० श्रीर० गु० श्री० श्रुमा० सप्तम० व० ।

सत्त्वमा० स० सु० त्रि० स० षष्ठ० ५० षष्ठे ।

मा० ५० सत्त्वमा० षष्ठ० स० षष्ठ० षष्ठे ।

ने० षष्ठे० स० मा० गु० स० षष्ठे० षष्ठे० १०३ ।

‘सभी निरात्मक हैं, इसलिए दुःख निवारण करने योग्य नहीं है’-यदि तुम ऐसा मानते हो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इस (दुःख निवारण के) विषय में (सभी दार्शनिक) एकमत हैं। अर्थात् उनमें कोई विवाद नहीं है। (यहाँ तक कि चार्वाक की भी दुःख निवारण में प्रवृत्ति देखी जाती है) इसलिए यदि दुःख निवारण करने योग्य है तो सभी दुःख (-मात्र) हटाने योग्य है। यदि हटाने योग्य नहीं है तो उपादान पञ्च स्कन्धरूपी दुःख^१ (आत्मा) भी हटाने योग्य नहीं है। आशय यह है कि दुःख दूर करना है तो सब का दुःख दूर करना चाहिए, नहीं तो सभी प्राणियों की भाँति अपना (आत्मसम्बद्ध) दुःख भी दूर नहीं करना होगा।

कृपया बहु दुःखं चेत् कस्मादुत्पद्यते बलात् ।

जगद्दुःखं निरूप्येदं कृपादुःखं कथं बहु ॥ १०४ ॥

श्रीर० श्री० श्रुमा० सप्तम० व० गु० स० ।

उ० श्रीर० गु० श्री० स० षष्ठे० ५० षष्ठे ।

मा० ५० सत्त्वमा० स० षष्ठे० स० षष्ठे० ।

ने० षष्ठे० स० मा० गु० स० षष्ठे० षष्ठे० १०४ ।

१. बौद्ध पाँच उपादान स्कन्धों को ही आत्मा मानते हैं और भगवान् ने संक्षेप में पाँचों उपादान स्कन्धों को दुःख कहा है। निर्वाण की अवस्था में उपादान पञ्चस्कन्ध सन्तति समाप्त हो जाती है।

इसलिए राजा की ओर से होने वाली विपत्ति (राजदण्ड) को जानते हुए भी सुपुष्पचन्द्र बोधिसत्त्व ने बहुत से लोगों को दुःख से मुक्त करने के निमित्त अपने दुःख की परवाह नहीं की ।

सुपुष्पचन्द्र बोधिसत्त्व की कथा समाधिराजसूत्र में वर्णित है^१ । पुराने समय में शूरदत्त नाम का एक राजा था । उसकी रत्नावती नामक राजधानी थी । उन्होंने अपने राज्य से धार्मिकों को निर्वासित कर दिया था । वे लोग समन्तभद्र नामक अरण्य में धर्म-आभाणक सुपुष्पचन्द्र के साथ रहते थे । सुपुष्पचन्द्र के मन में यह विचार आया कि कुमार्ग में पतित लोगों के कल्याण के लिए मुझे राजधानी में प्रवेश करना ही चाहिए । अपने इरादे को अपने सहयोगियों को बताकर उन्होंने राजधानी में प्रवेश किया और राजपुत्र, मन्त्री, पुरोहित आदि को अनेक उपायों से सन्मार्ग में प्रतिष्ठित किया । राजा ने यह देखा तो पुत्रों को उन्हें मारने की आज्ञा दी । पुत्रों के इन्कार करने पर उसने नन्दिक नामक कसाई को आज्ञा दी । कसाई ने उनके क्रमशः हाथ, पैर आदि अंग काट डाले, आखें निकाल लीं और उन्हें जान से मार डाला । इस क्रम में अनेक चमत्कार हुए । राजा ने उन्हें समझा कि ये सचमुच बोधिसत्त्व भिक्षु हैं और अन्त में विलाप किया ।

एवं भावितसन्तानाः परदुःखसमप्रियाः^२ ।

अवीचिमवगाहन्ते हंसाः पद्मवनं यथा ॥ १०७ ॥

दे'हृर'कु'र'वे'म'म'स'गु'र'वा । ।

म'ल'र'गु'र'सु'म'स'सु'म'वे'र'म'र'वा । ।

म'म'र'म'र'र'र'र'र'र'र' । ।

म'म'र'म'र'र'र'र'र'र'r' । १०७ ।

जिनकी चित्तसन्तति स्व-पर आत्मसमता की भावना से पूर्णतया भावित हो चुकी है । अर्थात् जिनका चित्त बिना प्रयत्न के स्व-पर आत्मसमता में प्रवृत्त है तथा जिनके लिए दूसरों का दुःख (परदुःख) अपने सुख के समान इष्ट है । अर्थात् जो दूसरों का दुःख दूर करने में ही सुख मानते हैं, ऐसे बोधिसत्त्व पद्मवन में हंस के

१. द्र०—समाधिराजसूत्र, पृ० २३२-२५६ (दरभंगा-संस्करण) ।

२. “परदुःखसमप्रियाः” यह पाठ भी उपलब्ध है । द्र०—भोटानुवाद एवं डा० शान्तिभिक्षु शास्त्री द्वारा सम्पादित बोधिचर्यावतार ।

समान (परदुःख दूर करने के लिए भयंकर) अवीचि नरक में भी अवगाहन करते हैं । क्योंकि परहित में संलग्न उन बोधिसत्त्वों के लिए अवीचि का दुःख भी सुख ही है । किसी भी वजह से उनके दुःखी होने का कोई कारण नहीं है ।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।

तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥ १०८ ॥

सोमस'ठ'व'म'स'व' ।

र'म'र'म'र'म'र'म'र'म'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' । १०८ ।

सत्त्वों (प्राणियों) के दुःखजाल से मुक्त होने पर जो बोधिसत्त्वों की चित्त-सन्तति में सन्तोष के समुद्र उमड़ पड़ते हैं, वे सन्तोषसमुद्र ही उनके लिए पर्याप्त (काफी) हैं । अरसिक (रसहीन व्यक्तिगत) निर्वाण से उनको क्या प्रयोजन ?

दूसरों को दुःख से मुक्त करने पर जो सन्तोष-सुख की अनुभूति होती है, उसके स्वयंवेद्य होने के कारण यह कहना मुश्किल है कि 'यह सुख इस प्रकार का है, या उस प्रकार का है'—इत्यादि । वह तो गूँगे के गुड़ के समान है, इसलिए 'प्रामोद्य-सागर' (सन्तुष्टि-समुद्र) यह कहा गया है ।

अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।

न विपाकफलाकाङ्क्षा परार्थकान्ततृष्णया ॥ १०९ ॥

र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' । १०९ ।

परार्थ ही जिनकी एकमात्र चाह (इच्छा) है, ऐसे महापुरुष बोधिसत्त्वों में परहित करके भी न गर्व (मद) होता है और न आश्चर्य तथा न परलोक में सुख-प्राप्ति आदि फल की आकांक्षा ही उनमें होती है । (उन्हें तो परहित करने में ही

अपार सुख एवं सन्तोष की अनुभूति होती है। ऐसे बोधिसत्त्व मोक्ष के तो समीप ही होते हैं, अतः उन्हें और कोई आकांक्षा नहीं होती)

तस्माद् यथान्तशोऽवर्णादात्मानं गोपयाम्यहम् ।

रक्षाचित्तं दयाचित्तं करोम्येवं परेष्वपि ॥ ११० ॥

दे'सस'ई'हृद'कु'हृ' ।

सि'हृ'स'स'गु'स'स'स'स' ।

दे'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सि'हृ'स'स'स'स'स'स'स' । ११० ।

(परात्मसमता की भावना की विशेषताओं की ऊपर पर्याप्त चर्चा की गई है। अब उसका उपसंहार किया जा रहा है)

‘इसलिए’ अर्थात् स्व (अपने) और पर (दूसरे) में लेश मात्र भी भेद (फर्क) न होने से जैसे मैं अपने को नाममात्र की छोटी से छोटी बदनामी से भी बचाता हूँ, उसी प्रकार दूसरों के प्रति भी मुझमें उनकी रक्षा का भाव (चित्त) और उनके प्रति करुणा-चित्त उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए ।

[ग्रन्थकार ने बोधिचर्या के अभिलाषी महापुरुषों के लिए इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि उन्हें परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन की भावना विशेष रूप से करनी चाहिए। परात्मसमता की भावना का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब परात्मपरिवर्तन की भावना का प्रतिपादन किया जा रहा है। इन भावनाओं का अभ्यास यद्यपि निश्चय ही अत्यन्त कठिन (दुष्कर) है, फिर भी निरन्तर अभ्यास से सब कुछ सम्भव है। बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए इनकी भावना आवश्यक होती है। चिन्तनधारा पर भावना का असर पड़ता ही है। परात्मपरिवर्तन की भावना के लिए आचार्य कहते हैं—]

परात्मपरिवर्तन

अभ्यासादन्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।

भवत्यहमिति ज्ञानमसत्यपि हि वस्तुनि ॥ १११ ॥

तथा कायोऽन्यदीयोऽपि किमात्मेति न गृह्यते ।

परत्वं तु स्वकायस्य स्थितमेव न दुष्करम् ॥ ११२ ॥

मोक्षस्य स्यात्सिद्धिर्वाप्यसिद्धिः ।

सुखं दुःखं च भवति तत्र न भवति ।

ननु स्यात्सिद्धिर्वाप्यसिद्धिः ।

ननु स्यात्सिद्धिर्वाप्यसिद्धिः ॥ १११ ॥

ननु स्यात्सिद्धिर्वाप्यसिद्धिः ।

ननु स्यात्सिद्धिर्वाप्यसिद्धिः ।

ननु स्यात्सिद्धिर्वाप्यसिद्धिः ।

ननु स्यात्सिद्धिर्वाप्यसिद्धिः ॥ ११२ ॥

जिस प्रकार अभ्यास के कारण दूसरे (माता-पिता) के रजस् (रक्त) और शुक्र (वीर्य) के बिन्दुओं में 'अहम्' अर्थात् अपनेपन का बोध होने लगता है, जब कि वहाँ (रजोवीर्य-बिन्दुओं में) 'अहम्' नाम की कोई वस्तु स्थित नहीं है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों का शरीर भी वयों 'अहम्' (मैं) के रूप में गृहीत नहीं किया जा सकता ? (अर्थात् किया ही जा सकता है) । अपने शरीर का परायापन तो सहज ही सिद्ध है (मरने के बाद वह साथ छोड़ ही देता है) फिर भी उसमें अहं-बुद्धि हो जाती है । अतः परात्मपरिवर्तन की भावना, अभ्यास से दुष्कर (कठिन) नहीं है ।

(परात्मसमता का आचरण ही कठिन है, फिर परात्मपरिवर्तन का अभ्यास तो और भी कठिन है, मैं इसे कैसे कर सकता हूँ ? सबसे पहले इस प्रकार के विचार को ही छोड़ देना चाहिए । अभ्यास से ऐसा परिवर्तन आसान हो जाता है । एक व्यक्ति खून देखने मात्र से ही बेहोश हो जाता है, जब कि एक कसाई जीवधारियों को गाजर-मूली की तरह दिन-भर काटता रहता है, उसे ख्याल ही नहीं आता कि यह प्राणी है । इसी तरह लड़ाई में शत्रु को काटकर एक व्यक्ति को प्रसन्नता और उत्साह की अनुभूति होती है । इन सबके पीछे अभ्यास ही है । इस तरह अभ्यास द्वारा परात्मपरिवर्तन (अर्थात् अपने = स्वयं को दूसरे के स्थान पर तथा दूसरे को अपने स्थान पर रखना) सम्भव है ।

ज्ञात्वा सदोषमात्मानं परानपि गुणोदधीन् ।

आत्मभावपरित्यागं परादानं च भावयेत् ॥ ११३ ॥

जिस प्रकार निरात्मक (आत्मरहित) इस अपने शरीर में अभ्यास के ही कारण आत्मबुद्धि (अपनेपन या मैं का बोध) उत्पन्न हो जाती है तो क्या वह आत्मबुद्धि दूसरों (के शरीरों) में अभ्यास से उत्पन्न नहीं हो सकती ? निरन्तर अभ्यास से ऐसा होना सर्वथा सम्भव है ।

एवं परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।

आत्मानं भोजयित्वैव फलाशा न च जायते ॥ ११६ ॥

ने'ह'क'की'म'ल'क'सी'दे'क' ।

सुख'गु'द'द'म'क'र'ह'म'म'द'सु'द' ।

म'द'म'ह'द'गु'द'की'म'ल'क'सी'दे'क' ।

म'द'म'ह'द'गु'द'की'म'ल'क'सी'दे'क' ॥ ११७ ॥

इस प्रकार परात्मपरिवर्तन के अभ्यास से परहित भी अपना ही कार्य है—ऐसा समझकर न तो मद (घमण्ड) होता है और न आश्चर्य । जैसे अपने-आपको भोजन करा कर किसी प्रकार के फल की आशा उत्पन्न नहीं होती । जब पर (दूसरे) भी स्व (अपने) ही हैं तो जैसे अपने (स्वयं) को भोजन कराने या अपना उपकार करने पर किसी भी प्रकार के गर्व की अनुभूति या फल की आशा नहीं होती, उसी प्रकार परहित करने पर भी ये सब नहीं होते ।

तस्माद् यथार्तिशोकादेरात्मानं गोप्तुमिच्छसि ।

रक्षाचित्तं दयाचित्तं जगत्यभ्यस्यतां तथा ॥ ११७ ॥

ने'म'ल'क'सी'दे'क' ।

म'द'म'ह'द'गु'द'की'म'ल'क'सी'दे'क' ।

ने'म'ल'क'सी'दे'क' ।

म'द'म'ह'द'गु'द'की'म'ल'क'सी'दे'क' ॥ ११८ ॥

इसलिए जिस प्रकार तुम छोटे से छोटे दुःख और शोक से अपने आपको बचाना चाहते हो, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण संसार के (प्राणियों के) प्रति करुणा-चित्त और उनके सुख-सुविधा की रक्षा के भाव (चित्त) का अभ्यास करो ।

अध्यतिष्ठदतो नाथः स्वनामाप्यवलोक्तिः ।

पर्वच्छारद्यभयमप्यपनेतुं जनस्य हि ॥ ११८ ॥

དེ་བས་མགོན་པོ་སྤྲུལ་རས་གཟིགས།

ཐུགས་རྩི་ཆེན་པོས་འགྲུ་བ་ཡི།

འཁོར་གྱི་འཛིག་པ་འདྲ་བས་ལ་བཞི་ཕྱིར།

རང་གི་མཆོད་ཡང་བྱིན་གྱིས་བསྐྱབས། ༡༡༤ །

इसलिए अर्थात् दूसरों के प्रति करुणा और उनकी सुरक्षा की भावना होने के कारण ही भगवान् अवलोकितेश्वर ने लोगों के पर्षच्छादय भय को दूर करने के लिए 'जो व्यक्ति मेरा नाम ले, उसे जनसमूह के मध्य में किसी प्रकार का भय न हो'— इस प्रकार अपने नाम का अधिष्ठान किया।

[पर्षत्-शारद्य का अर्थ है किसी सभा या जनसमूह के बीच उपदेश करने में एक प्रकार की घबराहट (भय) या लज्जा का होना । शारदा लज्जा या भय को कहते हैं । उसका भाव 'शारद्य' है । पर्षत् का अर्थ परिषद्, सभा या जनसमूह है । सभा के मध्य भाषण आदि करते समय या प्रश्न पूछे जाने पर जो भय या लज्जा होती है, वह 'पर्षत्-शारद्य' है । इसका विपरीत वैशारद्य है । वैशारद्य चार प्रकार के होते हैं, जो बुद्ध के गुण माने जाते हैं^१ ।

जैसे कोई व्यक्ति सर्प-मन्त्र को सिद्ध करके इस संकल्प के साथ एक स्तम्भ गाड़ दे कि 'जो इस स्तम्भ का स्पर्श करे, उसका सर्पविष उतर जाए' और तदनुसार लोगों का सर्पविष उतरने भी लगता है। इसे ही अधिष्ठान करना कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् अवलोकितेश्वर ने लोगों के पर्षत्-शारद्य भय को दूर करने के लिए अपने नाम का ही अधिष्ठान किया कि 'जो मेरा नाम ले, उसे पर्षत्-शारद्य न हो'।

दुष्करान्न निवर्तेत यस्मादभ्यासशक्तिः ।

यस्यैव श्रवणात् त्रासस्तेनैव न विना रतिः ॥ ११९ ॥

དཀའ་ལས་ཕྱིར་ལྷོག་མི་བྱ་ཏེ།

འདི་ལྟར་གོ་མས་པའི་མཐུ་ཡིས་ནི།

གང་གི་མིང་བློས་འཛིགས་པ་ཡང་།

དེ་ཉིད་མེད་ན་མི་དག་འབྱུང་། ༡༡༧ །

१. चार वैशारद्यों के परिज्ञान के लिए द्रष्टव्य—मज्झिम निकाय में महासीहनाद-सुत्त, अभिसमयालङ्कार, महायान सत्रालंकार आदि बह्वर्णप्रतिपादक ग्रन्थ ।

परात्मपरिवर्तन अत्यन्त दुष्कर है-ऐसा सोचकर कभी अभ्यास करने से विरत नहीं होना चाहिए । जैसे-एक समय जिस शत्रु का नाम सुनने से भी भय होता है, उसी के प्रति स्नेह की भावना करते-करते ऐसा भी समय आता है, जबकि उसके बिना बेचैनी या परेशानी होने लगती है ।

आत्मानं चापरांश्चैव यः शीघ्रं त्रातुमिच्छति ।

स चरेत् परमं गुह्यं परात्मपरिवर्तनम् ॥ १२० ॥

मा०'वि०'म०'मा०'म०'म०'म०'म०'म०' ।

म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०' ।

म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०' ।

म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०' । १२० ।

अतः जो साधक व्यक्ति स्वयं अपने को दूसरों को शीघ्र वचाना चाहता है, अर्थात् अपने को और दूसरों को संसार और मोक्ष (या भव और शम) इन दो अन्तों से शीघ्र उबारना चाहता है, उसे परम गुह्य परात्मपरिवर्तन का अभ्यास करना चाहिए ।

जो लोग इसके पात्र नहीं हैं अथवा जिनकी इस प्रकार की भावना के प्रति रुचि या श्रद्धा नहीं है, उनके लिए यह गुह्य एवं भयावह है । ऐसे लोगों से दूर रहते हुए इसकी गुह्यरूप से भावना करनी चाहिए । अन्यथा वे इसकी अवहेलना कर दुर्गति के पात्र होंगे ।

यस्मिन्नात्मन्यतिस्नेहादल्पादपि भयाद् भयम् ।

न द्विषेत् कस्तमात्मानं शत्रुवद् यो भयावहः ॥ १२१ ॥

म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०' ।

म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०' ।

म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०' ।

म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०'म०' । १२१ ।

[ऊपर कहा गया है कि अपने को दोषों से युक्त और दूसरों को गुणों का आगार समझना चाहिए । क्योंकि आत्मदृष्टि का विषय जो 'स्व' (अहम्) है, उसकी सत्ता के प्रति अभिनिवेश के कारण ही राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं, अतः सारी

बुराईयों की जड़ यह 'स्व' (आत्मा) ही है। क्योंकि यही आत्मा आत्मदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) का विषय है। इसी तरह परात्मपरिवर्तन की भावना परहित, परोपकार या परसेवा आदि सारी अच्छाईयों का मूल है। इस परहित-भावना के विषय दूसरे प्राणी हैं। उनकी सेवा से ही बुद्धत्व जैसा श्रेष्ठ पद प्राप्त होता है। परसेवा से निरभिमानिता भी उत्पन्न होती है। अतः 'पर' अर्थात् दूसरे लोग सब गुणों की खान हैं। इसी बात को अब यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है।]

जिस (स्व-काय) के प्रति अत्यन्त स्नेह होने के कारण अल्प (थोड़े) भय की आशंका से भी कल्पना द्वारा महान् भय होता है, जिसकी सुरक्षा और जिसकी सुख-सुविधा जुटाने के लिए अनेक दुष्कर्म करने पड़ते हैं तथा जिसके परिणाम स्वरूप महान् दुःख भोगने पड़ते हैं, वह (स्वकाय अर्थात् अहंबुद्धि का विषय) शत्रु के समान भयावह है, उससे कौन द्वेष नहीं करेगा ?

यो मान्द्यक्षुत्पिपासादिप्रतीकारचिकीर्षया ।

पक्षि-मत्स्य-मृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति ॥ १२२ ॥

यो लाभसत्क्रियाहेतोःपितरावपि मारयेत् ।

रत्नत्रयस्वमादद्याद् येनावीचीन्धनो भवेत् ॥ १२३ ॥

कः पण्डितस्तमात्मानमिच्छेद् रक्षेत् प्रपूजयेत् ।

न पश्येच्छत्रुवच्चैनं कश्चैनं प्रतिमानयेत् ॥ १२४ ॥

सुख'मा'न'म'ग्रेस'द'न'स'स'मा'न'न' ।

मा'स'म'र'क'मा'सु'द'न'द'न'स' ।

सु'द'न'स'द'न'द'न'स'मा'न' ।

मा'स'द'न'स'सु'द'न'द'न'स'मा'न' । १२३ ।

मा'न'स'मा'न'द'न'द'न'स'मा'न' ।

स'द'न'स'मा'न'स'मा'न'स'मा'न' ।

द'न'स'मा'न'स'मा'न'स'मा'न' ।

द'न'स'मा'न'स'मा'न'स'मा'न' । १२३ ।

सदमा'मो'रि'रु'म'ल'र'म'ग'ल'र' । ।

सु'र'ल'सो'र'म'सु'र'म'र'र'ग'र' । ।

म'ल'र'म'ो'र'र'र'र'म'स'र' । ।

र'र'र'र'र'र'र'र'r'r'r'r' २३८ ।

अपने लिए दूसरों को आज्ञा देकर काम लेने के परिणाम-स्वरूप दासता, निर्धनता तथा नीच कुल में जन्म आदि फल भोगने पड़ते हैं। इसके विपरीत दूसरों की सेवा में, उनको सुख-सुविधा पहुँचाने में अपने को लगाने से जन्म-जन्मान्तर तक स्वामित्व (प्रभुता), रूप, धन, यौवन आदि उपलब्ध होते हैं।

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।

ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्यसुखेच्छया ॥ १२९ ॥

र'र'र'र'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' २३९ ।

संसार में जितने भी लोग विविध प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं, वे सब आत्म-स्नेह के वशीभूत होकर अपने सुख की तृष्णा के कारण हैं। तथा लोक (संसार) में जितने भी लोग विविध प्रकार के सुखों से युक्त हैं, वे सब दूसरों को सुखी करने की अभिलाषा के कारण हैं।

बहुना वा किमुक्तेन दृश्यतामिदमन्तरम् ।

स्वार्थार्थिनश्च बालस्य मुनेश्चान्यार्थकारिणः ॥ १३० ॥

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' । ।

र'r'r'r'r'r'r'r'r'r' २४० ।

अधिक कहने से क्या लाभ । अपने स्वार्थ में लित, अपने ही स्वार्थ की सिद्धि के लिए सर्वदा प्रयत्नशील अज्ञानी पृथग्जन और अन्यो के कल्याण में सर्वदा लीन रहने वाले मुनीश्वर बुद्ध आदि के जीवन के इस अन्तर (फर्क) को देख क्यों नहीं लेते ? दोनों के जीवन में कितना फर्क है ?

न नाम साध्यं बुद्धत्वं संसारेऽपि कुतः सुखम् ।

स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ॥ १३१ ॥

न नाम साध्यं बुद्धत्वं संसारेऽपि कुतः सुखम् ।

स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ॥ १३१ ॥

न नाम साध्यं बुद्धत्वं संसारेऽपि कुतः सुखम् ।

स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ॥ १३१ ॥

प्रश्न—यह मार्ग बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए तो उचित कहा जा सकता है, किन्तु सांसारिक सुख की कामना करनेवालों के लिए कैसे उचित हो सकता है ?

अपने सुख का दूसरों के दुःख के साथ बिना परिवर्तन किए बुद्धत्व सिद्ध होने की तो बात ही दूर है, सांसारिक सुख भी प्राप्त नहीं किये जा सकते ।

कहने का आशय यह है कि अपने सुख और दूसरों के दुःख में अदला-बदली बिना किये न तो बुद्धत्व प्राप्त हो सकता है और न ही सांसारिक सुख । जब यह परिवर्तन बुद्धत्व जैसे सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करा सकता है तो देव और मनुष्य सुलभ सुख प्राप्त कराना इसके लिए क्या कठिन है ? स्वसुख के परदुःख में परिवर्तन के इस मार्ग द्वारा व्यक्ति देव और मनुष्य जैसी उत्तम योनि को प्राप्त करता हुआ अन्त में बुद्धत्व प्राप्त करने में भी समर्थ हो जाता है ।

आस्तां तावत् परो लोको दृष्टोऽप्यर्थो न सिध्यति ।

भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनोऽददतो भृतिम् ॥ १३२ ॥

आस्तां तावत् परो लोको दृष्टोऽप्यर्थो न सिध्यति ।

भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनोऽददतो भृतिम् ॥ १३२ ॥

आस्तां तावत् परो लोको दृष्टोऽप्यर्थो न सिध्यति ।

भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनोऽददतो भृतिम् ॥ १३२ ॥

परहित द्वारा परलोक में सुखमय फल प्राप्त होता है, इसे छोड़ भी दें, (क्योंकि परलोक का सुख अप्रत्यक्ष है, कोई अविश्वास कर सकता है, किन्तु परहित के बिना) इस जीवन में भी अर्थसिद्धि नहीं हो सकती । (इसे उदाहरण द्वारा आचार्य समझाते हैं जैसे—) कोई नौकर यदि अपना कर्तव्य कर्म ठीक से नहीं करता या कोई स्वामी ठीक से काम करनेवाले नौकर को भी देय पारिश्रमिक नहीं देता तो नौकर और स्वामी दोनों की अर्थसिद्धि नहीं होती । अर्थात् उनका लौकिक मनोरथ भी पूर्ण नहीं होता । दोनों की हानि होती है ।

त्यक्त्वान्योन्यसुखोत्पादं दृष्टादृष्टसुखोत्सवम् ।

अन्योन्यदुःखनाद् घोरं दुःखं गृह्णन्ति मोहिताः ॥ १३३ ॥

मर्षेण न च मर्षेण च न च न च न च ।

सुखं सुखं च न च न च न च न च ।

मात्रं च न च न च न च न च ।

मर्षेण च न च न च न च न च । १३३ ।

एक-दूसरे के (परस्पर) सुख पहुँचाने से दृष्ट अर्थात् इस जन्म में और अदृष्ट अर्थात् परलोक में जो अनन्त सुख (सुख का उत्सव) होता है, उसे छोड़कर अज्ञानी लोग मूर्खतावश एक-दूसरे को (परस्पर) दुःख पहुँचाकर घोर दुःख ही पाते हैं ।

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके

यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।

सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण

तत्किं समानेन परिग्रहेण ॥ १३४ ॥

मर्षेण न च न च न च न च न च ।

मर्षेण न च न च न च न च न च ।

न च न च न च न च न च न च ।

मर्षेण न च न च न च न च न च । १३४ ।

सारे दुःखों का मूल अज्ञान है, इसे दिखाने के लिए आचार्य आगे कहते हैं—
संसार में जितने भी उपद्रव (झगड़े या अशान्ति) हैं, जितने प्रकार के दुःख

हैं तथा जितने प्रकार के भय हैं, वे सब आत्मदृष्टि (आत्माभिनिवेश या स्वार्थ-भावना) की वजह से हैं । अतः मुझे इस आत्मग्राह से क्या प्रयोजन ? अर्थात् क्यों हम दुःख और उपद्रवों के मूल को धारण करते रहें । इस आत्मदृष्टि की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है । जब तक सारे दुःखों का मूल हमारे भीतर विद्यमान है, तब तक दुःख उसी प्रकार दूर नहीं किये जा सकते, जैसे जब तक अग्नि-पिण्ड हाथ में है, तब तक हाथों को जलने से नहीं बचाया जा सकता । अतः दुःखों से मुक्ति के अभिलाषी को सभी अनर्थों की मूल इस आत्मदृष्टि का परित्याग शीघ्र कर देना चाहिए ।

आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।

यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ॥ १३५ ॥

मदमा'ड्रि'अ'द'स'सु'म'म'द'व' । ।

सु'मा'म'सु'अ'सु'द'म'म'म'व'स' । ।

म'व'स'म'म'म'म'म'म'म' । ।

सु'मा'म'सु'अ'सु'द'म'म'म'व'स' । १३५ ।

आत्मदृष्टि का परित्याग किये बिना दुःखों से छुटकारा सम्भव नहीं, ठीक उसी प्रकार, जैसे अग्नि का त्याग किये बिना दाह से छुटकारा सम्भव नहीं । आत्मा-भिनिवेश का प्रहाण ही सर्वविध सुख का मूल है । अतः नैरात्म्य की भावना अवश्य की जानी चाहिए ।

तस्मात् स्वदुःखशान्त्यर्थं परदुःखशमाय च ।

ददाम्यन्येभ्य आत्मानं परान् गृह्णामि चात्मवत् ॥ १३६ ॥

दे'द'म'म'द'मा'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'm' । ।

म'म'म'म'म'म'm'm' । १३६ ।

इसलिए अपने दुःखों, भयों और उपद्रवों के शमन के लिए तथा दूसरों के दुःखों, भयों और उपद्रवों की शान्ति के लिए मैं दूसरों के (हित के) लिए अपने को समर्पित करता हूँ तथा दूसरों को अपने समान (आत्मतुल्य) ग्रहण करता हूँ । यही स्वपरात्मपरिवर्तन है । इसी की भावना बोधिसत्त्व के लिए परम कर्तव्य है ।

प्रश्न—यदि आत्मदृष्टि एक मिथ्यादृष्टि है तो दूसरों को अपने स्थान पर रखना अर्थात् 'पर' को 'स्व' समझना भी क्यों मिथ्यादृष्टि नहीं है ? क्योंकि जब 'स्व' नहीं, तब 'पर' भी कैसे सम्भव है ? क्योंकि 'पर' तो 'स्व' की अपेक्षा से होता है ।

समाधान—ठीक है । दोनों के मिथ्या होने में समानता होने पर भी दोनों के फल में भेद है । जब आत्मदृष्टि होती है तो व्यक्ति की सारी क्रियाएं सारे व्यवहार स्वकेन्द्रित या स्वार्थमूलक होते हैं और उनसे निश्चय ही अपने और जगत् के दुःखों की वृद्धि ही होती है । ठीक इसके विपरीत दूसरों को अपनी जगह रखने पर अर्थात् 'पर' को 'स्व' समझने पर सारी क्रियाएं या व्यवहार परकेन्द्रित या परहितमूलक होते हैं और उनसे जागतिक दुःखों में निश्चय ही कमी आती है । अतः दोनों के मिथ्या होने में समानता होने पर भी दोनों के फल (परिणाम) में अन्तर होता है ।

जैसे कोई व्यक्ति मणिप्रकाश को मणि समझता है और एक दूसरा व्यक्ति दीपक के प्रकाश को मणि समझता है, यहाँ दोनों ही व्यक्तियों की समझ या बुद्धि मिथ्या है, क्योंकि कोई भी प्रकाश 'मणि' नहीं होता, फिर भी मणिप्रकाश को मणि समझने वाला व्यक्ति वहाँ पहुँचने पर मणि प्राप्त करता है तथा दीपकप्रकाश को मणि समझने वाला व्यक्ति वहाँ पहुँचने पर भी मणि प्राप्त नहीं करता । यह बात धर्मकीर्ति ने इस प्रकार कही है—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिवुद्ध्याभिधावतोः ।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति १ ॥

मिथ्या होने पर भी जो यह फल में भेद है कि एक मिथ्या दृष्टि द्वारा संसार के दुःखों में वृद्धि और दूसरी के द्वारा सुख और शान्ति में वृद्धि, यह सब अचिन्त्य प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा होता है, जिसके यथार्थ ज्ञाता भगवान् बुद्ध हैं और उनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है ।

अन्यसम्बद्धमस्मीति निश्चयं कुरु हे मनः ।

सर्वसत्त्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ॥ १३७ ॥

मनसि क्विन्मल्लस्युत्सृज्यते ।

अन्यसत्त्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ।

सर्वसत्त्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ।

मनसि क्विन्मल्लस्युत्सृज्यते १३७ ।

हीनादिष्वात्मतां कृत्वा परत्वमपि चात्मनि ।

भावयेर्ष्यां च मानं च निर्विकल्पेन चेतसा ॥ १४० ॥

५५५'५५५'५५५'५५५'५५५' ।

५५५'५५५'५५५'५५५'५५५' ।

५५५'५५५'५५५'५५५'५५५' ।

५५५'५५५'५५५'५५५'५५५' ।

भावनाविधि—जगत् के प्राणी तीन प्रकार के हैं—हीन, तुल्य (समान) और श्रेष्ठ । भावना के अभिलाषी साधक को चाहिए कि वह अपना एक रूप हीन आदि में रखे और दूसरा रूप अपने से भिन्न बहुसंख्यक समाज में रखे । अर्थात् कल्पना के क्षेत्र में स्वयं को द्विविभक्त कर ले । प्रायः व्यक्ति अपने से हीन के प्रति अनादर, तुल्य (सम) के प्रति प्रतिस्पर्धा तथा श्रेष्ठ के प्रति ईर्ष्या की भावना रखता है । अब स्वयं को बहुजन समाज में रखकर वहाँ से निर्विकल्प (निष्पक्ष) चित्त द्वारा अपने हीन आदि स्वरूप को देखे कि कैसे वह हीन के प्रति अनादर, तुल्य के प्रति प्रतिस्पर्धा और श्रेष्ठ के प्रति ईर्ष्या आदि रखता है । अपने स्वार्थी, आत्मकेन्द्रस्थ स्वरूप में स्थित ईर्ष्या, अहंकार आदि की विद्यमानता पर विचार करे, उसका निर्विकल्प चित्त से निरीक्षण करे ।

यह भी देखे कि अपने स्वार्थी रूप और दुःखी प्राणियों के समूह—इन दोनों में कौन महत्त्वपूर्ण है । दोनों पक्ष सुख के अभिलाषी तथा दुःखों से मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले हैं । किन्तु साधक को देखना है कि वह कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु आखिरकार वह एक व्यक्ति है और दूसरी ओर बहुसंख्यक दुःखी व्यक्तियों का समूह । अतः कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित पक्ष को स्वीकार नहीं करेगा । इस तरह अपने में विद्यमान ईर्ष्या, अहंकार आदि का निरीक्षण करे ।

एष सत्क्रियते नाहं लाभो नाहमयं यथा ।

स्तूयतेऽयमहं निन्द्यो दुःखितोऽहमयं सुखी ॥ १४१ ॥

अहं करोमि कर्माणि तिष्ठत्येष तु सुस्थितः ।

अयं किल महान्लोके नीचोऽहं किल निर्गुणः ॥ १४२ ॥

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ १८१ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ १८२ ।

श्रेष्ठ से ईर्ष्या आदि के सन्दर्भ में भावना-विधि—अपने को बहुजन पक्ष में रख कर आत्मकेन्द्रित पक्ष को इंगित कर इस प्रकार भावना करे—

इस स्वार्थी का सत्कार होता है, हमारा नहीं। जैसे इसका लाभ हो रहा है, वैसा हमारा नहीं। इसकी प्रशंसा (स्तुति) हो रही है और हमारी निन्दा। यह सुखी है और हम दुःखी।

हम हर प्रकार का परिश्रम करते हैं और यह आराम से बैठा है। फिर भी यह लोक में महान् है और हम नीच तथा निर्गुण ? ऐसा क्यों है ?

किं निर्गुणेन कर्त्तव्यं स्व (क)-स्यात्मा गुणान्वितः ।

सन्ति ते येष्वहं नीचः सन्ति ते येष्वहं वरः ॥ १४३ ॥

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ ।

ॠ॒दि॒र्वा॒स॒गु॒ण॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒सु॒ख॒ १८३ ।

हम निर्गुण (गुणरहित) हैं और वह गुणी, किन्तु इससे क्या ? हम भी गुणवान् हो सकते हैं (क्योंकि हमारे अन्दर भी तथागतगर्भ (कुशल-बीज) जैसे गुण निहित हैं। अतः निराश होने का कोई कारण नहीं, केवल प्रयास की आवश्यकता है।) ऐसे लोग दुनियाँ में हैं, जिनसे मैं नीच (हीन) हूँ, किन्तु ऐसे भी लोग हैं, जिनकी अपेक्षा मैं श्रेष्ठ हूँ।

वस्तुतः ये सब बातें सापेक्ष हैं। जिसे हम श्रेष्ठ समझते हैं, वही, सब कुछ (सर्वेसर्वा) नहीं होता, उससे भी गुणी, विद्वान्, बड़े साधक आदि होते ही हैं। इसी तरह हम भी किन्हीं लोगों से अच्छे होते ही हैं।

शीलदृष्टिविपत्त्यादि क्लेशशक्त्या न मद्वशात् ।

चिकित्स्योऽहं यथाशक्ति पीडाप्यङ्गीकृता मया ॥ १४४ ॥

कुं० प्रि० स० ५० ५० ५० ५० ५० ।

५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ।

५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ।

५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० । १०० ।

यदि कहो कि तुम शील से रहित एवं दृष्टि आदि से विपन्न (प्रज्ञारहित) हो और मैं नहीं हूँ; तो इसमें मेरा कोई वश नहीं है, ऐसा तो राग, द्वेष आदि क्लेशों की वजह से होता है। इसलिए हम तुम्हारे द्वारा यथाशक्ति (शक्ति के अनुसार) चिकित्सा करने योग्य अर्थात् छुटकारा दिलाने योग्य हैं और हमने इसके लिए कोई भी पीड़ा सहन करना स्वीकार कर लिया है।

यद्यपि मैं शील, प्रज्ञा आदि से रहित हूँ, फिर भी मैं तुम्हारा बड़प्पन तभी मानूंगा, जब तुम इनसे मेरा छुटकारा दिला सको। यदि इतनी शक्ति तुम में नहीं है तो श्रेष्ठता का घमण्ड मेरे लिए व्यर्थ है।

शीलविपत्ति—प्रतिमोक्ष संवर आदि शीलों का अभाव, चरित्रभ्रष्टता या दुराचरण।

दृष्टिविपत्ति आदि—सम्यग् दृष्टि या प्रज्ञा का अभाव, जिस प्रज्ञा के द्वारा नैरात्म्य का अवबोध होता है। अतः दृष्टिविपत्ति का तात्पर्य सत्कायदृष्टि से है। 'आदि' शब्द द्वारा चर्या-विपत्ति (चर्याविकलता) आदि का ग्रहण करना चाहिए।

शीलविपत्ति, दृष्टिविपत्ति आदि के कारण निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये दोष नित्य और सहज नहीं हैं, अपितु ये आगन्तुक और आकस्मिक मल हैं। सम्यग् दृष्टि और चर्या द्वारा इनका निराकरण बिलकुल सम्भव है।

अथाहमचिकित्स्योऽस्य कस्मान्मामवमन्यसे ।

किं ममैतद्गुणैः कृत्यमात्मा तु गुणवानयम् ॥ १४५ ॥

འོན་ཏེ་བདག་འདིའི་གསོ་བྱ་མིན། ।

ཅི་ཕྱིར་བདག་ལ་བརྟུན་པ་བྱེད། ।

བདག་ལ་དེ་ཡི་ཡོན་ཏན་གྱིས། ।

ཅི་བྱ་འདི་བདག་ཡོན་ཏན་ཅན། १८५ ।

यदि तुम इन दुर्गुणों से हमारी रक्षा नहीं कर सकते तो हमारी अवमानना (अनादर) क्यों करते हो ? तुम गुणवान् हो तो हुआ करो, हमें तुम्हारे गुणों से क्या लेना देना । अर्थात् हमारा उनसे क्या लाभ ?

दुर्गतिव्यालवक्त्रस्थे नैवास्य करुणा जने ।

अपरान् गुणमानेन पण्डितान् विजिगीषते ॥ १४६ ॥

ངན་འགྲོ་གདུག་པའི་ཁར་གནས་པ། ।

འགྲོ་ལ་སྤྱིང་ཇི་མེད་པས་འདི། ।

ཕྱིར་ལ་ཡོན་ཏན་རྣམས་པ་ཡིས། ।

མཁས་པ་དག་ལ་བསྟེ་བར་འདོད། १८६ ।

दुर्गति-रूपी साँप के मुख में स्थित भी दुःखी बहुजन के ऊपर इस आत्म-केन्द्रित स्वार्थी को दया नहीं आती ? केवल अपने बाह्य ज्ञान (गुण) के अभिमान से (शास्त्रार्थ द्वारा) पण्डितों पर विजय प्राप्त करना चाहता है ? (यहाँ तक श्रेष्ठ स्वार्थी के प्रति ईर्ष्या की भावना का वर्णन किया गया है ।)

सममात्मानमवलोक्य यतः स्वाधिक्यवृद्धये ।

कलहेनापि संसाध्यं लाभसत्कारमात्मनः ॥ १४७ ॥

བདག་དང་མཉམ་ལ་ལྟོས་ནས་ནི། ।

གང་གིས་རང་ཉིད་ལྷག་བྱའི་ཕྱིར། ।

བདག་གི་ཉིད་དང་བཀྱར་མི་ནི། ।

ཆེད་པ་ཡིས་ཀྱང་ངས་པར་བརྟུག། १८७ ।

समान (तुल्य) के प्रति प्रतिस्पर्धा के सन्दर्भ में भावना

आत्मकेन्द्रित स्वार्थी व्यक्ति को अपने समान (तुल्य) देखकर गुणों में उससे आगे बढ़ने का प्रयास करे । यदि लाभ, सत्कार आदि कलह से प्राप्त हो सकते हों तो वैसा करके भी सिद्ध करना चाहिए ।

अपि सर्वत्र मे लोके भवेयुः प्रकटा गुणाः ।

अपि नाम गुणा येऽस्य न श्रोष्यन्त्यपि केचन ॥ १४८ ॥

उ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० । १८८ ।

उस स्वार्थी आत्मा को नीचा दिखाने के लिए ऐसा उपाय करे जिससे सर्वत्र लोक में हमारे गुण प्रकट हो जाएँ और उसके जो गुण हैं, उन्हें कोई सुने भी नहीं ।

छायेरन्नपि मे दोषाः स्यान्मे पूजाऽस्य नो भवेत् ।

सुलब्धा अद्य मे लाभाः पूजितोऽहमयं न तु ॥ १४९ ॥

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० । १८९ ।

उससे प्रतिस्पर्धा के कारण अपने दोषों को छिपाकर रखे । लोक में मेरी पूजा और सत्कार हो, इसकी न हो । आज मुझे सारे लाभ प्राप्त हैं । मैं पूजित हूँ, यह नहीं ।

पश्यामो मुदितास्तावच्चिरादेनं खलीकृतम् ।

हास्यं जनस्य सर्वस्य निन्द्यमानमितस्ततः ॥ १५० ॥

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ।

ॐ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० ऋ० । १९० ।

बहुत दिनों के बाद उसके कुत्सित कृत्यों को देखकर हम आज परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं । अपने उन घृणित कृत्यों के कारण आज यह (स्वार्थी) सभी के उपहास का पात्र होकर तथा लोक के द्वारा निन्दित होकर इधर-उधर घूम रहा है ।

अस्यापि हि वराकस्य स्पर्धा किल मया सह ।

किमस्य श्रुतमेतावत् प्रज्ञा रूपं कुलं धनम् ॥ १५१ ॥

ཉན་མོངས་འདི་ཡང་བདག་དང་ནི།

ལྷན་ཅིག་དུ་ནི་འབྲན་ཞེས་གྲག

འདི་བདག་གྲོས་དང་གཞི་རབ་བཅ།

གཞུགས་རིགས་ནོར་གྱིས་མཉམ་མམ་ཅི། ༡༥༡ །

अपने से हीन स्वार्थी आत्मा के सन्दर्भ में श्रेष्ठता की भावना

यह बेचारा (स्वार्थी आत्मा) हमारे साथ स्पर्धा करना चाहता है। इसके पास मेरे जैसा पाण्डित्य (शास्त्रीय ज्ञान), ज्ञाता (विवेक शक्ति), सुन्दरता, कुलीनता और धन कहाँ ? (जो मेरे साथ स्पर्धा कर सके। इस प्रकार अपने अन्दर उत्साह पैदा करना चाहिए।)

एवमात्मगुणान् श्रुत्वा कीर्त्यमानानितस्ततः ।

संजातपुलको हृष्टः परिभोक्ष्ये सुखोत्सवम् ॥ १५२ ॥

དེ་ལྟར་ཀུན་ལ་གྲགས་པ་ཡི།

བདག་གི་ཡོན་ཏན་བློས་ནས་ནི།

སྐྱུ་ལྷའ་དགའ་བ་སྦྱེ་ལྟག་བའི། །

བདེ་སྤྱིད་ལ་ནི་ཡོངས་སུ་སྤྱོད། ༡༥༩ །

इस प्रकार चारों ओर इधर-उधर बखान किये जाते हुए अपने गुणों को सुन कर रोमांचित हो सुखोत्सव का भोग करूंगा।

यद्यप्यस्य भवेत्लाभो ग्राह्योऽस्माभिरसौ बलात् ।

दत्वास्मै यापनामात्रमस्मत्कर्म करोति चेत् ॥ १५३ ॥

ཅི་སྟེ་འདི་ལ་སྟེད་ཡོད་ཀྱང་།

གཤམ་ཏེ་ང་ཡི་ལས་བྱེད་ན།

འདི་ལ་འཆོ་བ་ཙམ་བྱིན་ནས།

བདག་གི་ཕྱོགས་ཀྱིས་དེ་སྒྲུབ་བྱ། ༢༥༩ །

यदि उस स्वार्थी आत्मा को किसी तरह कुछ लाभ हो जाए तो उसे बलपूर्वक छीन ले। यदि ऐसा होगा तो वह जीवित कैसे रहेगा ? यदि वह हमारी इच्छा के अनुकूल काम करे तो जीवित रहने भर के लिए कुछ दे दिया जाएगा।

सुखाच्च च्यावनीयोऽयं योज्योऽसद्व्यथया सदा ।

अनेन शतशः सर्वे संसारव्यथिता वयम् ॥ १५४ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

सर्वमात्मनो भवतां प्रसादात् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १५५ ॥

इस स्वार्थी आत्मनिष्ठ को सभी सुख-सुविधाओं से वंचित कर देना चाहिए और कठोर, दारुण वेदनाओं से युक्त करना चाहिए। इस आत्मपरिग्रही द्वारा संसार में हम सैकड़ों बार सताए गए हैं।

अप्रमेया गताः कल्पाः स्वार्थं जिज्ञासतस्तव ।

श्रमेण महतानेन दुःखमेव त्वयार्जितम् ॥ १५५ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

सर्वमात्मनो भवतां प्रसादात् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १५६ ॥

आत्मपरिग्रह से मुक्ति का चिन्तन-प्रकार

अपने स्वार्थी चित्त को इस प्रकार सम्बोधित करे—हे चित्त, अपने स्वार्थ की चिन्ता करते हुए तुमने असंख्य कल्प बिता दिए। इतने काल तक महान् परिश्रम करके तुमने अपने लिए केवल दुःख ही अर्जित किया है। कभी सुख नहीं मिला।

मद्विज्ञप्त्या तथात्रापि प्रवर्तस्वाविचारतः ।

द्रक्ष्यस्येतद्गुणान् पश्चाद् भूतं हि वचनं मुनेः ॥ १५६ ॥

माम'ते'सु'न'गु'न'सु'न'सु' ।

म'स'म'न'सु'न'म'न'गु'न'न' ।

म'न'स'गु'न'सु'न'सु'न'म'न'म'न' ।

म'न'स'गु'न'सु'न'म'न'म'न'म'न' २५७ ।

ऐ स्वार्थी चित्त, तुमने परात्मपरिवर्तन की भावना कर परहित का सम्पादन किया होता तो तुम्हारी यह दशा (दुर्गति) न हुई होती, क्योंकि परकल्याण का फल भगवान् बुद्ध अर्थात् उनकी स्वार्थसम्पत्ति और परार्थसम्पत्ति को छोड़कर दूसरा नहीं होता । सम्यक् कारण कभी अपने कार्य का व्यभिचारी नहीं होता । अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि कारणसामग्री रहे और फल उत्पन्न न हो ।

स्व-परार्थ सम्पत्ति—भगवान् बुद्ध में दो प्रकार की सम्पद् होती हैं, यथा—
१. स्वहितसम्पद् और २. परहितसम्पद् । उन्होंने नैरात्म्य (शून्यता तत्त्व) का साक्षात्कार किया है, उसकी प्रकर्षपर्यन्त भावना की है, फलस्वरूप अनेक बुद्धगुणों का अर्जन किया है, यह उनकी अधिगम सम्पद् है । इस अधिगम के द्वारा उन्होंने क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का हमेशा-हमेशा के लिए सर्वथा प्रहाण कर दिया है, यह उनकी प्रहाणसम्पद् है । ये दोनों प्रकार की सम्पद् उनकी अपनी हैं । इसी के कारण उन्होंने त्रिविध विशेषताओं से युक्त सुगतत्व का लाभ किया है^१ । यही उनका धर्म-काय है । अतः यही उनकी स्वहितसम्पद् है ।

भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बोधिचित्त का उत्पाद किया । तदनन्तर तीन असंख्येय कल्पपर्यन्त पुण्यसम्भार का अर्जन किया । बोधिचित्त करुणापूर्वगामी होता है । जगत् के प्राणियों को दुःखी देखकर तथा उनके दुःख से उद्बेलित होकर करुणावश मन में इस प्रकार के अकृत्रिम संकल्प का उदित होना कि 'मैं इन्हें दुःख से मुक्त करने का भार अपने ऊपर लेता हूँ और इसके लिए मैं बुद्धत्व प्राप्त करूँगा' — यह बोधिचित्त का स्वरूप है । उसके बाद षड् (छह) पारमिताओं आदि का सादर निरन्तर दीर्घकाल तक अभ्यास करना 'पुण्य सम्भार' है । यह सब एक प्रकार से करुणा का ही विस्तार है । उन्होंने करुणा का पराकाष्ठा (आखिरी सीमा)-पर्यन्त विकास कर उसे सात्मीभूत बना लिया है । इसी पुण्यसम्भार के कारण उन्हें सम्भोग-काय और निर्माणकाय इन दो रूपी कार्यों की प्राप्ति हुई है ।

१. त्रिविध विशेषताओं से युक्त सुगतत्व की जानकारी के लिए द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ,

भगवान् बुद्ध सारे दुःखी जगत् का बुद्धचक्षु से दिन में छह बार अवलोकन करते हैं। जो प्राणी जब, जिस प्रकार के उपाय का पात्र होता है, तब उसे उस प्रकार के कल्याण-मार्ग का वे उपदेश करते हैं। इन दो रूपी कार्यों द्वारा ही विनेय-जनों के अध्याशय, रुचि एवं क्षमता के अनुरूप वे सद्धर्म या सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। वे सत्त्वों का परिपाक करते हैं और पर-कल्याण के लिए ही जिस मार्ग द्वारा स्वयं उन्हें बुद्धत्व का लाभ हुआ है, उस अनुभूत मार्ग का उपदेश करते हैं। इस तरह धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि उनके परार्थ कृत्य हैं और यही उनकी परार्थसम्पद् है।

तस्माद् यथान्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।

चकर्त्त त्वसहंकारं तथान्येष्वपि भावय ॥ १५८ ॥

དེ་བས་འདི་ལྟར་བཞུགས་དག་གི།

ཁྲ་བ་ཁྲག་གི་ཕྱིག་ས་བ་ལ།

བྱུང་གྱིས་ངར་འཛིན་བྱས་པ་ལྟར།

དེ་བཞིན་མཁའ་ལའང་གོམས་པར་གྱིས། ༡༥༤ །

इसलिए जैसे तुमने दूसरों (माता-पिता) के शुक्र-शोणित (रजोवीर्य) बिन्दुओं में आत्मभाव का परिग्रह किया है, वैसे ही दूसरे प्राणियों में आत्मभाव की भावना करो ।

अन्यदीयश्चरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे ।

तत्तदेवापहृत्यार्थं परेभ्यो हितमाचर ॥ १५९ ॥

ཡུལ་གྱི་དྲི་མ་ཆེན་མུས་ནས་ནི། །

བདག་གི་ལྷ་ས་ལ་ཅི་སྒྲུང་བ།

དེ་དང་དེ་ཉིད་ལྷོགས་བྱས་ནས།

བྱུང་གྱིས་གཞན་ལ་ཕན་པར་སྤྱོད། ༡༥༩ །

(अपने को दूसरे प्राणियों के स्थान पर रख कर अर्थात् परात्मपरिवर्तन करके) दूसरे प्राणियों का सेवक बन कर इस शरीर (आत्मभाव) में जो कुछ सुख-सुविधाएँ देखते हो, उन्हें उससे छीनकर उनके द्वारा दूसरों का हित सम्पन्न करो ।

अयं सुस्थः परो दुःस्थो नीचैरन्योऽयमुच्चकैः ।

परः करोत्ययं नेति कुरुष्वेष्ट्या त्वमात्मनि ॥ १६० ॥

བདག་སྒྲིབ་ཀྱི་མི་སྒྲིབ་ལ། ।

བདག་མཐོ་ཀྱི་དམངས་པ་དང་། ।

བདག་ནི་ཕན་བྱེད་ཀྱི་མི་ཞེས། ।

བདག་ལ་སྤྲུལ་དྲུག་ཅེས་མི་བྱེད། १७० ।

यह (अर्थात् स्वार्थी मैं) अच्छी स्थिति में है और दूसरे नहीं अर्थात् वे बुरी स्थिति में हैं। यह उच्च है और दूसरे नीच हैं। यह काम नहीं करता और दूसरे परिश्रम करते हैं। इस प्रकार अपने चित्त से ईर्ष्या करनी चाहिए।

सुखाच्च च्यावयात्मानं परदुःखे नियोजय ।

कदायं किं करोतीति छलमस्य निरूपय ॥ १६१ ॥

བདག་ནི་བདེ་དང་སྤྲུལ་གྱིས་དྲེ། ।

ཀྱི་སྤྲུལ་བསྐྱུང་བདག་ལ་སྒྲིབ། ।

ལང་ཆོ་འདི་ནི་ཅི་བྱེད་ཅེས། ।

བདག་གི་སྒྲིབ་ལ་བདག་པར་བྱེས། १७१ ।

अपने को सभी सुख-सुविधाओं से वंचित करे और उन सुख-साधनों को पर-दुःखों के निवारण में लगा दे। 'यह कब क्या करता है' इस प्रकार काय और चित्त की सारी गतिविधियों का निरीक्षण करते हुए इसके छल (वंचना) की प्रवृत्ति को भाँपता रहे।

[आशय यह है कि अपने को सुख से वंचित करे। सुख के साधनों को उन्हें दे दे, जो सुख से वंचित हैं, अभावग्रस्त हैं और दुःखी हैं। सर्वदा अपने दोषों का सूक्ष्म निरीक्षण करे।]

वस्तुतः सभी प्राणी सुख चाहते हैं। दुःख किसी को भी इष्ट नहीं है। फिर भी अज्ञानवश प्राणी दुःख के निराकरण और सुख के उपायों को न जानने की वजह से सुख से वंचित हैं। अतः कष्टनाश को सम्मुख करके दूसरों के दुःखों को अपने ऊपर ले लेना चाहिए और उनके निराकरण का भरसक प्रयास करना चाहिए, क्योंकि जैसे दुःख हमें प्रिय नहीं है, वैसे वे दुःख किसी को भी प्रिय नहीं हैं।

दुःख भी अनेक प्रकार के हैं। तीन प्रकार के दुःख सर्वप्रसिद्ध हैं—दुःखदुःख, परिणामदुःख और संस्कारदुःख। इन त्रिविध दुःखों से किसी न रूप में जगत् के सभी प्राणी दुःखी हैं। नरक, प्रेत, असुर आदि दुर्गति योनियों के दुःख उन-उन योनियों के

सत्त्वों को प्राप्त होते हैं। सुगति (मनुष्य, देव योनि) में भी व्याधिजन्य दुःख, प्रिय-विप्रयोग, अप्रियसमागम के दुःख तथा जन्म-मरण आदि दुःख समय-समय पर होते ही रहते हैं। रूपधातु और अरूपधातु के देव और ब्रह्मा भी व्यापक संस्कार दुःख से दुःखी हैं। इन सभी प्राणियों के समस्त दुःखों को दूर करने की हमारे अन्दर प्रबल इच्छा होनी चाहिए। उन सभी प्राणियों के वासनासहित समस्त क्लेशों, पापों का प्रहाण करने के लिए हममें ऐसा उत्साह होना चाहिए कि त्रिधातु के समस्त प्राणियों के दुःख मुझ पर पड़ जाएँ और यदि वे इस प्रकार दुःखों से मुक्त हो जाएँ तो इससे अच्छा और उचित क्या हो सकता है। इससे अच्छा दूसरा क्या कोई मेरा उपयोग हो सकता है और सभी प्राणी मेरे पुण्यों से सुखी हो जाएँ^१। यही बोधिसत्त्व की आकांक्षा होती है। अब विभिन्न प्रकार के दुःखों को अपने ऊपर लेने का वर्णन किया जा रहा है।

अन्येनापि कृतं दोषं पातयास्यैव मस्तके ।

अल्पमप्यस्य दोषं च प्रकाशय महाजने ॥ १६२ ॥

गणनं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं ।

२८ श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं ।

२९ श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं ।

श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं श्रुतिं १७३ ।

दूसरों के द्वारा किये हुए दोषों (अपराधों, पापों) को भी इसी (स्वार्थी स्व) के माथे पर थोपे। इस (स्वार्थी) के द्वारा किये गए छोटे से छोटे दुराचरण को भी बहुजन समाज के बीच में उजागर करे।

आशय यह है कि दूसरों के द्वारा किये जाने वाले पापों को अपने ही पाप का फल मानना चाहिए। यह मेरा ही दोष है—इस प्रकार स्वीकार करना चाहिए। यदि अपने द्वारा छोटा भी अपराध, दूसरों का थोड़ा भी अहित हो गया हो तो उसे बहुजन समाज के बीच में खूब प्रकट करना चाहिए^२।

१. यत् किञ्चिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम् ।

बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमरतु च ॥ ८० — बोधिचर्यावितार १० : ५६ ।

२. पापदेशना का प्रस्तुत बोधिचर्यावितार में अत्यधिक महत्त्व है। यह बोधिचर्या का विशिष्ट अंग है। यह सतांग पूजा का एक हिस्सा है, यथा—

अनेकदोषदुष्टेन मया पापेन नायकाः ।

यत्कृतं दाहणं पापं तत्सर्वं देशयाम्यहम् ॥ ८० — बोधिचर्यावितार २ : ३१ पृ० ४९ ।

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, यदि संक्षेप में कहा जाए तो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जो जो तुम (स्वार्थी) ने आज तक दूसरों का अपकार किया है, अहित किया है, अब प्राणियों के हित में वह सब कष्ट या हानि, वह सब बुराई तुम्हें अपने ऊपर लेनी चाहिए ।

नैवोत्साहोऽस्य दातव्यो येनायं मुखरो भवेत् ।

स्थाप्यो नववधूवृत्तौ ह्रीतो भीतोऽथ संवृतः ॥ १६६ ॥

འདི་ནི་གཉེན་གྲུ་འགྱུར་ཚུལ་དང་།

གེད་བཟུང་པར་ནི་མི་བྱ་ཏེ།

བག་མ་གསར་བའི་ཚུལ་བཞིན་དུ།

ངོ་ཚ་འཛིགས་དང་བསྐྱམས་དེ་བཞག ༡༩༩ །

इसे (स्वार्थी आत्मा को) किसी भी तरह उत्साहित नहीं करना चाहिए, जिससे यह अधिक वाचाल (मुखर = अधिक बक-झक करनेवाला) हो सके । बल्कि इसे नई बहू के समान लज्जालु, भयभीत और ढँका-टुपा बना कर रखे । अर्थात् सभी विपरीत स्थितियों से इसे हटा कर रखे ।

एवं कुरुष्व तिष्ठैवं न कर्त्तव्यमिदं त्वया ।

एवमेव वशः कार्यो निग्राह्यस्तदतिक्रमे ॥ १६७ ॥

དེ་བྱ་དེ་ལྟར་འདི་ནི་དབང་བྱ་ལྟེ།

དེ་ལྟར་བྱོད་ཀྱི་མི་བྱ་བ།

དེ་ལྟར་འདི་ནི་དབང་བྱ་ཏེ།

དེ་ལས་འདས་ན་ཆར་གཅད་བྱ། ༡༩༧ །

ऐसा करो, इस तरह बैठो, तुम्हें यह करना चाहिए—इस तरह इसे अपने वश में रखना चाहिए। यदि यह (चित्त) आज्ञानुसार आचरण न करे या गलत कार्य करे तो उसे दण्डित करना चाहिए।

आशय यह है कि जिस प्रकार का अनुशासन अभीष्ट हो, उसी प्रकार कठोरता-पूर्वक इसे आचरण में लगाना चाहिए। अर्थात् चाबुक के समान स्मृति को सदा उपस्थित रखना चाहिए। यदि परकल्याण के कार्य में यह प्रमाद करे, उचित व्यवहार न करे तो इसे दण्डित करना चाहिए।

अथैवमुच्यमानेऽपि चित्त नेदं करिष्यसि ।

त्वामेव निग्रहीष्यामि सर्वदोषास्त्वदाश्रिताः ॥ १६८ ॥

देव'ते'दे'हृत्'मा'नस'गु'त्' । ।

सोम'स'सु'दे'हृत्'स'सु'दे' । ।

सु'दे'हृत्'स'गु'त्'स'सु'दे' । ।

सु'दे'हृत्'स'गु'त्'स'सु'दे' । १५८ ।

ऐ स्वार्थी चित्त, मेरे द्वारा इस प्रकार कहने पर भी यदि तू यह नहीं करेगा अर्थात् आज्ञानुसार यथोचित व्यवहार न करेगा तो मैं तुझे प्रताड़ित (दण्डित) करूँगा । क्योंकि सभी दोषों का आश्रय या कारण तू ही है ।

वव यास्यसि मया दृष्टः सर्वदर्पान् निहन्मि ते ।

अन्योऽसौ पूर्वकः कालस्त्वया यत्रास्मि नाशितः ॥ १६९ ॥

सु'दे'हृत्'स'गु'त्'स'सु'दे' । ।

सु'दे'हृत्'स'गु'त्'स'सु'दे' । ।

सु'दे'हृत्'स'गु'त्'स'सु'दे' । ।

सु'दे'हृत्'स'गु'त्'स'सु'दे' । १६० ।

ऐ आत्मकेन्द्रित चित्त, अब तू कहाँ जाएगा, मैंने तुझे देख लिया है । अब मैं तेरे सारे घमण्ड चूर-चूर किये देता हूँ । वह पहले का समय दूसरा था, जब तूने मेरा सत्यानाश ही कर डाला था ।

आशय यह है कि ऐ, आत्माभिनिविष्ट चित्त, अब मैंने आत्मदृष्टि आदि तेरे सभी दोषों को जान लिया है । इसी के चलते अब तक तूने मेरा सर्वनाश किया है, मुझे क्षुद्र, कुटिल और स्वार्थी बना दिया । अब न तुम भटक सकते हो और न मुझे भटका सकते हो । मैंने तुम्हें अब पूरा का पूरा जान लिया है । तुम्हारा स्वभाव पहचान लिया है । अब तुम मेरा नाश नहीं कर सकते ।

१. तु०—(क) गहकारक, बिट्टो सि पुन गेहं न काहसि ।

सब्बा ते फासुगा भग्गा गहकूटं विसंखतं ।

विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥

द्र०—घम्मपद, दण्डवग्ग, का० १५४ ।

(ख) काम, जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे ।

न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि ॥

द्र०—मध्यमकशास्त्र, आत्मपरीक्षा, प्रसन्नपदा में उद्धृत, पृ० १४९ ।

अद्याप्यस्ति मम स्वार्थं इत्याशां त्यज साम्प्रतम् ।

त्वं विक्रीतो मयान्येषु बहुखेदमचिन्तयन् ॥ १७० ॥

ད་དྲུང་བདག་ལ་རང་གི་དོན།

ཡོད་སྒྲུལ་སེམས་པ་དེ་དོར་ཅིག

བདག་གིས་མཁའ་ལ་བྱོད་བཅོང་གིས།

ཕྱི་བར་མ་སེམས་ཉི་ཤུ་ལ། ༡༧༠ །

अब भी मेरा तुमसे कोई स्वार्थ है—इस आशा को अब तुम छोड़ दो । अनेक कठिनाइयों पर ध्यान न देते हुए मैंने तुम्हें दूसरों के हाथ (अर्थात् परकल्याण के लिए) बँच दिया है । अब तुम्हारा भागना कठिन है, अतः परहित कार्य में भली-भाँति लग जाओ ।

त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि यदि नाम प्रमादतः ।

त्वं मां नरकपालेषु प्रदास्यसि न संशयः ॥ १७१ ॥

གཤམ་ཏེ་བག་མེད་གྱུར་ནས་བྱོད།

སེམས་ཅན་རྣམས་ལ་མ་བྱིན་ན།

ཁྱེད་ཀྱིས་ཁོ་བོ་དཔྱལ་བ་ཡི།

ཡུང་མ་རྣམས་ལ་སྒྲིན་དུ་ངེས། ༡༧༡ །

यदि प्रमादवश (लापरवाही करके) मैंने तुम्हें प्राणियों (की सेवा) के लिए नहीं सौंप दिया तो निश्चय ही तुम मुझे यमदूतों के हवाले कर दोगे ।

एवं चानेकधा दत्वा त्वयाहं व्यथितश्चिरम् ।

निहन्मि स्वार्थचेटं त्वां तानि वैराण्यनुस्मरन् ॥ १७२ ॥

དེ་ལྟར་བྱུང་གྱིས་དེ་ལྟ་ཞིག

ཁོ་བོ་བྱིན་པས་ཡུན་རིང་སྤྲུག

ད་ནི་ཁོན་རྣམས་དྲན་བྱས་ཏེ།

བྱུང་གྱིས་རང་དོན་སེམས་པ་གཞིས། ༡༧༣ །

इस तरह अनेक बार (अनेक जन्मों में यमदूतों को देकर) तूने मुझे चिरकाल तक सताया है। उन पुराने बैरों का स्मरण कर ऐ, स्वार्थ के गुलाम, आज मैं तुम्हें नष्ट कर दूँगा। अर्थात् स्वार्थ और आत्मस्नेह की भावना का समूल नाश कर दूँगा।

न कर्त्तव्यात्मनि प्रीतिर्यद्यात्मप्रीतिरस्ति ते ।

यद्यात्मा रक्षितव्योऽयं रक्षितव्यो न युज्यते ॥ १७३ ॥

दे'स्त्रे'स'स'मा'वी'स'मा'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'स'स'मा'मी'स'स'मा'र'र' ।

दे'स्त्रे'स'स'मा'वी'स'स'मा'र'र'r' ।

मा'र'र'र'स'स'मा'र'r'स'स'मा'र'r' । १७३ ।

यदि तुम अपने से प्रीति करना चाहते हो (यदि तुम दीर्घकाल तक सुख या वास्तविक आनन्द प्राप्त करना चाहते हो) तो तुम्हें आत्मस्नेह (व्यक्तिगत सुख की चाह) नहीं करना चाहिए। बल्कि अन्य प्राणियों को सुखी करने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि तुम्हें अपने को बचाना है, अपनी रक्षा करनी है तो आत्मरक्षा (व्यक्तिगत अस्तित्व या संकीर्ण जीव) की रक्षा की भावना से बचना चाहिए। पुद्गल की सत्ता की रक्षा नहीं करना है, अपि तु तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप की रक्षा करनी चाहिए।

अर्थात् यदि तुम अखण्ड, व्यापक और वास्तविक आनन्द के अभिलाषी हो तो इस संकुचित, आरोपित और क्षुद्र आत्मस्नेह का तुम्हें त्याग कर देना चाहिए। तथा संसार और मोक्ष दोनों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। जिससे तुम दूसरों का वास्तविक कल्याण सिद्ध कर सको। ज्ञात है कि भगवान् बुद्ध ने दो अन्तों (छोरों) का परिहार कर मध्यम मार्ग की देशना की है। इस मध्यम मार्ग की विभिन्न आचार्यों ने अनेक प्रकार से विस्तृत व्याख्या की है और इसी के आधार पर अनेक बौद्ध दार्शनिक प्रस्थान विकसित हुए हैं। महायान बौद्ध धर्म के अनुसार जैसे संसार (भव) एक अन्त (छोर) है और उसका त्याग करना चाहिए, वैसे ही मोक्ष या शम (व्यक्तिगत निर्वाण) भी एक अन्त है और बोधिसत्त्व को उससे भी बचना चाहिए। संसार और निर्वाण का परिहार कर अप्रतिष्ठित निर्वाण प्राप्त करना बोधिसत्त्व का

चरम लक्ष्य है^१। यही बुद्धत्व है। इसी के द्वारा लोकहित का वास्तविक सम्पादन सम्भव है।

यथा यथास्य कायस्य क्रियते परिपालनम् ।

सुकुमारतरो भूत्वा पतत्येव तथा तथा ॥ १७४ ॥

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ।

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ।

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ।

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं । १७५ ।

जैसे जैसे इस काया का पालन (भरण-पोषण) किया जाता है, वैसे वैसे ही यह (काया) सुकुमार (कोमल) होकर पतित होती जाती है (अर्थात् तृष्णा बढ़ती जाती है) ।

अस्यैवं पतितस्यापि सर्वापीयं वसुन्धरा ।

नालं पूरयितुं वाञ्छां तत् कोऽस्येच्छां करिष्यति ॥ १७५ ॥

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ।

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ।

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ।

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं । १७६ ।

१. प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः ।

अनुपायेन दूरत्वमुपायेनाविद्वुरता ॥

द्र०—अभिसमयालंकार, सर्वाकारज्ञताधिकार, का० ११ ।

अपि च,

नापरे न परे तीरे नान्तराले तयोः स्थिता ।

अध्वनां समताज्ञानात् प्रज्ञापारमिता मता ॥

द्र०—अभिसमयालंकार, सर्वज्ञताधिकार, ३ : १ ।

सा (प्रज्ञापारमिता) खलु प्रज्ञया पुनर्नापरे तीरे संसारे, न परे तीरे निवाणे च यथाक्रमं शाश्वतोच्छेदलक्षणे, न तयोर्मध्येऽपि व्यवस्थितेति न संसारनिर्वाणयोर्व्यवस्थिता ।

द्र०—अभिसमयालंकारवृत्तिः स्फुटार्था, पृ० ३७ (तिब्बतीसंस्थान, सारनाथ-प्रकाशन १९७७) ।

सन्तुष्ट व्यक्ति दुनियाँ में सबसे बड़ा धनी है। जागतिक बाह्य साधन और उपकरण हमारे पास चाहे कितने ही अधिक क्यों न हों यदि आन्तरिक मन असन्तुष्ट है तथा और अधिक की निरन्तर माँगें पेश करता है तो हम वस्तुतः निर्धन (दरिद्र) ही हैं। लोभ और असन्तोष के कारण अनेक प्रकार के दुःख झेलने पड़ते हैं। माँगों की पूर्ति होने पर भी उनसे सुख नहीं मिलता और पूर्ति न होने पर तो निराशा और दुःख निश्चित हैं। अतः सन्तोषी होना आवश्यक है।

भस्मनिष्ठावसानेयं निश्चेष्टान्येन चाल्यते ।

अशुचिप्रतिमा घोरा कस्मादत्र समाग्रहः ॥ १७८ ॥

ཐ་མར་ཐལ་བཞི་མཐར་ཀུན་གས་ཤིང་། །

མི་གཡོ་གཞན་གྱིས་བསྐྱོད་བྱ་བ།

མི་གཙང་གཞུགས་ནི་མི་བཟད་པ།

འདི་ལ་ཅི་ཕྱིར་བདག་ཏུ་འཛིན། ༡༧༤ །

अपने अस्तित्व के प्रति आसक्ति के अनेक दुःखद परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। अतः अस्तित्व पर विचार करना अपेक्षित है।

कितना भी इसका पालन-पोषण करें भस्म हो जाना ही इस काया का अन्तिम परिणाम है। यह स्वयं अचेतन है, हिलने-डुलने में भी असमर्थ है। वस्तुतः यह अन्य अर्थात् चित्त के द्वारा गतिशील होती है। स्वभावतः यह अपवित्र एवं भयंकर है। फिर क्यों हम उसके प्रति आत्मपरिग्रह रखते हैं? अर्थात् क्यों उसे स्व (मैं) के रूप में ग्रहण करते हैं? अर्थात् नहीं करना चाहिए।

किं मयानेन यत्त्रेण जीविता वा मृतेन वा ।

लोष्टादेः को विशेषोऽस्य हाङ्कार न नश्यति ॥ १७९ ॥

གསུམ་ཅུ་ཡང་ན་གྱི་ཡང་སྒྲིལ།

བདག་ལ་འཇུག་འཁར་འདིས་ཅི་བྱ། །

ཕྱང་སྐབས་འདི་ཁྱད་ཅི་ཡོད་ན། །

ཀྱི་རྒྱ་རྒྱལ་སྐལ་མི་བྱེད། ༢༧༩ །

मुझे इस जीवित या मृत काय-रूपी यन्त्र से क्या प्रयोजन ? इसका काष्ठ या लोष्ट (मिट्टी के ढेले) से क्या फर्क है ? अर्थात् नहीं है, किन्तु अफसोस, अहंकार,

तुम नष्ट नहीं हो रहे हो । इस काया को 'अहं' (मैं) समझने के प्रति जो आग्रहशील है, वह अहंकार नष्ट नहीं हो रहा है ।

वस्तुतः यह (काया) मुझसे भिन्न है । यह अचेतन है । 'अहं' यह मिथ्या है । विश्लेषण करने पर 'अहं' नामक किसी पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती । यह मात्र अस्तित्व की तृष्णा का आरोपण ही है ।

शरीरपक्षपातेन वृथा दुःखमुपाज्यते ।

किमस्य काष्ठतुल्यस्य द्वेषेणानुनयेन वा ॥ १८० ॥

सुखं गुणं तद्वत्तुल्यं न भवति ।

न च भवेत्तुल्यं तद्वत्तुल्यं न भवति ।

द्वेषस्तु कदापि न भवति ।

न च भवेत्तुल्यं तद्वत्तुल्यं न भवति ॥ १८० ॥

इस काया के प्रति पक्षपात करके या निरन्तर इसका स्वागत-सत्कार करके या प्रेमपूर्वक इसका पालन-पोषण करके व्यर्थ ही दुःख कमाया जाता है । काष्ठतुल्य निर्जीव इस काय के प्रति राग या द्वेष करने से क्या लाभ ?

बौद्ध जो नित्य या स्थायी 'अहं' (आत्मा) का निषेध करते हैं, वह सत्य की खोज का परिणाम है । परीक्षण करने पर प्रमाणों द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं होती । क्योंकि आत्मवादी उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, अतः करुणापूर्वक उसका निषेध कर उन्हें दुःखपरम्परा के मूल से हटाने का बौद्ध दार्शनिक प्रयास करते हैं । वस्तुतः बौद्धों का वास्तविक उपदेश तो मौन है । आत्मा, ईश्वर आदि के प्रति उनका न राग है, न द्वेष । अस्तित्व होने पर ही राग या द्वेष सम्भव होता है ।

मया वा पालितस्यैवं गृध्राद्यैर्भक्षितस्य वा ।

न च स्नेहो न च द्वेषस्तत्र स्नेहं करोमि किम् ॥ १८१ ॥

न च भवेत्तुल्यं तद्वत्तुल्यं न भवति ।

न च भवेत्तुल्यं तद्वत्तुल्यं न भवति ।

न च भवेत्तुल्यं तद्वत्तुल्यं न भवति ।

न च भवेत्तुल्यं तद्वत्तुल्यं न भवति ॥ १८१ ॥

इस प्रकार मेरे द्वारा पालित-पोषित होने पर भी अथवा अन्त में (मरने पर) गोध, कौए, कुत्तों, लोमड़ी आदि द्वारा खाए जाने पर भी इस (काय) में न मेरे प्रति राग होता है और न गोध आदि के प्रति द्वेष ही होता है । फलतः ऐसे काय के प्रति मैं क्यों आत्मवत् स्नेह करता हूँ ? अर्थात् नहीं करना चाहिए ।

रोषो यस्य खलीकारात् तोषो यस्य च पूजया ।

स एव चेन्न जानाति श्रमः कस्य कृते नु मे ॥ १८२ ॥

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' ।

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' ।

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' ।

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' । १८३ ।

जिस काया के तिरस्कृत होने पर हमें क्रोध होता है और पूजा-प्रशंसा होने पर सन्तोष होता है । वह काया स्वयं भला-बुरा कुछ नहीं समझती तो ऐसी स्थिति में हमारा यह सारा परिश्रम किसके लिए है ? अर्थात् हमारा यह सारा कष्ट उठाना निष्फल है ।

इमं ये कायमिच्छन्ति तेऽपि मे सुहृदः किल ।

सर्वे स्वकायमिच्छन्ति तेऽपि कस्मान्न न मे प्रियाः ॥ १८३ ॥

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' ।

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' ।

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' ।

माद'लेमा'स्ते'द'म'स'म'स' । १८३ ।

जो लोग मेरे इस काय (शरीर) के प्रति स्नेह करते हैं, वे मेरे मित्र हैं । इसलिए यह काय मुझे प्रिय है । किन्तु ऐसा सोचना भी समीचीन नहीं, क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने शरीर से ही प्रेम करता है । अतः वे जिस अपने शरीर से प्रेम करते हैं, वे उनके शरीर मुझे क्यों प्रिय नहीं हैं ? अर्थात् उनके प्रति भी मुझमें प्रेम होना चाहिए ।

इस कारिका द्वारा वस्तुतः यह कहा गया है कि उनके शरीर के प्रति भी हममें आत्मबुद्धि होनी चाहिए, जैसे अपने शरीर के प्रति आत्मपरिग्रह होता है । अतः

लौकिक आचरणों से मुझे क्या लेना-देना, अतः उन्हें त्याग कर अप्रमाद-कथा^१ (सावधानता या सतत जागरूकता) का स्मरण कर स्त्यान और मिद्ध^२ का निवारण करते हुए मैं पण्डितों (विद्वानों) का अनुसरण करता हूँ ।

पण्डितान्—बुद्ध, बोधिसत्त्व और उनके अनुयायी आचार्य, उपाध्याय आदि यहाँ 'पण्डित'-शब्द से अभिप्रेत हैं । मैं अब उनकी शिक्षा का आचरण करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा की जा रही है ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं ।

श्रेयं श्रेयं श्रेयं श्रेयं श्रेयं श्रेयं ।

सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं ।

[बोधिचर्यावतार के तिब्बती-पाठ में अष्टम परिच्छेद में १८७ कारिकाएँ हैं, जब कि संस्कृत-पाठ में १८६ । इस १८५ वीं कारिका के बाद भोट-पाठ में एक अतिरिक्त कारिका है, जिसका संस्कृत-पाठ में उल्लेख नहीं है । उसका आशय निम्नलिखित है—]

दुःखों से छुटकारा पाने के लिए प्रतिपक्ष-बल (मार्ग-बल) से समन्वित होकर महारूपाय बोधिसत्त्वों का अनुसरण करते हुए स्वचित्त को वशीभूत कर दिन-रात निरन्तर प्रयास करना चाहिए ।

तस्मादावरणं हन्तुं समाधानं करोम्यहम् ।

विमार्गाच्चित्तमाकृष्य स्वात्मनिरन्तरम् ॥ १८६ ॥

देवसंश्लेषं च देवसंश्लेषं देवसंश्लेषं ।

सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं सिद्धिं ।

सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं ।

सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं सद्गतिं ॥ १८७ ॥

१. चतुर्थ परिच्छेद में अप्रमाद का विस्तृत वर्णन है । अप्रमाद की शिक्षा वहाँ से ग्रहण करना चाहिए । सप्तम परिच्छेद में चित्त में विक्षेप पैदा करने वाले कारणों की चर्चा है । विशेष कर शिक्षासमुच्चय में इन सब बातों की विस्तृत चर्चा है । इन सबका अवलोकन करना चाहिए । अप्रमाद के लिए धम्मपद के 'अप्पमाद-वग्ग' और उसकी अट्ठकथा का अवलोकन अपेक्षित है ।

२. शरीर का आलस्य 'स्त्यान' तथा चित्त-चैतसिकों का आलस्य 'मिद्ध' है । ये ध्यान के विरोधी धर्म हैं ।

इसलिए आवरणों का प्रहाण करने के लिए चित्त को असन्मार्ग से खींच कर उसे आलम्बन में निरन्तर स्थिर रखकर विषयना की प्राप्ति के लिए समाधिस्थ करता हूँ।

आवरण—ध्यान का अर्थ आलम्बन में चित्त की लगातार प्रवृत्ति है। काम-राग (भोगचिन्तन), व्यापाद (द्वेष), विचिकित्सा (संशय) स्त्यान-मिद्ध और औद्धत्य^१-कौकृत्य—ये पाँच नीवरण-धर्म कहे जाते हैं, जो चित्त को आलम्बन में एकाग्र नहीं होने देते और उसे अन्य आलम्बनों (विषयों) में विक्षिप्त करते हैं। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता—ये ध्यान के पाँच अंग हैं, जो यथायोग्य इन नीवरण-धर्मों का प्रहाण करते हैं। इन पाँचों की एक-साथ उपस्थिति ध्यान कहलाती है।

अथवा—आवरण का तात्पर्य यहाँ क्लेशावरण और ज्ञेयावरण से है। इनका प्रहाण प्रतिपक्ष अर्थात् प्रज्ञाभावना द्वारा किया जाता है।

समाधानम्—इसका अर्थ समाधि है। समाधि का तात्पर्य 'शमथ' से है।

॥ बोधिचर्यावतार में ध्यान पारमिता नामक अष्टम परिच्छेद समाप्त ॥

१. 'औद्धत्य' का तात्पर्य चित्त के अशान्त रहने (अव्युपशम) से है तथा अकुशल करके और कुशल न करके पछताना 'कौकृत्य' का अर्थ है।

नवम परिच्छेद

प्रज्ञा पारमिता

निर्वाण या बुद्धत्व प्राप्त करना ही बौद्धों का परम पुरुषार्थ है। शील, समाधि और प्रज्ञा ही उनकी प्राप्ति के मार्ग हैं। सामान्यतया शील के विशुद्ध होने पर ही समाधि की प्राप्ति होती है और समाधि से प्रज्ञा का उत्पाद होता है, किन्तु प्रज्ञा के बिना शील भी विशुद्ध नहीं हो सकता। इस तरह प्रज्ञा ही मूल बन जाती है।

सभी प्राणियों को समस्त दुःखों से अत्यन्त मुक्त करने के लिए बुद्धत्व प्राप्त करना ही महायान का उद्देश्य है। बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए पहले व्यक्ति को बोधिसत्त्व होना पड़ता है। जब तक बोधिचित्त उत्पन्न नहीं होता, तब तक व्यक्ति का बोधिसत्त्व होना या महायान में प्रवेश करना सम्भव नहीं। बोधिचित्त के उत्पाद के लिए करुणा आवश्यक है और करुणा दुःखदर्शन के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। दुःख का दुःख के रूप में दर्शन भी प्रज्ञा के बिना सम्भव नहीं, क्योंकि अधिकतर लोग दुःख को दुःख समझ ही नहीं पाते। इस तरह फिर समस्त महायान-साधना के मूल में प्रज्ञा ही आ जाती है।

दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा ये छह पारमिताएं महायान-साधना की आधार हैं। प्रज्ञापारमिता को छोड़कर अवशिष्ट पाँच पारमिताएँ, पुण्यसम्भार, उपाय और करुणा ये सब पर्यायवाची हैं। इनके बिना बुद्धत्व प्राप्ति कथमपि सम्भव नहीं होती, किन्तु प्रज्ञा के बिना भी ये पारमिता आदि पुण्यसम्भार बुद्धत्व प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो पाते। इसलिए समस्त बौद्ध धर्म के मूल में प्रज्ञा का अत्यधिक महत्त्व है। समस्त धर्म प्रज्ञा के उत्पाद के लिए हैं और प्रज्ञा के बिना दुःखनिवृत्ति सम्भव नहीं।

वस्तु के स्वरूप को यथार्थतः जानना प्रज्ञा है। वस्तु का तात्पर्य जड़ और चेतन दोनों से है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान चेतनजातीय वस्तु हैं तथा रूप स्कन्ध जडस्वभाव है। सभी वस्तुएं, या संस्कृत-असंस्कृत सभी धर्म सापेक्ष हैं, अर्थात् प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं। वे अपने अस्तित्व के लिए अन्यो पर अपेक्षित हैं। उनकी अपनी अन्य-निरपेक्ष सत्ता बिलकुल नहीं है। उनका अपनी ओर से अस्तित्व बिलकुल नहीं है। और अपनी ओर से अस्तित्व न होना ही शून्यता है, जो सभी वस्तुओं की धर्मता या प्रकृति है। प्रज्ञा इसे जानती है।

बुद्धि की अपनी सीमा है। वह देश, काल आदि की सीमा के भीतर ही वस्तु का ज्ञान करती है। वह स्वयं भी सीमित है और जिसको वह जानती है, उस वस्तु को भी अन्यो से काट (व्यावृत्त) कर सीमित रूप में ग्रहण करती है। वह एक वस्तु को भी उसके पूरे रूप में नहीं जानती, अपितु अंशतः ही जानती है। यह बुद्धि की सीमा है। इतना ही नहीं, वह वस्तु में अपनी ओर से सत्ता का आरोपण करती है और उसे उस आरोपित सत्ता के साथ (सत्तावान् के रूप में) ही ग्रहण करती है। यह सत्ता-ग्राह या अस्तित्व का अभिनिवेश ही सारी बुराइयों, दुःखों, प्रपञ्चों और अशान्तियों की जड़ है। इसी से भेद, विषमताएँ एवं सारे उपद्रव खड़े होते हैं। प्रज्ञा इस बुद्धि, कल्पना या अविद्या के स्वभाव और उसकी कार्यप्रक्रिया को अच्छी तरह जानती है। अतः वह बुद्धि के आरोपणों मुक्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण करती है। अर्थात् वह वस्तु की असत्ता (शून्यता) को जानती है या उसका असत्ता के साथ ग्रहण करती है। अर्थात् स्वप्न की वस्तुओं की भाँति या प्रतिबिम्ब की तरह उनका ग्रहण करती है। वस्तु को परनिरपेक्ष अपनी ओर से सत्ता ही प्रज्ञा का मुख्य निषेध्य है। अतः प्रज्ञा के बिना दुःखमुक्ति, निर्वाण या बुद्धत्व कुछ भी प्राप्त करना सम्भव नहीं, फिर भी प्रज्ञा अकेले बुद्धत्व प्राप्त नहीं करा सकती। इसके लिए अन्य पारमिताएँ, पुण्यसम्भार या करुणा भी अपेक्षित हैं। इस तरह ज्ञान-सम्भार और पुण्यसम्भार, छहों पारमिताएँ या प्रज्ञा और करुणा इन सब का निरन्तर अभ्यास बुद्धत्व-प्राप्ति का साधन है।

ऊपर प्रज्ञा या शून्यता के जिस स्वरूप का निरूपण किया गया है, वह माध्यमिक दर्शन के अनुसार है। माध्यमिकों में भी यह प्रासंगिक माध्यमिकों के अधिक अनुरूप है। ज्ञात है कि स्वातन्त्रिक और प्रासंगिक दो प्रकार के माध्यमिक होते हैं। प्रासंगिक माध्यमिकों के प्रमुख आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि हैं। इनका कहना है कि हमारा मत ही नागार्जुन का मुख्य अभिप्रेत है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शान्तिदेव भी निश्चय ही चन्द्रकीर्ति का शत-प्रतिशत अनुसरण करते हैं। अतः उपर्युक्त निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुरूप है।

बोधिसत्त्वगोत्रीय एक व्यक्ति, जिसने कल्याणमित्रों का पर्याप्त सेवन किया है, जो प्राणियों के दुःखों से दुःखी है और उन्हें दुःखों से मुक्त करना चाहता है, जिसे अपने सुख की जरा भी चिन्ता नहीं है, किन्तु वह यह भी समझ रहा है कि बुद्धत्व प्राप्त किए बिना सभी प्राणियों को समस्त दुःखों से मुक्त नहीं किया जा सकता, इसलिए बुद्धत्व प्राप्ति के लिए जिसने बोधिचित्त का उत्पाद कर लिया है, ऐसा वह महात्मा बुद्धत्व प्राप्ति के जो साधन हैं अर्थात् ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भार, उनके अर्जन के लिए यद्यपि दान आदि पारमिताओं की पूर्ति में प्रवृत्त हो गया है, फिर

भी उसके वे दान-आदि यदि प्रज्ञा से रहित हैं तो वे कथमपि बृद्धत्व की प्राप्ति नहीं करा सकते । इसलिए यदि सारे संसार को दुःख से मुक्त करना है तो अपने में प्रज्ञा के उत्पाद के लिए अवश्य यत्न करना चाहिए । प्रज्ञा भी बिना शमथ या समाधि के उत्पन्न नहीं होती, जैसा कि कहा गया है—

शमथेन विषयनासुयुक्तः (बोधि० ८: ४)

तथा

समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन्मुनिः ॥ (शिक्षासमु० का०-६)

अतः शमथ का वर्णन पहले आठवें परिच्छेद में भली-भाँति किया जा चुका है । अब प्रज्ञा का निरूपण करना प्रसङ्गतः प्राप्त है, अतः किया जा रहा है—

इमं परिकरं सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ ।

तस्मादुत्पादयेत् प्रज्ञां दुःखनिवृत्तिकाङ्क्षया ॥ १ ॥

ཡན་ལམ་འདི་དམ་པ་མཐོང་ནི། ।

ཐུབ་པ་སྟེ་རབ་དོན་དུ་གསུངས། ।

དེ་ཡི་མྱོར་ན་སྤྲུལ་བསྐྱེད་དམ། ।

ཞི་བར་འདོད་པ་སྟེ་རབ་བསྐྱེད། १ ।

प्रज्ञा—अविद्या का प्रतिपक्ष (विरोधी धर्म) प्रज्ञा है । अविद्या की अनेक प्रकार की व्याख्या शास्त्रों में उपलब्ध होती है, जिनमें दो प्रमुख हैं—१. वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जानना मात्र 'अविद्या' है । २ वस्तु को गलत जानना भी अविद्या है । इसके अनुसार मिथ्या दृष्टि भी अविद्या ही है । आचार्य चन्द्रकीर्ति आदि के मतानुसार समस्त वस्तुएं यद्यपि निःस्वभाव हैं, किन्तु अविद्या के कारण लोग उन्हें सस्वभाव ग्रहण करते हैं । अतः स्वभावग्राहिका दृष्टि या सत्यता का ग्रहण करनेवाली दृष्टि 'अविद्या' है । उनके मत में द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद में प्रथम अङ्ग के रूप में पठित अविद्या यही सस्वभावग्राहिका दृष्टि या वस्तु को स्वलक्षणतः ग्रहण करनेवाली दृष्टि ही है । अतः यही अविद्या संसार का मूल है और यही क्लेशावरण भी है । फलतः मोक्ष चाहनेवाले व्यक्ति को भी इस सस्वभावता का ग्रहण करनेवाली या वस्तु को स्वलक्षण के रूप में ग्रहण करनेवाली दृष्टि अर्थात् अविद्या का प्रहाण करना चाहिए । निःस्वभावता (शून्यता) को जानने वाली प्रज्ञा द्वारा ही इस स्वलक्षण-ग्राहिका दृष्टि का प्रहाण (नाश) सम्भव है । अतः इनके मत में शून्यताज्ञान मोक्ष के लिए भी जरूरी है ।

क्लेशावरण या अविद्या की वासना ज्ञेयावरण है। इस ज्ञेयावरण के नाश के लिए भी पुण्यसम्भार के साथ इस शून्यताज्ञान (प्रज्ञा) की भावना आवश्यक (अपेक्षित) है। आशय यह है कि क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों के समूल प्रहाण के लिए निःस्वभावता (शून्यता) का साक्षात्कारी ज्ञान (प्रज्ञा) और उसकी भावना आवश्यक है। इन दोनों आवरणों के प्रहाण से ही मोक्ष (दुःख की निवृत्ति) और सर्वज्ञत्व (बुद्धत्व) की सिद्धि होती है। अतः प्रज्ञा हरहालत में सर्वथा उपादेय है। इसी बात को आचार्य प्रस्तुत कारिका द्वारा अभिव्यक्त करते हैं—

यह दान, शील आदि सम्पूर्ण परिवार अर्थात् सम्भार (पुण्यसामग्री) प्रज्ञा के उत्पाद के लिए ही भगवान् ने कहा है। अथवा अभी-अभी प्रज्ञापरिच्छेद से तत्काल पहले जो शमथ का निरूपण किया है, वह प्रज्ञा के उत्पाद के लिए ही भगवान् ने किया है, क्योंकि ध्यानसमापन्न व्यक्ति ही वस्तु के यथात् स्वरूप को जान सकता है। जैसे कहा भी है—

‘समाहितो यथाभूतं पजानाति’^१

अथवा

समाहितो यथाभूतं प्रजानातोत्यवदन् मुनिः^२ ।

धर्मसंगीति में भी कहा गया है—

समाहितचेतसो यथाभूतदर्शनं भवति । यथाभूतदर्शिनो बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु महाकरुणा प्रवर्तते । इदं मया समाधिमुखं सर्वसत्त्वानां निष्पादयितव्यम् । स तथा महाकरुणया संचोद्यमानोऽधिशीलमधिचित्तमधिप्रज्ञं च शिक्षाः परिपूर्णं अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुध्यते^३ ।

क्योंकि यह समस्त दान-शील आदि परिवार या शमथ भावना प्रज्ञा के उत्पाद के लिए भगवान् ने कहे हैं, अतः दुःख-निवारण की आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति को अपनी सन्तति में प्रज्ञा का उत्पाद करना चाहिए। उत्पाद करने का तात्पर्य साक्षात्कार करने या बार-बार भावना से है।

प्रज्ञा का स्वरूप—वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे वैसा ही ठीक-ठीक अविपरीतरूप से जानना ‘प्रज्ञा’ है। वस्तु के स्वरूप में न अपनी ओर से कुछ मिलाकर न घटाकर ‘जस का तस’ ग्रहण करना प्रज्ञा का कार्य है। प्रज्ञा के अतिरिक्त दान, शील,

१. द्र०—संयुत्तनिकाय, २-३ भाग, खन्धवग्ग, समाधिसुत्त, पृ० २५२ (नालन्दा संस्करण १९५९)।

२. द्र०—शिक्षासमुच्चय, कारिका—९ ।

३. द्र०—शिक्षासमुच्चय, पृ० ६७ में उद्धृत (दरभंगा-संस्करण १९६०) ।

क्षान्ति, वीर्य, ध्यान—इन पाँचों पारमिताओं का अन्तिम प्रयोजन प्रज्ञा को उत्पन्न करना ही है, क्योंकि वह सम्यक् संबोधि का प्रधान हेतु है। यद्यपि धर्मप्रविचय स्वभावाली प्रज्ञा सभी पारमिताओं में प्रधान है, फिर भी अवशिष्ट पारमिताओं के सहयोग से ही वह संबोधि को प्राप्त कराने में समर्थ है, अकेले नहीं। अतः परम्परया दान-आदि पारमिताएं भी सम्यक् संबोधि की हेतु हो जाती हैं। प्रज्ञा के बिना इन दान आदि पारमिताओं का कितना भी, कितने ही काल तक क्यों न अभ्यास किया जाए, फिर भी वे सम्यक् संबोधि नहीं प्राप्त करा सकतीं और न तो वे 'पारमिता' इस नाम को ही प्राप्त कर सकती हैं। जब वे प्रज्ञा से परिशुद्ध हो जाती हैं तो उनकी प्रवृत्ति बे-रोकटोक और असीमित हो जाती है। तब वे बुद्धत्व की हेतु भी हो जाती हैं और 'पारमिता' इस नाम को भी प्राप्त कर लेती हैं। जब दाता, देय वस्तु और दान ग्रहण करनेवाला (प्रतिग्राहक) इन तीनों की शून्यता को जानते हुए दीर्घकाल तक आदरपूर्वक त्रिकोटिपरिशुद्ध^१ दान आदि का अभ्यास किया जाता है, तब इस प्रकार की प्रज्ञा से परिशुद्ध वे दान आदि ही अविद्या से उत्पन्न समस्त विकल्प जाल का प्रहाण कर बुद्धत्व के हेतु होते हैं। इसलिए दान आदि 'प्रज्ञा-प्रधान' कहे जाते हैं।

जिस प्रकार कहीं जाने की इच्छावाले पुरुष को उसके पैर ही गन्तव्य स्थान तक पहुँचाते हैं, किन्तु यदि आँख न हो तो वह जाने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार प्रज्ञा से रहित दान आदि पारमिताएं भी बुद्धत्वरूपी नगर तक पहुँचाने में असमर्थ हो जातो हैं। आशय यह है कि प्रज्ञा नेत्र के समान है। उसकी सहायता से ही अवशिष्ट पारमिताएं बुद्धत्व प्राप्त कराने में समर्थ होती हैं। इस प्रकार अकेले प्रज्ञापारमिता बुद्धत्व प्राप्त नहीं करा सकती और न प्रज्ञा के बिना अन्य पारमिताएं ही बुद्धत्व प्राप्त करा सकती हैं। अतः पारमिताओं में प्रज्ञा ही प्रधान कही जाती है। यही बात अष्टसाहसिका प्रज्ञापारमिता में भी कही गई है, तथा हि—

तदद्यथापि नाम कौशिक, जात्यन्धानां शतं वा सहस्रं वा अपरिणायकानाम-
भव्यं मार्गावतारणाय, कुतः पुनर्नगरानुप्रवेशाय, एवमेव कौशिक, अचक्षुष्काः पञ्च
पारमिता जात्यन्धभूता भवन्ति विना प्रज्ञापारमितया अपरिणायकाः, विना प्रज्ञा-
पारमिता अभव्या बोधिमार्गावतारणाय, कुत एव सर्वाकारज्ञतानगरानुप्रवेशाय^२ ।

१. जब दान देने वाले, दान ग्रहण करने वाले और दान में दी जानेवाली वस्तु—इन तीनों की प्रज्ञा द्वारा शून्यता जान ली जाती है और फिर भी दान दिया जाता है, तो ऐसा दान 'त्रिकोटि परिशुद्ध' कहलाता है।

२. तु०—अष्टसाहसिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ८७ (दरभंगा-संस्करण १९६०) ।

तु०—सर्वपारमिताभिस्त्वं निर्मलाभिरनिन्दिते ।

चन्द्रलेखेव ताराभिरनुयातासि सर्वदा ॥ द्र०—प्रज्ञापारमितास्तव, का० ८ ।

प्रज्ञा के भेद—प्रज्ञा दो प्रकार की होती है, जैसे-हेतुभूत प्रज्ञा और फलभूत प्रज्ञा। हेतुभूत प्रज्ञा भी दो प्रकार की है। प्रथम, पृथग्जन बोधिसत्त्व की प्रज्ञा तथा द्वितीय, आर्य बोधिसत्त्व की प्रज्ञा। पृथग्जन बोधिसत्त्व की हेतुभूत प्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी^१, फिर चिन्तामयी^२, फिर भावनामयी^३—इस प्रकार क्रमशः प्रकर्ष को प्राप्त करती हुई परिणाम स्वरूप आर्य बोधिसत्त्व की प्रज्ञा का उत्पाद करती है। आर्य बोधिसत्त्व की दश भूमियाँ होती हैं। अतः आर्य बोधिसत्त्व की प्रज्ञा की भी निरन्तर भावना करने से क्रमशः प्रथम भूमि की प्रज्ञा से द्वितीय भूमि की प्रज्ञा, फिर तृतीय भूमि की प्रज्ञा—इस प्रकार अन्त में बुद्धभूमि की प्रज्ञा उत्पन्न होती है। यही बुद्ध-भूमि की प्रज्ञा ही फलभूत प्रज्ञा है और यही सर्वज्ञान, ज्ञानधर्मकाय या बुद्ध का ज्ञान कहलाती है।

दुःखनिवृत्ति कांक्षया—ऊपर कहा गया है कि दुःख की निवृत्ति की आकांक्षा हो तो प्रज्ञा का उत्पाद करना चाहिए। दुःख का तात्पर्य है—नरक, प्रेत, तिर्यक्, देव, मनुष्य आदि योनियों में कर्म और क्लेश के अधीन होकर निरन्तर भ्रमण करना, जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग आदि, प्रिय से विछुड़ना, अप्रिय से समागम होना, इष्ट लाभ का नष्ट हो जाना आदि। संक्षेप में पाँचों उपादान-कन्ध दुःख हैं। निवृत्ति का तात्पर्य निर्वाण है। अर्थात् दुःख का आत्यन्तिक समुच्छेद। अतः निर्वाण के अभिलाषी पुरुष को प्रज्ञा का उत्पाद करना चाहिए। प्रज्ञा निश्चय ही अविद्या का ग्रहाण (निरोध) करती है। अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध—इस तरह प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंगों का क्रमशः निरोध होता है और भवचक्र का उपशम होता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति आदि के अनुसार निःस्वभावता (शून्यता) का ज्ञान श्रावक और प्रत्येकबुद्ध को भी होता है। किन्तु वे दुःख से अत्यन्त भीत होने के कारण शीघ्र मुक्ति के अभिलाषी होते हैं। फलतः शून्यता जानने वाली प्रज्ञा का उत्पाद कर उसके द्वारा क्लेशावरण^४ मात्र का ग्रहाण कर शीघ्र निर्वाण लाभ कर लेते हैं।

१. शास्त्र-श्रवण या गुरु के उपदेश से उत्पन्न प्रज्ञा श्रुतमयी प्रज्ञा है।
२. युक्तिपूर्वक चिन्तन से उत्पन्न प्रज्ञा चिन्तामयी प्रज्ञा कहलाती है।
३. आगम और युक्ति द्वारा निश्चित तत्त्व की भावना से उत्पन्न प्रज्ञा भावनामयी प्रज्ञा है।
४. राग, द्वेष आदि अविद्याप्रधान क्लेश 'क्लेशावरण' हैं। वस्तुओं की सस्वभावता का ग्रहण करनेवाली अविद्या ही प्रधान क्लेश है। इसी से राग, द्वेष आदि अन्य क्लेश प्रादुर्भूत होते हैं। ये क्लेश मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति में बाधक होते हैं, अतः 'क्लेशावरण' कहलाते हैं।

बोधिसत्त्व का लक्ष्य प्राणिमात्र के कल्याण के लिए बुद्धत्व प्राप्त करना होता है। अतः उसके लिए ज्ञेयावरण^१ का प्रहाण करना भी आवश्यक होता है। फलतः वह बोधिचित्त का उत्पाद कर दान आदि छहों पारमिताओं का प्रकर्षपर्यन्त सादर निरन्तर अभ्यास करता है। फलतः वह समस्त श्रेष्ठ आकारों से युक्त (सर्वाकारवरोपेत) शून्यता और करुणा जिसके गर्भ में है, ऐसी प्रज्ञा का अधिगम करता है। अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करता है।

मुनि—भगवान् बुद्ध 'मुनि' कहलाते हैं। उनके सभी कायकर्म, वाक्कर्म और मनःकर्म बिना संकल्प या प्रयत्न के उत्पन्न होते हैं। अर्थात् निराभोग प्रवृत्त होते हैं। अतः काय-वाक्-मनस् तीनों प्रकार के निराभोग कर्मरूपी मौन से युक्त होने के कारण वे 'मुनि' हैं। दुःख-दुःख, विपरिणामदुःख और संस्कारदुःख से दुःखी समस्त प्राणियों को दुःख से मुक्त करने के लिए ही करुणामूर्ति भगवान् बुद्ध ने सद्धर्म का उपदेश किया है।

युक्ति और आगम से विचार करनेवाले व्यक्ति को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है। वस्तु के यथार्थ या अविपरीत स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य अब दो सत्यों का प्रतिपादन करते हैं—

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम् ।

बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥ २ ॥

गुणैर्वचनैर्विज्ञेयैः ।

अद्वैतैर्वचनैर्वचनैर्वचनैः ।

वैचित्र्यैर्वचनैर्वचनैर्वचनैः ।

वैचित्र्यैर्वचनैर्वचनैर्वचनैः । ३ ।

सत्य दो ही माने गए हैं—संवृति सत्य और परमार्थ सत्य। इनमें से परमार्थ सत्य बुद्धि का विषय नहीं होता। बुद्धि ही संवृति कहलाती है।

संवृति

वस्तु के सही स्वरूप को छिपाने (संवरण या आवरण करने) और गलत स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण अविद्या ही संवृति कहलाती है। जैसे चन्द्रकीर्ति ने कहा है—

१. प्रासंगिक माध्यमिक के अनुसार क्लेशावरण के बीज 'ज्ञेयावरण' है।

मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः

सत्यं तथा ख्याति यदेव कृत्रिमम् ।

जगाद तत् संवृतिसत्यमित्यसौ

मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्^१ ॥

संवृति सत्य

रूप, घट, पट आदि वस्तुएं जिसके सामने सत्य हैं, वह संवृति तो अविद्या या मोह ही है। यह रूप आदि पदार्थों को स्वभावतः सत् ग्रहण करती है। अर्थात् स्वाभाविक सत्ता का ग्रहण करनेवाली अविद्या ही संवृति है, जिसकी दृष्टि से रूप आदि पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं। अविद्या रूप आदि का आलम्बन कर उनकी स्वभावसत्ता का ग्रहण करती है, जैसे रस्सी को साँप समझने वाली बुद्धि रस्सी का आलम्बन करके उसे साँप समझती है। इस प्रकार बुद्धि या अविद्या रूप आदि पदार्थों के सही स्वरूप (निःस्वभावता) को ढँक कर उनकी सत्यता (जो वस्तुतः नहीं है) को ही ग्रहण करती है। निष्कर्ष यह है कि क्योंकि रूप आदि पदार्थ अविद्या की दृष्टि से सत्य हैं, अतः वे 'संवृतिसत्य' कहलाते हैं।

संवृति भी दो प्रकार की होती है। अविद्या भी संवृति है और व्यावहारिक प्रमाण भी संवृति हैं। अविद्या जिन्हें सत्य समझती है, उनकी सत्यता शून्यता का मुख्य प्रतिषेध है और उनके ही मिथ्यात्व (शून्यता) के ज्ञान से क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का ग्रहण होता है। जब कि व्यावहारिक प्रमाणों का अपने विषयों के साथ अविस्मृति होता है और उनका व्यावहारिक अस्तित्व होता है। वे शून्यता के प्रतिषेध नहीं होते। हालाँ कि आर्य के समाहित ज्ञान की दृष्टि से दोनों संवृतियों के विषय मिथ्या ही मिथ्या हैं।

माध्यमिक शास्त्रों में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है कि संवृतिसत्य बाल-पृथग्जनों द्वारा उपलब्ध है और परमार्थ सत्य आर्यों द्वारा उपलब्ध है। क्योंकि रूप आदि पदार्थ बाल-पृथग्जनों (जो अविद्या से प्रभावित हैं) की दृष्टि से सत्य हैं और रूपादि की निःस्वभावता आर्यों (जो अविद्या के प्रभाव से मुक्त हैं) की दृष्टि से सत्य है। जैसे चन्द्रकीर्ति ने कहा है—

सम्यग्मृषादर्शनलब्धभावं

रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः ।

सम्यग्दृशां यो विषयः स तत्त्वं

मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम्^२ ॥

१. द्र० — मध्यमकावतार, चन्द्रकीर्ति विरचित, ६ : २८ (तिब्बती भाषा में ही उपलब्ध) ।

२. द्र० — मध्यमकावतार, चन्द्रकीर्ति विरचित ६ : २३ ।

संवृति या लौकिक ज्ञान दो प्रकार के हैं, अतः उनके विषय भी दो प्रकार के होते हैं। उनका यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है—

तथ्य संवृति—वे पदार्थ तथ्य संवृति हैं, जो सामान्यतया लोक में सत्य माने जाते हैं। वे उस लौकिक ज्ञान के विषय होते हैं, जो तिमिर आदि अस्थायी कारणों से उपहत (दूषित) नहीं हैं। बिना उपघात के चक्षुरादि छह इन्द्रिय ज्ञानों द्वारा उपलब्ध रूप आदि पदार्थ 'तथ्य संवृति' हैं। अतः वे रूप आदि पदार्थ अन्य लौकिक ज्ञानों द्वारा बाधित नहीं होते। आशय यह है कि रूप आदि समस्त वस्तुएं, जिनकी व्यावहारिक सत्ता है और जो व्यावहारिक ज्ञान की विषय होती हैं, वे 'तथ्य संवृति' हैं।

मिथ्या संवृति—यह वह संवृति है, जो लोक में भी मिथ्या मानी जाती है। अर्थात् जो अन्य लौकिक ज्ञानों द्वारा भी बाधित होती है। जैसे तिमिर रोग, पीतरोग (पीलिया), मन्त्र, द्रव्य, हेत्वाभास, स्वप्न, निद्रा आदि से उपहत (दूषित) इन्द्रियविज्ञानों द्वारा गृहीत विषय केशोण्डुक, पीत शंख, मृगमरीचिका आदि 'मिथ्या संवृति' हैं, क्योंकि उन्हें साधारण लौकिक ज्ञान या व्यावहारिक ज्ञानों द्वारा भी मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है। इस बात को आचार्य चन्द्रकीर्ति ने निम्न शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है—

विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां

षण्णामपि ग्राह्यमवेति लोकः ।

सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं

विकल्पितं लोकत एव मिथ्या^१ ॥

अज्ञानरूपी निद्रा से क्षुभित तैथिकों द्वारा कल्पित ईश्वर, प्रधान, आत्मा आदि तथा माया, मरीचि आदि की वजह से दिखलाई पड़नेवाले हाथी, घोड़े, जल आदि लौकिक ज्ञान अर्थात् व्यावहारिक प्रमाण की दृष्टि से भी असत् हैं। अर्थात् उनका लोक-व्यवहार में भी अस्तित्व नहीं होता। इस बात को आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इस प्रकार कहा है—

अज्ञानमिद्धोत्क्षुभितैर्यथास्वं

प्रकल्पितं यत् किल तीर्थकैश्च ।

मायामरीच्यादिषु कल्पितं यत्

तल्लोकतश्चापि न विद्यते हि^२ ॥

१. द्र०—मध्यमकावतार, चन्द्रकीर्ति विरचित ६ : २५ ।

२. द्र०—मध्यमकावतार, चन्द्रकीर्ति विरचित ६ : २६ ।

निष्कर्ष यह है कि क्योंकि लौकिक ज्ञान दो प्रकार के होते हैं, अतः उनके विषय भी तथ्य संवृति और मिथ्या संवृति के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों संवृतियों की व्यवस्था विशुद्ध रूप से लोकप्रचलित व्यवस्था की दृष्टि से है, न कि आर्यज्ञान की दृष्टि से या माध्यमिकों की अपनी दृष्टि से है। माध्यमिकों की दृष्टि से तो सभी ज्ञान भ्रान्त हैं या किसी न किसी तरह उपहत हैं। अतः उनकी दृष्टि से रूप आदि समस्त धर्म (पदार्थ) मिथ्या ही हैं। सत्य तो केवल शून्यता ही है।

परमार्थ सत्य—रूप आदि धर्मों का दूसरा स्वरूप निःस्वभावता या निःस्वलक्षणता है, यही परमार्थ सत्य है। स्वातन्त्रिक माध्यमिक परमार्थ सत्य की व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार आर्यों का समाहित ज्ञान 'परम' है और उसका विषय 'परमार्थ' है तथा वह यथाप्रतिभास स्थित होने के कारण सत्य भी है।

चन्द्रकीर्ति के अनुसार शून्यता स्वयं 'परम' और 'अर्थ' दोनों है, इसलिए परमार्थ सत्य है। वह 'परम' इसलिए है, क्योंकि वह स्वविषयक ज्ञान में जैसे प्रतिभासित होती है, वैसे ही उसकी स्थिति होती है तथा स्वविषयक ज्ञान के साथ उसका अविसंवाद भी होता है। रूपादि वस्तुएं विसंवादी होती हैं, क्योंकि जैसा ज्ञान में उनका प्रतिभास होता है, वैसी वास्तविक रूप में उनकी स्थिति नहीं होती। शून्यता ऐसी नहीं है। अर्थों में वह श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट भी है, अतः 'परमार्थ सत्य' है।

विकल्पितं यत्तिमिरप्रभावात्

केशादिरूपं वितथं तदेव ।

येनात्मना पश्यति शुद्धदृष्टि-

स्तत्तत्त्वमित्येवमिहाप्यवेहि^१ ॥

शून्यता यद्यपि परमार्थ सत्य है, फिर भी उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसीलिए शून्यता-शून्यता की व्यवस्था की गई है। सभी धर्म चाहे वे संवृति सत्य हों, चाहे परमार्थ सत्य; चाहे संस्कृत हों, चाहे असंस्कृत सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न होते हैं। अपने अस्तित्व के लिए अन्य की अपेक्षा करते हैं, अतः सभी शून्य और सत्ता की दृष्टि से एक-जैसे हैं। निःस्वभावता भी प्रतीत्य-समुत्पन्न है, अपनी ओर से उसका किंचित् भी अस्तित्व नहीं है, वह भी अन्य पर अपेक्षित है। अतः निःस्वभावता की यह निःस्वभावता ही 'शून्यता-शून्यता' कहलाती है।

ऐसा होने पर भी शून्यता आर्य बोधिसत्त्व के समाहित ज्ञान का विषय होती है, निर्विकल्प योगिप्रत्यक्ष की ज्ञेय होती है, प्रतिभास के अनुरूप उसकी स्थिति होती

है, अतः परमार्थ-सत्य कहलाती है। ऐसा नहीं है कि वह किसी ज्ञान का विषय ही न होती हो। हाँ, द्वैतविषयक प्रपञ्च ज्ञान या कल्पनावुद्धि का वह साक्षात् विषय नहीं होती।

कारिका में जो यह कहा गया है कि परमार्थ सत्य बुद्धि का अगोचर है, उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह किसी भी बुद्धि का विषय नहीं है, अपितु उसका मात्र इतना अर्थ है कि वह सविकल्प बुद्धि का साक्षात् विषय नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि शून्यता का जब प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु से अनुमान किया जाता है तो परम्परया वह अनुमान-प्रमाण का भी विषय होती है। आर्यों के समाहित निर्विकल्प ज्ञान का तो वह साक्षात् विषय होती है। फिर भी उस अवस्था में ज्ञान-ज्ञेय का द्वैत-बोध नहीं होता।

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयम्—संवृति और परमार्थ ये दो सत्य हैं। संवृति एक अविपरीत सत्य है और परमार्थ भी दूसरा अविपरीत सत्य है। मूल में जो 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ है कि दोनों सत्य समान बल वाले (तुल्यबल) हैं। ऐसा नहीं कि परमार्थ सत्य अधिक शक्तिशाली हो और संवृति सत्य दुर्बल। संवृति सत्य लोक की दृष्टि से निश्चित रूप से अविपरीत सत्य है तथा परमार्थ सत्य आर्यों की दृष्टि से अविस्वादी सत्य है। 'च'-शब्द का एक दूसरा भी अर्थ है कि सत्य ये दो ही हैं, इनसे भिन्न कोई तीसरा सत्य कदापि नहीं होता। जैसे कि पितापुत्र-समागमसूत्र में कहा गया है—

सत्य इमे दुवि लोकविद्वानां

दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषाम् ।

संवृति या च तथा परमार्थो

सत्यु न सिध्यति किं च तृतीयु^१ ॥

संवृति और परमार्थ इन दो सत्यों की वजह से व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं, इसे अब कहा जा रहा है—

तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा ।

तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ॥ ३ ॥

१. द्र०—बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० १७५ (उद्धृत) ।

दे'ल'दईमा'दे'न'कु'म'मा'त्रि'स'म'स'द' ।

कु'ल'द'सु'र'स'द'द'स'ल'स'द' ।

दे'ल'दईमा'दे'न'स'ल'स'द' ।

कु'ल'द'सु'र'द'ईमा'दे'न'सु'त्रि'स'म'स'द' । ३ ।

इन संवृति सत्य और परमार्थ सत्य को जाननेवाले लोग भी दो प्रकार के होते हैं। अर्थात् कुछ परमार्थ सत्य को जानते हैं और कुछ संवृति सत्य को ही जानते हैं, अतः लोगों के भी दो प्रकार हो जाते हैं। एक प्राकृत अर्थात् साधारण लोग तथा दूसरे योगी लोग।

योग का अर्थ समाधि है, जो शून्यता को आलम्बन बनाती है। ऐसे योग से सम्पन्न व्यक्ति योगी कहलाता है।

प्रकृति का तात्पर्य संसार-प्रवृत्ति का मूल कारण अविद्या, तृष्णा आदि क्लेश हैं, जो इनके वशीभूत हैं, वे लोग 'प्राकृत' कहलाते हैं। प्राकृत लोगों को ही मूल कारिका में 'प्राकृतक' कहा गया है।

क्योंकि योगी जन परमार्थ तत्त्व शून्यता को अविपरीतरूप से जानते हैं और प्राकृत (साधारण) जन वस्तु को विपरीत (गलत) रूप से ग्रहण करते हैं, अतः इन दोनों प्रकार के लोगों में से ज्ञान की दृष्टि से योगी जनों के द्वारा प्राकृत जन बाधित होते हैं। अर्थात् प्राकृत जनों का ज्ञान बाधित होता है। आशय यह है कि योगियों के ज्ञान के सामने प्राकृत जनों का ज्ञान भ्रान्त सिद्ध होता है।

उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को तिमिर नामक रोग है और दूसरे को वह रोग नहीं है। जिसको वह रोग है, वह व्यक्ति उस रोग के कारण अविद्यमान भी वालों (केशों) के समूह को आकाश से गिरते हुए देखता है और उन्हें देखने के लिए अपना मुँह इधर-उधर घुमाता है। दूसरे व्यक्ति, जिन्हें वह रोग नहीं है, वे उस तरह वालों के समूह को नहीं देखते। इनमें से तिमिर-रोग से ग्रस्त लोगों का ही ज्ञान बाधित होता है। अर्थात् गलत सिद्ध होता है। उनका ज्ञान गलत सिद्ध नहीं होता, जिन्हें यह रोग नहीं है। इसी तरह योगी के ज्ञान और प्राकृत जन के ज्ञान में से प्राकृत जन का ज्ञान ही भ्रान्त सिद्ध होता है, न कि योगी का ज्ञान। इसीलिए प्राकृत जन ही योगी जनों के द्वारा बाधित होते हैं, न कि प्राकृत जन के द्वारा योगी जन। कहा भी गया है—

न बाधते ज्ञानमतैमिराणां
 यथोपलब्धं तिमिरक्षणानाम् ।
 तथामलज्ञानतिरस्कृतानां
 धियास्ति बाधा न धियोऽमलायाः^१ ॥

क्या प्राकृत लोग ही बाधित होते हैं या योगी लोग भी कभी बाधित होते हैं ? आचार्य कहते हैं—

बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः ।
 दृष्टान्तेनोभयेष्टेन कार्यार्थमविचारतः ॥ ४ ॥

३५२ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥
 ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥
 ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥
 ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ ८० ॥

योगियों में भी ऊँची भूमि (चित्त की अवस्था) में स्थित योगियों द्वारा अपने विशेष ज्ञान की बदौलत नीचे-नीचे की भूमि में स्थित योगी बाधित होते हैं । अर्थात् नीचे की भूमि में स्थित योगी का ज्ञान ऊपर की भूमि में स्थित योगी के ज्ञान की अपेक्षा कम प्रमाणित होता है । जैसे जैसे बोधिसत्त्व ऊपर-ऊपर की भूमि में अधिरोहण करता है, वैसे वैसे भावना के बल से उसके भूम्यावरण, समापत्यावरण और ज्ञेयावरण आदि दोष कम होते जाते हैं और उसका तत्त्वविषयक ज्ञान अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है और विशेष विशेष गुण प्रादुर्भूत होते जाते हैं । फलतः ऊँची भूमि में स्थित योगी के ज्ञान द्वारा नीचे की भूमि में स्थित योगी का ज्ञान निश्चयेन बाधित होता है । अर्थात् कम प्रमाणित होता है । उदाहरणार्थ प्रथम 'प्रमुदिता' भूमि को प्राप्त बोधिसत्त्व के ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा द्वितीय 'विमला' भूमि को प्राप्त बोधिसत्त्व के ज्ञान, प्रभाव आदि गुण विशिष्ट होते हैं । इसी तरह आगे की तृतीय, चतुर्थ आदि भूमि के लाभी बोधिसत्त्व के बारे में भी जानना चाहिए । इसी तरह प्रथम ध्यान को प्राप्त पुद्गल की अपेक्षा द्वितीय ध्यान के लाभी साधक की विशेषता जाननी चाहिए । इस तरह न केवल प्राकृत जन ही योगी द्वारा बाधित होते हैं, अपितु योगियों में भी ऊपर की भूमि में स्थित योगी द्वारा नीचे की भूमि में स्थित योगी बाधित होते हैं ।

यह माना कि योगी के ज्ञान में विशेषता होती है, किन्तु प्राकृत जनों का ज्ञान भ्रान्त होता है—यह कैसे मालूम किया जा सकता है ?

दृष्टान्तेन उभयेष्टेन—किसी बात को सिद्ध करने के लिए जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य होता है। भगवान् ने सूत्रों में रूप आदि समस्त लौकिक-लोकोत्तर पदार्थों को निःस्वभाव सिद्ध करने के लिए स्वप्न, माया, प्रतिबिम्ब आदि का दृष्टान्त दिया है। अर्थात् उनका कहना है कि जैसे माया, स्वप्न, प्रतिबिम्ब आदि निःस्वभाव (शून्य) हैं, वैसे सभी रूप आदि धर्म भी शून्य होते हैं। अब योगी और प्राकृत (साधारण) जनों में से योगी तो परमार्थ सत्य (शून्यता) को क्योंकि जानते हैं, अतः वे स्वप्न आदि के समान रूप आदि पदार्थों (धर्मों) को भी निःस्वभाव जान लेते हैं। प्राकृत (साधारण) जन भी स्वप्न आदि में उपलब्ध वस्तुओं को निःस्वभाव ही समझते हैं। अतः योगी और प्राकृत (साधारण) जन दोनों को दृष्टान्त (स्वप्न आदि में उपलब्ध वस्तु) की निःस्वभावता में कोई मतभेद नहीं है। युक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा सिद्ध को सिद्ध ही मानना चाहिए, किन्तु प्राकृत जन दृष्टान्त को निःस्वभाव मानकर भी उस दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध रूप आदि धर्मों को निःस्वभाव नहीं जान पाते, अपितु वे उन्हें सस्वभाव ही समझते हैं। क्योंकि वे वस्तु को विपरीत रूप में ग्रहण करते हैं, अतः उनका ज्ञान भ्रान्त है—यह सिद्ध होता है।

यदि सभी धर्म निःस्वभाव हैं, तो फिर ऐसी स्थिति में सभी प्राणियों के कल्याण के लिए तत्त्व (शून्यता = निःस्वभावता) के ज्ञाता बोधिसत्त्वों की पुण्य-सम्भार का अर्जन करने के लिए दान आदि पारमिताओं की पूर्ति करने में क्यों प्रवृत्ति होगी ? अर्थात् नहीं होगी, क्योंकि सभी निःस्वभाव ही तो हैं ?

कार्यार्थम् अविचारतः—प्रश्न ठीक है, किन्तु बोधिसत्त्व का साध्य, उद्देश्य या प्रयोजन (कार्य = फल) बुद्धत्व है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए (कार्यार्थ) बहुत सूक्ष्म विचार-विमर्श किए बिना (अविचारतः) बुद्धत्व के हेतु पुण्यसम्भार के अर्जन में या दान आदि पारमिताओं के अभ्यास में बोधिसत्त्वों की प्रवृत्ति होती है।

बात यह है कि सभी धर्म निश्चितरूप से शून्य हैं। सभी धर्मों का निजी स्वरूप शून्यता ही है, इसमें कोई दो राय नहीं है, कोई सन्देह नहीं है, फिर भी शून्यता का प्रतीत्यसमुत्पाद नियम से कोई विरोध नहीं है। अर्थात् शून्यता होने पर भी 'इस हेतु से यह कार्य होता है'—इस प्रकार का हेतु-फलभाव विद्यमान होता ही है। अतः बुद्धत्व के हेतु में प्रवृत्ति बाधित नहीं होती।

आशय यह है कि यद्यपि दान आदि निःस्वभाव (शून्य) हैं, फिर भी त्रिकोटि-परिशुद्ध दान आदि का सादर निरन्तर अभ्यास परमार्थ की प्राप्ति का हेतु है। यह (अभ्यास) परमार्थ का उपाय है। प्रतीत्यसमुत्पाद की शक्ति अचिन्त्य है। उस हेतु से इस प्रकार का फल (बुद्धत्व) प्राप्त होता है। कहा भी है—

उपायभूतं व्यवहारसत्य-

मुपेयभूतं परमार्थसत्यम्^१ ॥

जैसा ऊपर कहा गया है, उसे उसी प्रकार मानना भी चाहिए। अन्यथा मार्ग के अभ्यास द्वारा समल अवस्था से निर्मल अवस्था की प्राप्ति, सविकल्प अवस्था से निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति आदि फल कैसे उत्पन्न होंगे ? अतः सांवृतिक निःस्वभाव हेतु से भी शून्यता की प्राप्ति होती ही है। इसलिए कारुणिक बोधिसत्त्व निःस्वभाव दान आदि का परमार्थ के अधिगम के लिए अभ्यास करते हैं।

जिन रूपादि पदार्थों को योगी व्यवहार में देखते हैं, उन्हें साधारण जन भी देखते ही हैं, आखिरकार विवाद कहाँ है ? आचार्य कहते हैं—

लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चापि तत्त्वतः ।

न तु मायावदित्यत्र विवादो योगि-लोकयोः ॥ ५ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ५ ।

साधारण जन रूप आदि पदार्थों को जिस प्रकार अर्थात् सत्-स्वरूप (परमार्थतः सत्तावान् के रूप में) देखते हैं, उन्हें वे वैसे ही परमार्थतः सत्स्वरूप निश्चित करते हैं। अर्थात् जैसे वे दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही परमार्थतः उनका स्वरूप सत् है—ऐसा वे अध्यवसाय (निश्चय = अभिनिवेश) भी करते हैं।

जब कि योगी जब उन रूप आदि पदार्थों को देखते हैं, तब ऐसा समझते हैं कि ये हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा से उत्पन्न हैं, इनका अपना पारमार्थिक निजी कुछ भी स्वरूप

नहीं है। ये पदार्थ माया की तरह हैं, स्वप्न में दिखलाई पड़ने वाले पदार्थों की तरह ही निःस्वभाव हैं। परमार्थतः इनकी सत्ता नहीं है—ऐसा योगी उन्हें देखते हैं। और इसी स्थल में योगियों का साधारण जन के साथ विवाद है। अथवा—माया के समान नहीं, अपितु यथार्थ (वास्तविक) समझने के कारण साधारण जन का योगियों के साथ विवाद है।

अभिप्राय—प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं, जैसे सिक्के के दो पहलू होते हैं। एक उनका सांवृतिक (व्यावहारिक) रूप है और दूसरा पारमार्थिक। जो वस्तु का सांवृतिक रूप है, उसे ही साधारण जन देखते हैं और उसे ही वस्तु का परमार्थ स्वरूप भी समझते हैं। जब कि योगी जन वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप देखते हैं। जैसे जब मायाकार (जादूगर) अपनी माया (जादू) से किसी वस्तु का निर्माण करता है, तब उसके मन्त्र से मोहित साधारण लोग जैसे उस वस्तु को देखते हैं, वैसे ही उसे सत्य भी समझते हैं। किन्तु मायाकार जब उस माया से निर्मित वस्तुओं को देखता है, तब वह यह भी समझता है कि जैसे ये वस्तुएँ दिखलाई पड़ रही हैं, वैसे ये वस्तुतः नहीं हैं, अपितु मिथ्या हैं। जैसे माया (जादू) दिखलानेवाले और माया देखनेवाले लोगों की समझ में फर्क होता है, वैसे ही साधारण जन और योगी जन की वस्तु के बारे में समझ को समझना चाहिए और विवाद का मूल भी यही है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा वस्तु का जैसा स्वरूप दिखलाई पड़ रहा है, उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ?

प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणतः ।

अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥ ६ ॥

महामास'समास'मन्त्र'शुभ'शुभ'गुण'वि ।

मामास'समास'मन्त्र'शुभ'शुभ'गुण'वि ।

दे'वि'मि'मन्त्र'मन्त्र'समास'मन्त्र' ।

मन्त्र'समास'मामास'मन्त्र'मन्त्र'शुभ'शुभ'गुण'वि ७ ।

जो रूप आदि प्रत्यक्ष कहे जाते हैं, वे प्रसिद्धिवश अर्थात् लोकप्रवाद (लोकरुद्धि) की वजह से कहे जाते हैं। शब्द आदि को प्रत्यक्ष कहने में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। वे रूप आदि 'सत्' (सत्य) हैं—ऐसा प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। अर्थात्

वे प्रमाण द्वारा 'सत्'—इस रूप में उपलब्ध नहीं होते । अपि च, वे प्रत्यक्ष आदि भी व्यावहारिक प्रमाण ही हैं । व्यावहारिक प्रमाणों द्वारा वस्तु के व्यावहारिक स्वरूप का ही ग्रहण होता है, पारमार्थिक स्वरूप का नहीं । वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान तो परमार्थ-गवेषक युक्तियों एवं योगि-प्रत्यक्ष द्वारा ही सम्भव है । इन्द्रियों द्वारा वस्तु का जैसा स्वरूप उपलब्ध होता है, वही स्वरूप यदि उनका पारमार्थिक या तात्त्विक स्वरूप होने लगे, तब तो सभी लोग (अज्ञानी भी) तत्त्वज्ञानी या परमार्थवेत्ता होने लगेंगे । आर्यदेव ने कहा भी है—

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत्तत्त्वेन भवेद् यदि ।

जातास्तत्त्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा^१ ॥

इसलिए प्रत्यक्ष भी रूप आदि प्रमाण द्वारा उपलब्ध नहीं हैं ।

प्रश्न है कि जो रूप आदि प्रत्यक्ष हैं, उन्हें आप कहते हैं कि लोकप्रवाद (लोकरूढि) के वश से ही वे 'प्रत्यक्ष' कहे जाते हैं, वे वैसे प्रमाण द्वारा उपलब्ध नहीं हैं, आप की इस बात को कैसे सही समझा जाए ?

समाधान—लोक में स्त्री, पुरुष आदि का शरीर वस्तुतः अशुचि (गन्दा) है । उसमें मल, मूत्र, रक्त, थूक आदि भरा पड़ा है, फिर भी उस शरीर के प्रति कामासक्त रागी व्यक्तियों को वह शुचि (पवित्र) प्रतीत होता है । अर्थात् उन्हें वह गन्दा प्रतीत नहीं होता । इसी तरह साधारण लौकिक जन अनित्य को नित्य, अशुभ को शुभ आदि भी विपरीत ढंग से समझते हैं । उनका वह ज्ञान निश्चित रूप से मिथ्या और विपरीत (उलटा) ग्रहण करनेवाला है । इसी तरह रूपादि को प्रत्यक्ष समझना भी विपरीतग्राही ज्ञान है ।

प्रश्न है कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी रूप आदि की सिद्धि आप नहीं मानते तो फिर भगवान् ने क्यों स्कन्ध, धातु, आयतन आदि की देशना की है और उन्हें क्षणिक भी कहा है^२ । भगवान् का ज्ञान तो मिथ्या नहीं है, अतः भगवान् ने उन्हें जैसे कहा है, वैसा ही उनका स्वरूप होना चाहिए ? माया, स्वप्न या प्रतिबिम्ब आदि के समान

१. द्र०—चतुःशतक, आचार्य आर्यदेव विरचित ।

२. (क) सर्वं सर्वमिति ब्राह्मण, यावदेव पञ्च स्कन्धाः, द्वादश आयतनानि, अष्टादश घातव इति । द्र०—अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० ४६५ (उद्धृत) (दरभंगा-संस्करण) ।

(ख) क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया ।

भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥

द्र०—तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० १४ (उद्धृत) ।

वस्तुओं का तो क्षणिक या अक्षणिक कोई भी स्वभाव नहीं हो सकता । निःस्वभाव वस्तुओं का कोई भी स्वभाव कैसे सम्भव है ? इस पर आचार्य कहते हैं—

लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिताः ।

तत्त्वतः क्षणिका नैते संवृत्या चेद् विरुध्यते ॥ ७ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वशुद्धं सर्वशुद्धं ।

सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वशुद्धं सर्वशुद्धं ।

गुणैश्चैव सर्वशुद्धं सर्वशुद्धं ॥ ७ ॥

साधारण जन, जिनका वस्तु की सत्ता के प्रति अभिनिवेश (आग्रह) है, जो स्कन्ध, आयतन, धातु, क्षणिकता आदि की देशना के ही पात्र हैं, जो तत्काल शून्यता की देशना देने के योग्य नहीं हैं, उन्हें क्रमशः शून्यता-देशना के योग्य बनाने के लिए उपायकौशल का प्रयोग करते हुए भगवान् ने ऐसे सत्त्वों (प्राणियों) को स्कन्ध आदि की देशना की है । यद्यपि स्कन्ध आदि वस्तुतः निःस्वभाव हैं, किन्तु अयोग्य को देशना देने पर उनके उच्छेदवादी (पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, मार्ग-फल आदि कुछ भी नहीं है—ऐसा माननेवाले) होने का भय है, अतः नरक आदि में दुःख भोगने से उनकी रक्षा करने के अभिप्राय से और उन्हें लौकिक और लोकोत्तर सुख प्राप्त कराने की इच्छा से प्राणियों के आशय, रुचि एवं क्षमता जाननेवाले भगवान् ने करुणापूर्वक उन्हें वैसी देशना (उपदेश) दी है । परमार्थतः वैसी देशना नहीं की है । इसलिए आपने जो सूत्रविरोध का दोष दिया है, वह प्रासंगिक माध्यमिक मत पर लागू नहीं होता । जैसे कि आचार्य नागार्जुन ने युक्तिषष्टिका में कहा है—

ममेत्यहमिति प्रोक्तं यथा कार्यवशाज्जिनैः ।

तथा कार्यवशात् प्रोक्ताः स्कन्धाद्यतनधातवः^१ ॥

परमार्थतः वे रूप आदि पदार्थ क्षणिक नहीं हैं, क्योंकि वे निःस्वभाव हैं । क्षणिकता की देशना देने से जिनका कल्याण हो सकता है, ऐसे विनेय जनों के हित के लिए उन्होंने क्षणिकता की देशना की है ।

यदि संवृति (अविद्या) की दृष्टि से उन्हें (रूप आदि धर्मों को) व्यवहारतः क्षणिक माना जाता है—ऐसा माध्यमिक कहें तो वस्तुवादी कहते हैं—

१. द्र०—युक्तिषष्टिका, आचार्य नागार्जुन विरचित, कारिका सं० ३३ ।

साधारण लोग (लोक = जन) स्त्री या पुरुष के शरीर को अशुभ (गन्दा) नहीं मानते, जब कि अशुभ-भावना करने वाला योगी इस शरीर में हड्डी, रक्त, पीव, रुधिर, आँसू आदि अशुचि (गन्दे) पदार्थ भरे पड़े हैं—ऐसा दर्शन करता है। इसलिए लोकप्रतीति के द्वारा योगी के दर्शन में बाधा नहीं पहुँचाई जा सकती। फलतः आगम (बुद्धवचन) द्वारा भी वस्तुओं की पारमार्थिक सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। अतः युक्ति और आगम द्वारा सूक्ष्म विचार करने पर यह निश्चित होता है कि सभी धर्म (पदार्थ) माया के समान, स्वप्न के समान, प्रतिबिम्ब के समान ही हैं।

यदि सभी धर्म (पदार्थ) माया के समान, स्वप्न के समान हैं, तब तो आपके अनुसार भगवान् बुद्ध भी मायोपम, स्वप्नोपम हो जाएँगे ?

ठीक है। बुद्ध भी स्वप्न के समान (स्वप्नोपम), माया के समान (मायोपम) ही हैं। प्रज्ञापारमितासूत्र में भी कहा गया है कि सभी धर्म, सभी प्राणी, अर्हत्, प्रत्येक-बुद्ध, यहाँ तक कि सम्यक् संबुद्ध भी मायोपम, स्वप्नोपम ही हैं। इतना ही नहीं, निर्वाण भी मायोपम, स्वप्नोपम है। भगवती प्रज्ञापारमिता सूत्र में सुभूति का कहना है कि निर्वाण से भी कोई धर्म यदि श्रेष्ठ हो तो मैं उसे भी मायोपम और स्वप्नोपम कहता हूँ।

मायोपमास्ते देवपुत्राः, सत्त्वाः। स्वप्नोपमास्ते देवपुत्राः, सत्त्वाः। इति हि माया च सत्त्वाश्च अद्वयमेतदद्वैधीकारम्। सर्वधर्मा अपि देवपुत्राः, मायोपमाः स्वप्नोपमाः। स्त्रोत-आपन्नोऽपि ... अर्हन्नपि अर्हत्त्वपि, ... प्रत्येकबुद्धोऽपि ... प्रत्येकबुद्धत्वमपि ... सम्यक् संबुद्धोऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः। सम्यक् संबुद्धत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्। यावन्निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्। सचेन्निर्वाणादपि कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात्, तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपमं वदामि^१।

यदि भगवान् बुद्ध मायोपम (माया के समान) या स्वप्नोपम (स्वप्न के समान) हैं तो उनका सत्कार, पूजन, वन्दन करने पर पुण्य और असत्कार, तिरस्कार आदि करने पर पाप कैसे होगा ? यथा—

मायोपमाज्जिनात् पुण्यं सद्भावेऽपि कथं यथा ।

यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः ॥ ९ ॥

१. द्र०—अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० २० (दरभंगा-संस्करण १९६०) ।

स्त्रु'रुद्र'कु'ल'ल'स'स'र'र'र'र' ।
 ई'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।
 म'ल'र'र'र'र'र'र'र' ।
 र'र'र'र'र'र'र'र' । ० ।

वस्तुवादी प्रश्न करता है कि यदि भगवान् मायोपम हैं तो माया, स्वप्न आदि के समान निःस्वभाव भगवान् का पूजा-सत्कार, पादवन्दन आदि करने से पुण्य कैसे होगा ? इसी के साथ यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि उनका अपकार तिरस्कार आदि करने से पाप भी कैसे होगा ? माया से बनाए हुए या स्वप्न में उपलब्ध पुरुष के सत्कार से या अपकार (अपमान) से कोई पुण्य या पाप तो होता नहीं ?

सिद्धान्तवादी (माध्यमिक) प्रश्न करनेवाले वस्तुवादी से ही प्रतिप्रश्न करता है कि भगवान् को मायोपम नहीं, अपितु परमार्थसत् ही मान लें, जैसे कि तुम मानते हो, तो भी उनके सत्कार से पुण्य कैसे होगा ?

जैसे तुम्हारे मतानुसार परमार्थसत् भगवान् की पूजा से परमार्थसत् पुण्य होगा, वैसे ही हमारे मतानुसार मायोपम भगवान् की पूजा से मायोपम पुण्य होगा । इसमें क्या फर्क है । प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम अर्थात् इस हेतु से यह फल होगा, यह नियम दोनों पक्षों में समानरूप से लागू है ।

हमने (माध्यमिक ने) तुमसे जो प्रतिप्रश्न किया है, उसका जो तुम उत्तर दोगे, वह उत्तर हमारा भी होगा । वस्तु का कुछ भी पारमार्थिक स्वरूप नहीं है इसका हमने तर्कपूर्वक प्रतिपादन कर दिया है । यही वास्तविकता है ।

वस्तुवादी का कहना है कि थोड़ी देर के लिए हम मान भी लें कि मायोपम भगवान् की पूजा से पुण्य हो जाता है, फिर भी हमारे इस प्रश्न का क्या समाधान होगा ?—

यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः

प्रश्न—जब भगवान् बुद्ध भी मायोपम हैं तो फिर अन्य प्राणियों के बारे में तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वे तो मायोपम हैं ही । ऐसी स्थिति में प्रश्न है कि फिर कौन मरने के बाद पैदा होता है । मायापुरुष (माया द्वारा निर्मित पुरुष) तो मर कर कभी पैदा होता नहीं । अतः सत्त्वों को मायोपम मानना युक्तिसंगत नहीं है । अतः प्राणी (सत्त्व = जीव) परमार्थः सत् हैं—ऐसा मानना चाहिए ।

नहीं मानना चाहिए—यह माध्यमिक का पक्ष है। तथा हि—

यावत् प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते ।

दीर्घसन्तानमात्रेण कथं सत्त्वोऽस्ति सत्यतः ॥ १० ॥

ॐ श्रीं क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा ।

ॐ श्रीं क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा ।

क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा ।

क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा क्लृप्त्वा ॥ १० ॥

माया दिखलाते समय मायाकार मन्त्र, औषधि-द्रव्य आदि का प्रयोग करता है। जब तक यह कारण-सामग्री विद्यमान रहती है, तब तक माया चलती रहती है, न पहले समाप्त होती है और न बाद में ही चलती है। अर्थात् कारण सामग्री के रहने तक मायाजनित दृश्य दिखलाई पड़ता रहता है। इसी तरह जब तक अविद्या, तृष्णा आदि कारण-सामग्री विद्यमान रहती है तब तक प्राणी की सन्तति भी चलती रहती है। यह सब प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से होता है।

इसमें दिक्कत यह है कि माया तो जल्दी ही निवृत्त हो जाती है, किन्तु प्राणी की सन्तति तो जब तक संसार है, तब तक चलती रहती है, अतः माया के दृष्टान्त से इस प्रश्न का समाधान करना समीचीन नहीं है ?

दीर्घसन्तानमात्रेण कथं सत्त्वोऽस्ति सत्यतः—बहुत काल तक रहना किसी वस्तु के सही (सम्यक्) होने की कसौटी (नियामक) नहीं है। जिस वस्तु की दीर्घ (लम्बे) काल तक स्थित रहने की कारण-सामग्री मौजूद रहती है, वह लम्बे काल तक रहती है। जिसकी ऐसी कारणसामग्री नहीं रहती, वह लम्बे काल तक नहीं रहती। लम्बे काल तक रहना या न रहना उसके सही (सम्यक्) या गलत (मिथ्या) होने का द्योतक नहीं है। अतः प्राणियों के माया के समान होने पर भी पुनर्जन्म का अभाव (असिद्धि) नहीं है। अर्थात् मायोपम मानने वालों के मत में भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

प्रश्न—माया के द्वारा निर्मित पुरुष या स्वप्न में उपलब्ध पुरुष की हत्या (प्राणातिपात) कर देने से जैसे कोई पाप नहीं होता, वैसे ही संसार में घूमने-फिरने वाले व्यक्ति की हत्या कर देने से भी कोई पाप नहीं होना चाहिए। क्योंकि आपके मतानुसार सांसारिक प्राणी भी माया ही के समान हैं ?

मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापकम् ।

चित्तमायासमेते तु पापपुण्यसमुद्भवः ॥ ११ ॥

सु'मदि'सु'स'सु'स'सु'स'सु'स' ।

सोमस'मे'सु'स'सु'स'सु'स' ।

सु'मदि'सोमस'सु'स'सु'स' ।

सो'स'सु'स'सु'स'सु'स'सु'स' । ११ ।

समाधान—माया द्वारा निर्मित पुरुष की हत्या कर देने से पाप नहीं होता, यह सही है। इसका कारण यह है कि माया द्वारा निर्मित पुरुष में चित्त (विज्ञान या चेतना) नहीं होता। यद्यपि उसकी हत्या में हत्या (प्राणातिपात) का पाप नहीं लगता, फिर भी क्योंकि मारने की इच्छा (अभिप्राय) मन में उत्पन्न हुई थी, हिंसा-चित्त पैदा हुआ था, अतः कुछ अशुभ तो जरूर होता है।

किन्तु मायिक चित्त से युक्त सांसारिक प्राणी के प्राणातिपात (हत्या) में तो अवश्य पाप होता है और उसकी भलाई करने से पुण्य भी अवश्य होता है। क्योंकि पुण्य के कारण (हेतु) उपकार और पाप के कारण (हेतु) अपकार के विद्यमान होने से कारण के अनुरूप फल अवश्य होता है।

चित्त मायिक है, मायाजनित है, पूर्वपक्षी इसका खण्डन करता है, यथा—

मन्त्रादीनामसामर्थ्यान्न मायाचित्तसम्भवः ।

सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसम्भवा ॥ १२ ॥

नैकस्य सर्वसामर्थ्यं प्रत्ययस्यास्ति कुत्रचित् ।

सु'मदि'सु'स'सु'स'सु'स'सु'स' ।

सु'मदि'सोमस'सु'स'सु'स' ।

सु'मदि'सु'स'सु'स'सु'स' ।

सु'मदि'सु'स'सु'स'सु'स' ।

सु'मदि'सु'स'सु'स'सु'स' ।

सु'मदि'सु'स'सु'स'सु'स' । १२ ।

पूर्वपक्षी का कहना है कि दूसरों अर्थात् देखनेवालों को मोहित करने के लिए मायाकार जिन मन्त्र, औषधि आदि द्रव्यों का प्रयोग करता है, उनमें चित्त पैदा करने की सामर्थ्य (शक्ति) ही नहीं होती। वे मायाकार मन्त्र, औषधि आदि के बल से हाथी, घोड़े आदि का तो निर्माण कर देते हैं, किन्तु उनमें चित्त उत्पन्न नहीं हो पाता। अतः आपने जो यह कहा है कि मायाजनित चित्त से युक्त होने के कारण सांसारिक प्राणियों का उपकार या अपकार करने से पुण्य या पाप होता है, यह समीचीन नहीं है ?

सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसम्भवा—वह माया भी अनेक प्रकार की होती है और अनेकविध कारणों से उत्पन्न होती है। कहने का आशय यह है कि मायाकार के द्वारा निर्मित हाथी-घोड़े को मायाजनित कहने में और सांसारिक सचेतन प्राणियों को मायाजनित कहने में यद्यपि 'माया' शब्द तो समानरूप से प्रयुक्त होता है, किन्तु दोनों प्रकार की माया के कारण एक जैसे नहीं हैं। अर्थात् कारणों में भेद है और कारणों में भेद होने से कार्यों में भी भेद होता है। शब्द में समानता होने पर भी स्वभाव में भेद होता ही है। जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब 'कार्य' कहे जाते हैं। उन सबके लिए एक 'कार्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु सबमें समानरूप से एक 'कार्य' शब्द का प्रयोग होने से वे एकस्वभाव नहीं हो जाते, किन्तु उनके कारणों में भिन्नता होने की वजह उनसे उत्पन्न कार्यों के स्वभाव में भी निश्चितरूप से भिन्नता हो ही जाती है। इसी बात को कहा जा रहा है—

नैकस्य सर्वसामर्थ्यं प्रत्ययस्यास्ति कुत्रचित्—किसी भी एक कारण में सभी कार्यों को उत्पन्न कर सकने का सामर्थ्य तो देखा नहीं गया है। कोई माया ऐसी होती है, जो मन्त्र एवं औषधि आदि द्रव्यों से उत्पन्न होती है। कोई माया ऐसी है, जो अनादिकाल से प्रवृत्त है और जिससे यह संसारचक्र प्रवर्तित हो रहा है। मन्त्र आदि में सभी को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है। समस्त जागतिक व्यवहार एवं पदार्थ कल्पनानिर्मित हैं, उनका परमार्थतः किंचिद् भी अस्तित्व नहीं है। परमार्थ दशा में तो जन्म-मरण, उत्पाद-निरोध, हेतु-फल, भाव-अभाव आदि कल्पनाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है। फलतः किसी का भी अस्तित्व नहीं रहता। वस्तुतः सभी पदार्थ स्वभावतः परिनिवृत्त ही हैं।

निर्वृतः परमार्थेन संवृत्या यदि संसरेत् ॥ १३ ॥

बुद्धोऽपि संसरेदेवं ततः किं बोधिचर्यया ।

समाधान—माध्यमिकों का कहना है कि माया के हेतुप्रत्ययों का जब तक उच्छेद (विनाश) नहीं होता, जब तक माया की निवृत्ति नहीं होती। सब कुछ कारण पर निर्भर है। जब तक कारण की निवृत्ति नहीं होगी, जब तक कार्य कैसे निवृत्त होगा ? जब तक संसार के हेतु विद्यमान हैं तब तक संसार का उपशम (विराम) या निरोध सम्भव नहीं है। संसार अर्थात् जन्म-मरण रूपी भवचक्र के हेतु अविद्या, तृष्णा आदि क्लेश हैं। इन क्लेशों का निरोध भी शून्यता तत्त्व को जाननेवाली प्रज्ञा द्वारा ही किया जा सकता है। ऐसा जब तक नहीं होता, तब तक सत्त्व संसार में परिभ्रमण करते हैं, जैसे शालिस्तम्ब सूत्र में भी कहा गया है—

भिक्षुओ, जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है। जो धर्म को देखता है, वह बुद्ध को देखता है। प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है ? यही जो अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान से लेकर जाति से जरामरण, शोक, परिदेव (विलाप करना) दुःख, दौर्मनस्य, उपायास आदि का उत्पन्न होना है। अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंगों में से पूर्व-पूर्व से पर-पर (बाद-बाद के) अंगों का उत्पन्न होना है। इस तरह सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध (दुःखराशि) का उत्पाद होता है।

इस दुःख-परम्परा का निरोध (विनाश) भी पूर्व-पूर्व कारणों के निरोध से पर-पर (बाद-बाद के) कार्यों के निरोध से ही होता है। जैसे—अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध आदि। इस तरह इस सम्पूर्ण दुःखराशि का निरोध होता है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद है^१।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व अविद्या, तृष्णा आदि कारणों के सर्वथा निरुद्ध नहीं होने तक संसार भी अविच्छिन्नरूप से प्रवृत्त होता रहता है। जब प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान) द्वारा उन कारणों का निरोध कर दिया जाता है, तब संसार का उपशम हो जाता है। भगवान् ने तत्त्वज्ञानरूपी प्रज्ञा का उत्पाद कर उसके द्वारा अविद्या-आदि क्लेशों का सर्वथा प्रहाण कर दिया है, अतः वे संसार में अर्थात् जन्म-मरणरूपी भवचक्र में

१. यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति । यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति । तत्र कः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम ? यदिदम् अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम् । “... एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति । तत्र अविद्यानिरोधात् संस्कारा निरुध्यन्ते ।” “एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति । अयमुच्यते प्रतीत्यसमुत्पादः ।

द्र०—शालिस्तम्बसूत्र, महायानसूत्रसंग्रह, प्रथम भाग, पृ० १०० (दरभंगा-प्रस्करण १९६१) ।

का अर्थ सर्वथा न होना समझते हो और इसीलिए आक्षेप देते हो। ऐसा अर्थ लेने पर तुम्हारे मत में भी माया (भ्रान्ति) को जानने वाला कोई ज्ञान बन नहीं सकेगा।

विज्ञानवादियों के मत में सम्पूर्ण जगत् चित्तमात्र माना जाता है—“चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्”^१। चित्त से अतिरिक्त उनके यहाँ कुछ भी सत् नहीं है। माध्यमिकों का कहना है कि जब आपके यहाँ कुछ भी हस्ती, अश्व आदि ग्राह्य आकार नहीं है तो माया (भ्रान्ति या मिथ्या) को जाननेवाला कोई ज्ञान आपके मत में बन ही नहीं सकता। आपका वस्तुसत् ज्ञान किस मिथ्या को जानेगा ? अर्थात् किसी को भी नहीं। आपको किसी वस्तु का प्रतिभास होगा ही नहीं, क्योंकि चित्त से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

चित्तस्यैव स आकारो यद्यप्यन्योऽस्ति तत्त्वतः—

योगाचार दार्शनिकों का समाधान—घट, पट, गज, अश्व आदि आकार जो ज्ञान में प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वे चित्त के ही आकार हैं, जिन्हें अविद्या से प्रभावित पृथग्जन (सामान्य लोग) चित्त से अतिरिक्त बाह्यतः सत् समझते हैं। विज्ञानवादियों के कहने का आशय यह है कि माया अर्थात् भ्रान्त गज, अश्व आदि सांसारिक ग्राह्य वस्तुएँ आन्तरिक ग्राहक चित्त से यद्यपि पृथक् प्रतीत होती हैं, किन्तु वस्तुतः वे चित्त के आकार हैं। अर्थात् उनका ज्ञान के गर्भ में ही अस्तित्व है। ज्ञान से बाहर उनका कथमपि किंचिद् भी अस्तित्व नहीं है।

चित्तमेव यदा माया तदा किं केन दृश्यते ।

उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति ॥ १७ ॥

न च्छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः ।

म।८.८.१०.११.१२.१३.१४.१५.१६.१७.१८.१९.२०.२१.२२.२३.२४.२५.२६.२७.२८.२९.३०.३१.३२.३३.३४.३५.३६.३७.३८.३९.४०.४१.४२.४३.४४.४५.४६.४७.४८.४९.५०.५१.५२.५३.५४.५५.५६.५७.५८.५९.६०.६१.६२.६३.६४.६५.६६.६७.६८.६९.७०.७१.७२.७३.७४.७५.७६.७७.७८.७९.८०.८१.८२.८३.८४.८५.८६.८७.८८.८९.९०.९१.९२.९३.९४.९५.९६.९७.९८.९९.१००.१०१.१०२.१०३.१०४.१०५.१०६.१०७.१०८.१०९.११०.१११.११२.११३.११४.११५.११६.११७.११८.११९.१२०.१२१.१२२.१२३.१२४.१२५.१२६.१२७.१२८.१२९.१३०.१३१.१३२.१३३.१३४.१३५.१३६.१३७.१३८.१३९.१४०.१४१.१४२.१४३.१४४.१४५.१४६.१४७.१४८.१४९.१५०.१५१.१५२.१५३.१५४.१५५.१५६.१५७.१५८.१५९.१६०.१६१.१६२.१६३.१६४.१६५.१६६.१६७.१६८.१६९.१७०.१७१.१७२.१७३.१७४.१७५.१७६.१७७.१७८.१७९.१८०.१८१.१८२.१८३.१८४.१८५.१८६.१८७.१८८.१८९.१९०.१९१.१९२.१९३.१९४.१९५.१९६.१९७.१९८.१९९.२००.२०१.२०२.२०३.२०४.२०५.२०६.२०७.२०८.२०९.२१०.२११.२१२.२१३.२१४.२१५.२१६.२१७.२१८.२१९.२२०.२२१.२२२.२२३.२२४.२२५.२२६.२२७.२२८.२२९.२३०.२३१.२३२.२३३.२३४.२३५.२३६.२३७.२३८.२३९.२४०.२४१.२४२.२४३.२४४.२४५.२४६.२४७.२४८.२४९.२५०.२५१.२५२.२५३.२५४.२५५.२५६.२५७.२५८.२५९.२६०.२६१.२६२.२६३.२६४.२६५.२६६.२६७.२६८.२६९.२७०.२७१.२७२.२७३.२७४.२७५.२७६.२७७.२७८.२७९.२८०.२८१.२८२.२८३.२८४.२८५.२८६.२८७.२८८.२८९.२९०.२९१.२९२.२९३.२९४.२९५.२९६.२९७.२९८.२९९.३००.३०१.३०२.३०३.३०४.३०५.३०६.३०७.३०८.३०९.३१०.३११.३१२.३१३.३१४.३१५.३१६.३१७.३१८.३१९.३२०.३२१.३२२.३२३.३२४.३२५.३२६.३२७.३२८.३२९.३३०.३३१.३३२.३३३.३३४.३३५.३३६.३३७.३३८.३३९.३४०.३४१.३४२.३४३.३४४.३४५.३४६.३४७.३४८.३४९.३५०.३५१.३५२.३५३.३५४.३५५.३५६.३५७.३५८.३५९.३६०.३६१.३६२.३६३.३६४.३६५.३६६.३६७.३६८.३६९.३७०.३७१.३७२.३७३.३७४.३७५.३७६.३७७.३७८.३७९.३८०.३८१.३८२.३८३.३८४.३८५.३८६.३८७.३८८.३८९.३९०.३९१.३९२.३९३.३९४.३९५.३९६.३९७.३९८.३९९.४००.४०१.४०२.४०३.४०४.४०५.४०६.४०७.४०८.४०९.४१०.४११.४१२.४१३.४१४.४१५.४१६.४१७.४१८.४१९.४२०.४२१.४२२.४२३.४२४.४२५.४२६.४२७.४२८.४२९.४३०.४३१.४३२.४३३.४३४.४३५.४३६.४३७.४३८.४३९.४४०.४४१.४४२.४४३.४४४.४४५.४४६.४४७.४४८.४४९.४५०.४५१.४५२.४५३.४५४.४५५.४५६.४५७.४५८.४५९.४६०.४६१.४६२.४६३.४६४.४६५.४६६.४६७.४६८.४६९.४७०.४७१.४७२.४७३.४७४.४७५.४७६.४७७.४७८.४७९.४८०.४८१.४८२.४८३.४८४.४८५.४८६.४८७.४८८.४८९.४९०.४९१.४९२.४९३.४९४.४९५.४९६.४९७.४९८.४९९.५००.५०१.५०२.५०३.५०४.५०५.५०६.५०७.५०८.५०९.५१०.५११.५१२.५१३.५१४.५१५.५१६.५१७.५१८.५१९.५२०.५२१.५२२.५२३.५२४.५२५.५२६.५२७.५२८.५२९.५३०.५३१.५३२.५३३.५३४.५३५.५३६.५३७.५३८.५३९.५४०.५४१.५४२.५४३.५४४.५४५.५४६.५४७.५४८.५४९.५५०.५५१.५५२.५५३.५५४.५५५.५५६.५५७.५५८.५५९.५६०.५६१.५६२.५६३.५६४.५६५.५६६.५६७.५६८.५६९.५७०.५७१.५७२.५७३.५७४.५७५.५७६.५७७.५७८.५७९.५८०.५८१.५८२.५८३.५८४.५८५.५८६.५८७.५८८.५८९.५९०.५९१.५९२.५९३.५९४.५९५.५९६.५९७.५९८.५९९.६००.६०१.६०२.६०३.६०४.६०५.६०६.६०७.६०८.६०९.६१०.६११.६१२.६१३.६१४.६१५.६१६.६१७.६१८.६१९.६२०.६२१.६२२.६२३.६२४.६२५.६२६.६२७.६२८.६२९.६३०.६३१.६३२.६३३.६३४.६३५.६३६.६३७.६३८.६३९.६४०.६४१.६४२.६४३.६४४.६४५.६४६.६४७.६४८.६४९.६५०.६५१.६५२.६५३.६५४.६५५.६५६.६५७.६५८.६५९.६६०.६६१.६६२.६६३.६६४.६६५.६६६.६६७.६६८.६६९.६७०.६७१.६७२.६७३.६७४.६७५.६७६.६७७.६७८.६७९.६८०.६८१.६८२.६८३.६८४.६८५.६८६.६८७.६८८.६८९.६९०.६९१.६९२.६९३.६९४.६९५.६९६.६९७.६९८.६९९.७००.७०१.७०२.७०३.७०४.७०५.७०६.७०७.७०८.७०९.७१०.७११.७१२.७१३.७१४.७१५.७१६.७१७.७१८.७१९.७२०.७२१.७२२.७२३.७२४.७२५.७२६.७२७.७२८.७२९.७३०.७३१.७३२.७३३.७३४.७३५.७३६.७३७.७३८.७३९.७४०.७४१.७४२.७४३.७४४.७४५.७४६.७४७.७४८.७४९.७५०.७५१.७५२.७५३.७५४.७५५.७५६.७५७.७५८.७५९.७६०.७६१.७६२.७६३.७६४.७६५.७६६.७६७.७६८.७६९.७७०.७७१.७७२.७७३.७७४.७७५.७७६.७७७.७७८.७७९.७८०.७८१.७८२.७८३.७८४.७८५.७८६.७८७.७८८.७८९.७९०.७९१.७९२.७९३.७९४.७९५.७९६.७९७.७९८.७९९.८००.८०१.८०२.८०३.८०४.८०५.८०६.८०७.८०८.८०९.८१०.८११.८१२.८१३.८१४.८१५.८१६.८१७.८१८.८१९.८२०.८२१.८२२.८२३.८२४.८२५.८२६.८२७.८२८.८२९.८३०.८३१.८३२.८३३.८३४.८३५.८३६.८३७.८३८.८३९.८४०.८४१.८४२.८४३.८४४.८४५.८४६.८४७.८४८.८४९.८५०.८५१.८५२.८५३.८५४.८५५.८५६.८५७.८५८.८५९.८६०.८६१.८६२.८६३.८६४.८६५.८६६.८६७.८६८.८६९.८७०.८७१.८७२.८७३.८७४.८७५.८७६.८७७.८७८.८७९.८८०.८८१.८८२.८८३.८८४.८८५.८८६.८८७.८८८.८८९.८९०.८९१.८९२.८९३.८९४.८९५.८९६.८९७.८९८.८९९.९००.९०१.९०२.९०३.९०४.९०५.९०६.९०७.९०८.९०९.९१०.९११.९१२.९१३.९१४.९१५.९१६.९१७.९१८.९१९.९२०.९२१.९२२.९२३.९२४.९२५.९२६.९२७.९२८.९२९.९३०.९३१.९३२.९३३.९३४.९३५.९३६.९३७.९३८.९३९.९४०.९४१.९४२.९४३.९४४.९४५.९४६.९४७.९४८.९४९.९५०.९५१.९५२.९५३.९५४.९५५.९५६.९५७.९५८.९५९.९६०.९६१.९६२.९६३.९६४.९६५.९६६.९६७.९६८.९६९.९७०.९७१.९७२.९७३.९७४.९७५.९७६.९७७.९७८.९७९.९८०.९८१.९८२.९८३.९८४.९८५.९८६.९८७.९८८.९८९.९९०.९९१.९९२.९९३.९९४.९९५.९९६.९९७.९९८.९९९.१०००.

२८.२९.३०.३१.३२.३३.३४.३५.३६.३७.३८.३९.४०.४१.४२.४३.४४.४५.४६.४७.४८.४९.५०.५१.५२.५३.५४.५५.५६.५७.५८.५९.६०.६१.६२.६३.६४.६५.६६.६७.६८.६९.७०.७१.७२.७३.७४.७५.७६.७७.७८.७९.८०.८१.८२.८३.८४.८५.८६.८७.८८.८९.९०.९१.९२.९३.९४.९५.९६.९७.९८.९९.१००.

३१.३२.३३.३४.३५.३६.३७.३८.३९.४०.४१.४२.४३.४४.४५.४६.४७.४८.४९.५०.५१.५२.५३.५४.५५.५६.५७.५८.५९.६०.६१.६२.६३.६४.६५.६६.६७.६८.६९.७०.७१.७२.७३.७४.७५.७६.७७.७८.७९.८०.८१.८२.८३.८४.८५.८६.८७.८८.८९.९०.९१.९२.९३.९४.९५.९६.९७.९८.९९.१००.

माध्यमिकों का कहना है कि जब विज्ञानवादी लोग चित्त को ही ग्राहक या वेदक (जाननेवाला) स्वीकार करते हैं और उसके अतिरिक्त अन्य किसी माया (बाह्य गज, अश्व, घट, पट आदि भ्रान्त रूपों) को नहीं मानते तथा ज्ञान के गर्भ में ही गज, अश्व आदि का अस्तित्व मानने हैं तो फिर माया चित्त से भिन्न नहीं है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि ज्ञान से अभिन्न रूप में ही उस (माया) का प्रतिभास होता है। ऐसी स्थिति में कौन किस को देखता है ? उनके मत में दर्शन (ज्ञान) ही केवल है, दृश्य (ज्ञेय या ग्राह्य) है ही नहीं। दृश्य के अभाव में दर्शन की भी सत्ता नहीं बनती, क्योंकि दृश्य की अपेक्षा से ही दर्शन का अस्तित्व सिद्ध होता है। फलतः कोई किसी को नहीं देखता, यह स्थिति बनेगी। इस प्रकार उनके मत में सम्पूर्ण जगत् की अन्धता का दूषण प्राप्त होगा।

विज्ञानवादी कहते हैं कि जो दूषण आप हम पर लगाते हैं, वह हम पर तब लागू होता, जब हम स्वसंवेदन न मानते। हम ज्ञान के दो रूप मानते हैं। एक स्वरूप के द्वारा ज्ञान घट-पट आदि ग्राह्य वस्तुओं को देखता है और दूसरे के द्वारा अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है। बाह्य घट, पट आदि का यद्यपि कथमपि अस्तित्व नहीं है, किन्तु चित्त ही घट, पट आदि के रूप में प्रतिभासित होता (दिखलाई पड़ता) है। तथा घट, पट आदि से अभिन्न उस ज्ञान को ज्ञान का अपना दूसरा आन्तरिक स्वरूप जानता है। ज्ञान के आन्तरिक उस ग्राहक स्वरूप को 'स्वसंवेदन' कहते हैं। वह नितान्त प्रामाणिक ज्ञान है। उससे यह सिद्ध हो जाता है कि माया चित्त से अभिन्न है।

माध्यमिकों का कहना है माया से अभिन्न चित्त तब सिद्ध होता, जब स्वसंवेदन की ही स्वाभाविक सत्ता सिद्ध होती। हमने युक्तिपूर्वक सम्पूर्ण जगत् को निःस्वभाव सिद्ध कर दिया है। फलतः किसी वस्तु (चित्त आदि) का कोई स्वभाव (माया से अभिन्न) है ही नहीं। अतः किसका किससे अनुभव होगा। स्वसंवेदन भी वस्तुतः नहीं है, जो स्वयं अपना (अपने स्वरूप का) अनुभव करता है। लोकनाथ भगवान् बुद्ध ने स्वयं आर्यरत्नचूडसूत्र में कहा है कि चित्त चित्त को नहीं देखता। जैसे कितनी भी तेज धारवाली तलवार हो, वह स्वयं अपने को नहीं काटती। कितना भी शिक्षित किसी नट का कोई पुत्र हो, वह अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। तथा अंगुलि के अग्रभाग से जैसे अंगुलि के उसी अग्रभाग का स्पर्श नहीं किया जा सकता। कर्ता की क्रिया अपने से भिन्न किसी कर्म पर तो हो सकती है, जैसे अग्नि (कर्ता) अपने से भिन्न चावल (कर्म) पर पकाने की क्रिया कर सकती है, किन्तु

कोई कर्ता अपने पर क्रिया नहीं कर सकता । इसी तरह चित्त स्वयं अपने को नहीं जान सकता ।

विज्ञानवादी सिद्धान्त में माध्यमिकों ने जो यह ऊपर युक्तिविरोध दिखलाया है, उसे हटाने के लिए तथा चित्त चित्त को जान सकता है, यह (स्वसंवेदन) सिद्ध करने के लिए वे कहते हैं—

आत्मभावं यथा दीपः सम्प्रकाशयतीति चेत् ॥ १८ ॥

नैव प्रकाशयते दीपो यस्मान्न तमसावृतः ।

इति ध्वनः सारं सारं सारं सारं ।

यत्तु न सारं सारं सारं सारं सारं सारं ।

सारं सारं सारं सारं सारं सारं ।

यत्तु न सारं सारं सारं सारं सारं सारं ॥ १८ ॥

विज्ञानवादी अपने (स्वसंवेदन) मत की पुष्टि के लिए दीपक का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैसे दीपक अन्धकार में स्थित घट, पट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करता है, वैसे ही वह (दीपक) अपने अस्तित्व को भी प्रकाशित कर देता है । अर्थात् घट, पट आदि को अपने प्रकाशन के लिए जैसे दीपक की अपेक्षा होती है, वैसे दीपक को अपने अस्तित्व के प्रकाशन के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं होती । इसी तरह ज्ञान जैसे घट, पट आदि वस्तुओं के अस्तित्व को प्रकाशित करता है, वैसे ही अपने अस्तित्व को भी प्रकाशित कर देता है । जैसे घट, पट आदि को अपने प्रकाशन के लिए ज्ञान की अपेक्षा होती है, वैसे ज्ञान को अपने

१. स चित्तं परिगवेषमाणो नाध्यात्मं चित्तं समनुपश्यति, न बहिर्धा चित्तं समनुपश्यति, न स्कन्धेषु न धातुषु न आयतनेषु चित्तं समनुपश्यति । न चित्तं चित्तं समनुपश्यति । तद्यथा न तयैव असिधारया सैव असिधारा शक्यते छेत्तुम्, न तेनैव अङ्गुल्यग्रेण तदेव अङ्गुल्यग्रं स्पृष्टुं शक्यते । एवमेव तेनैव चित्तेन तदेव चित्तं द्रष्टुमिति विस्तरः ।

द्र० — बोधिचर्यावितारपंजिका में उद्धृत आर्यरत्नचूडसूत्र, पृ० १८८ ।

अस्तित्व के प्रकाशन के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती । ज्ञान की यह अन्य-निरपेक्षता ही 'स्वसंवेदन' कहलाती है^१ ।

नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः—माध्यमिकों का कहना है कि विज्ञानवादियों का यह दीप-दृष्टान्त ही गलत है । जो पहले अन्धकार से ढँका हो, उसका प्रकाशन ही युक्तियुक्त है । अन्धकार का हटना ही 'प्रकाशन' कहलाता है । अतः घट, पट आदि जो पहले ढँके थे, दीपक ने अन्धकार हटाया, अतः उनका प्रकाशन तो समझ में आता है, किन्तु इसी तरह दीपक तो कभी अन्धकार से आवृत (ढँका) नहीं था, अतः उसका प्रकाशन मानना युक्तिसंगत नहीं है । इसलिए दीपक प्रकाशित नहीं होता । अतः इस दृष्टान्त से आपके साध्य (स्वसंवेदन) की सिद्धि सम्भव नहीं ।

विज्ञानवादी कहते हैं कि हम यह नहीं कहते कि दीपक अपने को अन्धकार से आवृत घट आदि की तरह प्रकाशित करता है, अपितु हम यह कहते हैं कि वह (दीपक) अपने प्रकाश के लिए अन्य हेतु (दूसरे दीपक आदि) की अपेक्षा नहीं करता और यही परनिरपेक्षता हमारा स्वसंवेदन है । तथा हि—

न हि स्फटिकवस्त्रीलं नीलत्वेऽयमपेक्षते ॥ १९ ॥

तथा किञ्चित् परापेक्षमनपेक्षं च दृश्यते ।

नेपा'मल्लि'स्त्रि'स'स्त्रि'त्रि'पा ।

मल्लि'पा'स्त्रि'स'स्त्रि'स'स्त्रि'पा ।

नेपा'मल्लि'स्त्रि'स'स्त्रि'त्रि'पा ।

स्त्रि'स'स्त्रि'स'स्त्रि'स'स्त्रि'पा । १० ।

जैसे श्वेत, पारदर्शक स्फटिक मणि अपने को नीले रंग में प्रदर्शित करने के लिए अपेक्षा करती है कि उसके समीप नील पत्र, नील वस्त्र आदि कोई नील वस्तु स्थित हो, जिससे उसकी परछाई उस पर पड़ सके और वह नीली दिखाई पड़ सके, उसी तरह स्वयं नीली वस्तु अपनी नीलिमा (नीलेपन) के लिए किसी अन्य नील वस्तु की सन्निधि (समीप में रहने) की अपेक्षा नहीं करती । उसी तरह कोई घट

१. विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते ।

इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता ॥

द्र०—तत्त्वसंग्रह, का० १९९९, पृ० ६८२ (बौद्धभारती संस्करण) ।

आदि वस्तु अपने प्रकाशन के लिए दीपक आदि अन्य (पर) की अपेक्षा करती हैं और कुछ दीपक आदि स्वयं प्रकाशात्मक वस्तु अन्य (प्रकाशक) की अपेक्षा नहीं करतीं । हमें मात्र इतना कहना है ।

अनीलत्वे न तन्नीलं नीलहेतुर्यथेक्ष्यते ॥ २० ॥

अनीलत्वे हि को नीलं कुर्यादात्मानमात्मना ।

अनीलत्वे न तन्नीलं कुर्यादात्मानमात्मना' ॥ २१ ॥

स्त्रैर्द्वैतैर्वास्त्रैर्वैतैः ।

सदमा'वीक्ष'सदमा'द्वैत'सुखा'स'मेव । ३० ।

माध्यमिकों का कहना है कि आप (विज्ञानवादियों) का यह स्फटिक-दृष्टान्त भी ठीक नहीं है । क्योंकि जैसे स्फटिक नीलिमा के लिए अन्य-निरपेक्ष नहीं है, अपितु हेतु (नील वस्त्र आदि) की अपेक्षा करता है, वैसे ही नील भी अपनी नीलिमा के लिए अन्य (हेतु)-निरपेक्ष नहीं है, अपितु वह भी सापेक्ष है । अर्थात् नील भी नील के रूप में उत्पन्न होने के लिए अपने उत्पादक हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा करता ही है । हाँ, यदि वह अनील के रूप में ही अपने हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हो और बिना किसी की अपेक्षा के अपने को नील कर ले तो उसे अन्य-निरपेक्ष माना जा सकता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है । फिर यदि वह स्वयं अपने को नीला कर लेगा तो यह भी दोष होगा कि कर्ता स्वयं अपने ऊपर क्रिया करता है, जो कि सम्भव नहीं है । अन्यथा आग भी अपने को जलाने लगेगी ।

दूसरी बात यह भी है कि स्फटिक भी नील पत्र, नील वस्त्र आदि के समीप स्थित रहते हुए नीला नहीं होता, अपितु सफेद स्फटिक निरुद्ध (नष्ट) होता है और अपने उपादान कारणों और नील वस्त्र आदि सहकारी कारणों की अपेक्षा से नया ही नील स्फटिक पैदा होता है । अतः स्फटिक हो या नील हो दोनों ही अपने हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा से उस उस रूप में उत्पन्न होते हैं । निरपेक्ष कोई भी नहीं है । इसलिए स्फटिक का दृष्टान्त भी आपके साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है ।

विज्ञानवादी कहते हैं कि आप (माध्यमिक) ने हेतु-प्रत्ययों से उस उस स्वभाववाली वस्तुओं के उत्पाद की जो बात कही है, उससे हमारा हित हुआ है ।

१०. भोट-पाठ में इनका आंशिक अनुवाद ही उपलब्ध है ।

हमारे मत की पुष्टि हुई है। हम भी कहते हैं कि अपने हेतु-प्रत्ययों से विज्ञान अजड- (चेतन) स्वभाव ही उत्पन्न होता है। जड वस्तुएँ अपने प्रकाशन के लिए अन्य की अपेक्षा करती हैं। विज्ञान जड-स्वभाव नहीं है, अतः वह अपने प्रकाशन के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं करता और यही अन्य निरपेक्षता हमारा 'स्वसंवेदन' है। फिर जब हम विज्ञान द्वारा स्वयं अपने प्रकाशन की बात कहते हैं, तब हम उसमें कर्ता, कर्म, क्रिया का विभाजन नहीं करते। एक (ज्ञान) में ये तीन भेद सम्भव नहीं है, ऐसा हम भी मानते हैं। अतः आपने जो कर्म-कर्तृ-क्रिया-विरोध दिखलाया है, वह हम पर लागू नहीं होता। अर्थात् कर्ता (ज्ञान) का अपने (कर्म) को प्रकाशित करना (क्रिया) अयुक्त है, यह विरोध हमारे मत में नहीं है। फलतः ज्ञान अपने प्रकाशन के लिए अन्य निरपेक्ष स्वभाववाले के रूप में अपने हेतु-प्रत्ययों से ही उत्पन्न होता है^१। अतः हमारा संवेदन सिद्ध है।

इस सारे विवाद के मूल में बात यह निहित है कि गज, अश्व, घट, पट आदि ज्ञेय (ग्राह्य) विषयों का अस्तित्व तो उनको ग्रहण करनेवाले चक्षुर्विज्ञान आदि प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा प्रमाणित (सिद्ध) हो जाता है, किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाण-ज्ञानों का अस्तित्व किससे प्रमाणित होगा ?

इस सम्बन्ध में माध्यमिकों का मत यह है कि विषय से ज्ञान की और ज्ञान से विषय की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद नियम के आधार पर दोनों की सापेक्ष सिद्धि होती है और जिनकी सापेक्ष सिद्धि होती है, वे निःस्वभाव होते हैं।

विज्ञानवादी निःस्वभावता (शून्यता) का अर्थ 'कुछ नहीं या अलीक' समझते हैं, अतः वे इससे सहमत नहीं हैं। दूसरे उनके यहाँ बाह्यार्थ अर्थात् घट, पट आदि विषयों की सत्ता बिलकुल नहीं मानी जाती, अतः उनके यहाँ विषयों से विज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः वे स्वसंवेदन मानते हैं, जिसके द्वारा वे विज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। माध्यमिक स्वसंवेदन नहीं मानते और उनको इसकी आवश्यकता भी नहीं है, किन्तु विज्ञानवादी यदि स्वसंवेदन नहीं मानेंगे तो विज्ञान

१. विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते ।

इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता ॥

क्रियाकारकभेदेन न स्वसंवित्तिरस्य तु ।

एकस्यानंशरूपस्य त्रैरूप्यानुपपत्तिः ॥

द्र०—तत्त्वसंग्रह, शान्तरक्षितकृत और उसकी पंजिका, कमलशीलकृत,

का० १९९९-२००० पृ० ६८२ । (बौद्धभारती-संस्करण १९६८) ।

का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा, जो (विज्ञान) उनके मतानुसार द्रव्यसत् है। विज्ञान की भी सत्ता न मानने पर उनको उच्छेदवाद में पतित होने का भय लगता है और इसीलिए वे माध्यमिकों के ऊपर उच्छेदवादी होने का आरोप भी लगाते हैं।

माध्यमिक स्वसंवेदन की सत्ता मानने के विरोध में आगे युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

दीपः प्रकाशत इति ज्ञात्वा ज्ञानेन कथ्यते ।

बुद्धिः प्रकाशत इति ज्ञात्वेदं केन कथ्यते ॥ २२ ॥

मन्त्रः मन्त्राद्यन्तः सुखं विना ।

येन मन्त्राद्यन्तः सुखं विना ।

ज्ञेयं मन्त्राद्यन्तः सुखं विना ।

मन्त्राद्यन्तः सुखं विना ॥ २३ ॥

थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाए कि दीपक स्वयं अपने-आपको प्रकाशित करता है, किन्तु इस दृष्टान्त से भी बुद्धि अपने-आपको प्रकाशित करती है, यह (स्वसंवेदन) सिद्ध नहीं किया जा सकता।

दीपक तो ज्ञेय है अर्थात् ज्ञान का विषय है, अतः ज्ञान द्वारा जानकर हम कह सकते हैं कि दीपक स्वयं-प्रकाश है अर्थात् अपने-आप को प्रकाशित कर रहा है, किन्तु ज्ञान अपने-आप को प्रकाशित कर रहा है, यह किस ज्ञान से जानकर कहा जा सकता है। यह माध्यमिक पूछ रहा है। क्योंकि ज्ञान को जाननेवाला कोई ज्ञान सिद्ध नहीं है।

अतीत काल के ज्ञान से ऐसा जानना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अतीत-कालिक ज्ञान निरुद्ध (समाप्त) हो चुका है, वह इस समय है ही नहीं, जो जान सके। भविष्य (अनागत) कालिक ज्ञान अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अतः उसका भी अभाव है, अतः वह भी नहीं जान सकता। वर्तमान कालिक दो ज्ञानों में परस्पर ज्ञान-ज्ञेयभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें उपकार्य-उपकारकभाव सम्भव नहीं है। आशय यह है कि जो ज्ञान का विषय होता है, वह ज्ञान का कारण भी होता है और जो कारण होता है, उसे कार्य से पूर्ववर्ती होना चाहिए। अतः समानकालिक दो ज्ञानों में ज्ञान-ज्ञेयभाव सम्भव नहीं है। ज्ञान स्वयं अपने को जान नहीं सकता, क्योंकि इसी (स्वसंवेदन) पर तो विवाद चल रहा है। वह अभी सिद्ध नहीं है।

ऊपर कही गई युक्ति के अनुसार जब ज्ञान का बोध ही नहीं होता, ऐसी स्थिति में स्वसंवेदन मानना सर्वथा अयुक्तिसंगत है। तथा हि —

प्रकाशा वाऽप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केनचित् ।

बन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमानापि सा मुधा ॥ २३ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २३ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २३ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २३ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २३ ॥

वह बुद्धि दीपक के समान चाहे प्रकाशस्वभाव (प्रकाशात्मिका) हो या घट आदि के समान अप्रकाशस्वभाव वाली हो, जब वह किसी ज्ञान के द्वारा आज तक देखी ही नहीं गई तो ऐसी हालत में उसके किसी भी स्वभाव की चर्चा करना ही व्यर्थ है। जैसे बन्ध्या स्त्री की कोई लड़की नहीं होती। अब कोई व्यक्ति यदि उसकी लीला का बखान करे तो वह सब व्यर्थ ही होता है, क्योंकि बन्ध्या की लड़को को किसी ने देखा ही नहीं। इसलिए विज्ञानवादी द्वारा स्वसंवेदन की कितनी ही चर्चा की जाए, सब व्यर्थ है।

विज्ञानवादी स्वसंवेदन को सिद्ध करने के लिए युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

यदि नास्ति स्वसंवित्तिविज्ञानं स्मर्यते कथम् ।

अन्यानुभूते सम्बन्धात् स्मृतिराखुविषं यथा ॥ २४ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २४ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २४ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २४ ॥

मा० ङ० २००० ॥ २४ ॥

स्वसंवेदन विज्ञानवादियों के दर्शन की मूलभित्ति है। उसी के आधार पर सभी पदार्थ विज्ञानमात्र सिद्ध होते हैं। माध्यमिक उसी के अस्तित्व पर प्रहार कर रहे हैं। अतः विज्ञानवादी स्वसंवेदन की सिद्धि के लिए नई युक्ति का प्रयोग करते हैं, यथा —

यदि नास्ति स्वसंवित्तिः—विज्ञानवादियों का कहना है कि अनुभव के बिना स्मरण नहीं हुआ करता। मुझे स्मरण हो रहा है कि मैंने कल घट देखा था। अर्थात् मैं घट-ज्ञानवान् हूँ। अर्थात् कल जो घट-ज्ञान हुआ था, उसका स्मरण हो रहा है। अतः यह मानना पड़ेगा कि कल जब चक्षुर्विज्ञान (प्रत्यक्ष) द्वारा घट देखा जा रहा था, उसी समय उस विज्ञान को जाननेवाला ज्ञान (अनुभव) भी उत्पन्न हुआ था, तभी उस अनुभव द्वारा उत्पन्न स्मृति के द्वारा कल उत्पन्न घट-प्रत्यक्ष (ज्ञान) का स्मरण हो रहा है। घट-ज्ञान का अनुभव करनेवाला प्रत्यक्ष ही हमारा 'स्वसंवेदन' प्रत्यक्ष है। उसे अवश्य मानना पड़ेगा, अन्यथा आज का स्मरण नहीं बन सकेगा। स्मृति कार्य है और स्वसंवेदन कारण। अतः स्मृति नामक कार्यलिङ्ग से स्वसंवेदन (कारण) का सहज अनुमान किया जा सकता है, जैसे धूम (कार्य) से वह्नि (कारण) का अनुमान किया जाता है।

माध्यमिकों का कहना है कि स्वसंवेदन के साथ स्मृति की व्याप्ति नहीं है। अर्थात् स्वसंवेदन और स्मृति में कार्यकारणभाव सम्बन्ध सिद्ध नहीं है। कार्यकारण-भाव सम्बन्ध की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि किसी एक ज्ञान के द्वारा कार्य और कारण दोनों का ग्रहण (बोध) हो और ऐसा कोई ज्ञान सम्भव नहीं है। कार्यकारण-भाव वस्तुतः काल्पनिक है।

विज्ञानवादी कह सकता है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ चक्षुर्विज्ञान आदि ज्ञानों की कारण हैं और इन्द्रिय का ग्रहण किसी ज्ञान द्वारा नहीं होता, फिर भी इन्द्रिय और ज्ञानों में व्याप्ति होती है और ज्ञान (कार्य) को लिङ्ग (हेतु) बनाकर इन्द्रिय का अनुमान किया जाता है और इस तरह इन्द्रिय का अस्तित्व प्रमाणित होता है। इसी तरह स्मृति हेतु से स्वसंवेदन का अनुमान सम्भव है।

माध्यमिक कहते हैं कि दोनों परिस्थितियों में फर्क है। यह देखा जाता है कि इन्द्रिय न होने (अभाव होने) पर ज्ञान (इन्द्रियविज्ञान) भी उत्पन्न नहीं होता। इस तरह इन्द्रिय और ज्ञान में व्यतिरेक व्याप्ति (अभावों को व्याप्ति) सिद्ध होती है। इस प्रकार की व्याप्ति स्वसंवेदन और स्मृति में नहीं है। ऐसा नहीं है कि स्वसंवेदन के अभाव में स्मृति न होती हो। स्वसंवेदन न मानने पर भी स्मृति कैसे होती है, इसका प्रतिपादन हम (माध्यमिक) करने जा रहे हैं—

अन्यानुभूते सम्बन्धात्—'अन्य' का अभिप्राय रूप, शब्द, गन्ध आदि विषय से है। चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान आदि (प्रत्यक्ष) ज्ञानों द्वारा उन विषयों का अनुभव किया जाता है, अतः वे 'अनुभूत' हैं। रूप आदि विषय और चक्षुर्विज्ञान आदि ज्ञानों में परस्पर विषय-विषयिभाव सम्बन्ध है। ऐसा नहीं होता कि चक्षुर्विज्ञान द्वारा

रूप, घट आदि विषयों का अनुभव करते समय उस चक्षुर्विज्ञान का भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव किया जाता हो। चक्षुर्विज्ञान (प्रत्यक्ष) द्वारा घट, पट आदि का अनुभव कर लेने के बाद कालान्तर में उस अनुभव से उत्पन्न स्मृति द्वारा घट, पट आदि विषय का स्मरण होता है। उन घट, पट आदि विषयों से सम्बन्ध होने के कारण चक्षुर्विज्ञान का भी स्मरण हो जाता है। चक्षुर्विज्ञान का स्मरण होने के लिए स्वसंवेदन की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान के स्वसंवेदन के बिना ही विषय के अनुभव से स्मृति होने का माध्यमिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

स्मृतिराखुविषं यथा—कोई व्यक्ति जाड़े की रात्रि में ओढ़ कर सोया हुआ है। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों किसी ने पैर में काट लिया है। पैर झटकार कर करवट बदल कर वह पुनः सो गया। सुबह होने पर वह अपने काम से लग जाता है और बात आई गई हो जाती है। वह सब कुछ भूल जाता है। वस्तुतः उसे चूहे ने काटा था। अब जब वर्षा ऋतु आती है और आकाश में बादल गरजते हैं तो उसके शरीर में चूहे के विष का प्रकोप होने लगता है। चूहे के विष के लक्षण प्रकट होने पर उसे स्मरण होता है कि उस रात्रि में उसे चूहे ने काटा था और उसके शरीर में उसने अपना विष प्रविष्ट कर दिया था। किन्तु काटने के समय उसे इन सब बातों का अनुभव नहीं हुआ था। इस तरह हम देखते हैं कि बिना अनुभव के भी स्मरण सम्भव है।

प्रत्ययान्तरयुक्तस्य दर्शनात् स्वं प्रकाशते ।

सिद्धाञ्जनविधेर्दृष्टो घटो नैवाञ्जनं भवेत् ॥ २५ ॥

गुण'मात्र'रमा'र'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

गुण'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

गुण'म'म'म'म'म'म'म'म' । २५ ।

विज्ञानवादी स्वसंवेदन को सिद्ध करने के लिए अन्य युक्ति का प्रयोग करते हुए माध्यमिकों से कहते हैं कि आपके मतानुसार तो ज्ञान का ज्ञान (स्वसंवेदन) कभी हो ही नहीं सकता। अर्थात् ज्ञान सर्वदा परोक्ष (प्रत्यक्ष का अविषय) ही रहता है। किन्तु ज्ञान में अनन्त शक्ति होती है।

जैसे शमथ (ध्यान) आदि प्रत्ययों (हेतुओं) के कारण दूर देश, दूर काल आदि में स्थित वस्तु के दर्शन का सामर्थ्य (ईक्षणिका आदि विद्या) तथा दूसरे के चित्त को जान लेने का सामर्थ्य (परचित्तज्ञान अभिज्ञा) आदि से युक्त चित्त देखे जाते हैं। अर्थात् योगियों में ऐसे चित्त देखे जाते हैं, जो दूसरों का मन जान लेते हैं, दूर देश और काल में घटित घटना का ज्ञान कर लेते हैं। विज्ञानवादियों का कहना है कि जब ध्यान आदि हेतुओं के कारण योगियों का चित्त दूसरों के चित्त को जान लेता है तो क्या यह सम्भव नहीं है कि विशेष कारणसामग्री की बदौलत चित्त स्वयं अपने को जान ले ? अर्थात् जान ही सकता है। अतः स्वसंवेदन सिद्ध है।

सिद्धाञ्जनविधेर्दृष्टो घटो नैवाञ्जनं भवेत्—माध्यमिक कहते हैं कि यह सही है कि मन्त्र और विशेष द्रव्यों के योग से बनाए गये सिद्ध-अंजन अथवा सिद्ध पुरुष के पास स्थित अंजन से दूर के घट आदि पदार्थ या जमीन में गड़ा हुआ धन देखा जा सकता है, किन्तु घट आदि या गड़ा हुआ धन आदि स्वयं अञ्जन तो नहीं हैं। अर्थात् अञ्जन स्वयं अंजन (अपने) को नहीं देख सकता। इसी तरह परचित्तज्ञान आदि अभिज्ञा के द्वारा परचित्त देखा जा सकता है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान स्वयं अपना (स्व) बोध (संवेदन) करता है। अर्थात् इस युक्ति से भी स्वसंवेदन की सिद्धि सम्भव नहीं।

विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि आपके अनुसार ज्ञान हमेशा अविदित ही रहता है तो विषय (अर्थ) वेदन बोध) भी नहीं हो सकेगा। जब ज्ञान स्वयं अविदित है तो उसके द्वारा ज्ञात विषय की प्रतीति कैसे सम्भव है ? ज्ञान का स्वसंवेदन आप मानते ही नहीं। किसी दूसरे ज्ञान से भी आप ज्ञान की प्रतीति नहीं मानते, क्योंकि वैसी स्थिति में अनवस्था दोष^१ होता है। ऐसी स्थिति में अर्थ (विषय) का अवबोध भी प्रमाणित नहीं हो सकेगा। अर्थात् स्ववेदन नहीं मानने पर परवेदन भी नहीं बन सकेगा। इस तरह दृष्ट (देखा गया), श्रुत (सुना गया) आदि जो व्यवहार होता है, वह आप माध्यमिक के मत में नहीं हो सकेगा।

१. एक ज्ञान का अस्तित्व यदि दूसरे ज्ञान द्वारा प्रमाणित होगा तो उस दूसरे ज्ञान के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए तीसरा ज्ञान अपेक्षित होगा। तीसरे के लिए चौथा और चौथे के लिए पाँचवाँ—इस तरह इस परम्परा का कहीं अन्त (अवस्थान) नहीं होगा। तथा जब अन्तिम प्रमाणित नहीं होगा तो प्रथम भी प्रमाणित नहीं होगा। इस तरह कहीं अवस्थान (अन्त) न होने को 'अनवस्था दोष' कहा जाता है। किसी दर्शन में यदि ऐसी स्थिति आए तो वह दोष मानी जाती है।

माध्यमिक—दृष्ट, श्रुत आदि व्यवहार के न बन सकने का जो दोष आप (विज्ञानवादी) हम पर लगाते हैं तो क्या आप यह कहते हैं कि परमार्थतः नहीं बन सकेगा या आप कहते हैं कि संवृतितः नहीं बन सकेगा ? यदि आप कहें कि परमार्थतः नहीं बन सकेगा तो यह हमें (माध्यमिक को) इष्ट (प्रिय) है। यदि आप कहें कि संवृतितः नहीं बनेगा तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि लोकव्यवहार हमारे मन में निषिद्ध नहीं है, तथा हि—

यथा दृष्टं श्रुतं ज्ञातं नैवेह प्रतिषिध्यते ।

सत्यतः कल्पना त्वत्र दुःखहेतुनिवार्यते ॥ २६ ॥

इति च त्वत्तत्त्वज्ञानेन नैवेह प्रतिषिध्यते ।

अद्वैतं च त्वत्तत्त्वज्ञानेन नैवेह प्रतिषिध्यते ।

अद्वैतं च त्वत्तत्त्वज्ञानेन नैवेह प्रतिषिध्यते ।

अद्वैतं च त्वत्तत्त्वज्ञानेन नैवेह प्रतिषिध्यते ॥ २७ ॥

चक्षुर्विज्ञान आदि प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट, गुरु आदि आप्त पुरुषों से अथवा आगम से श्रुत तथा सम्यग् हेतुओं से उत्पन्न अनुमान द्वारा ज्ञात आदि जो लोकप्रसिद्ध व्यवहार हैं, उनका हम निषेध नहीं करते और न तो उनका निषेध करना युक्त है^१। लोक में बिना सूक्ष्म या युक्तिपूर्वक विचार किये स्थूल रूप में जैसे वस्तु की स्थिति मानी जाती है, उसे व्यवहार में हम भी मान लेते हैं, किन्तु परमार्थतः उनकी वैसी स्थिति हम स्वीकार नहीं करते। इसलिए स्वसंवेदन न मानने पर विज्ञानवादियों ने 'विषय (अर्थ) का बोध न होने' का जो दोष हम पर लगाया है, वह हमारे पक्ष में लागू नहीं होता।

यदि आप (माध्यमिक) लोक में जैसे वस्तु की स्थिति मानी जाती है, वैसा मान ही लेते हैं तो निषेध किसका करते हैं ?—

सत्यतः कल्पना त्वत्र दुःखहेतुनिवार्यते—वस्तु स्थिति का विचार करते समय वस्तु के सत्यतः सत् या परमार्थतः सत् होने का हम प्रतिषेध करते हैं। अर्थात् हम

१. निर्भासिते हि यद् रूपं नैव तत् प्रतिषिध्यते ।

वेद्यमानस्य नो युक्तं कस्यचित् प्रतिषेधनम् ॥ द्र०—'आलोक' नामक अभिसमया-
लंकार टीका, अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ३१४ (दरभंगा-संस्करण १ ६०) ।

कल्पना का निषेध करते हैं, जो परमार्थतः (सत्यतः) सत्ता का आरोप करती है । क्योंकि सत्ता का आरोप दुःख का हेतु है । सत्ता नितान्त काल्पनिक है । सत्ता की अपेक्षा से ही असत्ता का भी आरोपण होता है । वस्तुतः ये दोनों ही मिथ्या हैं^१ और इन्हीं के द्वारा पाँच उपादान-स्कन्धों की प्रवृत्ति होती है, जिसे 'संसार' कहते हैं । संसार दुःख-स्वभाव ही है^२ । इस तरह ये दोनों (अस्तित्व और नास्तित्व) समारोप मिथ्या हैं । अतः हम कल्पना द्वारा आरोपित इन मिथ्या अभिनिवेशों का ही निषेध करते हैं । जो वास्तव में हैं, उनका निषेध नहीं करते । स्वसंवेदन क्योंकि सत्यतः सत्ता का ग्रहण करनेवाली कल्पना को जन्म देता है, जो (सत्यतः कल्पना) दुःख का हेतु है, अतः हम उस (स्वसंवेदन) का खण्डन करते हैं । भगवान् तथागत ने चित्त के ग्राह्य-आकार और ग्राहक-आकार होने का निषेध किया है । अर्थात् न चित्त वस्तुतः किसी अन्य चित्त का ग्राह्य होता है और न कोई अन्य चित्त उसका ग्राहक होता है । दोनों आकार मिथ्या हैं । जहाँ ये होते हैं, वहाँ बोधि नहीं होती, यथा—

न बोध्यबोधकाकारं चित्तं दृष्टं तथागतैः ।

यत्र बोद्धा च बोध्य च तत्र बोधिर्न युज्यते^३ ॥

भगवान् ने सूत्रों में जो चित्तमात्रता की देशना की है, उसका अभिप्राय दूसरा है । यह देशना ऐसे विनेय जनों के लिए है, जो तत्काल सर्वधर्मशून्या देशना के पात्र नहीं हैं और जिनका हित फिलहाल चित्तमात्रता की देशना देने में निहित है । यह (चित्तमात्रता की) देशना नीतार्थ (वास्तविक) नहीं, अपितु नेयार्थ (आभिप्रायिक) है ।

प्रसङ्गवश बीच में जो स्वसंवेदन का विषय आ गया था, उसे समाप्त कर अब जो विषय चल रहा था, उसे आगे बढ़ाते हुए आचार्य कहते हैं—

चित्तादन्या न माया चेन्नाप्यनन्येति कल्प्यते ।

वस्तु चेत् सा कथं नान्याऽनन्या चेन्नास्ति वस्तुतः ॥ २७ ॥

१. अज्ञानात् कल्पितं पूर्वं पश्चात् तत्त्वार्थनिर्णये ।

यदा न लभते भावमेवाभावं तदा कुतः ॥ द्र०—रत्नावली, आचार्य नागार्जुन प्रणीत ।

२. दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते । द्र०—अभिधर्मकोश, १ : ८ ।

३. द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० १९२ (दरभंगा-संस्करण १९६०) ।

सोमस'यस'क्षु'स'म'ल'ल'स'स'ल'ल' । ।

म'ल'ल'स'स'स'य'स'स'स'स'स' । ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ।

म'ल'ल'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ३७ ।

चित्त और माया के सम्बन्ध में चार पक्ष हो सकते हैं—(१) चित्त से माया भिन्न है, (२) चित्त से माया अभिन्न है, (३) चित्त से माया भिन्न और अभिन्न दोनों है (उभय = दोनों स्वभाववाली है) तथा (४) चित्त से माया भिन्न और अभिन्न दोनों स्वभाववाली नहीं है । इनमें से पहला पक्ष विज्ञानवादी के अनुकूल नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् को चित्तमात्र माननेवाले विज्ञानवादी पक्ष में माया चित्त से भिन्न कैसे हो सकती है । यदि माया भिन्न होगी तो उक्त सिद्धान्त से विरोध होगा । दूसरा अभिन्न पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब आप (विज्ञानवादी) मत में माया है ही नहीं, तो वह चित्त से अभिन्न भी कैसे होगी । तृतीय पक्ष तो किसी तरह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न होना और अभिन्न होना—दोनों स्वभाव परस्पर विरुद्ध हैं और दो विरुद्ध स्वभाव किसी एक वस्तु (माया या कोई और) में नहीं हो सकते । चौथी कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि दोनों स्वभाव न होना कैसे समीचीन हो सकता है ? कोई स्वभाव तो अवश्य होना चाहिए ।

चित्त से माया भिन्न नहीं है, जब आप कहते हैं तो उसका अर्थ होता है कि अभिन्न है, किन्तु आप अभिन्न होने का भी निषेध (नाप्यन्या) करते हैं । दोनों विरुद्ध स्वभाव भी एक में नहीं हो सकते । चौथा पक्ष तो बिल्कुल असंगत है ।

यदि माया वस्तु है, तब वह कैसे चित्त से भिन्न न होगी ? अर्थात् अवश्य भिन्न होगी । यदि वह (माया) चित्त से अभिन्न है, अर्थात् चित्त ही माया है, तब वह वस्तुसत् (वास्तविक) नहीं है, क्योंकि वह तो चित्तस्वभाव ही हो गई । इसीलिए पहले कहा भी गया है—

यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते^१ ।

उपसंहार

असत्यपि यथा माया दृश्या द्रष्टृ तथा मनः ।

वस्त्वाश्रयश्चेत् संसारः सोऽन्यथाकाशवद् भवेत् ॥ ३८ ॥

वस्त्वाश्रयेणाभावस्य क्रियावत्त्वं कथं भवेत् ।

असत्सहायमेकं हि चित्तमापद्यते तव ॥ २९ ॥

ऐ'ङ्ग'स्त्रु'म'मदे'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ।

यदि विज्ञानवादी कहे कि जैसे मायाजनित हाथी, घोड़े एवं रूप, घट, पट आदि ग्राह्य वस्तुएँ बाह्यार्थसत् (चित्त से निरपेक्ष होते हुए सत्तावान्) न होते हुए भी देखी जा सकती हैं अर्थात् माया असत् होते हुए भी दृश्य होती है ।

इस कथन पर माध्यमिक कहते हैं कि जैसे आपके अनुसार असत् भी माया दृश्य विषय होती है, ठीक उसी प्रकार हमारे अनुसार असत् चित्त (मन) भी विषय का ग्राहक (द्रष्टा) हो सकता है और तुम्हें भी ऐसा मान लेना चाहिए । इस तरह विज्ञानवादी ने “यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति” (६ : १५) के द्वारा माध्यमिक पर जो दोष दिया था, उसका यहाँ उपसंहार दिखलाया गया है ।

विज्ञानवादी अब फिर विज्ञान को परमार्थसत् सिद्ध करने का प्रयास करते हुए कहते हैं—

वस्त्वाश्रयश्चेत् संसारः—विज्ञानवादी का सोच इस प्रकार है कि संसार यदि कल्पित और मिथ्या है तो उसके आधार को तो कम से कम सत्य होना चाहिए । यदि आधेय (संसार) की तरह आधार (=अधिष्ठान अर्थात् चित्त) भी असत्य होगा तो सबके असत्य (भ्रूत्य) हो जाने पर न संसार की किसी प्रकार की व्यवस्था बन सकेगी और न मोक्ष की ।

राग, द्वेष, मोह आदि मल ‘संक्लेश’ हैं, क्योंकि ये चित्त को मलिन करते हैं ।

चित्त को विशुद्ध करनेवाले बोधिपाक्षिक^१ धर्म (मार्ग) और फल (विशुद्धि, बोधि) 'व्यवदान' कहलाते हैं। इनमें से संक्लेश हेय (त्याज्य) होते हैं और व्यवदान कहलानेवाले धर्म उपादेय (ग्रहण करने योग्य) होते हैं। राग आदि संक्लेश-धर्मों से युक्त चित्त 'संक्लिष्ट' कहलाता है। ये राग आदि मल मिथ्या (असत्) आरोपण (समारोप) के बल से चित्त पर आश्रित होते हुए उत्पन्न होते हैं, अतः आगन्तुक एवं चित्ताश्रित कहे जाते हैं। इन्हीं के वज्रह से कर्म होते हैं और कर्मों के कारण जन्म परम्परारूपी संसार प्रवृत्त होता है। जब चित्त आगन्तुक मलों से रहित हो जाता है तथा ग्राह्य-ग्राहक आदि द्वैतसमारोप और उनको वासना से भी रहित हो जाता है, तो वह (चित्त) परावृत्त होकर अपने सहज प्रभास्वरूप में परिणत हो जाता है, तब वही 'व्यवदान' कहलाता है। इस तरह परमार्थ और वस्तुभूत चित्त के बिना संक्लेश और व्यवदान की व्यवस्था सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि संसार और निर्वाण की सारी व्यवस्था चित्ताश्रित ही है। चित्त ही संक्लिष्ट होता है तो संसार और चित्त ही जब विशुद्ध होता है तो निर्वाणप्राप्त कहलाता है। इसलिए संसार वस्तु-भूत चित्त पर आश्रित है।

सोऽन्यथाकाशवद् भवेत्—यदि संसार वस्तुभूत चित्त पर आश्रित है तो माध्यमिक का कहना है कि वह आकाश के समान अवस्तु हो जाएगा। क्योंकि वस्तु (चित्त) से जो अन्य होगा, वह अवस्तु ही तो होगा। उसे इस प्रकार समझना चाहिए—चित्त पर आश्रित वह संसार वस्तु है कि अवस्तु। यदि वस्तु है तो वह चित्तस्वरूप ही है या चित्त से अन्य (भिन्न)। यदि चित्तस्वरूप ही है तब 'संसार चित्त पर आश्रित है'—यह कहना गलत होगा, क्योंकि वह चित्त-स्वरूप ही है। चित्त क्योंकि स्वभाव से विशुद्ध और प्रभास्वर है, अतः प्रहेय (त्यागने योग्य) नहीं है, इसी तरह (चित्त की तरह) संसार भी अप्रहेय हो जाएगा। इस प्रकार के दोषों को देखकर अब यदि आप (विज्ञानवादी) कहें कि संसार वस्तु है और चित्त से अन्य है तो आपके सिद्धान्त 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् चित्तमात्र है,—इसकी हानि (क्षति) होगी। तब यदि आप कहें कि संसार अवस्तु है तब इसका मतलब हुआ कि संसार शशविषाण (खरगोश के सींग) की तरह कुछ भी नहीं है। वह आकाश की भाँति प्रज्ञातिसत् मात्र (जिसका अस्तित्व केवल कल्पना में ही हो-ऐसा) होगा। फलतः वह किसी भी प्रकार की अर्थक्रिया में भी

१. बोधि प्राप्त कराने वाले ३७ धर्म 'बोधिपाक्षिक' कहलाते हैं, यथा—४ स्मृतिप्रस्थान, ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग और ८ अष्टांगिक मार्ग—इस तरह ये ३७ धर्म बोधि के अनुकूल होने से बोधिपाक्षिक हैं।

समर्थ नहीं होगा, क्योंकि वह आकाश की तरह निःस्वभाव है। और अवस्तु (निःस्वभाव) मानने पर तुम्हारा हमारे माध्यमिक सिद्धान्त में प्रवेश हो जाएगा।

विज्ञानवादी—यद्यपि संसार (पाँच उपादान स्कन्ध) अवस्तु है, फिर भी वह वस्तुभूत चित्त पर आश्रित है, इसलिए उसमें अर्थक्रिया करने की सामर्थ्य है ? इस कथन पर माध्यमिक कहते हैं—

वस्त्वाश्रयेणाभावस्य क्रियावत्त्वं कथं भवेत्—

जिस (संसार) का किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं है, जो नितान्त असत् है, उसका कोई आश्रय भी कैसे हो सकता है ? वन्ध्यापुत्र का कोई आश्रय नहीं होता। आश्रय-आश्रयिभाव वस्तुतः कार्यकारणभाव ही होता है। आश्रय सर्वदा आश्रयी का कारण होता है और आश्रयी कार्य। असत् (अभाव)-स्वरूप संसार कैसे किसी (चित्त आदि) का कार्य होगा ? थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाए कि चित्त अभावभूत संसार का आश्रय है, फिर भी उसमें किसी प्रकार की क्रिया (अर्थक्रिया) कैसे सम्भव है ? अर्थात् वह कथमपि क्रियावान् नहीं हो सकता। यदि वह क्रियावान् है तो उसे अभावरूप नहीं, अपितु भावरूप मानना पड़ेगा, क्योंकि अर्थक्रियाकारी होना 'वस्तु' (भाव) का लक्षण है। अभाव तो किसी भी तरह की अर्थक्रिया से सर्वथा विरहित (शून्य) होता है। इस प्रकार—

असत्सहायमेकं हि चित्तमापद्यते तव—

ऐ विज्ञानवादी, आपके चित्त का अभाव (असत्) ही एक मात्र सहायक रह जाता है। क्योंकि आप चित्त को ही एकमात्र परमार्थसत् (वस्तुसत्) मानते हो। चित्त के अतिरिक्त किसी अन्य की कुछ भी सत्ता नहीं मानते।

विज्ञानवादी—चित्त ही एकमात्र अवशिष्ट रह जाता है—ऐसा जो आपने कहा, उससे हमारा कुछ भी अशिष्ट नहीं होता, क्योंकि ग्राह्य और ग्राहक आकार से रहित, अद्वय चित्त ही हमारे मत में मान्य है। चित्तगत ग्राह्याकार और ग्रहकाकार वस्तुतः अविद्या के कारण भासित होते हैं। और उनका भासित होना ही द्वैताभास है। जब तक अविद्या की वासना भी अवशिष्ट रहती है, तब तक द्वैताभास (या संसार = प्रपञ्च) प्रवृत्त होता रहता है। अतः एकमात्र चित्त का अवशिष्ट रहना हमारे मत के प्रतिकूल नहीं है।

ग्राह्यमुक्तं यदा चित्तं तदा सर्वे तथागताः ।

एवं च को गुणो लब्धश्चित्तमात्रेऽपि कल्पिते ॥ ३० ॥

मद'के'सोमस'वि'मदुद'सु'म' ।

दे'के'सोमस'उद'दे'मवि'म'म'म' ।

दे'म'वि'म'म'सोमस'उद'म' ।

मद'म'स'म'म'वि'म'उद'म'म' ३० ।

माध्यमिक — पहली बात तो यह है कि एकमात्र चित्त का अस्तित्व आपके मतानुसार बन नहीं सकता. क्योंकि आप राग, द्वेष आदि क्लेशों को प्रहेय (त्यागने योग्य या नाश करने योग्य) मानते हैं। जो सर्वथा असत् (अभावरूप) होता है, वह न त्यागने योग्य होता है और न प्रहाण करने योग्य ही होता है। वस्तु ही त्याज्य या प्रहेय होती है, अवस्तु नहीं। जब क्लेश वस्तु सिद्ध हो गए तो चित्त ही एकमात्र वस्तु है—ऐसा कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

दूसरी बात यह है कि ग्राह्य-ग्राहक, अभिधान-अभिधेय आदि समस्त द्वैत प्रपंचरूपी संसार से रहित एकमात्र चित्त ही जब वस्तु है और जब वह चित्त ही सभी प्राणियों में विद्यमान है तो ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि सभी संसारी जीव तथागत भगवान् बुद्ध ही हैं, क्योंकि चित्त की वही अवस्था 'बुद्ध' कहलाती है। ऐसी स्थिति में आपके अनुसार पृथग्जन कोई रहेगा ही नहीं। साथ ही यह दोष भी होगा कि इस अवस्था की प्राप्ति के लिए जो मार्ग की भावना की जाती है, उसका कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। अर्थात् मार्गभावना व्यर्थ (निष्प्रयोजन) होगी। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक आकार से रहित होने पर भी भाव (अस्तित्व) का अभिनिवेश (अस्तित्व का आग्रह) पूर्ववत् अवशिष्ट ही रहता है, अतः सर्वथा क्लेशों का प्रहाण नहीं हुआ। फलतः मार्गभावना आवश्यक है।

एवं च को गुणो लब्धश्चित्तमात्रेऽपि कल्पिते—माध्यमिक कहते हैं कि आप (विज्ञानवादियों) के द्वारा विज्ञप्तिमात्रता या चित्तमात्रता की कल्पना करने पर भी तथा द्वयवर्जित अद्वय चित्ततत्त्व का परिज्ञान हो जाने पर भी जब राग आदि क्लेशों का उत्थान सम्भव ही रह जाता है तो उक्त सिद्धान्त मानने से आपको क्या उपलब्धि हुई? अर्थात् कुछ लाभ नहीं हुआ।

मायोपमत्वेऽपि ज्ञाते कथं क्लेशो निवर्तते ।

यदा मायास्त्रियां रागस्तत्कर्तुरपि जायते ॥ ३१ ॥

सुखं भवति सुखं भवति ।

सुखं भवति सुखं भवति ।

सुखं भवति सुखं भवति ।

सुखं भवति सुखं भवति । ३१ ।

विज्ञानवादी—जो दोष (क्लेशों का प्रहाण न हो सकना) आपने हम पर लगाया है, वह निःस्वभाववादी आप (माध्यमिक) पर भी लागू होता है। अर्थात् आप बताइए कि सम्पूर्ण जगत् को आपके अनुसार मायोपम जान लेने पर भी क्लेशों की निवृत्ति कैसे होगी, जब कि मायास्त्री का निर्माण करने (बनाने)-वाले मायाकार में भी उस मायामय स्त्री के प्रति राग (आसक्ति) उत्पन्न होते देखा जाता है। उस स्त्री की मायामयता (मायामय होना) को कम से कम मायाकार तो सबसे अधिक जानता है। जब उसमें भी उस स्त्री के प्रति राग (क्लेश) उत्पन्न हो जाता है तो सभी धर्मों को मायामय जान लेने पर भी क्लेशों की निवृत्ति कहाँ हुई? अतः जो दोष आपने हम पर लगाया है, वह आप पर भी लागू होता है।

अप्रहीणा हि तत्कर्तुर्ज्ञेयसंक्लेशवासना ।

तद्दृष्टिकाले तस्यातो दुर्बला शून्यवासना ॥ ३२ ॥

सुखं भवति सुखं भवति ।

सुखं भवति सुखं भवति ।

सुखं भवति सुखं भवति ।

सुखं भवति सुखं भवति । ३३ ।

माध्यमिक—यह दूषण हम पर लागू नहीं होता, क्योंकि—

उस माया-स्त्री के निर्माता की 'वस्तुसत्ता की वासना' का अभी समूल प्रहाण (नाश) नहीं हुआ है।

सारी वस्तुएँ अर्थात् सारे अदार्थ निःस्वभाव (शून्य) हैं, क्योंकि कोई भी अपने हेतु-प्रत्ययों से निरपेक्ष होकर विद्यमान नहीं हैं। अर्थात् उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वस्तु का यह स्वतन्त्रतया या निरपेक्षतया अस्तित्व न होना ही, उसकी शून्यता है। यही वस्तु की वास्तविक स्थिति है, किन्तु व्यक्ति अज्ञानवश वस्तु पर

सत्ता का आरोप कर लेता है। उसके अस्तित्व (सत्ता) को स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष मान लेता है। यही सत्ता-समारोप 'ज्ञेयावरण' है। यह वस्तु की वास्तविक स्थिति (निःस्वभावता = शून्यता) पर परदा डाल देता है। फलतः राग-आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। अनादि काल से चली आ रही जन्मपरम्परा में व्यक्ति ने उस सत्ता-समारोप का ही अभ्यास किया है, अतः उसकी चित्तसन्तति इस गलत (मिथ्या) समारोप से वासित हो गई है। इसीलिए इस प्रकार का अभ्यास (संस्कार) यहाँ 'ज्ञेयसंकलेशवासना' कहा गया है। इस वस्तु सत्ता की वासना का प्रहाण करने के लिए दीर्घकाल तक शून्यता की निरन्तर भावना करनी होती है। शून्यताभावना के द्वारा जब तक वस्तुसत्ता की वासना का सर्वथा प्रहाण नहीं कर लिया जाता, तब तक (अर्थात् यदि उसका लेश भी विद्यमान रह जाता है तो) किसी वस्तु को 'माया के समान' जान लेने पर भी उस सत्तावासना के कारण उस वस्तु के प्रति आसक्ति (राग) उत्पन्न हो सकती है या राग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अर्थात् सम्भावना का नाश नहीं होता।

निःस्वभावता (शून्यता) की निरन्तर भावना से जब चित्तसन्तति पूर्णतया वासित हो जाती है, तभी यह स्थिति आती है कि वस्तु की स्वाभाविक सत्ता की वासना का प्रहाण हो और फलतः तभी वस्तु के प्रति आसक्ति का अभाव होता है, इससे पूर्व नहीं।

मायाकार यद्यपि अपने द्वारा निर्मित स्त्री को वास्तविक स्त्री से शून्य (रहित) समझता है, फिर भी उसमें सभी धर्मों की शून्यता की भावना परिपक्व नहीं हुई है और इसीलिए क्योंकि उसकी सत्ता-वासना का सर्वथा प्रहाण नहीं हुआ है, फलतः उसमें मायिक स्त्री को देखते समय उसके प्रति भी राग या आसक्ति उत्पन्न हो जाती है।

सभी धर्मों की असत्यता का ज्ञान परिपक्व न होने से उस मायिक स्त्री की असत्यता का ज्ञान भी परिपक्व नहीं होता। उस मायिक स्त्री के वास्तविक स्त्री से शून्य होने का अर्थ सभी धर्मों का शून्य होना नहीं है। अतः उस मायाकार की शून्यता-भावना क्योंकि प्रबल नहीं है, अतः वह (निर्बल शून्यता-भावना) माया-स्त्री के प्रति होनेवाली उसकी सत्यधारणा को कम नहीं कर पाती।

प्रश्न है कि सभी धर्मों की शून्यता का ज्ञान कैसे किया जाए ?

यह सुविदित है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व (भाव) अपने बल पर (स्वतः) नहीं है। सभी वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए अन्य हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा

करती हैं। यदि उनका स्वतः (अपने बल पर) अस्तित्व (भाव) होता अर्थात् स्वभावतः अस्तित्व होता तो वे अन्य की अपेक्षा नहीं करतीं। अतः सिद्ध होता है कि वस्तु की निरपेक्ष सत्ता (स्वभावतः सत्ता) नहीं है, अपितु उनका सापेक्ष अस्तित्व है। वस्तु का हेतु-प्रत्यय के अधीन उत्पाद होना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है, यही सापेक्ष उत्पाद है और वस्तु की परतन्त्रता (हेतु-प्रत्ययाधीनता) है। इसी से यह निष्कर्ष प्रतिफलित होता है कि वस्तु का उत्पाद स्वतः स्वभावतः या निरपेक्ष नहीं है और यही उसकी निःस्वभावता या शून्यता है^१।

वस्तुसत्ता की वासना (भाववासना) का निराकरण कैसे सम्भव है ?

शून्यतावासनाधानाद्धीयते

भाववासना ।

किञ्चिन्नास्तौति चाभ्यासात् सापि पश्चात् प्रहीयते ॥ ३३ ॥

शून्यं हेतु-प्रत्यय-कृत-मोक्ष-सत्ता-वै । ।

निरपेक्ष-सत्ता-वै-प्रतीत्य-समुत्पाद-वै । ।

उ-प-स-म-उ-स-मोक्ष-सत्ता-वै । ।

न-प-स-म-उ-स-मोक्ष-सत्ता-वै । ३३ ।

सर्वधर्मनिःस्वभावता की भावना जब अभ्यास द्वारा दृढ़ हो जाती है तो उसके बल से भाववासना का निवारण हो जाता है, क्योंकि निःस्वभावता (शून्यता) की भावना वस्तुसत्ता की वासना के सर्वथा विपरीत होती है, जैसे आग की समीपता ठंडक के विपरीत होती है। क्योंकि शून्यता वस्तु की निजी स्थिति है, अतः यह यथार्थ है, जब कि भावाभिनिवेश आगन्तुक, अलीक एवं कल्पनाजनित है। अतः वास्तविकता का बोध जब दृढ़ होता है, तो काल्पनिकता स्वयं विशीर्ण होने लगती है।

भाव के प्रति अभिनिवेश हो, चाहे शून्यता के प्रति अभिनिवेश हो, अभिनिवेश तो सभी कल्पना-स्वभाव होते हैं। फलतः शून्यता के अभिनिवेश से भी कल्पना से

१. भगवान् ने भी कहा है—

यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो न तस्य उत्पादो स्वभावतोऽस्ति ।

यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः ॥

ब्र०—अनवतसहृदापमंक्रमणसूत्र (प्रसन्नपदा में उद्धृत) पृ० १०५ ।

छुटकारा सम्भव नहीं है। जब तक कल्पना है, तब तक संसार से मुक्ति सम्भव नहीं। फलतः शून्यता-भावना से क्या लाभ ?

किञ्चिनास्तीति चाभ्यासात्०—शून्यता कोई वस्तु (भाव) नहीं है, अपितु सभी भावदृष्टियों का, सभी सत्तादृष्टियों का निषेध (शून्यता) है। उस निषेध का भी किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं है। यदि वस्तुसत्ता के अभिनिवेश (आग्रह) का निषेध कर शून्यता के प्रति अभिनिवेश रह जाता है तो अभिनिवेश तो रह ही गया। फलतः बात वहीं की वहीं रह गई। इससे कोई लाभ नहीं। तब वस्तुसत्ता के अभिनिवेश ने ही क्या बिगाड़ा था जो उसका निषेध किया गया था। इसीलिए आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जिनकी शून्यता के प्रति अस्तित्व की दृष्टि है, ऐसे लोगों का कल्याण किसी भी तरह सम्पादित नहीं किया जा सकता। अतः शून्यता का अर्थ है कि न तो किसी वस्तु की सत्ता है और न शून्यता की ही सत्ता है। अतः प्रारम्भ में शून्यता की भावना द्वारा पहले भावसत्ता की वासना का प्रहाण किया जाता है और पीछे शून्यतावासना का भी निवारण किया जाता है। शून्यतावासना उपाय है। उसके द्वारा भाववासना का प्रहाण कर देने पर उसकी भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसे नदी पार कर लेने पर बजड़े (नाव) की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रसंग में शून्यता-शून्यता या परमार्थशून्यता को ध्यान में रखना चाहिए।

मान भी लिया जाए कि 'कुछ नहीं है'—इसके अभ्यास से शून्यतावासना का भी प्रहाण कर दिया जाता है, फिर भी इससे अभावकल्पना का निवारण तो नहीं होता। कल्पना चाहे भावकल्पना हो चाहे अभावकल्पना कल्पना तो है ही और जब तक कल्पना है, तब तक संसार है, मुक्ति नहीं है। अतः दोष तो वहीं का वहीं रह गया ?

१ (क) शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।

येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥

द्र०—मूलमाध्यमिककारिका, १३ : ८, पृ० १०८ (दरभंगा-संस्करण) ।

(ख) सर्वसंकल्पहानाय शून्यतामृतदेशना ।

यस्य तस्यामपि ग्राहृस्वयासाववसादितः ॥

द्र०—लोकातीतस्तवः, का० २३ ।

इस प्रश्न के समाधान के लिए आचार्य कहते हैं—

यदा न लभ्यते भावो यो नास्तीति प्रकल्प्यते ।

तदा निराश्रयोऽभावः कथं तिष्ठेन्मतेः पुरः ॥ ३४ ॥

मा० क० मा० वि० म० ५० ५० ५० ।

म० मा० सु० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ।

५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ।

५० ५० ५० ५० ५० ५० ५० ३८ ।

विचार करने पर अभाव-कल्पना भी नहीं ठहरती । जिसके अभाव की कल्पना की जाती है, वह भाव (वस्तु) ही जब निःस्वभाव होने से प्राप्त नहीं है, तब आश्रय के नहीं उपलब्ध होने से निराश्रय अभाव भी कैसे स्थित रह सकता है । अर्थात् अभाव का सम्बन्ध तो 'भाव' से है, जब उस सम्बन्धी का अस्तित्व नहीं है तो निरालम्ब अभाव, बुद्धि (विचार) के आगे (सामने) कैसे स्थित रह सकता है । भावनिःस्वभावता की भावना के बल से अभावकल्पना भी निवृत्त हो जाती है ।

भावाभिनिवेश (वस्तुसत्ता के ग्रहण) के प्रहाण के लिए सर्वधर्मशून्यता की भावना की जाती है । उस सर्वधर्मशून्यता का भी किंचित् अस्तित्व नहीं होने से उसकी भावना के संस्कार भी पीछे निवृत्त हो जाते हैं । इसीलिए प्रज्ञापारमिता सूत्रों में सभी कल्पनाओं के जालों की निवृत्ति के लिए अध्यात्मशून्यता आदि १८ प्रकार की शून्यताओं का भगवान् ने उपदेश किया है । शून्यता वास्तव में वस्तु (भाव) से अतिरिक्त नहीं है । वह तो वस्तु की यथार्थ स्थिति है, वस्तु का स्वभाव है या वस्तु का धर्म है । यदि वस्तु से अतिरिक्त शून्यता हो, तब तो धर्म (वस्तु) शून्य न हो सकेंगे । इसलिए धर्म ही शून्य हैं । अर्थात् धर्म ही शून्य है और शून्यता ही धर्म है । दोनों अभिन्न हैं, अव्यतिरिक्त हैं । जैसे कि कहा गया है—

पुनरपरं सुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः प्रज्ञापारमितायां चरन् सर्वाकारज्ञता-
प्रतिसंयुक्तैर्मनसिकारैरेवं प्रत्यवेक्षते—न रूपशून्यतया रूपं शून्यम्, रूपमेव शून्यम्,
शून्यतैव रूपम् । न वेदनाशून्यतया वेदना शून्या, वेदनैव शून्या, शून्यतैव वेदना । न
संज्ञाशून्यतया संज्ञा शून्या, संज्ञैव शून्या, शून्यतैव संज्ञा । न संस्कारशून्यतया संस्काराः
शून्याः, संस्काराः एव शून्याः, शून्यतैव संस्काराः । न विज्ञानशून्यतया विज्ञानं शून्यम्,
विज्ञानमेव शून्यम्, शून्यतैव विज्ञानम् ॥

निष्कर्ष यह है कि शून्यता धर्मों से अतिरिक्त नहीं है^१। इसलिए शून्यता के प्रति भी अभिनिवेश (अस्तित्व का ग्रहण) नहीं करना चाहिए।

शून्यता के बोध से समस्त भाव, अभाव विकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। फलतः समस्त क्लेशावरण, ज्ञेयावरण आदि की निवृत्ति हो जाने से मुक्ति का लाभ होता है। अब इसे दिखाया जा रहा है—

यदा न भावो नाभावो सतेः सन्तिष्ठते पुरः ।

तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ ३५ ॥

माद'के'द'स'द'द'स'मे'द'मा ।

स'म'म'द'द'म'म'म'म'म' ।

द'के'द'स'म'म'म'मे'द'मा ।

द'म'म'म'मे'द'म'म'द'म' । ३५ ।

जब बुद्धि के समक्ष परमार्थसत्, सत्स्वभाव या सत्तावान् कोई भाव नहीं रह जाता और इसीलिए जब कोई अभाव भी नहीं रह जाता तो भाव-अभाव या सद्-असद् किसी के भी नहीं रहने से बुद्धि की गति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। क्योंकि भाव, अभाव या सत्, असत् के अलावा कोई तीसरी गति नहीं है, फलतः बुद्धि निराश्रय (निरालम्ब) होकर स्वयं शान्त हो जाती है, जैसे—इंधन (लकड़ी आदि) के अवशिष्ट नहीं रहने पर अग्नि अपने-आप शान्त हो (बुझ) जाती है।

बुद्धावस्था में जब सभी कल्पनाएँ, सभी अभिलाषाएँ शान्त हो जाती हैं तो भगवान् बुद्ध परार्थ कृत्य कैसे सम्पन्न कर सकते हैं ?

चिन्तामणिः कल्पतरुयथेच्छापरिपूरणः ।

विनेयप्रणिधानाभ्यां जिनबिम्बं तथेक्ष्यते ॥ ३६ ॥

म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म' । ३६ ।

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता ।

भावः स्वतन्त्रो नास्तीति सिंहनादस्तवातुलः ॥ द्र०—लोकातीतस्त्वः, का० २२ ।

जैसे चिन्तामणि नामक रत्न और कल्पवृक्ष में कोई विकल्प नहीं होता और बिना ही संकल्प-विकल्प के वे मनुष्यों के मनोरथों को पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध का काय भी है। वह भी बिना विकल्प के (क्योंकि उन्होंने सारे विकल्पों अर्थात् कल्पनाओं का प्रहाण कर दिया है) लोकहित और लोकसुख का अनवरत सम्पादन करते हैं ।

विनेयप्रणिधानाभ्यां— वे दो कारणों से परोपकार कृत्य सम्पन्न करते हैं—एक विनेय के वश से और दूसरे प्रणिधान के वश से । जो भगवान् के विनेय (बुद्ध की शिक्षा पर चलने वाले) हैं और जिन्होंने तदनुसार कुशल कर्मों का सम्पादन किया है तथा वे कर्म परिपुष्ट होकर फल देने के लिए उन्मुख हो गये हैं, ऐसे विनेय जनों के वश से परहित कृत्य करते हैं । अर्थात् भगवान् बुद्ध कर्णावश सद्धर्म का उपदेश देकर, लोगों को विनेय बनाकर उनके वश से परोपकार करते हैं । दूसरे उन्होंने बोधिसत्त्व अवस्था में ऐसा प्रणिधान (संकल्प या प्रतिज्ञा) किया था कि 'मैं बुद्ध होकर प्राणि-मात्र के अशेष दुःखों का आत्यन्तिक प्रहाण करूँगा और इस (बुद्धत्व प्राप्ति) के लिए उन्होंने तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हुए दुष्कर चर्याओं का अनुष्ठान किया था, महान् पुण्यसम्भार का अर्जन किया था, उस पुण्यसंचय के वश से बिना ही संकल्प-विकल्प के विनेय जनों के हित-सुख का सम्पादन होता है । जैसे तथागतगुह्यसूत्र में कहा भी गया है कि भगवान् क्योंकि नित्य समाहित रहते हैं, अतः उन्होंने जिस रात्रि को बोधि प्राप्त की थी और जिस रात्रि में उन्होंने परि-निर्वाण प्राप्त किया, इस बीच उन्होंने एक भी अक्षर नहीं कहा, फिर भी जिनका उनके उपदेश से कल्याण सधने वाला था, ऐसे विनेय जन तथागत के मुख से या उनके ऊर्णाकोश से ध्वनि निकलते हुए सुनते थे ।

१. (क) यस्यां रात्रौ तथागतोऽभिसंबुद्धो यस्यां च परिनिवृत्तः, अत्रान्तरे तथागतेन एकमप्यक्षरं नोदाहृतम् । तत् कस्य हेतोः ? नित्यं समाहितो भगवान् । ये च अक्षरस्वरस्तवैनेयाः सत्त्वाः, ते तथागतमुखादूर्णाकोशादुष्णीपाद् ध्वनिं निश्चरन्तं शृण्वन्तीत्यादि ।

द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० १९९ (उद्धृत) ।

(ख) तस्मिन् ध्यानसमापन्ने चिन्तारत्नवदास्थिते ।

निश्चरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥

ताभिर्जिज्ञासितानर्थान् सर्वान् जानन्ति मानवाः ।

हितानि च यथाभव्यं क्षिप्रमासादयन्ति ते ॥

द्र०—तत्त्वसंग्रह, ३२४०-४१ का०, पृ० १०१९ (बौद्धभारती-संस्करण) ।

बोधिचर्या—बोधि अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जिस चर्या या आचरण का अनुष्ठान किया है, वह आचरण 'बोधिचर्या' कहलाती है।

जिनस्तम्भ—'जिन' का अर्थ होता है विजयी अर्थात् जिसने विजय प्राप्त की है। भगवान् ने चार प्रकार के 'मारों' पर विजय प्राप्त की है। स्कन्धमार (पाँच उपादान स्कन्ध), मृत्युमार, क्लेशमार (राग, द्वेष आदि) तथा देवपुत्रमार—ये ही चार 'मार' हैं। इनमें देवपुत्र मार करीब-करीब हिन्दू पुराणों में उल्लिखित कामदेव के सदृश है। मार सम्भवतः बुराइयों का प्रतीक है। अनेक कल्प पर्यन्त दुष्कर बोधिचर्या के अनुष्ठान से बत्तीस महापुरुष लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से विराजित (सुशोभित) बुद्ध काय सिद्ध होता है। बुद्धत्व की अवस्था में किसी भी प्रकार का विकल्प या कल्पना नहीं रहती, क्योंकि उन्होंने (बुद्ध ने) समस्त क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का सर्वथा प्रहाण कर दिया है, फिर भी बुद्ध कायों (शरीरों) द्वारा अनाभोग (संकल्प-विकल्प रहित) परार्थ चर्या सम्पन्न होती रहती है। जैसे सूर्य के उदित होने पर अन्धकार नष्ट होता है, प्रकाश फैलता है, फूल खिल जाते हैं और सभी प्राणी अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं, किन्तु सूर्य यह सोचते हुए उदित नहीं होता कि चलूँ मैं प्रकाश कर दूँ, दिन कर दूँ और प्राणियों को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त कर दूँ। उसके ऐसा नहीं सोचने पर भी उसकी उपस्थिति मात्र से उपर्युक्त सारी क्रियाएँ सम्पन्न होने लगती हैं। इसे ही अनाभोग चर्या कहते हैं। ठीक इसी प्रकार बुद्ध काय (स्तम्भ) से भी निरन्तर अनाभोग परहित चर्याएँ सम्पन्न होती रहती हैं।

बोधिसत्त्वेऽपि निर्वृते—बोधि ही 'बुद्धत्व' है। यह एक विशिष्ट ज्ञान है, जो न एक है, न अनेक; न उत्पन्न है, न निरुद्ध; जो न शाश्वत है और न उच्छिन्न; जो समस्त प्रपञ्चों से रहित अद्वय है तथा आकाश के समान सीमारहित है। यही भगवान् का 'ज्ञानधर्मकाय' है। इस काय की जो एक-अनेक स्वभाव से रहितता है तथा इसका जो अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वतता, प्रपञ्चरहितता एवं आकाशसमता स्वभाव है, वही 'स्वभावधर्मकाय' है। यह परमार्थसत्य है। इन दोनों कायों को 'धर्मकाय' भी कहते हैं। इसे ही सांवृतिक व्यवहार में प्रज्ञापारमिता, शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि शब्दों द्वारा भी संकेतित किया जाता है, जैसे वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता में कहा गया है—

धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः ।

धर्मता चाप्यविज्ञेया न सा शक्या विजानितुम् ॥

उक्त प्रकार की बोधि को प्राप्त करना जिस व्यक्ति का अभिप्राय (उद्देश्य) होता है, उसे 'बोधिसत्त्व' कहते हैं। ऐसे बोधिसत्त्व के निवृत्त हो जाने पर भी अर्थात् परम शान्ति को प्राप्त हो जाने पर भी उसके द्वारा परार्थ कृत्य सम्पन्न होता रहता है, यद्यपि उसमें किसी प्रकार का विकल्प अवशिष्ट नहीं रहता।

ऊपर बोधिसत्त्व के निवृत्त हो जाने या परम शान्ति को प्राप्त हो जाने की जो चर्चा की गई है, उसका तात्पर्य अप्रतिष्ठित निर्वाण प्राप्त करने से है। यह महायान का एक विशिष्ट प्रकार का लक्ष्य है। हीनयानी साधकों का लक्ष्य निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त करना है, इस अवस्था में साधक व्यक्ति की चित्त और रूप अर्थात् जड़ और चेतन दोनों प्रकार की सन्तति (धारा) का सर्वथा विलोप हो जाता है। जब कि अप्रतिष्ठित निर्वाण की अवस्था में समस्त क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का समूल प्रहाण हो जाने से सांसारिक मलों से दूषित (मलिन) होने का खतरा सर्वथा और सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है, फिर भी निर्मल पञ्च स्कन्ध सन्तति विद्यमान रहती है, उसका लोप नहीं होता, जैसे कि निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में होता है। इस निर्मल पञ्चस्कन्धसन्तति का विद्यमान रहना ही 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' कहलाता है, जिसे प्राप्त करना महायान का लक्ष्य है। इसी के द्वारा परार्थकृत्य सम्पन्न होते रहते हैं। इसके स्वरूप का वर्णन अभिसमयालङ्कार में स्पष्टतापूर्वक किया गया है। यह साधनावस्था निवृत्त हो जाने पर फलावस्था की प्राप्ति है। यद्यपि इस अवस्था में समस्त विकल्पों का नाश हो चुका रहता है, फिर भी उसके द्वारा परहित कृत्य सम्पन्न होते हैं।

प्रश्न है कि यदि भगवान् के समस्त विकल्पों के आलम्बन उपशान्त हो गए हैं और उनके चित्त-चैतसिकों का व्यापार (क्रिया) भी शान्त हो गया है तो ऐसी स्थिति में तथागत की पूजा का जो बड़ा फल कहा गया है, यह कैसे युक्तियुक्त होगा? क्योंकि वे पूजा का फल देने के व्यापार से विरत हो गए हैं। इस बात को आगे कहा जा रहा है—

१. प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे रतिः ।

अनुपायेन दूरत्वम् उपायेनाविदूरता ॥

अपि च,

नापरे न परे तीरे नान्तराले तयोः स्थिता ।

अध्वनां समताज्ञानात् प्रज्ञापारमिता मता ॥

द्र०—स्फुटार्था, अभिसमयालङ्कार-वृत्ति,

पृ० ७ एवं ३७ (तिब्बती संस्थान, सारनाथ-प्रकाशन) ।

उस (प्रतिगृहीता) के न होने पर पुण्य न होता हो । आप ऐसा कोई कारण नहीं बता सकते । जब मैत्री, करुणा, मुदिता आदि ब्रह्मविहारों का अभ्यास (भावना) किया जाता है तो वहाँ प्राणियों पर साक्षात् अनुग्रह नहीं होने पर भी चित्त से भावना करने मात्र से पुण्य हो जाता है । यदि ऐसा न माना जाएगा तो ब्रह्मविहारों की भावना से कोई पुण्य ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ प्राणी मैत्री आदि से साक्षात् सम्बद्ध नहीं होते । इसलिए पुण्य हमेशा अपने चित्त से ही सम्बद्ध होता है । फलतः भगवान् के परिनिर्वाण प्राप्त कर लेने पर भी भक्तिपूर्वक किए गए उनके सत्कार से स्वचित्तजनित (त्यागान्वय) पुण्य अवश्य होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है ।

अपि च,

आगमाच्च फलं तत्र संवृत्या तत्त्वतोऽपि वा ।

सत्यबुद्धे कृता पूजा सफलेति कथं यथा ॥ ४० ॥

गुणैर्विषयैर्वैरेऽपि न पुण्यम् ।

सुखं दुःखं चैव न पुण्यं तद्विषयैः ।

न चैव न पुण्यं तद्विषयैः न पुण्यम् ।

इति श्रुत्वा भगवन्पुनः पुनः पुनः ॥ ८० ॥

अन्य युक्तियों को छोड़ दिया जाए तो स्वयं आगमों (बुद्धवचनों) से ही यह जाना जा सकता है कि भगवान् बुद्ध चाहे महापरिनिर्वाण को प्राप्त हों, चाहे अभी जीवित हों, उनके प्रति की गई पूजा का समान ही फल होता है । इतना फर्क जरूर है कि किसी (माध्यमिक) के मत में वह फल सांवृतिक होगा और अन्य (माध्यमिक से भिन्न बौद्धों के) मत में वह पारमार्थिक होगा । चाहे पुण्य सांवृतिक हो, चाहे पारमार्थिक पुण्य होने में किसी मत में कोई विवाद नहीं है ।

पुष्पकटुधारणी में कहा गया है कि तथागत चाहे जीवित हों, चाहे परिनिर्वाण उनकी पूजा निश्चित रूप से निर्वाणप्राप्ति में सहायक होती है । जो सम्यक् संबुद्ध को देखकर प्रसन्न होता है, उनका सम्मान करता है, पूजा करता है, उन्हें चीवर, पिण्डपात (भोजन), आसन आदि सुख के साधनों द्वारा सत्कृत करता है, परिनिर्वाणप्राप्त तथागत की सरसों बराबर की शरीर धातु की पूजा करता है । इन सब पूजाओं का समान ही फल होता है । इन पूजाओं में फर्क नहीं करना चाहिए ।

फिर दूसरे स्थान पर उसी में कहा गया है कि कोई तथागत की सैकड़ों वर्ष पूजा करे और कोई तथागत के चैत्य पर एक फूल चढ़ा दे, एक अंजलि जल अर्पित कर दे या दीप दान कर दे या एक बार प्रसन्न मन से “नमस्तस्मै बुद्धाय भगवते” कह दे तो सैकड़ों, सहस्रों कल्प तक वह दुर्गति को प्राप्त नहीं होगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए^१।

यही बात दिव्यावदान में भी कही गई है, जैसे—

तिष्ठन्तं पूजयेद् यस्तु यश्चापि परिनिर्वृतम् ।

समचित्तप्रसादेन नास्ति पुण्यविशेषता^२ ॥

इन बातों को अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि परमार्थसत् सत्य बुद्ध भगवान् की पूजा से अवश्य फल मिलता है, इस बात को मानने के लिए भी आपके पास आगम के अतिरिक्त क्या प्रमाण है। जब आगम ही प्रमाण है तो उससे दोनों अवस्थाओं की पूजा से समान फल ही मानना चाहिए।

सर्वधर्मशून्यता की भावना से सभी आवरणों का प्रहाण होता है और बुद्धत्व

१. (क) ये केचित् सिंहविक्रीडित, तथागतस्य पूजां करिष्यन्ति तिष्ठतो वा परिनिर्वृतस्य वा, सर्वे ते त्रियानादेकतरेण यानेन परिनिर्वास्यन्ति, यश्च खलु “सम्यक्संबुद्धं दृष्ट्वा चित्तं प्रसादयेत्, प्रसन्नचित्तं चीवरपिण्डपातं” भैषज्यपरिष्कारैः “उपतिष्ठेत् । यश्च परिनिर्वृतस्य सर्पपलमात्रघातौ शरीरपूजां कुर्यात्, समो विपाकः प्रतिकाक्षितव्यः । तथा पूजायै नास्ति विशेषो नानाकरणं च ।

(ख) यश्च खलु सिंहविक्रीडित, तथागतं वर्षशतं वा वर्षसहस्रं वा सर्वसुखोपधानेनोपतिष्ठेत्, यश्च परिनिर्वृतस्य तथागतस्य चैत्ये “एकपुष्पमारोपयेत्, तथागतपूजायै जलाञ्जलिं चोपनामनायेत्” वाचं भाषेत—नमस्तस्मै बुद्धाय भगवते इति, मा ते अत्र सिंहविक्रीडित, कांक्षा वा विमतिर्वा “यदसौ कल्पं वा कल्पशतं वा कल्पसहस्रं वा दुर्गतिविनिपातं गच्छेत्, नेदं स्थानं विद्यते । इति । —

द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २०१, २०२ (उद्धृत) तथा शिक्षासमुच्चय, पृ० ९६-९७ (उद्धृत) ।

२. द्र०—दिव्यावदानसूत्र, पृ० ५०, ३०६ (दरभंगा-उत्स्करण) ।

प्राप्त होता है—इस बात को वैभाषिक आदि बौद्ध सहन नहीं कर पाते, क्योंकि वे चार आर्यसत्त्यों की भावना से ही मुक्ति मानते हैं। इसलिए कहते हैं—

सत्यदर्शनतो मुक्तिः शून्यतादर्शनेन किम् ।

न विनानेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः ॥ ४१ ॥

सदेव स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' ।

स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' ।

स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' ।

स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' स'संज्ञे' ।

आर्यसत्य चार हैं, जिनका भगवान् ने उपदेश किया है, यथा—दुःख आर्यसत्य, समुदय आर्यसत्य, निरोध आर्यसत्य एवं मार्ग आर्यसत्य। इनके साक्षात् अपरोक्ष साक्षात्कार से या भावना से क्लेशों का प्रहाण होता और मुक्ति की प्राप्ति होती है। आचार्य वसुबन्धु ने भी कहा है—

क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात्^१ ।

संक्षेप में क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम साधक शील में स्थित होकर श्रुतमयी, चिन्तामयी प्रज्ञा का अभ्यास करके भावनामयी प्रज्ञा के अभ्यासकाल में क्रमशः अशुभ-भावना, आनापानस्मृति एवं स्मृत्युपस्थान की भावना करता है। इस क्रम में वह चार आर्यसत्त्यों के जो अनित्य, दुःख, शून्य एवं अनात्म आदि सोलह आकार हैं, उनकी भावना करता है, फलतः उसे निर्वेधभागीय प्रयोग मार्ग की अवस्था प्राप्त होती है। ऊष्मगत, मूर्धा, क्षान्ति और अग्रधर्म ये चार निर्वेधभागीय प्रयोगमार्ग की अवस्थाएँ हैं। तदनन्तर 'दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति' आदि सोलह क्षणों वाला दर्शनमार्ग प्राप्त होता है और उसके बाद भावनामार्ग की प्राप्ति होती है। दर्शनमार्ग और और भावनामार्ग की अवस्थाओं में तीनों धातुओं के दर्शनहेय और भावनाहेय सभी क्लेशों और उपक्लेशों का प्रहाण होता है। फलतः अन्त में क्षयज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान की उपलब्धि होती है और यही अर्हत्त्व की अवस्था है। संक्षेप में चार आर्यसत्त्यों का यही अभिसमयक्रम है। इस प्रकार आर्यसत्त्यों के साक्षात्कार से ही जब मुक्ति हो जाती है तो सर्वधर्मशून्यता के साक्षात्कार के लिए प्रयास की क्या आवश्यकता है? अर्थात् निष्प्रयोजन है। क्योंकि उसके अलावा भी मुक्ति का यह उपाय विद्यमान ही है।

१. द्र०—अभिधर्मकोश, ६ : १, पृ० ८७१ [बौद्धभारती-संस्करण] ।

वैभाषिक आदि के इस कथन पर माध्यमिक कहते हैं—

न विनानेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः—

विना इस सर्वधर्मशून्यता के परिज्ञान के मुक्ति असम्भव है, इस बारे में आगमों में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है।

वस्तुस्थिति यह है कि सभी पदार्थों के दो रूप होते हैं—एक आरोपित और दूसरा अनारोपित। ये दो रूप सभी पदार्थ धारण करते हैं। इनमें से जो आरोपित रूप है, वह अविद्या द्वारा स्थापित है और उसे ही सभी बाल-पृथग्जन देखते हैं। सर्वसाधारण इस रूप की उपलब्धि से क्लेश का प्रहाण सम्भव नहीं है। यदि इसी रूप के दर्शन से मुक्ति होने लगे तब तो सभी लोग तथागत हो जाएँगे। वस्तु का जो अनारोपित रूप है, वही 'तत्त्व' है। जब उसका अधिगम होता है तभी अज्ञान और सास्रव क्लेशों का क्षय होता है। जब प्रज्ञा द्वारा विवेचना की जाती है तब किसी भी धर्म (पदार्थ) का सद्-रूपेण उपलम्भ नहीं होता और सर्वधर्मशून्यता का अधिगम होता है। स्वभावशून्यता ही वस्तु का असली स्वरूप है। प्रज्ञा द्वारा उसका अधिगम होने पर सभी प्रकार के आवरणों एवं भ्रमों का निवारण होता है। फलतः सर्वधर्मशून्यता ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

प्रज्ञापारमितासूत्रों में कहा गया है कि प्रज्ञापारमिता की भावना में लगा हुआ योगी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान इन पाँचों स्कन्धों को भावरूप (सत्तावान् के रूप) में ग्रहण नहीं करता। इतना ही नहीं, वह मार्गाकारज्ञता, और क्लेशों आदि के प्रहाण को भी सद्-रूप में ग्रहण नहीं करता, क्योंकि जब तक सत्तादृष्टि है तब तक प्रज्ञापारमिता नहीं है। जब तक सत्तादृष्टि है तब तक दान आदि कोई भी पारमिता सम्पन्न नहीं होती और न मैत्री, महाकरुणा आदि भावना ही परिपूर्ण होती है। क्योंकि वस्तु के प्रति अस्तित्व का और अपने प्रति 'अहं' का बोध होने से द्वैत में और दो अन्तों में पतन होता है। वस्तु और अपनी सत्ता के प्रति अभिनिवेश होने से दोनों के प्रति आसक्ति होती है और ऐसे व्यक्ति का मोक्ष सम्भव नहीं है^१।

१. भगवान् आह—इह मुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः प्रज्ञापारमितायां चरन् रूपं "वेदनां" संज्ञां संस्कारान् भाव इति न भावयति । यावत् मार्गज्ञतां "सर्वाकारज्ञतां" "सर्ववासनानुसन्धि-क्लेशप्रहाणं भाव इति न भावयति । तत्कस्य हेतोः ? नास्ति भावसंज्ञितः प्रज्ञापारमिताभावना " दानपारमिताभावना "अभावशून्यताभावना "षडभिज्ञाभावना, यावन्नास्ति सर्वसमाधिसर्वधारणी-मुखतथागतब्रह्मवैशारद्यप्रतिसंविन्महामैत्रीमहाकरुणावेणिकबुद्धधर्माणां भावना । तत्कस्य हेतोः ?

पुनश्च, प्रज्ञापारमितासूत्र में ही उल्लिखित है कि अतीत में जो बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और श्रावक हुए हैं, अनागत में जो होंगे तथा जो इस समय विद्यमान हैं, वे सब इसी प्रज्ञापारमिता की बदीलत हुए हैं, होंगे और वर्तमान में हैं। क्योंकि प्रज्ञापारमिता में तीनों यान (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व यान) विस्तार से प्रतिपादित हैं। प्रज्ञापारमिता सभी धर्मों के अनिमित्त, अनुपलम्भ, असंकलेश और अव्यवदान स्वभाव को ग्रहण करती है^१। आचार्य नागार्जुन ने प्रज्ञापारमितास्तुति में यही बात कही है—

बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता ।

मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः^२ ॥

उपर्युक्त प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र, जिनके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सर्वधर्मशून्यता के ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं, वे सूत्र (आगम = बुद्धवचन) तो महायानसूत्र हैं। वैभाषिक आदि कहते हैं कि उनका बुद्धवचन होना सिद्ध नहीं है। अतः हम उन्हें प्रमाण नहीं मानते। अतः उनमें जो लिखा है, वह हमें मान्य नहीं है। जैसे—

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः ।

यस्माद्बुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ४२ ॥

ना० ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥

५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥

५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥

५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥ ५० ॥

तथा हि—स भावः एषोऽहमिति द्वयोरन्तयोः सक्तः । यश्च द्वयोरन्तयोः सक्तः, तस्य नास्ति मोक्षः । तत्कस्य हेतोः ? नास्ति सुभूते, भावसंज्ञिनो दानम्, यावन्नास्ति प्रज्ञा, नास्ति मार्गः, नास्ति ज्ञानम्; नास्ति प्राप्तिः, नास्ति अभिसमयः नास्त्यालोमिकी क्षान्तिः, नास्ति रूपस्य परिज्ञा, वेदनायाः परिज्ञा, यावन्नास्ति प्रतीत्यसमुत्पादस्य परिज्ञा । नास्ति आत्मसत्त्वजीवजन्तुपोषपुद्गल-मनुजमानवकारकवेदकजानकपश्यकसंज्ञायाः परिज्ञा । यावन्नास्ति सर्ववासनानुसन्धिवलेशप्रहाणस्य परिज्ञा । कुतः पुनरस्य मोक्षो भविष्यतीति । द्र० प्रज्ञापारमितासूत्रम्, बोधिचर्यावतार-पंजिका में उद्धृत, पृ० २०३ ।

१. द्र०—अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्रम् ।

२. द्र०—प्रज्ञापारमितास्तुति, नागार्जुन विरचित, का० २, अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० २ (दरभंगा-संस्करण) ।

महायान सूत्रों की बुद्धवचनता

वैभाषिक आदि—ऐ माध्यमिक, जिस (प्रज्ञापारमिता) सूत्र को तुम आगम के रूप में उद्धृत करते हो, वह हमें बुद्धवचन के रूप में मान्य नहीं है। इसलिए उसे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना समीचीन नहीं है।

कथं सिद्धस्त्वदागमः—माध्यमिक कहते हैं कि ठीक है, तुम्हें महायानसूत्र सिद्ध नहीं हैं। लेकिन हम पूछते हैं कि जो आगम (सूत्र) तुम्हें बुद्धवचन के रूप में सिद्ध हैं, उनके बुद्धवचन होने में क्या प्रमाण है? उन आगमों को बुद्धवचन सिद्ध करनेवाला प्रमाण कम से कम हमें तो दिखाई नहीं देता।

यस्मादुभयसिद्धोऽसौ—वैभाषिक आदि कहते हैं कि हमारे आगमों के बुद्धवचन होने में कम से कम यही प्रमाण पर्याप्त है कि हम (हीनयानी) और आप (महायानी) दोनों ही उन्हें बुद्धवचन मानते हैं। वस्तुतः महायानसूत्रों में हीनयानी पिटक भी बुद्धवचन के रूप में मान्य हैं। हम (हीनयानी) आपके महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते, इसलिए कम से कम आप यह नहीं कह सकते कि हमारे आगम (महायानसूत्र) दोनों (आप और हम) को बुद्धवचन के रूप में सिद्ध हैं। अतः निष्कर्ष यह है कि हमारे (हीनयानियों के) आगम तो दोनों को बुद्धवचन के रूप में सिद्ध हैं और आप (महायानियों) के आगम तो एक (हम) को बुद्धवचन के रूप में सिद्ध नहीं होने से असिद्ध हैं।

न सिद्धोऽसौ तवादितः—माध्यमिकों का कहना है कि आपने अपने आगमों को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए जो उभयसिद्धता (अर्थात् दोनों को सिद्ध होने) को हेतु के रूप में प्रस्तुत किया है, वह हेतु वस्तुतः असिद्ध है, क्योंकि महायानियों के द्वारा आपके आगमों को बुद्धवचन के रूप में मान्यता देने से पूर्व वे (तुम्हारे आगम) उभयसिद्ध (दोनों को सिद्ध) नहीं थे। फलतः प्रारम्भ से ही तुम्हारे आगम बुद्धवचन के रूप में सिद्ध नहीं हैं।

वैभाषिक आदि कहते हैं कि यदि उभयसिद्धत्व (दोनों को सिद्ध होना) हेतु असिद्ध है तो हम अपने आगमों को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु देते हैं। तथा हि—

वैभाषिक आदि—जो आगमवचन गुरु-शिष्य परम्परा से आज तक चले आ रहे हों जो सूत्रों में दिखलाई पड़ते हों और विनय (पिटक) में भी तथा धर्मता

अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद के विपरीत न पड़ते हो, बल्कि उसके अनुकूल हों, वे 'बुद्ध-वचन' हैं। और हमारे आगम ऐसे हैं, इसलिए उनका बुद्धवचनत्व सिद्ध है।

इस पर माध्यमिक कहते हैं—

यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु ।

अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥ ४३ ॥

गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं ।

गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं ।

गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं ।

गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं ॥ ४३ ॥

आप (वैभाषिक आदि हीनयानियों) ने किसी आगम के प्रति बुद्धवचन होने की आस्था उत्पन्न होने के लिए ऊपर जो हेतु (कारण) प्रदर्शित किये हैं, यथा - "उसे गुरु-शिष्य परम्परा से आना चाहिए, सूत्र और विनय में दिखलाई पड़ना चाहिए और धर्मता का उल्लंघन नहीं करना चाहिए - इत्यादि" तो ऐसी स्थिति में तुम्हें महायान-आगमों के प्रति भी बुद्धवचन होने की आस्था करनी चाहिए, क्योंकि महायानसूत्रों में भी आस्था के वे सभी हेतु (कारण) विद्यमान हैं। उक्त हेतु महायानसूत्रों भी उल्लिखित हैं और वे (हेतु) प्रायः सभी आगमों में समानरूप से लागू हैं। जैसे कि अध्याशयसंचोदनसूत्र में उल्लिखित है—

मैत्रेय, चार कारणों से किसी आगम को बुद्धवचन मानना चाहिए। कौन चार ? १. उसे अर्थ (हित) युक्त होना चाहिए, अनर्थ से नहीं। २. उसे धर्म से युक्त होना चाहिए, अधर्म से नहीं। ३. उसे क्लेशों का प्रहाण करनेवाला होना चाहिए, क्लेशों को बढ़ानेवाला नहीं। तथा ४. उसे निर्वाण के गुणों को दिखानेवाला होना चाहिए, न कि संसार के गुणों को दिखानेवाला होना चाहिए। ये चार कारण जहाँ विद्यमान हों, उसके बारे में बोधिसत्त्व को ऐसा सोचना चाहिए कि यह बुद्ध-भाषित हैं। उसमें बुद्धसंज्ञा, शास्त्रसंज्ञा उत्पन्न कर उसे श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिए। क्योंकि मैत्रेय, जो कुछ उपर्युक्त प्रकार से सुभाषित हैं, वह सब बुद्धभाषित हैं (यत् किञ्चिमैत्रेय, सुभाषितम्, सर्वं तद् बुद्धभाषितम्)। ऐसे आगमों के प्रति मैत्रेय, जो अश्रद्धा या अगौरव बुद्धि रखता है, वह अवश्य नरकगामी होता

है। धर्मता (प्रतीत्यसमुत्पाद) के प्रतिकूल न होना, यह आगम का सम्यक् लक्षण है। कहा भी गया है—

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः ।

भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्पं विपरीतमन्यथा ॥

ये सब कारण या गुण महायानसूत्रों में भी जब विद्यमान हैं, तो बुद्धवचन के रूप में उनका ग्रहण क्यों न किया जाए ? अर्थात् आगम के रूप में उनका उपादान युक्तियुक्त है।

ज्ञात है कि वैभाषिक ने पहले कहा था कि हमारा आगम इसलिए मान्य है, क्योंकि वह दोनों (हमारे और तुम्हारे) द्वारा प्रामाणिक बुद्धवचन के रूप में मान्य है। इसके उत्तर में माध्यमिकों ने कहा था कि महायानियों द्वारा उसकी आगम के रूप में स्वीकृति से पूर्व तुम्हारा आगम भी उभय (दोनों) को सिद्ध नहीं था। अतः तुम जो उभयसिद्धत्व को हेतु के रूप में प्रयुक्त कर रहे हो, वह हेतु सक्षम नहीं है, अतः उससे तुम्हारा आगम बुद्धवचन के रूप में सिद्ध नहीं होता।

इस पर वैभाषिक आदि कहते हैं कि हमने जिस उभयसिद्धत्व को हेतु के रूप में प्रयुक्त किया है, उसका तात्पर्य 'हमसे और तुमसे' से नहीं है, अपि तु 'हम और तुम' दोनों को छोड़कर हमारे और तुम्हारे अलावा जो अन्य हैं, उनसे हमारा तात्पर्य है। हम लोगों में तो विवाद है, अतः हमको और आपको छोड़ कर 'उभय'-शब्द के द्वारा तीसरे प्रकार के लोगों से हमारा तात्पर्य है। क्योंकि उनको (तीसरों को) भी हमारा आगम बुद्धवचन के रूप में मान्य है, अतः हमारा आगम प्रामाणिक बुद्धवचन है।

अन्योभयेष्टसत्यत्वे०—माध्यमिकों का कहना है कि विवादग्रस्त होने के कारण हमें और आपको छोड़कर जो अबौद्ध (तैर्थिक) लोग हैं, उनकी सम्मति के आधार

१. अपि तु मैत्रेय, चतुर्भिः कारणैः प्रतिभानं सर्वबुद्धभाषितं वेदितव्यम् । कतमैश्वर्यतुभिः ? इह मैत्रेय, प्रतिभानमर्थोपसंहितं भवति, नानर्थोपसंहितम् । धर्मोपसंहितं भवति, नाधर्मोपसंहितम् । क्लेशप्रहायकं भवति, न क्लेशविवर्धकम् । निर्वाणगुणानुशंसदर्शकं भवति, न संसारगुणानुशंस-सन्दर्शकम् । ... यस्य कस्यचिन्मैत्रेय, एतैश्चतुर्भिः प्रतिभाति प्रतिभास्यति वा, तत्र श्राद्धैः कुलपुत्रैः कुलदुहितृभिर्वा बुद्धसंज्ञा उत्पादयितव्या । शास्त्रसंज्ञां कृत्वा स धर्मः श्रोतव्यः । तत्कस्य हेतोः ? यत् किञ्चिन्मैत्रेय सुभाषितम्, सर्वं तद् बुद्धभाषितम् । तत्र मैत्रेय, य इमानि प्रतिभानानि प्रतिक्षि-पेत्—नैतानि बुद्धभाषितानीति, तेषु च अगौरवमुत्पादयेत् ... धर्मं प्रतिक्षिप्य धर्मव्यसनसंवर्तनीयेन कर्मणा अपायगामी भवति । द्र०—बोधिचर्यावितारपञ्जिका, पृ० २०५ (उद्धृत) ।

पर आगम को बुद्धवचन माना जाएगा अर्थात् उनके वचन की सत्यता मानी जाएगी तो ऐसी स्थिति में वेद एवं कणाद गौतम आदि के वचनों को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। क्योंकि वादी और प्रतिवादी को छोड़कर अन्य लोगों की उनकी यथार्थता में भी सम्मति सम्भावित है। अतः यह तुम्हारा तर्क युक्तिसंगत नहीं है। इससे भी तुम्हारे आगम की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

वैभाषिक—हमारे आगम के बुद्धवचन होने में कोई विवाद नहीं है, जब कि महायानसूत्रों के बुद्धवचन होने में विवाद है। इसलिए हमारा आगम प्रामाणिक रूप में उपादेय है, तुम्हारा नहीं। इस बात को अब कहा जा रहा है—

सविवादं महायानमिति चेदागमं त्यज ।

तैर्थिकैः सविवादत्वात् स्वैः परैश्चागमान्तरम् ॥ ४४ ।

श्रेयः'हेतु'सुख'सुख'सुख'सुख' ।

सुख'सुख'सुख'सुख'सुख'सुख' ।

सुख'सुख'सुख'सुख'सुख'सुख' ।

सुख'सुख'सुख'सुख'सुख'सुख' ८८ ।

माध्यमिक—महायानसूत्रों का बुद्धवचनत्व विवादग्रस्त होने के कारण यदि वह प्रामाणिक आगम के रूप में ग्राह्य नहीं है तो आप अपने सूत्रों को भी प्रामाणिक आगम मानना छोड़ दीजिए, क्योंकि मीमांसक, कणाद आदि के साथ तुम्हारे आगमों के बारे में भी विवाद है। न केवल तैर्थिकों के साथ अपितु अन्य अनेक बौद्ध निकायों के साथ भी विवाद है।

ज्ञात है कि भगवान् बुद्ध का शासन १८ निकायों में व्याप्त है। उनके अपने-अपने त्रिपिटक हैं। अतः उनमें पारस्परिक विवाद सम्भावित है। अतः परस्पर विवाद होने से सभी के आगम विवादग्रस्त होने से सभी त्याज्य हैं। अथवा सूत्रधर, विनयधर और आभिधार्मिकों में परस्पर विवाद होने से सूत्र, विनय और अभिधर्म त्याग करने योग्य हैं। इसलिए आपने जो यह कहा था कि गुरु-शिष्य परम्परा से जो आगम चले आ रहे हैं, उनकी बुद्धवचनता प्रमाणतः सिद्ध है—यह कथन भी उनके विवादग्रस्त होने से खण्डित हो जाता है। जिनकी परम्परा विस्मृत नहीं है, उनमें विवाद नहीं होना चाहिए, सर्वज्ञ के वचनों में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए, किन्तु सूत्र, विनय और अभिधर्म में एकवाक्यता नहीं होती। अतः परम्परा से चले आने मात्र से प्रामाणिकता नहीं होगी। अतः तुमने जो कुछ कहा, वह सब व्यर्थ है।

शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता ।

सालम्बनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम् ॥ ४५ ॥

मङ्गलं कुरुते भिक्षुः श्रद्धां विवर्धते ।

भिक्षुः श्रद्धां विवर्धते भिक्षुः श्रद्धां विवर्धते ।

लोभस्य विवर्धते भिक्षुः श्रद्धां विवर्धते ।

भिक्षुः श्रद्धां विवर्धते भिक्षुः श्रद्धां विवर्धते ॥ ४६ ॥

वैभाषिक ने पहले जो यह कहा था कि चार आर्यसत्त्यों के साक्षात्कार से ही जब मुक्ति निश्चितरूप से हो जाती है, तब शून्यता (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की भावना से क्या लाभ ? इसका माध्यमिक अब विशेषरूप से निराकरण कर रहे हैं ।

हित को स्वीकारने और अहित को त्यागने की जो भगवान् की देशना है, यही भगवान् का 'शासन' है । अथवा

यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है, इसकी आज्ञा ही भगवान् का 'शासन' है ।

इस शासन का मूल या जड़ भिक्षुभाव (भिक्षुता) है । जैसे कोई वृक्ष, जिसकी जड़ दृढ़ हो, वह बहुत दिनों तक टिकाऊ रहते हुए शाखा-प्रशाखाओं से युक्त होकर पत्र पुष्प और फल प्रदान करता है और अपनी छाया द्वारा पथिकों की थकावट को दूर करता है, वैसे ही भगवान् का शासनरूपी कल्पवृक्ष भी भिक्षुभाव रूपी दृढ़ मूल (जड़) का आश्रय करके स्थायित्व को प्राप्त करता है तथा स्मृत्युपस्थान, सम्यक् प्रहाण, ऋद्धिपाद, बोध्यङ्ग, समाधि, समापत्ति, अष्टांगिक मार्ग आदि फलों से सम्पन्न होता है तथा ऋद्धि-प्राप्तिहायं आदि के द्वारा क्लेशरूपी ऊष्मा का शमन करता है । इसलिए भिक्षुता (भिक्षुभाव) को जड़ की उपमा दी गई । भिक्षु भी पाँच प्रकार के होते हैं—(१) संज्ञाभिक्षु (भिक्षु जिनका नाम होता है), (२) प्रतिज्ञाभिक्षु, (३) भीख माँगनेवाला भिक्षु, (४) जप्ति नामक चतुर्थ कर्म द्वारा उपसम्पन्न भिक्षु तथा (५) जिसने अपने क्लेशों को नष्ट (भिन्न) कर दिया है, ऐसा भिक्षु । इनमें से चौथे और पाँचवें प्रकार का भिक्षु ही बुद्ध शासन में गृहीत है । इन दो में से भी पञ्चम प्रकार का भिक्षु ही प्रधान है । उपर्युक्त चौथे और पाँचवें प्रकार के भिक्षु ही शासन के मूल हैं । बाकी के केवल नाममात्र के भिक्षु हैं । पाँचवें प्रकार का भिक्षु ही यहाँ उपर्युक्त कारिका (श्लोक) में गृहीत है । उसी भिक्षु का भाव 'भिक्षुता' है । भिन्न

१. द्र०-बोधिचर्यावितार, १ : ४१, पृ० ३९७ (प्रस्तुत ग्रन्थ) ।

क्लेशता (क्लेश-प्रहाण) भिक्षुता का अर्थ है। वह भिन्न-क्लेशता अर्थात् क्लेशों प्रहाण चार आर्यसत्य के साक्षात्कार से सम्भव नहीं है, क्योंकि शून्यता के अधिगम (ज्ञान) के बिना क्लेशों का प्रहाण सम्भव नहीं है, केवल चार आर्यसत्य का दर्शन क्लेशप्रहाण के लिए सक्षम नहीं है, पर्याप्त नहीं है। इसीलिए कारिका में 'भिक्षुतैव हि दुःस्थिता' कहा गया है। इसलिए आपको यह नहीं कहना चाहिए कि सत्य के दर्शन से मुक्ति होती है।

जिन योगियों का चित्त वस्तु की सत्ता के प्रति अभिनिवेश से युक्त है, वे दुःख आदि सत्त्यों को और निरोध सत्य को भी वस्तुसत् (सत्तावान्) समझते हैं। ऐसे वस्तु के उपलम्भ की दृष्टि वाले योगियों की भिक्षुता (क्लेश प्रहाण) दुःस्थित है अर्थात् अच्छी तरह से स्थित नहीं है। क्लेशों के प्रहाण (भिक्षुता) के लिए चित्त का निरालम्बन होना जरूरी है।

आप (वैभाषिकों) ने जो यह कहा है कि सत्यदर्शन से मुक्ति होती है, यहाँ पर भी विचार के दो पक्ष उपस्थित होते हैं—१. परमार्थतः दर्शन या संवृत्तितः दर्शन। यदि पहला पक्ष आप कहते हैं तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि हम भी सभी धर्मों का परमार्थतः दर्शन मानते हैं। अर्थात् हम भी धर्मों की पारमार्थिक स्थिति के दर्शन से मुक्ति मानते हैं। यदि आप कहें दूसरा पक्ष (विकल्प) हमें मान्य है तो इसमें हमें आपत्ति है, क्योंकि संवृतिसत्य के दर्शन से मुक्ति होने लगेगी तो सभी प्राणी मुक्त हो जाएँगे। फलतः युक्तिविरुद्ध होने से द्वितीय पक्ष मान्य नहीं है। युक्ति और आगम द्वारा जब हम वास्तविकता का विवेचन करते हैं तो पाते हैं कि परमार्थसत्य ही क्लेशों का प्रहाण करने में सक्षम है, संवृतिसत्य नहीं। वह परमार्थ-सत्य भी सभी धर्मों का वस्तुसत्-रूप में अनुपलम्भ (उपलब्ध न होना) ही है, अन्य नहीं। इस सर्वधर्म-अनुपलब्धि के बिना क्लेशनिवृत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि जब तक वस्तुसत्ता के प्रति अभिनिवेश (ग्रहण) है, तब तक कल्पना है और जब तक व्यक्ति के चित्त में कल्पना का अस्तित्व है, तब तक चित्त से क्लेशों का हटना असम्भव है। जब तक क्लेश हैं, तब तक कर्म और कर्म के कारण जन्म की परम्परा अर्थात् संसार प्रवृत्त होता ही रहेगा। इसलिए शून्यता ही अविद्या का प्रतिपक्ष (विरोधी - शत्रु = नाशक) होने से संसार की अविच्छिन्न परम्परा के उच्छेद का हेतु हो सकती है, केवल सत्यदर्शन से यह काम नहीं हो सकता। इसीलिए आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थशिष्यभावना^१।

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रमाणपरिच्छेद १ : २५५ का०, पृ० ८६ (बौद्धभारती-संस्करण) !

चार आर्यसत्य कैसे दो सत्यों (परमार्थसत्य और संवृतिसत्य) में अन्तर्भूत हो जाते हैं, यह बोधिचर्यावितारपंजिका में स्पष्ट किया गया है^१ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल भिक्षुता ही आपके मत में असम्भव है, अपि तु निर्वाण भी असम्भव है । अर्थात् वह भी दुःस्थित (अच्छी तरह स्थित नहीं) है

क्लेशप्रहाणान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा ।

दृष्टं च तेषु सामर्थ्यं निष्कलेशस्यापि कर्मणः ॥ ४६ ॥

ॐ क्लेशान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा ।

देवस्यैव ॥ ५० ॥ ॥ ॥ ॥

ॐ क्लेशान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा ।

॥ ५१ ॥ ॥ ॥ ॥

माध्यमिक का कहना है कि यदि आर्यसत्य के दर्शन से क्लेश प्रहीण होते हैं और उससे मुक्ति होती है तो क्लेशप्रहाण के तत्काल बाद मुक्ति होनी चाहिए । इस कथन का वैभाषिक समर्थन करते हुए कहते हैं कि ठीक है, ऐसा ही है । कौन कहता है कि क्लेशप्रहाण के बाद तत्काल मुक्ति नहीं होती ।

माध्यमिक कहते हैं कि यह युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि क्लेशप्रहाण के बाद तत्काल मुक्ति होना सिद्ध नहीं है । तथा हि —

दृष्टं च तेषु सामर्थ्यं—हमने आगमों के आधार पर देखा है कि क्लेशों का प्रहाण हो जाने पर भी शुभ (कुशल), अशुभ (अकुशल) कर्मों में इष्ट, अनिष्ट फल देने की शक्ति विद्यमान होती है अर्थात् जिनकी सन्तति में क्लेश नहीं है या जिन कर्मों को क्लेश का सहकार (सहयोग) प्राप्त नहीं है, ऐसे व्यक्तियों को उस प्रकार के निष्कलेश कर्मों का भी फल भोगते हुए देखा गया है । इसके लिए आर्य महामौद्गल्यायन और आर्य अंगुलिमाल का उदाहरण पर्याप्त है ।

वैभाषिक—लोकोत्तर प्रज्ञा द्वारा चार आर्यसत्यों के साक्षात्कार से अविद्या का प्रहाण होता है । अविद्या के प्रहाण से संस्कार का प्रहाण, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध—इस तरह प्रतीत्यसमुत्पाद के क्रम से तृष्णा का भी प्रहाण हो जाता है । अविद्या और तृष्णा ये दो ही संसार की उत्पत्ति के प्रधान कारण हैं । फलतः इन

दोनों का प्रहाण हो जाने पर कर्मों के विद्यमान रहने पर भी वे (कर्म) अपना फल देने में उसी प्रकार असमर्थ हो जाते हैं, जैसे तुष (छिलका)—रहित बीज (धान, जी आदि) अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं । जैसे कहा भी गया है—

मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्षसञ्चेतनावशात् ।

हीनस्थानगतिर्जन्म त्यक्त्वा चैतन्न जायते^१ ॥

अथवा केवल तृष्णा को ही (अविद्या को छोड़कर) भव (संसार) का मूल (कारण) माना जा सकता है, क्योंकि तृष्णा ही समुदयसत्य है । भगवान् ने भी कहा है—

तत्र कतमत् समुदयार्थसत्यम् ? येयं तृष्णा पौनर्भविका नन्दीरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा चेत्^२ ।

वह तृष्णा जिस व्यक्ति की सन्तति में नहीं है ; अर्थात् जिसने उस तृष्णा (समुदयसत्य) का प्रहाण कर दिया है, उसका कारण के अभाव से कार्य अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव सुतरां सिद्ध है ।

इस पर माध्यमिक कहते हैं—

तृष्णा तावदुपादानं नास्ति चेत् सम्प्रधार्यते ।

किमविल्लष्टापि तृष्णैषां नास्ति संमोहवत् सती ॥ ४७ ॥

रे'ल्लि'ग'हे'रे'वे'वे'स'वे' ।

मे'वे'स'वे'स'वे'स'वे' ।

वे'वे'स'वे'स'वे'स'वे' ।

गु'वे'स'वे'स'वे'स'वे' । ८७ ।

अर्हत् जिन्होंने अविद्या का प्रहाण कर दिया है, उनकी सन्तति में तृष्णा भी नहीं रहती, जो (तृष्णा) पुनर्भव का उपादान कारण है—ऐसा आप निश्चितरूप से नहीं कह सकते, क्योंकि पहली बात तो यह है कि जिनमें अभी उपलम्भ-दृष्टि (वस्तु की सत्ता का ग्रहण करने वाली दृष्टि) विद्यमान है, उनकी अविद्या का सर्वथा प्रहाण हो गया है—ऐसा नहीं कहा जा सकता । जब अविद्या का ही पूर्णरूप से

१. द्र० — प्रमाणवार्तिक १ : २६२, पृ० ८९ (बौद्धभारती-संस्करण) ।

२. द्र० — धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र ।

प्रहाण नहीं हुआ तो उनकी तृष्णा का पूर्णरूप से प्रहाण हो गया—ऐसा नहीं कहा जा सकता । दूसरी बात यह है कि—

किमक्लिष्टापि तृष्णैषां नास्ति०—

क्या उन अर्हत्तों में जैसे अक्लिष्ट (क्लेशरहित) अज्ञान विद्यमान रहता है, वैसे ही क्या उनमें अक्लिष्ट तृष्णा विद्यमान नहीं रहती ? अर्थात् रहती है ।

अज्ञान दो प्रकार का होता है—एक क्लिष्ट (क्लेशों से सम्प्रयुक्त) अज्ञान और दूसरा अक्लिष्ट (क्लेशरहित) अज्ञान । राग, द्वेष, सकाशदृष्टि आदि क्लेश हैं, इन क्लेशों की वजह से व्यक्ति भवसागर से उत्तीर्ण नहीं हो पाते । अर्थात् बार-बार भवचक्र (आवागमन के चक्र) में पतित होते हैं । ये क्लेश निर्वाण के विपक्ष हैं । अर्थात् जब तक ये किसी की चित्त-सन्तति में विद्यमान रहते हैं, तब तक निर्वाण प्राप्त करना असम्भव होता है । अर्हत् ने इन क्लेशों का प्रहाण कर दिया है, अतः वे भवचक्र से बाहर होकर निर्वाण का लाभ कर लेते हैं ।

संसार में बाँधनेवाले इन क्लेशों का प्रहाण कर देने पर भी उन अर्हत्तों में एक प्रकार का अज्ञान, जो क्लेशों से रहित है, अर्थात् जो अक्लिष्ट अज्ञान है, वह विद्यमान रहता ही है । अर्थात् अज्ञान का अशेष प्रहाण नहीं होता । जिसकी वजह से वस्तुसद्ग्रह (वस्तु की सत्ता का ग्रहण) बना रहता है, वह निवृत्त नहीं होता । यह सत्ता का अभिनिवेश सर्वज्ञता (बुद्धत्व) की प्राप्ति में बाधक होता है । ऐसा व्यक्ति निर्वाण तो प्राप्त कर सकता है, किन्तु सर्वज्ञ नहीं होता । सत्ता के प्रति अभिनिवेश होने से अर्थात् अक्लिष्ट अज्ञान शेष रह जाने से उसका ज्ञान असक्त (सर्वत्र अनासक्त) और अप्रतिहत (सभी ज्ञेय पदार्थों में व्यापक) नहीं हो पाता । क्योंकि जब तक सत्ताग्रह होता है, तब तक पूर्णतया आसक्ति का निरास नहीं होता और ज्ञान में व्यापकता नहीं आती । इसे (अक्लिष्ट अज्ञान को) ही ज्ञेयावरण कहते हैं । इसी की वजह से अर्हत्तों में प्रायः कायवैगुण्य (उछल-उछल कर चलना), वाग्वैगुण्य (अपशब्दों का प्रयोग) एवं बुद्धिवैगुण्य भी देखे जाते हैं । इस ज्ञेयावरण का प्रहाण शून्यता (सर्वधर्म निःस्वभावता) के दर्शन से ही होता है और उसी से सर्वज्ञता (बुद्धत्व) की प्राप्ति होती है ।

१. शेषमक्लेशनिर्जरम् ।

कायवाग्बुद्धिवैगुण्यं मार्गोक्त्यपटुतापि च ॥

अशेषहानमभ्यासात्

। द्र०—प्रमाणवार्तिक १ : १४३-१४४, पृ० ५२-५३ ।

२. प्रामांगिक माध्यमिक के मत में ज्ञेयावरण का स्वरूप इससे भिन्न है ।

माध्यमिक का कहना है कि जैसे अर्हत् में अक्लिष्ट अज्ञान शेष रह जाता है, वैसे ही क्या उनमें अक्लिष्ट (क्लेश-रहित) तृष्णा का रह जाना सम्भव नहीं है ? अर्थात् सम्भव है ।

वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनैषां च दिद्यते ।

सालम्बनेन चित्तेन स्थातव्यं यत्र तत्र वा ॥ ४८ ॥

ཆོར་བའི་ཀློན་གྱིས་སྤྲེད་པ་ཡིན།

ཆོར་བ་དེ་དག་ལ་ཡང་ཡོད།

དམིགས་པ་དང་ནི་བཅས་པའི་སེམས།

འགའ་ཞིག་ལ་ནི་གནས་པར་འགྱུར། ༧༤ །

अपने उक्त विचार की पुष्टि में माध्यमिक आगे कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद नियम के अनुसार स्पर्श से वेदना और वेदना से तृष्णा की उत्पत्ति होती है। अर्थात् वेदना ही तृष्णा का प्रत्यय (कारणसामग्री) है। वेदना तो अर्हत् में होती ही है। अतः कारण के विद्यमान होने पर कार्य (तृष्णा) की उत्पत्ति को कौन रोक सकता है। अर्थात् वह अवश्य उत्पन्न होगी।

वैभाषिक—जिस (योगी) में अविद्या नहीं है, उसमें तृष्णा का उत्पाद नहीं होगा ।

माध्यमिक— ऐसा कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि जब तक भावाभिनिवेश (वस्तु के अस्तित्व के प्रति आग्रह) है तब तक अविद्या का अभाव ही सम्भव नहीं है। इसलिए आप चाहें अक्लिष्ट तृष्णा की विद्यमानता न मानें, फिर भी क्योंकि आपके योगी में शून्यता का ज्ञान नहीं है, अतः उनमें तृष्णा का सर्वथा अभाव असम्भव है।

निष्कर्ष यह है कि अविद्या से मुक्त व्यक्ति की चित्तसन्तति में भी विद्यमान कर्मों में अपना फल देने की शक्ति रहती है। वेदना होने पर तृष्णा का उत्पाद सम्भव है। ऐसी स्थिति में उसके क्लेशों का प्रहाण हो गया है और फलतः उसकी मुक्ति हो गई—इसका निश्चय कैसे किया जा सकता है। इसलिए शून्यताज्ञान के बिना भिक्षुता (भिन्नक्लेशता या क्लेशों का अभाव) सम्भव नहीं दुःस्थित है। साथ ही जब तक आलम्बन (वस्तु) के प्रति अस्तित्व का आग्रह (अभिनिवेश) है, तब तक चित्त कहीं न कहीं अवश्य आसक्त होता है। आर्यसत्त्यों में, आर्यसत्य की भावना

होने लगते हैं। अथवा जिस व्यक्ति ने इस समापत्ति का लाभ किया है, वह मरने के बाद असंज्ञी देव के रूप में ध्यानभूमि में उत्पन्न होता (प्रतिसन्धि लेता) है। उस भूमि में वह ५०० कल्पों तक रहता है और उतने काल तक उसमें कोई चित्त या चैतसिक उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वहाँ से च्युत होकर पुनः मनुष्यभूमि में उत्पन्न होते समय फिर से चित्त-चैतसिकों की प्रवृत्ति होने लगती है। आचार्य ने अर्संज्ञिसमापत्ति को मात्र उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, निरोध-समापत्ति^१ की अवस्था में भी ऐसा ही होता है। अर्थात् समापत्ति के काल में यद्यपि चित्त-चैतसिक निरुद्ध रहते हैं, किन्तु समापत्ति से उठने पर पुनः प्रवृत्त होने लगते हैं।

इसलिए क्योंकि शून्यता के बिना न भिक्षुता (क्लेशप्रहाण) और न निर्वाण ही सम्भव है, अतः इन दोनों को जो चाहते हैं, उन्हें शून्यता की भावना करनी चाहिए। शून्यता की भावना से क्लेशप्रहाण भी होता है और निर्वाण का भी अधिगम (प्राप्ति) होता है। केवल आर्यसत्य की भावना से यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में चित्त सालम्बन ही रहता है, निरालम्ब नहीं होता। जैसे कि वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता में कहा गया है—

“क्या सुभूति, तुम ऐसा मानते हो कि स्रोत-आपन्न के मन में ऐसा (विचार) होता है कि मैंने स्रोत-आपत्ति फल प्राप्त किया है? सुभूति ने कहा—नहीं भगवन्। भगवान् ने कहा—ऐसा क्यों (किस कारण) नहीं होता? सुभूति—इसलिए भगवन्, कि उसने कुछ प्राप्त नहीं किया है, जिससे कि वह स्रोत-आपन्न कहलाए। न उसने रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्शव्य या धर्म ही प्राप्त किया है, इसीलिए वह स्रोत-आपन्न कहलाता है। यदि भगवन्, उसे मन में ऐसा हो कि मैंने स्रोत-आपत्ति फल प्राप्त किया है, तो यही उसके लिए आत्मग्राह, सत्त्वग्राह, पुद्गलग्राह हो जाएगा। क्या सुभूति, अर्हत् के मन में ऐसा होता है कि मैंने अर्हत्त्व प्राप्त किया है? सुभूति—नहीं भगवन्। क्यों? कोई अर्हत्त्व नाम का धर्म ही (सत्) नहीं है, जिसे उसने प्राप्त किया हो। यदि उसके मन में ऐसा हो कि मैंने अर्हत्त्व प्राप्त किया है तो यही उसके लिए आत्मग्राह होगा। इसलिए सुभूति, बोधिसत्त्व को ऐसा अप्रतिष्ठित चित्त उत्पन्न करना चाहिए जो कहीं प्रतिष्ठित (आसक्त) न हो। इसलिए शून्यता ही बोधिसत्त्व का प्रशस्त मार्ग है^२।

१. द्र०—अभिधर्मकोश २ : ४३-४४ पृ० २३६-२४०।

२. तत् कि मन्यसे सुभूते, अपि नु स्रोत-आपन्नस्यैवं भवति—मया स्रोत-आपत्तिफलं प्राप्तमिति? सुभूतिराह—नो हीदं भगवन्। तत्कस्य हेतोः? न हि भगवन्, किञ्चिदापन्नः, तेनोच्यते

यत्सूत्रेऽवतरेद् वाक्यं तच्चेद् बुद्धोक्तमिष्यते ।

महायानं भवत्सूत्रैः प्रायस्तुल्यं न किं मतम् ॥ ५० ॥

एकेनागम्यमानेन सकलं यदि दोषवत् ।

एकेन सूत्रतुल्येन किं न सर्वं जिनोदितम् ॥ ५१ ॥

महाकाश्यपमुख्यैश्च यद् वाक्यं नावगाह्यते ।

तत्त्वयानवबुद्धत्वादग्राह्यं कः करिष्यति ॥ ५२ ॥

རལ་ག་མད་མེ་ལ་འཕྱལ་དེ།

གཤམ་ཏེ་སངས་རྒྱུས་གསུངས་འདྲ་ན།

ཐེག་ཆེན་པལ་ཆེར་བྱེད་ཅན་གྱི།

མདོ་དང་མཚུངས་འདྲ་མིན་ནམ་ཅི། ༥༠ །

གལ་ཏེ་མ་གཏོགས་གཅིག་གིས་ནི།

ཐམས་ཅད་སྒྲིན་དང་བཅས་འགྱུར་ན།

མདོ་མཚུངས་གཅིག་གིས་ཐམས་ཅད་ནི།

གྲུལ་བས་གསུངས་བ་ཅིས་མ་ཡིན། ༥༡ །

स्रोत-आपन्न इति । न रूपमापन्नो न शब्दान् न गन्धान् न रसान् न स्प्रष्टव्यानि न धर्मानापन्नः, तेनोच्यते स्रोत-आपन्न इति । सचेद् भगवन्, स्रोत-आपन्नस्यैवं भवेत्—मया स्रोत-आपत्तिफलं प्राप्तमिति, स एव तस्य आत्मग्राहो भवेत् सत्त्वग्राहो जीवग्राहः पुद्गलग्राहो भवेत् । पेयालं । तत्किं मन्यसे, सुभूते, अपि नु अर्हत् एवं भवति—मयार्हत्वं प्राप्तमिति ? सुभूतिराह नो हीदं भगवन् । तत्कस्य हेतोः ? न कश्चिद् धर्मो योऽर्हन्नाम । सचेद् भगवन्, अर्हत् एवं भवेत्—मयार्हत्वं प्राप्तमिति, स एव तस्यात्मग्राहो भवेत् । पेयालं । भगवान् आह—तस्मात् तर्हि सुभूते, बोधि-सत्त्वेन महासत्त्वेन एवमप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्, न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्, न रूपप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्, न शब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यमिति ।

द्र०—वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, महायानसूत्रसंग्रह, प्रथमभाग, पृ० ७७-७८ (दरभंगा-संस्करण)
तथा बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० २०९-२१० (उद्धत) दरभंगा-संस्करण ।

सक्तित्रासान्तनिर्मुक्त्या संसारे सिध्यति स्थितिः ।

मोहेन दुःखिनामर्थे शून्यताया इदं फलम् ॥ ५३ ॥

सिद्धिर्वासांस्तु नान्यथा ॥ ५३ ॥

कामादन्तर्गतं नान्यथा ॥ ५३ ॥

नान्यथा ॥ ५३ ॥

नान्यथा ॥ ५३ ॥

आसक्ति का आधार (कारण) होने से 'शाश्वत-अन्त' यहाँ 'सक्ति' कहा गया है तथा भय का स्थान (आधार) होने के कारण 'उच्छेदान्त' यहाँ 'त्रास' कहा गया है । क्योंकि शाश्वतदृष्टि (स्वभावतः सत्ता की दृष्टि) आसक्ति का हेतु होती है तथा उच्छेददृष्टि (कुछ भी नहीं है—ऐसी दृष्टि) भय का कारण होती है, अतः ये दो अन्त हैं । शाश्वत-अन्त ही समारोपान्त तथा उच्छेद-अन्त ही अपवादान्त कहलाता है । परमार्थ-सत्य (शून्यता) के ज्ञान से शाश्वत-अन्त का तथा संवृतिसत्य के ज्ञान से उच्छेद-अन्त का परिहार होता है । माध्यमिक लोग वस्तु की स्वभावसत्ता को शाश्वतान्त मानते हैं और निःस्वभावता के द्वारा उसका परिहार करते हैं तथा व्यावहारिक सत्ता को भी न मानना, उनकी दृष्टि में उच्छेदान्त है और माध्यमिक सभी धर्मों (वस्तुओं) की व्यावहारिक उपलब्धि मानते हैं, अतः उच्छेदान्त का भी परिहार करते हैं । इस प्रकार इन (समारोप और अपवाद) दोनों अन्तों का निषेध कर देने से मध्यमाप्रतिपद् या मध्यम मार्ग प्रकाशित होता है । इन दोनों अन्तों के परिहार से बोधिसत्त्व की संसार में स्थिति सिद्ध होती है । क्योंकि परमार्थ को जानने वाली प्रज्ञा के बल से वह सांसारिक दोषों से लिप्त नहीं होता तथा कर्षणा के अधीन होने से वह संसार का त्याग भी नहीं करता । क्योंकि संसार में रहने वाले दुःखी प्राणियों के दुःखों को उसे दूर करना है, अतः उसका संसार में रहना जरूरी है । संसार को छोड़ देने पर यह कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता ।

यदि कोई कहे कि संसारी प्राणी जब आपके मत में परमार्थतः नहीं हैं, तो उनके लिए संसार में रहना कैसे युक्त है ?

१. 'सक्तित्रासात्त्वनिर्मुक्त्या'—यह पाठान्तर है । हमने तिब्बतीपाठ के अनुसार उक्तपाठ को स्वीकार किया है । द्र०—बोधिचर्याविवृतारपञ्जिका, पृ० २१० ।

साध्यमिक—सांवृतिक (व्यावहारिक) दृष्टि से सत्त्व उपलब्ध होते हैं । यद्यपि यह 'संवृति' मोह या विपर्यास (विपरीत ज्ञान) ही है, फिर भी बोधिसत्त्व प्राणियों के दुःखों को दूर करने के कार्य को सम्पन्न करने के लिए उतना 'मोह' स्वीकार कर लेते हैं । इस बात को आचार्य आगे व्यक्त करेंगे, जैसे—“दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते”^१ । इस प्रकार शून्यता का यही फल (उपलब्धि) है कि बोधिसत्त्व संसार में रहते हुए भी प्रज्ञा के कारण संसार के दोषों से लिप्त नहीं होता । इसे ही 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' कहते हैं । इस अवस्था की प्राप्ति शून्यता के बिना असम्भव है । इसलिए यावत्संसार अर्थात् जब तक संसार है तब तक प्राणियों का हित करने के अभिलाषी लोगों को शून्यता की ही भावना करनी चाहिए ।

सक्तित्रासात्त्वनिर्मुक्त्या—यह भी एक पाठ है। इस पाठ के अनुसार सक्ति का अर्थ है आसक्ति, लगाव, ठहराव और त्रास का अर्थ है भय'। सामान्य जन शून्यता का श्रवण करते हैं तो उसका गलत अर्थ (कुछ भी नहीं, यह अर्थ) समझकर उससे भयभीत होते हैं तथा वस्तुस्वभाव के अस्तित्व को मानने से वस्तु के प्रति उनको आसक्ति उत्पन्न होती है। फलतः वस्तुस्वभाव के प्रति अज्ञान होने से ऐसे दुःखी लोगों की संसार में ही स्थिति होती है। यह शून्यता को मानने में दोष है।

आशय यह है कि यद्यपि शून्यता के बिना अस्तित्वदृष्टि का प्रहाण नहीं होता और फलतः मुक्ति नहीं होती, किन्तु विषय-सुख के प्रति आसक्त लोगों को शून्यता के सुनने मात्र से भय होता है। वे शून्यता से भयभीत होकर यह सोचने लगते हैं कि इससे संसार ही अच्छा है। फलतः वे निर्वाणसुख से विमुख होकर वापस दुःखात्मक संसार में लौट आते हैं। यह शून्यता सिद्धान्त का दोष है। अर्थात् ऐसी शून्यता को सिद्ध करने से क्या लाभ ?

तदेवं शून्यतापक्षे दूषणं नोपपद्यते ।

तस्मान्निर्विचिकित्सेन भावनीयैव शून्यता ॥ ५४ ॥

དེ་ལྟར་སྟོང་བ་ཉིད་སྟོབས་ལ།

སྤྱན་འབྱིན་པ་ནི་འཕྲད་མ་ཡིན།

དེས་ན་གྲི་ཚལ་མི་ཟ་བར།

ཐུང་པ་ཉིད་ནི་བསྐྱེལ་པར་བྱ། ༥༥ །

समाधान

जो आपने शून्यता से भय के कारण संसार में रह जाने का दोष शून्यता के पक्ष में दिया है, वह हम पर लागू नहीं होता। इस दोष का परिहार या समाधान आगे की (६ : ५६ आदि) कारिकाओं में किया जाएगा। इसलिए सन्देह से रहित होकर यह समझते हुए कि वस्तु का स्वभाव (सत्ता) उपलब्ध नहीं है, शून्यता (सर्वधर्मनिःस्वभावता) का ही अभ्यास करना चाहिए।

इस प्रकार जो ऊपर (६ : ४१ में) यह कहा गया था कि शून्यतामार्ग के बिना बोधि प्राप्त करना सम्भव नहीं है, उसका यहाँ उपसंहार किया गया है।

ऊपर (६ : ४१ में ही) जो यह कहा गया था कि चार आर्यसत्त्यों के साक्षात्कार से ही जब मुक्ति हो जाती है तो शून्यता के दर्शन से क्या लाभ ? अब यहाँ इसका समाधान किया जा रहा है और इस दृष्टि से शून्यता की विशेषता भी बतलाई जा रही है—

क्लेशज्ञेयावृत्तितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता ।

शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम् ॥ ५५ ॥

क्लेशज्ञेयावृत्तितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता ।

शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम् ॥ ५५ ॥

क्लेशज्ञेयावृत्तितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता ।

शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम् ॥ ५५ ॥

राग, द्वेष आदि क्लेश ही क्लेशावरण हैं, क्योंकि ये निर्वाण की प्राप्ति में बाधक हैं। रूप, शब्द आदि ज्ञान के विषय 'ज्ञेय' हैं। यद्यपि ये निःस्वभाव हैं, फिर भी सस्वभावरूप (वस्तुसत् रूप) में आरोपित किये जाते हैं।

यह जो वस्तुसत् रूप में समारोप है, यही ज्ञेयावरण है। क्योंकि इसके द्वारा वस्तु की वास्तविक स्थिति जो निःस्वभावता है, उसका आवरण किया जाता है। ये जो क्लेशावरण और ज्ञेयावरण हैं, ये अन्धकार की तरह हैं, क्योंकि इनके द्वारा वस्तुस्थिति (यथार्थ = शून्यतास्वभाव) को छिपा दिया जाता है। इन दोनों आवरणों के प्रहाण का हेतु (प्रतिपक्ष) शून्यता है। इसलिए जो साधक शीघ्रतया सर्वज्ञता (बुद्धत्व) प्राप्त करना चाहता है, वह इस शून्यता की भावना क्यों नहीं करता ? अर्थात् उसे प्रयत्नपूर्वक भावना करना ही चाहिए।

शून्यता से भय होता है, अतः उसमें लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती ? यदि कोई ऐसा कहे तो उसके उत्तर में यहाँ कहा जा रहा है—

यद्दुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात् प्रजायताम् ।

शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ॥ ५६ ॥

५६. ॥ ५६ ॥

५६. ॥ ५६ ॥

५६. ॥ ५६ ॥

५६. ॥ ५६ ॥

जिस वस्तु से दुःख पैदा होता हो, उस वस्तु से भय होना उचित है। शून्यता तो दुःख का शमन करनेवाली है, उससे भय का क्या कारण है ? बे-जगह भय का क्या प्रयोजन है ? सभी अच्छे गुणों का मूल कारण होने की वजह से शून्यता के प्रति तो प्रेम होना चाहिए। सांसारिक दुःखों का शमन करना शून्यता का गुण है। यह भय तो शुरु-शुरु में चिन्तन में छिछलापन होने के कारण होता है। बाद में तो ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्ति का एकमात्र हेतु शून्यता ही है। अन्त में उसके प्रति आकर्षण होने लगता है।

आत्मा का निषेध

यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन ।

अहमेव न किञ्चिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति ॥ ५७ ॥

५७. ॥ ५७ ॥

५७. ॥ ५७ ॥

५७. ॥ ५७ ॥

५७. ॥ ५७ ॥

व्यक्ति में अनादि काल से आत्मदृष्टि (अविद्या) की वासना प्रवर्तित होते हुए चली आ रही है, जिसकी वजह से उसमें हमेशा प्रतिक्षण आत्मदृष्टि उत्पन्न होती रहती है। इस आत्मदृष्टि की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है, एक आन्तरिक (आध्यात्मिक) और दूसरी बाह्य। जब आन्तरिक प्रवृत्ति होती है तब पञ्चस्कन्ध-

समूहात्मक व्यक्तित्व में उन स्कन्धों से भिन्न एक कल्पित 'अहं' का ग्रहण होता है। इतना ही नहीं, उस अहं के प्रति यह बुद्धि भी होती है कि यह कर्ता, भोक्ता, सुख-दुःख का वेदन करनेवाला और नित्य एवं शाश्वत है। यह पुनर्जन्म का ग्रहण करता है— इत्यादि। अनादिकाल से चली आने के कारण यह आत्मदृष्टि इतनी दृढ़ हो गई है कि उसकी वजह से स्वप्न में भी 'अहं' का ग्रहण होता रहता है। जब उस आत्मदृष्टि की बहिर्मुखी (बाह्य) प्रवृत्ति होती है तब सुख-दुःख के कारण बाह्य रूप, शब्द, गन्ध आदि जड़ पदार्थों एवं चित्त-चैतन्य आदि ज्ञानजातीय पदार्थों के प्रति, संक्षेप में सभी संस्कृत-असंस्कृत पदार्थों के प्रति कल्पित स्वभावसत्ता का ग्रहण होता है। जब कि कार्य एवं कारण आदि सभी पदार्थ (धर्म) प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण सापेक्ष-मात्र हैं, उनकी निरपेक्ष या परमार्थ सत्ता बिलकुल भी नहीं है। फलतः सभी धर्म (पदार्थ) निरात्मक, निःस्वभाव एवं शून्य हैं। अर्थात् निःस्वभावता (शून्यता) सभी धर्मों की वास्तविक (यथार्थ) स्थिति है। इस तरह आत्मदृष्टि के दो प्रकार होने से नैरात्म्य भी द्विविध है। पुद्गल (आत्मा या अहं) की सत्ता का अभाव पुद्गल-नैरात्म्य एवं जड़-चेतन, संस्कृत-असंस्कृत सभी धर्मों की स्वभावसत्ता का अभाव धर्मनैरात्म्य है।

ग्रन्थकार का कहना है कि यदि उपर्युक्त आत्मदृष्टिजनित कल्पित अहं-भाव की सत्ता हो तो जहाँ कहीं से (भयस्थान या अभयस्थान से) भय हो सकता है; किन्तु विचार करने पर जब 'अहं' नाम की कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं है तो भय किसे होगा? वस्तुतः भय का कारण यह कल्पित 'अहं' ही है, किन्तु विचार करने पर शब्दमात्र और कल्पनामात्र होने से अतिरिक्त उसकी जब कुछ भी सत्ता नहीं है तो भय के लिए अवकाश कहाँ?

अहं-बोध का विषय जो आत्मा है, वह कल्पित होने से असत् है— इस बात को अब दिखलाया जा रहा है—

दन्तकेशनखा नाहं नास्थि नाप्यस्मि शोणितम् ।

न सिङ्घाणं न च श्लेष्मा न पूयं लसिकापि वा ॥ ५८ ॥

सोऽहं श्लेष्मोऽहं पयसाऽहं ।

पयसाऽहं श्लेष्मोऽहं पयसाऽहं ।

श्लेष्मोऽहं पयसाऽहं पयसाऽहं ।

श्लेष्मोऽहं पयसाऽहं पयसाऽहं । ५८ ।

दांत, केश और नख में नहीं हैं। अर्थात् इनमें से कोई भी अहंप्रत्यय का विषय नहीं है। न मैं अस्थि (हड्डी) हूँ और न मैं रुधिर (खून) हूँ। न मैं नाक का मेल हूँ और न खखार (मुख से निकलने वाला कफ) हूँ। मैं मवाद और लसिका (घाव से निकलनेवाला तरल पदार्थ) भी नहीं हूँ।

नाहं वसा न च स्वेदो न मेदोऽन्त्राणि नाप्यहम् ।

न चाहमन्त्रनिर्गुण्डी गूथमूत्रमहं न च ॥ ५९ ॥

सदमा'के'लमा'द'दु'म'मे'के'ने ।

स्त्रो'म'के'के'द'मा'गु'द'स'द'मा'म'प'के'ने ।

के'द'स्त्रो'म'मे'के'के'द'स'द'मा'मे'के'ने ।

सदमा'के'स्त्रो'म'मे'के'के'मे'के'ने ५० ।

मैं वसा (Fat) नहीं हूँ, स्वेद (पसीना) नहीं हूँ, मेद नहीं हूँ। मैं आतें भी नहीं हूँ। मैं अन्त्रनिर्गुण्डी नहीं हूँ। मैं मल-मूत्र भी नहीं हूँ।

नाहं मांसं न च स्नायु नोष्मा वायुरहं न च ।

न च छिद्राण्यहं नापि षड् विज्ञानानि सर्वथा ॥ ६० ॥

मा'द'स'मा'स'स'स'द'मा'मे'के'ने ।

स्त्रो'द'd'

सु'मा'स'द'मा'मे'के'के'मे'के'ने ।

के'मे'

मैं मांस नहीं हूँ। स्नायु (नसें) नहीं हूँ। ऊष्मा (शरीर की गर्मी) एवं वायु (आश्वास-प्रश्वास) भी मैं नहीं हूँ। न तो मैं छिद्र (चक्षु आदि इन्द्रिय) हूँ और न किसी भी प्रकार से छह विज्ञान (छह इन्द्रियविज्ञान) ही मैं हूँ। छह विज्ञान ये हैं—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान। 'सर्वथा' का तात्पर्य है—किसी भी प्रकार से अर्थात् न तो एक और न सामूहिक रूप से ये अहंप्रत्यय के विषय हैं। इन सब अवयवों में कोई एक अवयव भी सम्भव नहीं है, क्योंकि आगे उसका खण्डन किया जाने वाला है। अनेकों में एक का बोध

सर्वथा भ्रान्त ज्ञान ही होता है और भ्रान्ति के आधार पर तत्त्व की व्यवस्था नहीं की जा सकती । इसलिए यह 'अहं' अर्थशून्य कल्पनामात्र ही सिद्ध होता है । अशुभभावना के निरूपण के अवसर पर यह बात कही गई है । फलतः यह 'अहं-प्रत्यय' निर्विषयक है । अर्थात् इस प्रत्यय (बोध या ज्ञान) का कोई विषय नहीं है ।

आत्मवादी—यह सही है कि केश, नख आदि अहं-प्रत्यय (अहंबोध) के विषय नहीं हैं, फिर भी यह अहं-प्रत्यय निर्विषयक नहीं है । अर्थात् ऐसा नहीं है कि इसका कोई विषय ही न हो । भीतर स्थित क्रियावान् आत्मा (पुरुष) इस (अहं-प्रत्यय) का विषय है—ऐसा हम मानते हैं ।

साध्यमिक - आपका ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि 'मैं गोरा हूँ, काला हूँ, दुबला (पतला) हूँ, मैं लम्बा या नाटा हूँ, मैं जा रहा हूँ या आ रहा हूँ'—इस प्रकार का आकार ही अहं-प्रत्यय में भासित होता है । और आप इस प्रकार का रूप (काला, गोरा आदि आकार) आत्मा का नहीं मानते । ज्ञान में जो आकार भासित हो, उससे भिन्न विषय का आकार मानना, अर्थात् भिन्न आकार वाले ज्ञान द्वारा भिन्न आकार वाले विषय का ग्रहण मानना युक्त नहीं है । यदि ऐसा होने लगेगा, अर्थात् अन्य आकार वाले ज्ञान द्वारा अन्य आकार वाले विषय का ग्रहण माना जाने लगेगा तो बड़ी अव्यवस्था होने लगेगी । तब इस ज्ञान का 'यह विषय है'—ऐसी कोई व्यवस्था ही नहीं रह जाएगी । सभी ज्ञान के सभी विषय होने लगेंगे । यह किसी भी तरह युक्त नहीं है ।

नैयायिक—नैयायिक आत्मा को नित्य, व्यापक, प्रति शरीर (प्राणी) में भिन्न-भिन्न, अचेतन, फिर भी चेतना के योग से चेतन, सुख-दुःख, बुद्धि आदि गुणों का आधार, शुभ, अशुभ कर्मों का कर्ता, उन कर्मों के इष्ट, अनिष्ट आदि फलों का

१. द्र०—शिक्षासमुच्चय, पृ० ११५-११६ । कायस्मृत्युपस्थान के प्रतिपादन के अवसर पर भी आगे यह बात उक्त है । द्र०—शिक्षासमुच्चय, पृ० १२४ ।

तु०—अल्थि इमस्मि काये—केसा लोमा नखा दन्ता तचो मंसं न्हारु अट्टि अट्ठिमिज्जं वक्कं हृदयं यकनं किलोमकं पिहकं पप्फासं अन्तं अन्तगुणं उदरियं करीसं मत्थलुज्जं पित्तं सेम्हं पुब्बो लोहितं सेदो मेदो अस्सु वसा खेळो सिङ्घाणिका लसिका मुत्तं ति । द्र०—खुदकपाठपालि, खुदक-निकाय, प्रथम भाग, पृ० ४ (नालन्दा-संस्करण १९५९) ।

भोक्ता तथा इस लोक से परलोक में जानेवाला आदि मानते हैं। करीब-करीब आत्मा के स्वरूप के बारे में वैशेषिकों की भी यही मान्यता है^१।

जैमिनीय (मीमांसक)—मीमांसक भी आत्मा को चेतन और नित्य मानते हैं, किन्तु उसका कुछ स्वभाव परिवर्तित होता रहता है और कुछ स्वभाव अपरिवर्तनशील रहता है। जैसे उसकी सुख अवस्था चली जाती है और दुःख अवस्था आ जाती है, किन्तु उसका सत् होना, चेतन होना, द्रव्य होना आदि स्वभाव अपरिवर्तनशील रहता है। इसके दृष्टान्त के रूप में वे कहते हैं कि जैसे सर्प की कुण्डलावस्था निवृत्त होती है और ऋजु (सीधा होना) अवस्था आ जाती है, किन्तु दोनों अवस्थाओं में सर्पत्व (सर्प होना) बराबर बना रहता है। इसी तरह आत्मा के नित्यत्व, चैतन्य आदि अपरिवर्तित रहते हैं। फिर उनका कहना है कि यह चैतन्य भी बुद्धि से भिन्न नहीं है। अर्थात् वह बुद्धिस्वभाव ही है^२। बाकी बातें उपर्युक्त नैयायिक मत की भाँति ही हैं।

जैनमत—मीमांसकों की भाँति जैन (दिगम्बर) भी आत्मा को चित्स्वरूप (चेतन) ही मानते हैं तथा उन्हीं की भाँति यह भी कहते हैं कि आत्मा का द्रव्य-स्वभाव हमेशा अनुगत रहता है और उसका पर्याय-स्वभाव बदलता रहता है। आत्मा की यह द्विरूपता (दो स्वभाव) प्रत्यक्षतः सिद्ध है। इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। जैसे—सुख, दुःख की अवस्थाओं में भेद होने पर भी सभी अवस्थाओं में जो चैतन्य की उपलब्धि होती है, यह आत्मा का द्रव्य-स्वभाव है तथा सुख, दुःख आदि की अवस्थाओं के क्रमशः होनेवाले भेद आत्मा के पर्यायस्वभाव हैं^३।

१. अन्ये पुनरिहात्मानमिच्छादीनां समाश्रयम् ।

स्वतोऽचिद्द्रुमिच्छन्ति नित्यं सर्वगतं तथा ॥

शुभाशुभानां कर्तारं कर्मणां तत्फलस्य च ।

भोक्तारं चेतनायोगाच्चेतनं न स्वरूपतः ॥

द्र०—तत्त्वसंग्रह, १७१-१७२ कारिका, पृ० १०१-१०२ (बौद्धभारती-संस्करण १९६८)।

२. व्यावृत्त्यनुगमात्मानमात्मानमपरे पुनः ।

चैतन्यरूपमिच्छन्ति चैतन्यं बुद्धिलक्षणम् ॥

यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तदनन्तरम् ।

सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं त्वनुवर्तते ॥

तथैव नित्यचैतन्यस्वभावस्यात्मनाऽपि न ।

निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमोऽपि वा ॥

द्र०—तत्त्वसंग्रह, २२२-२२४ का०, पृ० १२१-१२२ ।

३. जैमिनीया इव प्राहुर्जैनाश्चित्तलक्षणं नरम् ।

द्रव्यपर्यायरूपेण व्यावृत्त्यनुगमात्मकम् ॥ द्र०—तत्त्वसंग्रह, ३११ का०, पृ० १५० ।

सांख्य मत—कपिल के अनुयायी सांख्य लोग आत्मा को नित्य, व्यापक, निर्गुण एवं स्वतः चैतन्यरूप मानते हैं। वे नैयायिकों की भाँति ऐसा नहीं मानते कि आत्मा अचेतन है और चेतना का योग होने पर वह चेतन होता है। वे बुद्धि को अचित्स्वभाव (अचैन्य अर्थात् जड़) मानते हैं। वह (आत्मा) न किसी कार्य का कर्ता है और न कर्म के फलों का भोक्ता, क्योंकि वह निष्क्रिय है। प्रकृति ही कार्यों को करनेवाली एवं उनके फलों को प्रस्तुत करनेवाली है। विपर्यास (विपरीत ज्ञान) की वजह से वह प्रकृति के कार्यों को अपना कार्य मानने लगता है। अर्थात् अपने में कर्ता का आरोप करता है। इस तरह वह व्यापक होने से निष्क्रिय एवं चैतन्यरूप होने से निर्गुण है।

उपनिषद्-वादी—उपनिषद् के अनुयायियों का कहना है कि समस्त प्राणियों के भीतर एक, व्यापक एवं नित्य ज्ञान है। पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि आदि यह सम्पूर्ण जगत् उसी के विवर्त (परिणाम) के रूप में भासित होता है। वे पृथ्वी आदि ग्राह्य ज्ञान से अतिरिक्त पृथक् या स्वतन्त्ररूप से सत् नहीं हैं। वे पृथ्वी आदि स्वतन्त्र रूप से अवयवी के रूप में भासित नहीं होते तथा परमाणु भी सत् नहीं हैं। फलतः वे विज्ञान के ही प्रतिभास (आभास) हैं, यह निश्चित होता है।

पुद्गलवादी—बौद्धों में वात्सीपुत्रीय पुद्गलवादी होते हैं। इनके अनुसार पुद्गल होता है, जो न पंच स्कन्धस्वभाव है और न पंच स्कन्धों से भिन्न। अर्थात् न उसे स्कन्धों से भिन्न कह सकते और न अभिन्न, किन्तु वह होता है। इसे वह बुद्ध-वचनों से सिद्ध करते हैं^३। यह एक प्रकार का अनिर्वचनीय आत्मा ही है, जैसे कि तैर्थिक (बौद्धेतर) लोग मानते हैं^४।

१. चैतन्यमन्ये मन्यन्ते भिन्नं बुद्धिस्वरूपतः ।
आत्मनश्च निजं रूपं चैतन्यं कल्पयन्ति ते ॥
प्रधानेनोपनीतं च फलं भुङ्क्ते स वेवलम् ।
कर्तृत्वं नैव तस्यास्ति प्रकृतेरेव तन्मतम् ॥ द्र०—तत्त्वसंग्रह, २८५-२८६ का०, पृ० १४२ ।
२. नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः ।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः ॥
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते ।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्ष्यते ॥ द्र० तत्त्वसंग्रह, ३२८-३२९ का०, पृ० १५६ ।
३. द्र०—भारहृरसूत्र ।
४. केचिच्च सौगतमन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते ।
पुद्गलव्यपदेशेन तत्त्वान्यत्वादिवर्जितम् ॥ द्र०—तत्त्वसंग्रह, ३३७ का०, पृ० १५९ ।

इस तरह आत्मवादियों ने आत्मा के अनेक (नाना) प्रकार के लक्षण बताये हैं, किन्तु वे अहं-प्रत्यय के विषय नहीं हो सकते, क्योंकि उस प्रकार के लक्षण अहं-प्रत्यय में भासित ही नहीं होते। तब कैसे वे कह सकते हैं कि आत्मा अहं-प्रत्यय का विषय है। यदि वह अहं-प्रत्यय (अहं-बोध) का विषय है तो उसे उस (अहं-प्रत्यय) में उस प्रकार से भासित होना चाहिए, किन्तु नहीं होता। अतः आत्मा केवल कल्पनामात्र है और अहं-प्रत्यय निर्विषयक होता है।

आत्मा को चित्स्वभाव (ज्ञानस्वभाव) माननेवाले सांख्य दार्शनिक इस बात को सहन नहीं कर पाते कि चक्षुर्विज्ञान आदि छह इन्द्रियविज्ञान आत्मा नहीं हैं। वे कहते हैं कि शब्दादिज्ञान चिदात्मक (चित्स्वभाव = चैतन्यरूप) हैं और वही आत्मा है। तब आप (बौद्ध) कैसे आत्मा का निषेध कर सकते हैं, क्योंकि छह विज्ञान तो आप भी मानते ही हैं ?—

शब्दज्ञानं यदि तदा शब्दो गृह्येत सर्वदा ।

ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति येन ज्ञानं निरुच्यते ॥ ६१ ॥

माम्'ते'क्ष्ण'यी'पेक्ष'दमा'वा ।

प्रमस'उद'ठे'व'क्ष्ण'द्वैव'दगु'र ।

पेक्ष'सु'मेद'व'ठे'रिमा'व'वा ।

माम्'मीस'पेक्ष'स'लेस'द्वै'द'सु'द । ७१ ।

यदि आत्मा शब्दज्ञान, रूपज्ञान आदि स्वभाववाला है तो शब्दज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञान नित्य हो जाएँगे, क्योंकि आत्मा आपके मतानुसार नित्य होता है। ऐसी स्थिति में शब्द भी नित्य (हमेशा) गृहीत होगा, क्योंकि नित्य शब्दज्ञान शब्द का ग्राहक है। शब्दज्ञान का विषय शब्द है, वह (शब्द) चाहे हो या न हो, वह सदा नित्य शब्दज्ञान का ग्राह्य रहेगा। यदि शब्द के न रहने पर शब्दज्ञान न रहेगा तो उसकी नित्यता की हानि होगी।

यदि पूर्वपक्षी (सांख्य) कहे कि शब्द आदि के ज्ञान को नित्य मानने से आपने जो दोष दिए हैं, वे हमें स्वीकार हैं ? इस पर माध्यमिकों का कहना है कि—

ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति०—माध्यमिक का कहना है कि ज्ञान तो नित्य होने से सर्वदा उपस्थित रहेगा, किन्तु शब्द तो नित्य नहीं है। कभी रहेगा और कभी नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में जब शब्द नहीं रहेगा, उस समय ज्ञेय या विषय के न रहने

पर ज्ञान किसे जानेगा, क्योंकि जो जानता है, उसे ही 'ज्ञान' कहते हैं। जब जानने के लिए विषय ही न रहेगा तो किसे जानकर वह ज्ञान कहलाएगा? अर्थात् ज्ञेय के अभाव में वह ज्ञान भी नहीं कहलाया जा सकेगा।

अजातानं यदि ज्ञानं काष्ठं ज्ञानं प्रसज्यते ।

तेनासंनिहितज्ञेयं ज्ञानं नास्तीति निश्चयः ॥ ६२ ॥

གཤམ་ཏེ་ཤེས་མེད་ཤེས་ཡིན་ན།

ཤིང་ཡང་ཤེས་བར་བྲལ་བར་འགྱུར། །

དེས་ན་ཤེས་བྱ་ཉེར་གཞི་ལ།

མེད་པར་ཤེས་པ་མེད་ཅིས་ངེས། ༤༣

जो विषय (जेय) को न जाने, वह भी यदि ज्ञान कहा जाने लगे, तब तो काष्ठ (लकड़ी) भी ज्ञान कहलाने लगेगी । अर्थात् ज्ञान काष्ठ-स्वभाव हो जाएगा । काष्ठ ने कोई अपराध नहीं किया है, जिससे कि वह ज्ञान न कहला सके । इसलिए जैसे विषय का ज्ञान न करने के कारण काष्ठ कभी ज्ञान नहीं होता, वैसे कोई भी, जो विषय का ज्ञान न करेगा, वह ज्ञान नहीं हो सकेगा । ज्ञातव्य है कि काष्ठ हमेशा विषय ही होता है, वह कभी विषय का ज्ञान करने (विषयी) नहीं होता ।

तेनासंनिहितज्ञेयं ज्ञानं नास्ति०—ज्ञान कभी निर्विषयक नहीं होता। अर्थात् ज्ञान कभी ऐसा नहीं होता, जो योग्य देश में स्थित विषय को नहीं जाने। इसलिए ज्ञान हमेशा ऐसा होता है कि उसके विषय-क्षेत्र में कोई न कोई ज्ञेय अवश्य होता है। अर्थात् ज्ञान हमेशा इस स्वभाव का होता है कि ज्ञेय (विषय) को सदा उसके सन्निहित (नजदीक में स्थित) होना चाहिए। अर्थात् योग्यदेश में स्थित होना चाहिए। योग्य देश का तात्पर्य उतने देश से है, जितनी दूरी तक वह विषय का ग्रहण करने में सक्षम (समर्थ) होता है। यदि ऐसा नहीं होगा, अर्थात् ज्ञान यदि समीपस्थ अपने विषय को जाननेवाला न होगा, तो वह 'ज्ञान' कहलाने के योग्य नहीं होगा। अर्थात् उसे 'ज्ञान' नहीं कह सकते। यह नियम अटल है।

सांख्यवादी—शब्द हमेशा विद्यमान (नित्य) ही होता है । अर्थात् शब्द की सत्ता सदा विद्यमान होती है । हाँ इतना अवश्य होता है कि ज्ञान द्वारा उसका कभी-कभी ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी (कदाचित्) होती है । शब्दज्ञान अनभिव्यक्त शब्द को ग्रहण नहीं कर पाता । जब वह (शब्द) अभिव्यक्त होता है, तभी वह उसे ग्रहण करता है, किन्तु शब्द जब अभिव्यक्त नहीं होता,

तब भी अव्यक्त रूप में तो रहता ही है। अतः आपने जो यह दोष दिया है कि जिस ज्ञान के समीप (योग्य देश में) ज्ञेय नहीं रहेगा वह ज्ञान ही न कहला सकेगा ?— यह स्थिति हमारे पक्ष में कभी नहीं आएगी, क्योंकि शब्द किसी न किसी रूप में व्यक्त या अव्यक्त रूप में ज्ञान के समीप रहता ही है ?

माध्यमिक— प्रश्न शब्द का नहीं है कि वह हमेशा रहता है या नहीं। प्रश्न है कि ज्ञान हमेशा ग्राहक (ग्रहण करनेवाला) रहता है या नहीं ? ज्ञान का स्वभाव विषय को ग्रहण करना है। अर्थात् ग्राहक होना है। किन्तु ज्ञान जब ग्राहक नहीं रहता तब उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ? हमारा यह प्रश्न अभी तक अनुत्तरित (तदवस्थ) ही है। अर्थात् आपके द्वारा इसका अभी तक उत्तर नहीं दिया जा सका है।

शब्द हमेशा विद्यमान (नित्य) नहीं रहता, वह अनित्य है—इसका प्रतिपादन हम आगे करेंगे। यदि यहाँ इसकी चर्चा करेंगे तो नाहक विस्तार होगा।

सांख्य का कहना है कि हमारे मतानुसार आत्मा चेतन है और ज्ञान ही चेतना है, अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जब उसके समीप शब्द स्थित नहीं होगा, उस समय वह रूप (नील, पीत आदि वस्तु) को ग्रहण करेगा। कोई न कोई विषय उसके समीप अवश्य स्थित रहेगा और वह उसे ग्रहण करेगा। शब्द के रहने पर उसके ज्ञान न रहने का प्रसंग (दोष) जो आपने दिया है, वह हम पर लागू नहीं होता ?

तदेव रूपं जानाति तदा किं न शृणोत्यपि ।

शब्दस्यासन्निधानाच्चेत् ततस्तज्ज्ञानमप्यसत् ॥ ६३ ॥

दे० ३८० ॥ १०० ॥ १०० ॥ १०० ॥

दे० ३८० ॥ १०० ॥ १०० ॥ १०० ॥

१०० ॥ १०० ॥ १०० ॥ १०० ॥

१०० ॥ १०० ॥ १०० ॥ १०० ॥

माध्यमिक—वही शब्दज्ञान यदि रूप^१ को भी जानता है तो उस समय (रूप

१. रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श ये पाँचों विषय, क्रमशः चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय—इन पाँच इन्द्रियों के विषय होते हैं। पाँच विषय और पाँच इन्द्रिय—ये दश रूपी पदार्थ हैं। अर्थात् रूपास्पर्श में संगृहीत होते हैं।

को ग्रहण करते समय) वह शब्द को भी ग्रहण क्यों नहीं करता ? अर्थात् शब्द को क्यों नहीं सुनता ?

सांख्य—शब्द को भी सुनता ही है, यदि शब्द उस (शब्दज्ञान) के समीप स्थित हो । यदि शब्द सन्निहित नहीं होगा, तो नहीं सुनेगा ।

माध्यमिक—शब्द के असन्निहित अर्थात् योग्य देश में स्थित न होने से यदि वह शब्दज्ञान उसे नहीं सुनता, यदि आप ऐसा मानते हैं तो हमारा कहना है कि तब वह शब्दज्ञान भी असत् (अविद्यमान) ही है ।

कहने का आशय यह है कि जो ज्ञान रूपग्राही होगा, वह शब्दग्राही नहीं हो सकता, किन्तु आप उसे नित्य मानते हैं, क्योंकि आत्मा नित्य है और ज्ञानस्वरूप है । नित्य उसे कहते हैं, जिसके स्वभाव में कोई परिवर्तन न हो और यहाँ परिवर्तन हो रहा है । कभी वह रूपग्रहण करने के स्वभाववाला होता है और कभी शब्दग्रहण करनेवाले स्वभाव का हो जाता है । फलतः ऐसा पदार्थ अनित्य ही होगा । इसी बात को आगे कहा जा रहा है—

शब्दग्रहरूपं यत् तद् रूपग्रहणं कथम् ।

एकः पिता च पुत्रश्च कल्प्यते न तु तत्त्वतः ॥ ६४ ॥

सु'अद्वैत'रूप'मवैत'मा'अद्वैत'मा ।

दे'माद्वैत'अद्वैत'मा'अद्वैत'मा ।

मा'अद्वैत'मा'अद्वैत'मा'अद्वैत'मा ।

मा'अद्वैत'मा'अद्वैत'मा'अद्वैत'मा । ६५ ।

जिसका स्वभाव शब्दग्रहण करना है, अर्थात् जो ज्ञान शब्दग्राहक है, वह रूप का ग्रहण करनेवाला कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । एक वस्तु के दो अंश या दो स्वभाव नहीं हो सकते । ऐसी स्थिति में वह वस्तु भी दो हो जाएगी, एक नहीं रह सकती । एक का अर्थ है, जिसका कोई अंश न हो या जिसका एक ही स्वभाव हो । क्योंकि स्वभावभेद ही वस्तुभेद का नियामक होता है । यदि स्वभावभेद होने पर भी वस्तु एक ही रह जाएगी तो ऐसी स्थिति में सारा जगत् एक हो जाएगा । अर्थात् वस्तुओं के भिन्न होने का कोई कारण ही नहीं रह जाएगा । यह माध्यमिकों का प्रसङ्ग है, जो (दोष) उन्होंने सांख्यपक्ष पर आरोपित किया (लगाया) है ।

एकः पिता च पुत्रश्च०—सांख्यों का कहना है कि जैसे एक ही व्यक्ति अपने पिता की दृष्टि से पुत्र होता है और उसी समय अपने पुत्र की दृष्टि से पिता भी होता है, उसी तरह जो ज्ञान शब्दग्राही है वही रूपग्राही भी हो सकता है। अर्थात् एक वस्तु के दो स्वभाव हो सकते हैं।

माध्यमिक—एक ही व्यक्ति का पिता और पुत्र दोनों होना कल्पना-सापेक्ष है। अर्थात् वह पिता की अपेक्षा से पुत्र तथा पुत्र की अपेक्षा से पिता कल्पित किया जाता है और जैसे कल्पित किया जाता है, वैसे ही उसमें पिता और पुत्र शब्दों की प्रवृत्ति भी होती है। तात्पर्य यह है कि ये सब कल्पना के व्यापार हैं और कल्पना के अनुसार ही शब्द की व्यवस्था भी होती है। यह तात्त्विक व्यवस्था नहीं है। क्योंकि तत्त्व का स्वरूप कल्पना और शब्द के विषयक्षेत्र से बाहर है। अर्थात् तत्त्व कभी भी शब्द और कल्पना का विषय नहीं होता।

किसी एक वस्तु के दो स्वरूप कभी भी नहीं होते। यदि स्वरूप दो होंगे तो निश्चित ही वस्तु भी दो हो जाएगी। आप (सांख्य) ने जो व्यक्ति का दृष्टान्त दिया है, उसके दोनों (पिता और पुत्र) रूप कल्पित हैं। और जो कल्पित है, वह यहाँ हमारे विचार का विषय नहीं है। हम तो यहाँ तत्त्व का विचार कर रहे हैं और तात्त्विक दृष्टि से एक वस्तु के दो स्वरूप सम्भव नहीं हैं।

पुनश्च—

सत्त्वं रजस्तमो वापि न पुत्रो न पिता यतः ।

शब्दग्रहणयुक्तस्तु स्वभावस्तस्य नेक्ष्यते ॥ ६५ ॥

འདི་ལྟར་སྒྲིང་སྒྲོབ་སྤྲུལ་དང་ནི།

ཐུན་པ་བྱ་མིན་པ་ཡང་མིན།

དེ་ཉི་མཱ་འཁོན་དང་ལྷན་པའི།

རང་བཞིན་དུ་ནི་མགྲོང་མ་ཡིན། ༩༡ །

सांख्य मत में यह एक जगत् त्रिगुणात्मक है। अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त है। प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक होती है। माध्यमिकों का कहना है कि तुम्हारे मत के अनुसार ये तीन गुण ही परमार्थ हैं। चाहे वे अकेले हों या समुदित (इकट्ठे) रूप में हों, वे अपने-अपने स्वभाव में ही स्थित होते हैं। फलतः आपके मतानुसार भी पिता, पुत्र आदि परमार्थ तत्त्व नहीं हैं, अपितु कल्पितमात्र या व्यवहारमात्र हैं।

वह पूर्व रूप का त्याग कर दूसरे रूप को धारण करता है और यही अनित्य होने का लक्षण है। अपि च, पूर्वकाल और पश्चात्काल में भिन्न-भिन्न रूप होने के कारण नट एक ही स्वभाववाला भी नहीं है। यदि उसे भिन्न-स्वभाववाला नहीं मानोगे तो तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि एक ही वस्तु के एक ही काल में दो स्वभाव होते हैं और ऐसा मानना सर्वथा युक्तिरहित है।

सांख्य—हमारा कहना है कि भाव (पदार्थ) वही रहता है, किन्तु उसका स्वभाव भिन्न-भिन्न होता रहता है। स्वभाव उत्पन्न और निरुद्ध होते रहते हैं, किन्तु भाव (पदार्थ) वही (तदवस्थ ही) रहता है। इसलिए आपने जो दोष दिया है, वह हम पर लागू नहीं होता।

माध्यमिक—आप (सांख्य) का कहना है कि शब्दज्ञान नट के समान है। जैसे अनेक रूप धारण करते रहने पर भी वह नट एक और अभिन्न रहता है, वैसे ही शब्दज्ञान है। इस पर हमारा कहना है एक वस्तु में दूसरा स्वभाव उत्पन्न हो जाने पर भी वह वही एक और अभिन्न वस्तु बनी रहती है—ऐसा आपका कहना तो आश्चर्यजनक एवं अभूतपूर्व है। 'वह अन्य है और वही है'—इस प्रकार की एकता का तात्पर्य है, दो परस्पर विरोधी स्वभावों का एक ही वस्तु होना। यह सर्वथा असम्भव है।

कोई भी भाव (पदार्थ) अपने स्वभाव से भिन्न (अन्य) नहीं होता। अर्थात् स्वभाव पदार्थ से अभिन्न होता है। उस अभिन्न स्वभाव के उत्पन्न और निरुद्ध होने पर भी वस्तु वही (एक और अभिन्न) बनी रहती है—यह कथमपि युक्त नहीं है।

पुनश्च, यदि नट के समान शब्दज्ञान भिन्न-भिन्न स्वभाववाला हो जाता है तो वह अनित्य हो जाएगा। क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन होना ही अनित्यता का लक्षण है। जब कि आप आत्मा को नित्य मानते हैं।

सांख्य—आप (माध्यमिक) का दोषारोपण हमारे ऊपर तब लागू हो सकता है, जब हम एक ही वस्तु के दो स्वभाव मानते हों। हम तो यह कहते हैं कि वह वस्तु जब दूसरा रूप (स्वभाव) धारण करती है, तब वह दूसरा रूप अतात्त्विक या काल्पनिक होता है। इसलिए उक्त दोष हम पर लागू ही नहीं है ?

अन्यद् रूपससत्यं चेन्नजं तद्रूपमुच्यताम् ।

ज्ञानता चेत् ततः सर्वपुंसामैक्यं प्रसज्यते ॥ ६७ ॥

གཤམ་དེ་ཚུལ་གཞན་བདེན་མིན་ན། །

དེ་ཡི་རང་གི་རང་བཞིན་སྤྲུལ་པ།

ཤེས་ཉིད་ཅེ་ན་དེ་ལྟ་ན།

སྒྲེས་ཀྱི་གཙོ་བོ་དུ་བླ་མ་པར་འགྱུར། ཅུ།

माध्यमिक—यदि उस वस्तु का दूसरा रूप (स्वभाव) अस्वाभाविक, अतात्त्विक, असत्य या काल्पनिक है तो उसका अपना निजी रूप क्या है? अर्थात् आत्मा का असली रूप क्या है? माध्यमिक के ऐसा पृष्ठने पर सांख्यवादी कहते हैं—

ज्ञानता—ज्ञानात्मकता (ज्ञानस्वभावता) ही उसका अपना निजी रूप है। जो (ज्ञानात्मकता) उसके कितने ही रूप बदल जाएँ, फिर भी पूर्वकाल और पश्चात्काल में सर्वदा उस (आत्मा) का अनुगमन करता रहता है। अर्थात् उसकी ज्ञानरूपता अक्षुण्ण बनी रहती है, उसमें परिवर्तन नहीं आता। जैसे स्फटिक नामक पाषाण के सामने नील आने पर वह स्फटिक नीला और लाल वस्तु आ जाने पर लाल हो जाता है। इस तरह रंग बदलते रहते हैं, किन्तु स्फटिक वही पूर्व, पश्चात् काल में एक और अभिन्न बना रहता है।

ततः सर्वपुंसांमेक्यं प्रसज्यते - माध्यमिक कहते हैं कि यदि ऐसा है तो जितने पुरुष (आत्मा) हैं, वे सब एक हो जाएँगे, क्योंकि ज्ञानरूपता उन सभी का साधारण रूप है। अर्थात् ज्ञान सभी आत्माओं का एकमात्र स्वभाव है। जैसे पूर्वकालिक शब्द-ज्ञान और पश्चात्कालिक रूप ज्ञान—इन दोनों ज्ञानों के आकारों में भिन्नता होने पर भी ज्ञान के रूप में आप उनकी एकता मानते हैं तो ऐसी स्थिति में सभी प्राणियों की, चाहे वे किसी योनि, गति के हों, उन सबकी एकता आपको माननी पड़ेगी। क्योंकि ज्ञानरूपता सबका एक स्वभाव है। जब कि आप आत्मा को अनेक एवं भिन्न-भिन्न मानते हैं। आप पर एक आत्मा मानने का प्रसंग (दोष) होगा।

दूसरा प्रसंग—

चेतनाचेतने चैक्यं तयोरेणास्तिता समा ।

विशेषश्च यदा मिथ्या कः सादृश्याश्रयस्तदा ॥ ६८ ॥

सोमस'दस'सोमस'मे'दे'दस'गु' ।

मार्त्त'दस'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म'म' ।

दे'मे'दस'मे'दे'दस'म'म'म' । ७८ ।

यदि आप (सांख्य) भेद के जो स्पष्ट निमित्त हैं, उन्हें आँख-ओझल करके किसी एक आकार के आधार पर उन्हें (पदार्थों को) एक कहते हैं, तब तो आपको चेतन, जो पुरुष का स्वभाव है और अचेतन, जो प्रकृति का स्वभाव है, उन दोनों (चेतन और अचेतन) को एक मानना पड़ेगा, क्योंकि अस्तित्व (होना) दोनों में समान रूप से स्थित है। अर्थात् चेतन और अचेतन दोनों सत् (विद्यमान) हैं, अतः सत्ता (विद्यमानता) दोनों में रहनेवाला समान स्वभाव है। अतः इस अस्तित्व के आधार पर दोनों एक हो जाएँगे।

सांख्य - वस्तुओं में भेद होने पर भी कुछ अंशों में समानता होती ही है। उस समानता अर्थात् सदृशता का कोई एक निमित्त (कारण) भी होता है। ऐसी स्थिति में जो आपने ऊपर कहा है, वह कोई दोष नहीं है।

विशेषश्च यदा मिथ्या० - माध्यमिक कहते हैं कि आपके मतानुसार सारे विशेष, भेद, फर्क मिथ्या हैं। वस्तुओं के जो निजी रूप हैं, वे ही सत्य हैं, जैसे आत्मा का निजी रूप ज्ञान है। ऐसी स्थिति में समानता या सादृश्य का आधार (आश्रय) क्या होगा ? अर्थात् किसके आधार पर आप सदृशता की व्यवस्था करेंगे। विशेषों अर्थात् भेदों के विद्यमान होने पर ही आप किसी साधर्म्य (समानधर्मता) के आधार पर उनमें सदृशता खोज सकते हैं। जब सारे फर्क, भेद या विशेष आपके अनुसार मिथ्या अर्थात् असत् ही हैं, तब सादृश्य किनमें होगा। अर्थात् सदृशता फिर किसके आधार पर होगी। तब तो वस्तु ही रह जाएगी, सदृशता न रह सकेगी। जैसे— एक 'गाय' नाम का पशु है और एक 'गवय' नाम का। इन दोनों में जो विशेष है अर्थात् भेद या फर्क है, उस भेद को आप मिथ्या मानेंगे, असत् या अविद्यमान मानेंगे तो 'गवय' कैसे 'गाय' के सदृश हो सकेगा ? अर्थात् न हो सकेगा। तब वहाँ केवल गाय ही रह जाएगी, सदृशता न रहेगी। वस्तुतः भेद ही सदृशता का आधार होता है। जब आपके मतानुसार वह पारमार्थिक (वास्तविक) नहीं है, तब प्राणियों या पदार्थों (वस्तुओं) की सदृशता या समानाकारता का आश्रय ही क्या रह जाएगा ? अर्थात् कुछ आधार नहीं रहेगा। फलतः सबका वास्तविक एकत्व या सबकी वास्तविक

एकरूपता हो जाएगी। सादृश्यमूलक एकता न होगी। तब आप कैसे कहते हैं कि आपने जो दोष दिया है, वह दोष ही नहीं है।

[यद्यपि यहाँ मुख्य रूप से सांख्य की चेतन (ज्ञानात्मक) आत्मा का निषेध किया गया है, किन्तु वस्तुतः मीमांसक, जैन और उपनिषद्वादी भी आत्मा को चेतन ही मानते हैं। अतः ये सब दूषण, जो हमने दिए हैं, यथासम्भव उन पर भी लागू करना चाहिए]।

नैयायिक—नैयायिक आत्मा को अचेतन मानते हैं। अब उसकी नित्यता का यहाँ निषेध किया जा रहा है—

अचेतनश्च नैवाहमाचेतन्यात् पटादिवत् ।

अथ ज्ञश्चेतनायोगादज्ञो नष्टः प्रसज्यते ॥ ६९ ॥

सोमसामेदं संप्रसादं संप्रसादं ।

सोमसामेदं श्रुतिं श्रुतिं सुमसामेदं ।

देवदेवसोमसामेदं श्रुतिं श्रुतिं ।

देवदेवसोमसामेदं श्रुतिं श्रुतिं ७० ।

आत्मा का अचेतन होना भी युक्त नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, जैसे—घट, पट, वृक्ष, पर्वत आदि। जैसे घट, पट आदि अचेतन होने से आत्मा नहीं हैं, वैसे ही जो भी अचेतन है, वह आत्मा नहीं है और आप आत्मा को अचेतन मानते हैं, अतः वह (अचेतन) आत्मा नहीं हो सकता। जैसे—घट, पट आदि में किसी काम को करना अर्थात् कर्मकर्तृत्व आदि नहीं होते, वैसे अचेतन होने से आपकी आत्मा में भी कर्मकर्तृत्व आदि नहीं हो सकते। फलतः ऐसी आत्मा मानने से क्या लाभ ?

नैयायिक—यद्यपि आत्मा अचेतन है, किन्तु चेतना (बुद्धि) के समवाय (योग) से वह चेतन हो जाता है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं है ?

माध्यमिक—यदि यह अचेतन आत्मा बुद्धि का योग होने पर 'ज्ञ' (ज्ञानकार = ज्ञानवान्) हो जाता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि पहले जो वह 'अज्ञ' था, वह अज्ञ नष्ट हो गया और 'ज्ञ' (ज्ञानवान्) उत्पन्न हो गया और मद-मूर्छा आदि की अवस्था में जब वह चेतनाशून्य हो जाता है तो 'ज्ञ' नष्ट हो जाता है और वह फिर अज्ञ हो जाता है।

नैयायिक—चैतन्य (चेतना) के साथ कभी उसका सम्बन्ध होता, कभी नहीं होता, किन्तु दोनों अवस्थाओं में आत्मा तो अविकृत रूप से स्थित रहता ही है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं है। अर्थात् केवल चेतना के साथ सम्बन्ध नष्ट होता है। आत्मा नष्ट नहीं होता। अतः आत्मा के अनित्य होने का प्रसंग (दोष) नहीं है।

अथाविकृत एवात्मा चैतन्येनास्य किं कृतम् ।

अज्ञस्य निष्क्रियैवमाकाशस्यात्मता मता ॥ ७० ॥

ई'श्वे'न'स'त्वा'त्'न'सु'र'मे'न' ।

सो'म'स'त्वा'दे'न'उ'त्'वि'न'सु'र' ।

दे'व'स'त्वा'मे'न'सु'र'त्वा'त् ।

व'स'त्वा'मे'न'सु'र'त्वा'त् । ७० ।

माध्यमिक—यदि आप ऐसा मानते हैं कि चैतन्य का उत्पाद, निरोध (नाश) होने पर भी आत्मा पूर्ववत् अविकृत (उत्पाद-निरोधरहित कूटस्थ, अचल) ही रहता है तो चैतन्य के योग ने उसमें कौन सी विशेषता पैदा (अतिशयाधान) की। अर्थात् चैतन्य ने उसमें कुछ भी नहीं किया, क्योंकि सदा अविकृत रहना उसका स्वभाव है। क्योंकि वह (आत्मा) आपके अनुसार नित्य है और नित्य का अर्थ होता है कि जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। फलतः चैतन्य के योग ने उसमें कुछ भी नहीं किया। ऐसी स्थिति में आपने उसमें चैतन्य का योग मान कर क्या उपलब्धि हासिल की।

पुनश्च, आपने आत्मा को अज्ञ (चैतन्यरहित) मान कर एक ऐसे पदार्थ को आत्मा मान लिया है, जो किसी भी तरह अपने हित और अहित को जानने में असमर्थ है। अचेतन होने से क्रियारहित (निष्क्रिय) है। नित्य होने से जिसमें किसी तरह का वैशिष्ट्य नहीं उत्पन्न किया जा सकता अर्थात् जो असंस्कर्तव्य है। जिसमें कोई भी कर्म करने की शक्ति नहीं है। ऐसा आत्मा हमारे मत के अनुसार प्रज्ञासिद्ध आकाश के सदृश है। क्योंकि आकाश में भी वे सब ऊपर कही बातें विद्यमान होती हैं। आपके मतानुसार भी आकाश क्रिया, कर्तृत्व आदि से रहित ही होता है। वंसा ही आपका आत्मा है।

न कर्मफलसम्बन्धो युक्तश्चेदात्मना विना ।

कर्म कृत्वा विनष्टे हि फलं कस्य भविष्यति ॥ ७१ ॥

माम्'ते'मदमा'रि'प्ये'सि'व' ।

मस'मस'मस'म'म'म'म'म'म'म' ।

मस'मस'मस'म'म'म'म'म'म'म' ।

सु'प्ये'मस'सु'मस'म'म' । ७७ ।

नैयायिक—यदि इस लोक से परलोक में गमन करनेवाला कोई नित्य आत्मा नहीं माना जाएगा तो कर्म और उनके फल (कर्मफल) का सम्बन्ध नहीं बन सकेगा । कर्म का तात्पर्य शुभ, अशुभ कर्मों से है तथा फल का अभिप्राय उनके इष्ट या अनिष्ट फलों से है । जिसने कर्म किया है, उसे ही फल भोगना चाहिए, अन्य को नहीं । कर्मों का फल परलोक में भी होता है—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है । आप (बौद्धों) को भी इसमें विप्रतिपत्ति (विपरीत मति) नहीं होना चाहिए । जैसे कि आपके सूत्रों में भी कहा गया है—

“अनेनैव कृतं कर्म, कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति ? न हि भिक्षवः, कृतोपचितानि कर्माणि पृथिवीधातौ विपच्यन्ते, नाब्धातौ न तेजोधातौ न वायुधातौ । उपात्तेष्वेव स्कन्धधात्वायतनेषु” इति विस्तरः ।

अपि च,

न प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि ।

सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम् ॥

अतः आपको भी अवश्य आत्मा स्वीकार करना चाहिए । अन्यथा कर्मफल-सम्बन्ध नहीं बन सकेगा ।

आप (बौद्धों) के मतानुसार जिस चित्त ने शुभ या अशुभ कर्म किया है, वह तो क्षणिक होने से नष्ट हो गया । इस लोक से परलोक में जानेवाला कोई आत्मा आपके यहाँ मान्य नहीं है । ऐसी स्थिति में किए हुए कर्म का सुगति या दुर्गति में सुखात्मक या दुःखात्मक फल किसे प्राप्त होगा । अर्थात् कौन उस कर्म का फल भोगेगा ? निष्कर्ष यह निकलेगा कि कोई नहीं भोगेगा ।

यदि आप कहें कि किए हुए कर्म से फल भोगने वाला कोई दूसरा चित्त उत्पन्न हो जाएगा तो ऐसी स्थिति में आपके मत में दो दोष उपस्थित होते हैं—

(क) कोई फल भोगने वाला नहीं होने से किए हुए कर्म का बिना फल दिए नाश हो जाना । अर्थात् 'कृतविप्रणाश' तथा (ख) यदि परलोक में दूसरा चित्त, जिसने कर्म नहीं किया है, वह उसका फल भोगता है तो करे कोई दूसरा और फल भोगे दूसरा—यह दोष होगा । अर्थात् 'अकृताभ्यापगम' नामक दोष होगा । इतना ही नहीं, किसी नित्य आत्मा के न होने से स्मरण करना, पहचानना (प्रत्यभिज्ञा), संशय पूर्वक निर्णय, अपने द्वारा रखी हुई वस्तु को खोजना, कार्यकारण भाव और उसको जाननेवाले प्रमाण, बन्ध-मोक्ष आदि कुछ भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी ।

द्वयोरप्यावयोः सिद्धे भिन्नाधारे क्रियाफले ।

निर्व्यापारश्च तत्रात्मेत्यत्र वादो वृथा ननु ॥ ७२ ॥

सु'स'२२२'स'२'२'२'२' ।

२२'२'२'२'२'२'२'२'२' ।

सु'स'२'२'२'२'२'२'२'२'२' ।

२२'२'२'२'२'२'२'२'२' ७३ ।

माध्यमिक—माध्यमिकों का कहना है कि इस बात में हम नैरात्म्यवादियों और आप आत्मवादियों का कोई विवाद नहीं है । अर्थात् हम और आप इस बात में एकमत हैं कि इस जन्म में कर्म करने का आश्रय और परलोक में फल भोगने का आश्रय भिन्न-भिन्न है । कहने का आशय यह है कि जिस शरीर से इस जन्म में कर्म किया जाता है, उसी से मरने के बाद परलोक में फल नहीं भोगा जाता । इस तरह कर्म करने वाला और फल भोगने वाला भिन्न भिन्न है । इस प्रकार आपके मत में कर्म का और फल का आधार (आश्रय) भिन्न-भिन्न सिद्ध होता है । यह बात हम दोनों को मान्य है ।

नैयायिक—किन्तु शरीर का कर्म और परलोक में फल भोगना आत्मा के व्यापार के बिना सम्भव नहीं है, अतः आत्मा मानना आवश्यक है ?

माध्यमिक—आत्मा तो आपके मत में अचेतन होने से निष्क्रिय है, अतः कर्म करने और फल भोगने में उसका कोई व्यापार नहीं हो सकता । साथ ही वह नित्य होने से कुछ भी क्रिया करने में असमर्थ है । जो नित्य होता है, उसका क्रमशः क्रिया करना और युगपद् (एक साथ) क्रिया करना दोनों से विरोध है । अर्थात् नित्य किसी भी क्रिया में सर्वथा असमर्थ होता है । इस प्रकार आपका अचेतन

और नित्य आत्मा निर्व्यापार सिद्ध होता है। अतः आपका यह कहना कि आत्मा के व्यापार के बिना शरीर के द्वारा कर्म करना और फल भोगना सम्भव नहीं है, यह व्यर्थ है। इसलिए निर्व्यापार आत्मा के बारे में विवाद करना निष्फल है। जिस प्रयोजन को सिद्ध के लिए आप उसे स्वीकार करना चाहते हैं, उसमें यह (आत्मा) सर्वथा अनुपयोगी है। आपका यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि ज्ञान, यत्न और इच्छा का आत्मा के साथ योग (समवाय) ही उसका कर्तृत्व कहलाता है तथा सुख, दुःख आदि के साथ उसका समवाय ही उसका भोक्तृत्व कहलाता है^१, क्योंकि जब पूर्व, अपर काल में अर्थात् योग होने से पूर्व और योग होने के पश्चात् उसके स्वभाव में कुछ परिवर्तन होता ही नहीं है, उसमें किसी प्रकार की विशेषता का आधान सम्भव ही नहीं है, उसके स्वरूप में कोई फर्क पड़ता ही नहीं है, तब उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व की बात व्यर्थ है।

कृतविप्रणाश और अकृताभ्यागम दोष का निराकरण

हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष सम्भवः ।

सन्तानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितम् ॥ ७३ ॥

हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष सम्भवः ।

सन्तानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितम् ॥ ७३ ॥

हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष सम्भवः ।

सन्तानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितम् ॥ ७३ ॥

हेतुमान् अर्थात् जो कर्म करनेवाला है, जो कर्म से युक्त है, वही फल से सम्बद्ध है या फल भोगनेवाला है—ऐसा न कहीं देखा गया है और न उपलब्ध होता है। अर्थात् ऐसा होना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि लोक में अन्य (दूसरा) ही मरता है और अन्य (दूसरा) ही जन्म लेता है। जैसे कहा भी गया है—

अन्य एव मृतो लोके जायते अन्य एव हि^२ ।

१. ज्ञानयत्नादिसम्बन्धः कर्तृत्वं तस्य भण्यते ।

सुखदुःखादिसंवित्तिसमवायस्तु भोक्तृता ॥

द्र० — तत्त्वसंग्रह, १७३ का०, पृ० १०२ (बौद्धभारती-संस्करण) ।

२. द्र० — बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० २२२ में उद्धृत दरभंगा-संस्करण) ।

निष्कर्ष यह हुआ कि कर्म करने वाले का फल से सम्बन्ध नहीं होता ।

प्रश्न है कि तब आप (बौद्धों) के शास्त्रों में ही जो यह लिखा हुआ मिलता है कि 'जब इसने कर्म किया है तो फल दूसरा कौन भोगेगा' (अनेनैव कृतं कर्म, कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति) इसका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—पाँच स्कन्धों की सन्तति, जो प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होते हुए भी नदी की धारा की भाँति कार्य-कारण के रूप में निरन्तर प्रवृत्त होती रहती है, उस सन्तति में सामान्य जन ऐक्य (एकता) का समारोप करते हैं । सामान्य जन जैसा निश्चय (अध्यवसाय) करते हैं, सन्तान की उस एकता को ही आधार (निमित्त) बनाकर लोक को समझाने के लिए उन्हीं की समझ के अनुसार भगवान् ने भी कहा है कि जो कर्म करता है, वही फल भोगता है । उनकी यह देशना नेयार्थ हैं । अर्थात् लोक के ऊपर अनुग्रह करने के वश से है, वास्तविक नहीं । यदि ऐसी देशना न की जाएगी तो लोक समझेगा कि किये हुए कर्म का फल दिये बिना ही उच्छेद हो जाता है । उनकी देशना का यह अभिप्राय बिलकुल नहीं है कि इस लोक से परलोक तक अनुगमन करनेवाली कोई एक नित्य, कूटस्थ सत्ता है । इसलिए उन्होंने दूसरे स्थानों पर (अन्यत्र) यह भी यह भी कहा है कि कर्मों के विपाक के रूप में प्राप्त स्कन्ध आदि में ही कर्म फलित होते हैं । इसलिए उन्होंने चेतना को ही कर्म कहा है^१ । आचार्य चन्द्रकीर्ति ने भी कहा है—

सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम् ।

कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय न चास्ति^२ ॥

कहने का आशय यह है कि चित्त से अतिरिक्त कोई कर्म नहीं हुआ करता । इस तरह कोई कुशल या अकुशल चित्त उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाता है । उस कुशल या अकुशल चित्त के अनन्तर जो चित्त उत्पन्न होता है, उस अनन्तरवर्ती चित्त में वह पूर्ववर्ती चित्त निरुद्ध होते समय अपने कुशल या अकुशल संस्कारों को निहित (आधान) कर देता है । उसी तरह वह चित्त भी अपने अनन्तर उत्पन्न होने वाले चित्त में उसी प्रकार की वासना का आधान कर देता है । इस तरह चित्त क्षण-क्षण उत्पन्न और निरुद्ध होता रहता है, किन्तु उसकी परम्परा

१. द्र० — (क) बोधिघर्यावतारपंजिका, पृ० २२२ ।

(ख) कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत् ।

चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ॥

द्र०—अभि० को० ४ : १, पृ० ५६७ (बौद्धभारती-संस्करण) ।

२. द्र०—मध्यमकावतार ६ : ८९ कारिका ।

या धारा निरन्तर प्रवृत्त होते रहती है। इसी चित्त-परम्परा में वह कुशल या अकुशल की वासना (बीज) परिपुष्ट होती रहती है और अवसर-विशेष को प्राप्त कर परिपुष्ट वासना पूर्वकृत कर्म के अनुरूप ही सुख या दुःख से युक्त चित्तात्मक फल को इस लोक या परलोक में उत्पन्न करती है। इसे बीज के दृष्टान्त से आसानी से समझा जा सकता है। जैसे खेत में बीज डाल देने पर मिट्टी, पानी, प्रकाश और हवा आदि प्रत्यय (कारण)-सामग्रियों के कारण प्रतिक्षण बीज, मिट्टी आदि में कुछ-कुछ वैशिष्ट्य होता रहता है और कुछ-कुछ परिवर्तन होता रहता है। बीज की उस परिवर्तनशील सन्तति के द्वारा कालान्तर में समय आने पर बीज के अनुरूप ही अंकुर की उत्पत्ति हो जाती है। यदि चावल का बीज है तो चावल का और यदि कोदों का बीज है तो कोदों का ही अंकुर उत्पन्न होता है। इसी तरह यदि मातुलुंग (बिजौरा नीबू) के बीजों को लाह (लाक्षा) के रस से भावित (वासित) कर दिया जाए तो उस भावना के कारण उन बीजों से उत्पन्न वृक्ष के फूल आदि में लाल रंग उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् वासना (भावना) के कारण उन बीजों से उत्पन्न फलों में निश्चित रूप से विशेषता उत्पन्न हो जाती है।

इस पूरी प्रक्रिया में हमने देखा कि बीज से फल तक अनुगमन करनेवाली वहाँ कोई भी सत्ता नहीं है, फिर भी बीज के अनुरूप फल की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है, इसी तरह किसी एक स्थायी, नित्य अनुगामी आत्मा के न होने पर भी कुशल अकुशल कर्म के अनुरूप इष्ट, अनिष्ट फल के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है। कार्यकारण नियम के अनुसार सारी कर्म-फल व्यवस्था बिना कठिनाई के सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हमारे (बौद्धों के) मत में इस लोक से परलोक तक किसी अनुगामी आत्मा को न मानने पर भी किये हुए कर्म का बिना फल दिये बिनाश अर्थात् 'कृतविप्रणाश' और बिना कर्म किए ही फल भोगना अर्थात् 'अकृताभ्यागम' नामक दोष नहीं होते, जो दोष आपने हम पर लगाए हैं। जैसे कहा भी गया है—

नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम् ।

अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥

वात्सीपुत्रीय—बौद्धों में एक निकाय है, जो वात्सीपुत्रीय कहलाता है। वह आत्मा (पुद्गल) की सत्ता मानता है। उसका कहना है कि एक अनिर्वचनीय पुद्गल होता है, जिसे हम न स्कन्धात्मक कह सकते हैं और न स्कन्धों से भिन्न।

१. द्र०—अभिधर्मकोश, आचार्यवसुबन्धुविरचित, ३ : १८, पृ० ४३२-४३३ (बौद्धभारती-संस्करण) ।

न उसे नित्य कह सकते हैं, न अनित्य । अर्थात् उसका किसी भी रूप में निर्वचन नहीं किया जा सकता । अतः वे उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं । उनका मानना है कि ऐसे पुद्गल के संकेत हमें भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट भारहारसूत्र में उपलब्ध होते हैं ।

माध्यमिक—जब आप (वात्सीपुत्रीय) आत्मा (पुद्गल) को न स्कन्धों से भिन्न और न अभिन्न कहते हैं या न उसे नित्य कहते हैं और न अनित्य, तब आप उसे निश्चयपूर्वक अवस्तु कहने हैं । आप अनजाने ही उस (आत्मा) की वस्तुसत्ता का निषेध करते हैं । क्योंकि वस्तु या तो स्कन्धस्वभाव होती है या स्कन्धस्वभाव नहीं होती । अथवा या तो नित्य होती है या अनित्य होती है । उपर्युक्त प्रकारों से भिन्न कोई तीसरा प्रकार होता ही नहीं है । जो वस्तु नित्य होगी, वह अनित्य नहीं होगी । इसी तरह जो अनित्य होगी, वह नित्य नहीं होगी । इतना ही नहीं, यदि वस्तु अनित्य नहीं है तो उसे अवश्य नित्य होना चाहिए तथा यदि वह नित्य नहीं है, तो उसे निश्चित ही अनित्य होना चाहिए । इन दोनों प्रकारों में से किसी एक 'प्रकार' का निषेध, दूसरे प्रकार को स्वीकार करने के बराबर होता है । अपने जिस भारहार-सूत्र को अपने समर्थन में प्रस्तुत किया है, वह भगवान् की नेयार्थ देशना है, वह अभिप्रायिकी देशना है । अर्थात् उसका अभिप्राय कुछ और है । जैसे उसका अक्षरार्थ प्रतीत होता है, उसे ठीक 'जैसा का तैसा' ग्रहण नहीं करना है । उसके वास्तविक अभिप्राय की खोज करनी चाहिए । उसका यथाशब्द (अर्थात् शब्द के अनुसार) ग्रहण नहीं किया जाता । क्योंकि वह नीतार्थ, वास्तविकी या परमार्थ देशना नहीं है ।

आप भगवान् के अभिप्राय को नहीं समझ सके और आपने उसे यथाशब्द सत्य स्वीकार कर लिया तथा एक वस्तुसत् आत्मा की कल्पना कर ली । यदि वह वस्तु है तो पाँच स्कन्धों से भिन्न नहीं हो सकती । यदि पञ्चस्कन्धात्मक स्वभाव है तो उसे अनित्य होना चाहिए । फलतः हमने जो पहले आत्मा का निषेध किया है, उसी से इन वात्सीपुत्रियों द्वारा कल्पित अनिर्वचनीय आत्मा का भी निषेध जान लेना चाहिए । भगवान् ने भी कहा है—

इति हि भिक्षवः, अस्ति कर्म, अस्ति फलम्, कारकस्तु नोपलभ्यते, य इमान् स्कन्धान् विजहाति, अन्यांश्च स्कन्धानुपादत्ते, अन्यत्र धर्मसंकेतात् । अत्रायं धर्मसंकेतः—यदस्मिन् सति इदं भवति, अस्यात्पादादिदमुत्पद्यते इति ।

अर्थात् कर्म है, कर्म का फल भी है, किन्तु कर्मों का करनेवाला और फल भोगने वाला कोई एक ऐसा कर्ता और भोक्ता नहीं है, जो इस लोक से परलोक

१. द्र०—बोधिचर्यावतरणपंजिका, पृ० २२३ (उद्धृत) । तु०—विसुद्धिमग्नो, पृ० ५०८ (बो० भा० सं०) ।

में गमन करता हो, फिर भी कार्यकारण भाव नियम के अनुसार कर्म-फल व्यवस्था समीचीन रूप से सम्पन्न होती है। इसी कार्यकारणभाव परम्परा को 'इदम्प्रत्ययता', 'प्रतीत्यसमुत्पाद' या 'धर्मसंकेत' कहा गया है। इसी कार्यकारण-परम्परा शृंखला या धारा को आचार्यों ने व्यावहारिक दृष्टि से 'एक सन्तान' मानकर उसी के आधार पर कर्म, कर्मफल आदि की व्यवस्था की है। भगवान् ने भी सन्तान के इसी व्यावहारिक अस्तित्व को ध्यान में रखकर 'जिसने कर्म किया है, वही फल भोगेगा, दूसरा कौन भोगेगा'—इत्यादि कहा है। यह कार्यकारणभाव भी व्यावहारिक मात्र है, पारमार्थिक नहीं। इसी वजह से कार्यकारणभाव को वास्तविक मानने पर जो दोष उपस्थित होते हैं, वे भी नहीं होते। जैसे कि आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरङ्कुरादिषु ।

दृष्टा शक्तिर्मता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा^१ ॥

अर्थात् आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है कि कार्यकारणभाव को सांवृतिक मान लेने पर कोई दोष नहीं रह जाता और सारी व्यवस्थाएं सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाती हैं।

इस कार्यकारणभाव के नियम से ही किसी अनुगामी स्मर्ता (स्मरण करने वाले आत्मा) की सत्ता न होने पर भी स्मरण करना, पहचानना (प्रत्यभिज्ञा), संशयपूर्वक निर्णय करना, अपने द्वारा रखी हुई वस्तु को खोज लेना, प्रमाण-प्रमेय, बन्ध-मोक्ष आदि सभी व्यवस्थाएं सम्पन्न हो जाती हैं। विस्तारपूर्वक इनकी जानकारी के लिए तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थ देखना चाहिए^२।

ऊपर कार्यकारणभाव, कर्म-कर्मफल व्यवस्था आदि से सम्बद्ध जितनी चर्चा की गई है, वह सब संवृतिसत्य के आधार पर की गई है। पारमार्थिक दृष्टि से तो सभी धर्म निःस्वभाव हैं। परमार्थ दशा में सभी विकल्प शान्त हो जाते हैं। फलतः उस अवस्था में न कोई उत्पन्न होता है और न कोई निरुद्ध होता है। न कोई सात्मक होता है और न निरात्मक। विचार करने पर परामार्थः न कोई कर्म सिद्ध होता है और न उसका फल। न कोई इहलोक है और न कोई परलोक। सब कुछ कल्पना द्वारा ही निर्मित हैं। कल्पना द्वारा ही कल्पित हैं। इसलिए सभी पदार्थ (धर्म) प्रति-बिम्ब के समान निःस्वभाव ही उत्पन्न होते हैं और निरुद्ध होते हैं, उनके व्यावहारिक

१. द्र० — प्रमाणवार्तिक, २ : ४ ।

२. द्र० — तत्त्वसंग्रह, आचार्य शान्तरक्षित विरचित, कर्मफलसम्बन्धपरोक्षा ।

अस्तित्व को छोड़कर किसी भी तरह उनकी वस्तुसत्ता नहीं है। उसी व्यावहारिक अस्तित्व के आधार पर वे (धर्म = पदार्थ) कार्य, कारण, सात्मक या निरात्मक आदि कहे जाते हैं। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, इहलोक, परलोक आदि सब कुछ स्वप्न के समान हैं। कल्पना का प्रहाण नहीं होने से ही दुर्गति या सुगति आदि में गमन होता है। इस प्रकार हमारे (माध्यमिक) मत में सब कुछ अच्छी तरह व्यवस्थापित है^१। आचार्य नागार्जुन ने भी कहा है—

कर्ता स्वतन्त्रः कर्मापि त्वयोक्तं व्यवहारतः ।
परस्परापेक्षिकी तु सिद्धिस्तेऽभिमतान्नयोः ॥
न कर्तास्ति न भोक्तास्ति पुण्यापुण्यं प्रतीत्यजम् ।
यत्प्रतीत्य न तज्जातं प्रोक्तं वाचस्पते त्वया^२ ॥

आचार्य शान्तिदेव भी आगे कहेंगे—

एवं न च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति तत्त्वतः ।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥
स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः^३ । इत्यादि ।

प्रश्न—यदि नित्य, अनुगामी आत्मा का नितान्त अभाव है, अर्थात् उसकी कथमपि (किसी भी तरह) सत्ता नहीं है तो भगवान् ने ऐसा क्यों कहा कि आत्मा ही आत्मा का नाथ (स्वामी) है (अर्थात् व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का विधाता है) और यदि आत्मा का अच्छी तरह दमन कर दिया जाए तो विद्वान् व्यक्ति इससे स्वर्ग का लाभ करते हैं, यथा—

आत्मा हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परो भवेत् ।
आत्मना हि सुदान्तेन स्वर्गं प्राप्नोति पण्डितः^४ ॥

माध्यमिक—भगवान् ने उपर्युक्त गाथा में जो 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य तैथिक (बौद्धेतर) लोगों द्वारा कल्पित आत्मा से नहीं है, अपितु उसका अभिप्राय 'चित्त' से है। क्योंकि चित्त ही अहंकार का विषय होता है।

१. विस्तार से जानकारी के लिए द्रष्टव्य 'पितापुत्रसमागमसूत्र', बोधिचर्यावितार में उद्धृत, पृ० २२४; शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ० १३५। शालिस्तम्बसूत्र, महायानसूत्रसंग्रह, प्रथम भाग, पृ० १००-१०६ (दरभंगा-संस्करण) ।

२. द्र०—आचार्य नागार्जुन प्रणीत लोकातीतस्तवः, ८-९ का० ।

३. द्र०—बोधिचर्यावितार, ९ : १५१-५२ कारिकाएँ ।

४. तु०—धम्मपद, अत्तवग्गो, का० १६०, पृ० ३२ (नालन्दा संस्करण) ।

इसीलिए उसका 'आत्मा' शब्द से कथन किया गया है। चित्त को ही 'आत्मा' शब्द से कहा गया है, यह बात भगवान् की उस गाथा से भी सिद्ध होती है, जिसमें उन्होंने कहा है कि चित्त का दमन करना अच्छा है, क्योंकि चित्त के दमित हो जाने पर सुख होता है, यथा—

चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम् ।

चित्त को भी आत्मा इसलिए कहा गया है, क्योंकि जो लोग आत्मा में अभिनिविष्ट हैं, अर्थात् आत्मा की सत्ता में दृढ़ विश्वास करते हैं, उनके सन्तोष के लिए नेयार्थ के रूप में चित्त को आत्मा कहा गया है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। जो आत्मा को मानते हैं, वे भी भगवान् की कृपा के पात्र हैं। उनका भी कल्याण भगवान् को अभीष्ट है। उनका किसी भी तरह त्याग नहीं करना है। अतः उनमें अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए प्रारम्भ में भगवान् ने चित्त को आत्मा कह दिया। जिससे उन्हें ऐसा लगा कि भगवान् भी किसी न किसी रूप में आत्मा मानते हैं। फलतः वे उनके श्रद्धावान् शिष्य हो गए। बाद में जब उनमें ऐसी क्षमता या पात्रता उत्पन्न हो गई कि नैरात्म्य का उपदेश देने पर भी कोई परेशानी (उद्वेग) उत्पन्न न हो तब उन्हें विधिवत् नैरात्म्य का उपदेश दिया। यह भगवान् की उपायकुशलता है। इसके बिना उनके कल्पित आत्मग्राह का प्रहाण सम्भव नहीं होता है। भगवान् ने चित्त को ही आत्मा कहा है, यह बात लंकावतारसूत्र के इस वचन से भी सिद्ध होती है—

पुद्गलः सन्ततिः स्कन्धाः प्रत्यया अणवस्तथा ।

प्रधानमीश्वरः कर्ता चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥

यह बात विशेष ध्यान देने की है कि जो चित्त को आत्मा कहा गया है, वह केवल आत्मसत्ता (पुद्गल-सत्ता) के प्रति जो लोगों (आत्मवादियों) में अभिनिवेश (दृढ़ आग्रह) है, उसके प्रहाण (नाश) मात्र के लिए है। इसका यह कतई अर्थ नहीं है कि चित्त की भी कोई पारमार्थिक सत्ता होती है। चित्त का भी मात्र प्रतिबिम्ब की तरह, स्वप्न की तरह व्यावहारिक अस्तित्व ही है। इसी तरह कहीं भगवान् ने स्कन्ध आदि को भी जो आत्मा कहा है, उसे भी उनकी नेयार्थ (आभिप्रायिकी) देशना ही समझना चाहिए।

थोड़ी देर के लिए चित्त की पारमार्थिक सत्ता मान भी ली जाए, फिर भी वह

१. तु०—धम्मपद, चित्तवग्गो, का० ३५, पृ० २० (नाळन्दा संस्करण)।

२. द्र०—लंकावतारसूत्र २ : १३९, पृ० ७९ (जापानी संस्करण)।

वास्तविक रूप में (यथार्थतः) अहंकार का विषय नहीं है। यह बात अब कही जा रही है—

अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धि न विद्यते ।

अथोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मिन्नास्त्यहं पुनः ॥ ७४ ॥

अहंकारः न अतीतः न भविष्यः न वर्तमानः ।

अहंकारः न अतीतः न भविष्यः न वर्तमानः ।

अहंकारः न अतीतः न भविष्यः न वर्तमानः ।

अहंकारः न अतीतः न भविष्यः न वर्तमानः ॥ ७५ ॥

चित्त के बारे में तीन प्रकार का विकल्प हो सकता है। अर्थात् विकल्पात्मक दृष्टि से (वास्तविक दृष्टि से नहीं) चित्त तीन प्रकार का होता है—अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न (वर्तमान)। इन तीन प्रकार के चित्तों में अतीत चित्त अहंकार का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो नष्ट हो चुका है। अनागत (भविष्यकालिक) चित्त भी अहंकार का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। अर्थात् अतीत और अनागत चित्त की किसी भी प्रकार की सत्ता ही नहीं है।

तब वर्तमान चित्त ही अहंकार का विषय होगा ?

समाधान—वर्तमान चित्त का अहंकारविषय होना भी युक्त नहीं है। क्योंकि वर्तमान चित्त भी उत्पन्न होने के द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि सभी धर्म निश्चित रूप से क्षणिक होते हैं। अर्थात् उनकी क्षणमात्र ही सत्ता होती है। ऐसी स्थिति में अर्थात् द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाने के बाद अहंकार का विषय क्या होगा ? दूसरी बात यह है कि चित्त उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। अर्थात् उसका स्थिति-क्षण भी नहीं होता। केवल उत्पाद और भंग क्षण ही होते हैं। स्थिति-क्षण होने पर ही उसका आलम्बन किया जाना सम्भव है। अतः चित्त का आलम्बन होना भी सम्भव नहीं है। फलतः यह अहं-प्रत्यय निरालम्ब ही होता है। अर्थात् अहंबोध का कोई आलम्बन नहीं है।

उपसंहार—

यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद् भागशः कृतः ।

तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो न लभ्यते ॥ ७५ ॥

དཔེར་ན་ཆུ་ཤིང་སྤོང་བོ་དཔལ།

ཆ་གསུམ་སྤྱི་ན་འགའ་མེད་པ། །

དེ་བཞིན་རྣམ་པར་དབྱུང་བ་ཡིས། །

བཅའ་ན་བདག་ཀྱང་ཡང་དག་མིན། ༥༥ །

यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि नित्य, शाश्वत, कूटस्थ कोई आत्मा नहीं होता। वित्तसन्तति ही बराबर इस जन्म से उस जन्म में दीपक की लौ की भाँति या नदी की धारा की भाँति जब तक क्लेश विद्यमान रहते हैं, प्रवृत्त होती रहती है। किन्तु चित्त भी अहं-बोध (अहंकार) का विषय नहीं है। अब इन बातों का उप-संहार करते हुए आचार्य कहते हैं—

जैसे केले के खम्भे (कदली-स्म्भ) को छीला जाए तो छीलते-छीलते अन्त में कुछ भी प्राप्त नहीं होता । किसी भी पदार्थ की सत्ता उपलब्ध नहीं होती । ठीक उसी तरह अहं-बोध का विषय 'अहं' भी खोजने पर कहीं उपलब्ध नहीं होता । वस्तुतः यह 'अहं' असत् और बन्ध्यापुत्र की तरह नितान्त अवस्तु है । कल्पना द्वारा आरोपित मात्र है ।

बौद्धों की इस स्थापना पर आत्मवादी आक्षेप करते हुए कहते हैं—

यदि सत्त्वो न विद्येत कस्योपरि कृपेति चेत् ।

कार्यार्थमभ्युपेतेन यो मोहेन प्रकल्पितः ॥ ७६ ॥

གཤམ་ཏེ་སེམས་ཅན་ཡོད་མིན་ན། །

ཡུ་ལ་སྒྲིང་རྩི་བྱ་ཞེ་ན། །

འབྲས་བུའི་དོན་དུ་ཁས་ཐུངས་པའི། །

སྒྲིངས་པས་བདགས་པ་གང་ཡིན་པའོ། ༥༦ །

आत्मवादी—यदि जैसा आप (बौद्ध) कहते हैं, वैसा ही सत्य है, अर्थात् खोजने पर आत्मा बिल्कुल उपलब्ध नहीं होता तो आप यह बताएँ कि बोधिसत्त्व किस पर करुणा करते हैं ? आप (बौद्धों) के मतानुसार करुणा ही सम्यक् संबोधि का साधन है। करुणापूर्वक ही बोधिसत्त्व दान-आदि पारमिताओं की साधना में या पुण्यसम्भार के अर्जन में प्रवृत्त होता है। सारे बुद्ध गुण तभी प्रवृद्ध (उत्पन्न) होते

हैं, जब कर्षणा पूर्वगामी होती है। यदि सत्त्व (प्राणी) नहीं हैं तो कर्षणा किसको आलम्बन बनाकर प्रवृत्त होती है ?

आप (बौद्धों) के आर्यधर्मसंगीतिसूत्र में भी कहा गया है कि बोधिसत्त्व को अधिक धर्मों की भावना के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। यदि एक ही धर्म की भली प्रकार भावना की जाए, उसे ही यदि अच्छी तरह हस्तगत कर लिया जाए तो सभी बुद्धधर्म उसके हस्तगत हो जाते हैं। वह एक धर्म कर्षणा ही है^१।

आर्यगयाशीर्षसूत्र में भी देवपुत्र ने मञ्जुश्री से पूछा कि बोधिसत्त्व की चर्या का आरम्भ कहाँ से होता है तथा बोधिसत्त्व की चर्या का अधिष्ठान (आधार) क्या है ? मञ्जुश्री ने कहा—देवपुत्र, कर्षणा से ही बोधिसत्त्व की चर्या का आरम्भ है और सत्त्व (प्राणी) ही उसका अधिष्ठान है। जैसे—

“किमारम्भा मञ्जुश्रीः बोधिसत्त्वानां चर्या किमधिष्ठाना ? मञ्जुश्रीराह—
महाकर्षणारम्भा देवपुत्र, बोधिसत्त्वानां चर्या, सत्त्वाधिष्ठाना”^२।

इसलिए आत्मवादी कहते हैं कि तुम्हें उन सत्त्वों की सत्ता स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिनका कर्षणा पहले-पहल आलम्बन करती है। दुःखी सत्त्वों को आलम्बन बनाकर ही कर्षणा की उत्पत्ति होती है। यदि सत्त्व न होंगे तो किसके ऊपर कर्षणा होगी।

माध्यमिक

कार्यार्थमभ्युपेतन—माध्यमिकों का कहना है कि अपने साध्य (पुरुषार्थ) की सिद्धि के लिए संवृति (मोह = अज्ञान) के द्वारा कल्पित (आरोपित) सत्त्व के ऊपर कर्षणा प्रवृत्त होती है। इसे यों समझना चाहिए—समस्त विकल्पों से और समस्त आवरणों (क्लेश और ज्ञेय आवरणों) से रहित (मुक्त) बुद्धत्व ही परम पुरुषार्थ के रूप में ‘साध्य’ है। जब तक व्यक्ति में किसी भी वस्तु (पदार्थ = धर्म) के प्रति उपलम्भ (सत्ता) दृष्टि विद्यमान रहती है, तब तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं किया

१. अथ खलु आर्यावक्रोक्तिस्त्वरो बोधिसत्त्वो भगवन्तमेतदवोचत्—न भगवन् बोधिसत्त्वेन अतिबहुषु धर्मेषु शिक्षितव्यम् । एक एव धर्मो बोधिसत्त्वेन स्वाराधितः कर्तव्यः सुप्रतिबुद्धः । तस्य करतलगताः सर्वे बुद्धधर्मा भवन्ति । एवमेव भगवन् महाकर्षणायां सत्यां बोधिकारकाणां धर्माणां प्रवृत्तिर्भवतीति । द्र०—शिक्षासमुच्चय, पृ० १५१; बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २२८ (दरभंगा-संस्करण) ।

२. द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २२८ (उद्धृत) ।

जा सकता। उस सत्तादृष्टि का प्रहाण भी तब तक नहीं होता, जब तक तत्त्व (शून्यता) का साक्षात्कार करने वाली प्रज्ञा भावना के द्वारा उत्कर्ष (विकास की अन्तिम सीमा) को प्राप्त नहीं हो जाती। ऐसी प्रज्ञा के उत्पाद के लिए आदरपूर्वक बहुत काल तक निरन्तर अभ्यास (प्रज्ञाभावना) करना होता है। करुणा के वश से ही ऐसी भावना (अभ्यास) प्रारम्भ की जाती है और निरन्तर भावना सम्पन्न होती रहती है।

पुनश्च, सबसे पहले वह करुणा दुःखी सत्त्वों को ही आलम्बन बनाकर उत्पन्न होती है तथा उन सत्त्वों पर करुणा करके उनके दुःखों को दूर करने के प्रयास में ही पुण्यसम्भार का अर्जन सम्पन्न होता है, जो पुण्यसम्भार बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। फलतः करुणा के उत्पाद के लिए यद्यपि सत्त्व (प्राणी) की सत्ता नहीं है, फिर भी बुद्धत्वरूपी कार्य (साध्य) की सिद्धि के लिए सांवृतिक (संवृतिसत्यात्मक) सत्त्व को हमारे मत में स्वीकार किया जाता है।

कहने का आशय यह है कि पहले-पहल सत्त्व को आलम्बन बनाने वाली 'सत्त्वालम्बना' करुणा उत्पन्न होती है। इसके बाद धर्म को आलम्बन बनाने वाली 'धर्मालम्बना' करुणा उत्पन्न होती है। इस अवस्था में यद्यपि सत्त्वदृष्टि नहीं होती, फिर भी ऐसा बोध होता है कि प्रतीत्यसमुत्पन्न पाँच स्कन्धों की सन्तति में सत्त्व की प्रज्ञप्ति होती है। अर्थात् सत्त्व नितान्त कल्पित है और पाँच उपादान स्कन्ध ही उस सत्त्व प्रज्ञप्ति के आधार हैं। वह पंचस्कन्ध-सन्तति भी कर्म-क्लेश के वश से उत्पन्न होती है, अतः वे स्कन्ध संस्कृत और सास्रव हैं और इसीलिए स्वभावतः दुःखात्मक हैं। अतः वे ही करुणा के आलम्बन होते हैं। सबसे अन्त में करुणा निरालम्ब या 'अनालम्बना' हो जाती है। यह करुणा की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में करुणा के उत्पाद के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता नहीं रह जाती। अभ्यास के प्रकर्ष के कारण करुणा स्वभावतः सहज रूप से अपने-आप प्रवृत्त होते रहती है।

अभिप्राय यह है कि पाँच उपादान स्कन्ध ही सांवृतिक दृष्टि से 'आत्म'-शब्द के द्वारा व्यवहृत होते हैं। भगवान् ने भी कहा है—जो श्रमण और ब्राह्मण आत्मा की अवधारणा रखते हैं या आत्मा को देखते हैं, वे इन पाँच स्कन्धों को ही देखते हैं^१।

यद्यपि परमार्थतः देखने पर सत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, फिर भी सत्त्व की सांवृतिक सत्ता का निषेध नहीं किया जाता। यद्यपि प्रज्ञा द्वारा निरीक्षण करने पर

१. ये केचिद् भिक्षव, श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति इमानेतान् पञ्चोपादानस्कन्धानिति । ३० — बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २२९ (उद्धृत) ।

सत्त्व वस्तुतः नहीं है और भगवान् बुद्ध में सत्त्वसंज्ञा प्रवृत्त नहीं होती, फिर भी करुणा के वशीभूत होने के कारण दुःखी प्राणियों के प्रति उनमें अपार करुणा प्रवृत्त होती है। कहने का आशय यह है कि प्रज्ञा तो शून्यता तत्त्व का आलम्बन करती है और करुणा सांवृतिक पदार्थ का। बुद्ध में प्रज्ञा और करुणा दोनों हैं। अतः शून्यता का सर्वदा आलम्बन करते रहने पर भी वे प्राणियों के प्रति अत्यन्त करुणावान् होते हैं। कहा भी गया है—

सत्त्वसंज्ञा च ते नाथ, सर्वथा न प्रवर्तते ।
दुःखार्तेषु च सत्त्वेषु त्वमतीव कृपात्मकः^१ ॥

अपि च

यतः प्रज्ञा तत्त्वं भजति करुणा संवृतिमतः
तवाभून्निःसत्त्वं जगदिति यथार्थं विमृशतः ।
यदा चाविष्टोऽभूर्दशबलजनन्या करुणया
तदा तेऽभूदार्त्ते सुत इव पितुः प्रेम जगति^२ ॥

निष्कर्ष यह है कि रूप, वेदना आदि पाँच स्कन्ध ही संवृति (मोह) की वजह से 'सत्त्व' कहे जाते हैं। अतः करुणा निर्विषयक नहीं होती। अर्थात् ऐसा नहीं है कि करुणा का कोई विषय होता ही न हो।

तात्पर्य यह है कि कार्य (फल) अर्थात् बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए संवृतिसत्य के रूप में जिस सत्त्व की कल्पना की जाती है, उसी कल्पित सत्त्व पर करुणा की जाती है और उसी पर करुणा का अभ्यास होता है।

प्रश्न है कि आप (माध्यमिक) के मतानुसार जब सत्त्व है ही नहीं तो बुद्धत्व रूपी फल (कार्य) किसका होगा ? अर्थात् वह फल कौन प्राप्त करेगा ? फल प्राप्त करनेवाला जब कोई सत्त्व नहीं है तो ऐसी स्थिति में उस फल को प्राप्त करने के लिए कौन प्रवृत्त होगा ? इसी प्रश्न और उसके समाधान के लिए आचार्य कहते हैं—

कार्यं कस्य न चेत् सत्त्वः सत्यमीहा तु मोहतः ।
दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते ॥ ७७ ॥

१. द्र०—निरीपम्यस्तव, नागार्जुन प्रणीत, का० ९ ।

२. द्र०—रत्नदासविरचित गुणपर्यन्तस्तोत्र, का० ३३, बोधिचर्याविवतारपंजिका में उद्धृत,
पृ० २२९ ।

सोमस'उक्'मे'द'अस'सु'य'य'य' ।

मदे'र'दे'र'गु'द'स'स'स'स' ।

सु'म'स'स'स'स'स'स'स' ।

अस'स'स'स'स'स'स'स' । ७७ ।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान नामक पञ्च स्कन्ध तो सर्वदा उत्पन्न होकर विनष्ट होते रहते हैं। वे सर्वथा क्षणिक और अनित्य हैं। यदि हमेशा रहनेवाला अर्थात् सर्वदा अनुयायी कोई एक आत्मा नहीं रहेगा तो अनेक जन्मों की साधना के परिणाम स्वरूप प्राप्त होनेवाला वह बुद्धत्वरूपी फल किसे प्राप्त होगा ? अर्थात् प्राप्त करनेवाला कोई भी न होगा ?

माध्यमिक—प्रश्न सही है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार यही होगा। सभी धर्म क्योंकि निःस्वभाव (शून्य) हैं, अतः परमार्थतः न कोई सत्त्व है और न कोई (बुद्धत्व आदि) पुरुषार्थ। यही हमारा मत है।

प्रश्न—जब कोई सत्त्व है ही नहीं, तो ऐसी स्थिति में बुद्धत्व रूपी फल को सिद्ध करने के लिए कोई साधना में प्रवृत्त ही क्यों होगा ?

ईहा तु मोहतः—माध्यमिकों का कहना है कि बुद्धत्व आदि पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए किया जानेवाला सारा व्यापार अर्थात् सारी क्रिया, सारी चेष्टा मोहजनित है। अर्थात् मोह (संवृति) के कारण है।

यद्यपि सत्त्व की सत्ता बिल्कुल नहीं होती, फिर भी लोगों को संवृति के कारण मन में ऐसा निश्चय होता है कि साधनावस्था से लेकर फलप्राप्ति तक मैं 'एक' ही हूँ। अर्थात् यह एकत्व का निश्चय भ्रान्ति से उत्पन्न है। वस्तुतः सारे धर्म (पदार्थ) प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से माया के समान स्वभावशून्य हैं। जैसे कहा भी गया है—

निरीहा वशिकाः शून्या मायावत् प्रत्ययोद्भवाः ।

सर्वधर्मास्त्वया नाथ, निःस्वभावाः प्रकाशिताः ।^१

निष्कर्ष यह है कि पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए किया जानेवाला सारा प्रयास (चेष्टा) संवृति (मोह) की वज्रह से होता है।

१. द्र०—निरीपम्यस्तवः, नागार्जुनप्रणीत, का० २४ ।

प्रश्न—मोह तो 'अविद्या' है और अविद्या सर्वथा त्याज्य और प्रहेय (प्रहाण करने योग्य) होती है। फिर पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए आप (माध्यमिक) उसे क्यों स्वीकार करना चाहते हैं ? अर्थात् क्यों उसे उपादेय (ग्राह्य = ग्रहण करने योग्य) समझते हैं ?

दुःखव्युपशमार्थं तु०—माध्यमिकों का कहना है कि मोह भी दो प्रकार का होता है, यथा—(१) एक मोह वह है, जो संसार की प्रवृत्ति का हेतु होता है। अर्थात् जिससे संसार (आवागमन) चक्र चलता रहता है तथा (२) दूसरा मोह ऐसा भी होता है, जो संसारचक्र को समाप्त करने का हेतु होता है अर्थात् धीरे-धीरे क्रमशः (परम्परया) वह प्राणियों के जन्म-मरण आदि दुःखों का शमन करने के लिए होता है।

इन दोनों प्रकार के मोहों में से पहले प्रकार का जो मोह है, अर्थात् जो संसार में प्रवृत्ति का हेतु है वह निश्चित रूप से त्याज्य है या प्रहेय है। किन्तु जो दूसरे प्रकार का मोह है, अर्थात् जो दुःखों के शमन के लिए है, वह परमार्थ सत्य की प्राप्ति का हेतु होता है, उसका निषेध नहीं किया जाता। पुरुषार्थों की प्राप्ति में सहायक यह मोह 'कार्य-मोह' है। अर्थात् कार्य (प्रयोजन की सिद्धि) के लिए (कार्यार्थ मोहः) यह मोह है। इसे हटाया नहीं जाता, अपितु इसका ग्रहण (उपादान) किया जाता है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि उस बुद्धत्व आदि फल (कार्य) को भी बोधिसत्त्व अपने (आत्म) सुख की अभिलाषा से प्राप्त नहीं करना चाहते, अपि तु सभी प्राणियों के समस्त दुःखों का आत्यन्तिक प्रहाण (नाश या शमन) करने के लिए प्राप्त करना चाहते हैं। परमार्थ सत्य की प्राप्ति ही बोधिसत्त्वों का साध्य (उपेय) होता है और उस साध्य का साधन (उपाय) संवृत्ति सत्य हुआ करता है। जैसे किसी भवन के शिखर पर पहुँचने के लिए सीढ़ी आवश्यक होती है, उसी तरह से परमार्थ सत्य की प्राप्ति के लिए संवृतिसत्य आवश्यक होता है। जैसे कि कहा भी गया है—

“न हि संवृतिसोपानमन्तरेण तत्त्वप्राप्तादशिखरारोहणं विपश्चितः”^१।

अपि च,

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते^२ ॥

१. द्र०—अभिसमयालङ्कारालोक, हरिभद्रकृत, पृ० २९३ (दरभंगा-संस्करण) ।

२. मूलमाध्यमिककारिका, नागार्जुनकृत, २४ : १०, पृ० २१६ ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने भी कहा है—

उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम् ।

स्वयं आचार्य शान्तिदेव ने पहले भी “कार्यार्थमविचारतः” कहा है । अर्थात् साध्य (पुरुषार्थ) को प्राप्त करने के लिए बोधिसत्त्व बिना अधिक सूक्ष्म विचार की अपेक्षा किए उस साध्य के हेतु में प्रवृत्त हो जाते हैं । यद्यपि साध्य-साधनभाव सांवृतिक (संवृतिजन्य कल्पितमात्र) है, तथापि प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम वहाँ भी विद्यमान होता है । ‘इस हेतु से यह फल प्राप्त होता है’—ऐसा जो प्रतीत्यसमुत्पाद (हेतु-फलभाव) है, उसकी शक्ति अचिन्त्य है ।

प्रश्न—यद्यपि मोह निश्चितरूप से अविद्यास्वभाव है, फिर भी दुःखशमन रूपी कार्य (साध्य) की सिद्धि के लिए बोधिसत्त्व उस (कार्यमोह) का ग्रहण करते हैं, अर्थात् उसके ग्रहण का औचित्य स्वीकार करते हैं तो हमारा कहना है कि आत्ममोह (‘आत्मा है’—इस प्रकार के मोह) को क्यों स्वीकार नहीं कर लेते ? अर्थात् आत्मा को क्यों नहीं मान लेते ? क्योंकि उससे भी दुःखोपशम होता है । तब क्यों आप (बौद्ध या माध्यमिक) आत्मा का यत्नपूर्वक निषेध करते हैं ?

अपि च, संसार का मूल निश्चय ही ‘अहंकार’ है । आत्मदर्शन से अहंकार की निवृत्ति हो जाती है और अहंकार के नाश से संसार की भी निवृत्ति हो जाती है । अतः आत्मा के निषेध की क्या आवश्यकता है ?

इन उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करने के लिए आचार्य कहते हैं—

दुःखहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते ।

ततोऽपि न निवर्त्यश्चेद् वरं नैरात्म्यभावना ॥ ७८ ॥

श्रुणु सप्तमं श्रुत्यैव न श्रुत्यैव ।

सप्तमं नृक्षेत्रसप्तमं क्षेत्रसप्तमं नृक्षेत्र ।

देवसप्तमं नृक्षेत्रसप्तमं क्षेत्रसप्तमं ।

सप्तमं क्षेत्रसप्तमं क्षेत्रसप्तमं क्षेत्रसप्तमं ॥ ७८ ॥

१. द्र०—मध्यमकावतार, पष्ठ परिच्छेद, का० ८० ।

२. द्र०—बोधिचर्यावतार, ९ : ४, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३५१ ।

माध्यमिक—माध्यमिकों का कहना है कि हमने जिस कार्यमोह की ऊपर चर्चा की है और जिस आत्ममोह की बात आप करते हैं, इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। कार्यमोह जैसे दुःखों के उपशम (शान्ति) का हेतु है, वैसा आत्ममोह कतई नहीं है। आत्ममोह होने पर अहंकार का नाश किसी भी तरह नहीं हो सकता, जो अहंकार सभी दुःखों का मूल है। अनात्म में आत्मदर्शन अर्थात् विपरीत दर्शन (विपर्यासबुद्धि) से उत्पन्न आत्ममोह से तो बल्कि अहंकार बढ़ता ही है, जो तीन प्रकार के सांसारिक दुःखों का हेतु है^१। अहंकार के क्षय (नाश) से दुःखों का नाश सम्भव है। आत्मदर्शन (भ्रान्त ज्ञान) के विद्यमान रहते अहंकार कैसे हट सकता है? आत्मा ही अहंकार का कारण है। नित्य होने से जब तक आत्मा या आत्मदृष्टि विद्यमान है, तब तक अहंकार के नाश के लिए अवकाश ही नहीं है। जब तक कारण अविकल रूप से विद्यमान रहता है, तब तक कार्य का उत्पन्न न होना असम्भव है^२। और जब अहंकार विद्यमान है तो दुःखों का नाश भी असम्भव है। जिस व्यक्ति में आत्मदृष्टि है, उसमें स्कन्ध, आयतन आदि संस्कृत (हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न) धर्मों (पदार्थों) में 'अहं'—इस प्रकार का दृढतर आत्मस्नेह उत्पन्न होता है। आत्मस्नेह (आत्मप्रेम) की वजह से 'मुझे दुःख न हो और सुख हो'—इस प्रकार की अभिलाषा उत्पन्न होती

१. समस्त सांसारिक दुःख इन तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। अर्थात् दुःख तीन प्रकार के होते हैं, यथा—(१) दुःख-दुःख (शिरोवेदना, हाथ, पैर, पेट आदि की पीड़ा आदि स्थूल दुःख)। (२) विपरिणाम-दुःख, यह वह दुःख है, जो वर्तमान में सुख के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में दुःखदायी होता है, जैसे अजीर्ण में भोजन, कुपथ्य का सेवन आदि। (३) संस्कार-दुःख, यह स्वभावतः दुःख है; जैसे जितने भी हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले संस्कृत धर्म हैं, वे सब नाशस्वभाव होते हैं और जो नाशस्वभाव हैं, उनमें सुख कहाँ? अतः सभी संस्कृत स्वभावतः दुःख हैं। इसे ही सूक्ष्म 'संस्कार-दुःख' कहते हैं, जैसे कि आचार्य वसुबन्धु ने भी कहा है—

दुःखास्त्रिदुःखतायोगाद् यथायोगमशेषतः :

मनापा अमनापाश्च तदन्ये चैव सात्वताः ॥

तिलो हि दुःखताः—दुःखदुःखता, विपरिणाम-दुःखता, संस्कारदुःखता च। ताभिर्यथायोगमशेषतः सर्वे सात्वताः संस्कारा दुःखाः।

द्र०—अभिधर्मकोश, ६ : ३ और उसका स्वभाष्य, पृ० ८७५ (बौद्ध भारती-संस्करण १९७२)।

२. न हि स्नेहगुणात् स्नेहः किन्त्वर्थगुणदर्शनात्।

कारणेऽविकले तस्मिन् कार्यं केन निवार्यते ॥ द्र०—प्रमाणवार्तिक, धर्मकीर्ति विरचित,

प्रमाणसिद्धिपरिच्छेद, का० २२५-२२६, पृ० ७८ (बौद्ध भारती-संस्करण १९६८)।

है। इस अभिलाषा के कारण वह अपने दोषों को छिपाता है और गुणों के नहीं होने पर भी अपने में उत्तम गुणों का आरोप करता है तथा सुखप्राप्ति के साधनों (उपायों) में प्रवृत्त होता है। अर्थात् सुखसाधनों को जुटाता है। जो लोग उसकी सुखप्राप्ति में सहायक होते हैं, उनके प्रति आत्मीय (मम) बुद्धि उत्पन्न होती है। इस अहं-बुद्धि और मम-बुद्धि (राग) के कारण जो अहं और मम (आत्मीय जन) नहीं हैं, जो उस सुखप्राप्ति में बाधक हैं, उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। जब राग (आत्मा और आत्मीय के प्रति स्नेह) और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं तो उस व्यक्ति में सभी क्लेश (ईर्ष्या, क्रोध, माया, शास्त्र आदि) उत्पन्न हो जाते हैं, जो क्लेश और उप-क्लेश सभी प्रकार के दुःखों के हेतु हैं। इस प्रकार आत्ममोह (आत्मविषयक अज्ञान) से दुःखों का हेतु जो अहंकार है, वह निश्चित रूप से प्रवृत्त होता है। जैसा कि आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्राहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
 स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कुरुते ॥
 गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
 तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे ॥
 आत्मनि सति परसंज्ञा स्व-परविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
 अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते^१ ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मस्नेह के विद्यमान रहते अहंकार का हटना असम्भव है। इसलिए आप (आत्मवादी) ने जिस आत्ममोह की चर्चा की है, वह कथमपि (किसी भी तरह) उपादेय (स्वीकार या ग्रहण करने योग्य) नहीं है।

यदि आत्मदर्शन से अहंकार निवृत्त नहीं होता है तो ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ?

इस पर आचार्य कहते हैं—

वरं नैरात्म्यभावना—फलतः अहंकार को हटाने के लिए नैरात्म्य-भावना (पुद्गल-नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य की भावना) करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि आत्मदर्शन से उत्पन्न होने वाला अहंकार अनात्म-दर्शन से ही हट सकता है। अन्त में तो इस भावना की भी निवृत्ति होनी है, क्योंकि किसी के भी प्रति सत्तादृष्टि हानिकारक है।

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसिद्धिपरिच्छेद, का० २१९-२२१, पृ० ७६-७७ (बौद्धभारती-संस्करण)।

जब नैरात्म्यभावना अभ्यास के द्वारा अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँच जाती है तो उससे नैरात्म्य की विरोधी सत्कायदृष्टि (आत्मा सत् है—इस प्रकार की दृष्टि) निवृत्त हो जाती है । फलतः किसी एक सर्वदा अनुगामी के अभाव का बोध हो जाने से वस्तु की क्षणमात्रता का अवबोध होने लगता है । अतीत और अनागत की सत्ता के अभाव का निश्चय हो जाने से व्यक्ति ऐसे किन्हीं साधनों के फेर में नहीं पड़ता, जो भविष्य में सुख प्राप्त करानेवाले हों । फलतः उसे न किसी विषय में राग (आसक्ति) होता है और न तो सुखप्राप्ति के बाधक (विरोधी) के प्रति द्वेष ही होता है । न तो वह किसी को अपना अपकारी समझता है, क्योंकि जिसने जिसका अपकार (अहित) किया है, वे दोनों क्षणिक होने से द्वितीय क्षण में स्थित नहीं रहते । जब द्वितीय क्षण में अपकारी की सत्ता रहती ही नहीं, वह दूसरे क्षण में बिलकुल दूसरा हो जाता है, ऐसी स्थिति में अपकार किसी ने किया हो, और वैर किसी दूसरे से भँजाया जाए—यह उचित प्रतीत नहीं होता । बुद्धिमान् ऐसा नहीं करते । इस प्रकार राग, द्वेष आदि प्रधान क्लेशों के निवृत्त हो जाने से उनसे उत्पन्न अन्य क्लेश एवं उपक्लेश भी पैदा नहीं होते । वस्तुतः कोई किसी का अपकारी नहीं होता, सभी धर्म, चाहे कोई जड़ वस्तु हो या चेतन सभी अपने-अपने हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं । सभी में प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम लागू है । इस तरह पुद्गलशून्यता के साक्षात्कार से सत्कायदृष्टि (अहं-बोध) की निवृत्ति हो जाने से क्लेशों (राग, द्वेष आदि) का मूल ही उच्छिन्न हो जाता है । इसीलिए आचार्य ने कहा है कि नैरात्म्यभावना ही श्रेयस्कर है । तथागतगुह्यसूत्र में भगवान् ने भी यही बात कही है, जैसे—

“तद्यथापि नाम शान्तमते, वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाशं शुष्यति, एवमेव शान्तमते, सत्कायदृष्टिप्रशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति ।”

अहंकार का विषय क्या है ? इसी की चर्चा चल रही थी, उस प्रसङ्ग में जो अन्य प्रश्न खड़े हो गए थे, उनका निरूपण करने के अनन्तर आचार्य पुनः उसी (अहंकार के विषय) का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

यदि आत्मा युक्तियुक्त विचार करने पर खरगोश के सींग (खरविषाण) की तरह अहंकार के विषय के रूप में सिद्ध नहीं होता तो भी अहंकार का कोई विषय ही नहीं है—ऐसा नहीं है । हमारा (पूर्वपक्ष का) कहना है कि शरीर (काय) को ही अहंकार का विषय क्यों न मान लिया जाए ?

[न्याय-वैशेषिक आदि तैथिक (बौद्धेतर) दार्शनिक अवयवों से भिन्न एक अवयवी की सत्ता मानते हैं, जैसे कुर्सी के हत्ये, पाँव आदि से भिन्न (उन अवयवों से अतिरिक्त) एक कुर्सी नामक अवयवी होता है । इसी तरह एक-एक तन्तु अवयवों से भिन्न एक 'पट' नामक अवयवी होता है । पूर्वपक्ष का कहना है कि इसी तरह 'काय' (शरीर) नामक अवयवी अहंकार का विषय है । ज्ञात है कि बौद्ध अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता किसी भी तरह नहीं मानते । वे अवयवी का खण्डन करते हैं]

आचार्य 'काय' नामक अवयवी को अहंकार के विषय के रूप में मानने का निषेध करते हैं ।

कायस्मृत्युपस्थान

कायो न पादौ न जङ्घा नोरु कायः कटिर्न च ।

नोदरं नाप्ययं पृष्ठं नोरो बाहू न चापि सः ॥ ७९ ॥

न हस्तौ नाप्ययं पाश्वरौ न कक्षौ नांसलक्षणः ।

न ग्रीवा न शिरः कायः कायोऽत्र कतरः पुनः ॥ ८० ॥

सुखं कं कं सं सुखं सं सुखं ।

सुखं सं कं सं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ७९ ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ।

सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं सुखं ८० ।

विचार करने पर हाथ, पैर आदि अवयवों से भिन्न कोई 'काय' नामक अतिरिक्त वस्तु भी सिद्ध नहीं होती । हाथ, पैर आदि अवयव तो दिखलाई देते हैं, किन्तु उनसे अतिरिक्त एक 'काय' नामक वस्तु दिखलाई नहीं देती । बताओ उन अवयवों में कौन काय है ?

पाँव काय नहीं है, जङ्घा भी काय नहीं है। उरु (घुटने से ऊपर कमर तक) भी काय नहीं है। कमर (कटि) और श्रोणि (हड्डी का वह कटोरेनुमा ढाँचा, जिसमें गर्भाशय या मूत्राशय आदि रहते हैं) भी काय नहीं हैं। पेट, पीठ, उरस् (वक्षःस्थल) और बाहु भी काय नहीं हैं।

न हाथ, न पार्श्वभाग, न काँखें, न स्कन्ध (कन्धे), न गर्दन और न शिर ही काय हैं । फिर हाथ, पैर आदि एक-एक अवयव पर परमाणु की दृष्टि से विचार किया जाए तो उनकी भी स्वतन्त्र (अवयवी के रूप में) सत्ता सिद्ध नहीं होती तथा उन एक-एक अवयवों को काय मान लिया जाए तो किसी एक अवयव (हाथ, पैर या आँख) के नष्ट होने पर काय को नष्ट हो जाना चाहिए और आदमी को मर जाना चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता । अतः सिद्ध होता है कि इन एक-एक अवयवों से अतिरिक्त कोई 'काय' नामक अवयवी नहीं है, जो अहंकार का विषय हो सके । इसीलिए आचार्य पूछते हैं, बताओ, 'काय' कौन है ? अर्थात् कोई एक 'काय' नामक वस्तु नहीं है । वह केवल कल्पनानिर्मित मात्र है ।

पूर्वपक्ष—हम कहाँ कहते हैं कि हाथ, पैर आदि एक-एक अवयव 'काय' हैं। हमारे मत में जो अवयवी होता है, वह सभी अवयवों में व्यापक होता है। अतः काय तो सभी अवयवों में विद्यमान है ?

यदि सर्वेषु कायोऽयमेकदेशेन वर्तते ।

अंशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः ॥ ८१ ॥

འདི་ལ་ལྷན་ནི་གང་ཞིག་ཡིན། །

གཤམ་ཏེ་ལྷན་འདི་བྲམས་ཅད་ལ། །

ཕྱོགས་རེ་ཡིས་ནི་གནས་གུང་ན། །

ཆ་ནམས་ཆ་ལ་གནས་འགྱུར་མེད། ༥༡ །

माध्यमिक—आप (पूर्वपक्षी) ने जो यह कहा कि एक अवयवी व्यापक होने से सभी अवयवों में रहता है, यहाँ इस विषय में दो विचारणीय मुद्दे हो जाते हैं । पहला यह कि वह एक अवयवी अपने किसी एक अंश से अवयवों में रहता है अथवा दूसरा यह कि वह पूरा का पूरा (समूचा) एक अवयवी उन अवयवों में रहता है ?

दोनों ही मत दोषरहित नहीं हैं। यदि वह 'काय' नामक एक अवयवी अपने एक-एक अंश से उन-उन अवयवों में रहता है तो उस काय के अंश तो अवयवों में रहे पर वह समूचा अवयवी कहाँ रहा ?

सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु ।

कायास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः ॥ ८२ ॥

दे'न्द'द्वे'के'मा'द'मा'व'सा ।

मा'द'दे'न्द'मा'द्वे'मा'व'सा ।

मा'सो'मा'स'द्वे'मा'द'मा'व'सा ।

मा'सो'मा'स'दे'मा'दे'द्वे'मा' ८३ ।

यदि वह 'काय' नामक अवयवी निरंश (अंशरहित) होने से पूरा का पूरा अर्थात् समूचा उन हाथ, पैर आदि अवयवों में रहता है तो जितने हाथ पैर आदि अवयव हैं, उतनी ही संख्या में काय मानने होंगे । जब कि आप काय को एक मानते हैं । फलतः अनेकत्व सिद्ध हो जाने से जिस एक अवयवी को अहं-बोध के विषय के रूप में आपने कल्पित किया था, वह आपका मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ । इस तरह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध एक काय नहीं है ।

पुनश्च,

नैवान्तर्न बहिः कायः कथं कायः करादिषु ।

करादिभ्यः पृथङ् नास्ति कथं नु खलु विद्यते ॥ ८३ ॥

दे'द्वे'मा'दे'मा'स'द्वे'मा' ८४ ।

दे'न्द'द्वे'मा'दे'मा'स'द्वे'मा' ८५ ।

दे'द्वे'मा'दे'मा'स'द्वे'मा' ८६ ।

दे'द्वे'मा'दे'मा'स'द्वे'मा' ८७ ।

भीतर क्रिया करनेवाले (अन्तर्व्यापारवान्) पुरुष का निषेध पहले ही किया जा चुका है । भीतर स्थित मांस, शोणित (खून) आदि 'काय' नहीं हैं, इस पर भी विचार किया जा चुका है । बाहर भी प्रत्यक्ष आदि द्वारा काय दिखलाई नहीं पड़ता । तब कैसे आप हाथ, पैर आदि में काय की व्यवस्था करते हैं ?

यदि आप कहें कि हाथ, पैर आदि अवयवों से अतिरिक्त काय है तो उसे वैसा उपलब्ध होना चाहिए, वैसा दिखलाई पड़ना (भासित होना) चाहिए ? किन्तु हाथ,

पैर आदि तो भासित होते हैं, किन्तु उनसे भिन्न काय उपलब्ध नहीं होता। तब आप किस प्रकार काय की व्यवस्था करते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते।

तन्नास्ति कायो मोहात्तु कायबुद्धिः करादिषु ।

संनिवेशविशेषेण स्थाणौ पुरुषबुद्धिवत् ॥ ८४ ॥

दे'के'दे'भू'र'अ'न'स'अ'न' ।

दे'स'क'सु'स'भे'न'अ'न'स'अ'न' ।

अ'न'स'स'अ'न'के'सु'स'अ'न' ।

दे'स'स'अ'न'स'अ'न'स'अ'न' । ८५ ॥

यदि हाथ, पैर आदि अवयवों से अतिरिक्त कोई 'काय' नामक अवयवी होता तो अवश्य वैसा उपलब्ध होता, दिखलाई देता किन्तु उपलब्ध नहीं होता। अतः यह निश्चित होता है कि कोई 'काय' नामक अतिरिक्त पदार्थ परमार्थतः नहीं है। फिर भी अविद्या (मोह = अज्ञान) के कारण हाथ, पैर आदि अवयवों में उनसे अतिरिक्त 'काय है'—ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। वस्तुतः अनादि काल से जो यह जन्म-परम्परा चल रही है, उसमें इस प्रकार की मिथ्या कल्पना का अभ्यास हो चुका है। उसी की वजह से लोक में 'काय है'—इस प्रकार का व्यवहार चलता है। परमार्थतः काय की वास्तविक सत्ता नहीं है।

हाथ, पैर, आँख, कान, नाक आदि अवयवों का जो समूह है, वह उसी प्रकार के दूसरे समूह से भिन्न होता है। इसी भिन्नता के कारण उन हाथ, पैर आदि अवयवों में 'काय' का यह भ्रम पैदा होता है। जैसे स्थाणु (ठूँठ) में 'आदमी' का भ्रम पैदा होता है। क्योंकि ठूँठ में और पुरुष (आदमी) में ऊँचाई-चौड़ाई आदि की दृष्टि से कुछ समानता होती है, जिस समानता के कारण वास्तव में पुरुष नहीं होने पर भी कम प्रकाश रहने पर 'ठूँठ' में 'पुरुष' का भ्रम होता है।

यह आप (बौद्ध) कैसे निश्चित करते हैं कि यह कायबुद्धि वास्तविक नहीं है, अपि तु मोह (अज्ञान) से उत्पन्न है ?

यावत्प्रत्ययसामग्री तावत्कायः पुमानिव ।

एवं करादौ सा यावत् तावत्कायोऽत्र दृश्यते ॥ ८५ ॥

ཐུ་ཡོར་ལ་ནི་མི་བློ་བཞིན། །

ཅི་མིང་ཀྱི་ཆོག་མ་དེ་མིང་དུ། །

ལྷན་ན་སྒྲེས་བུ་ཅུར་མྱང་བ། །

དེ་བཞིན་ཟི་མེད་ལག་སོགས་ལ། ༥༧ །

जब तक चार महाभूत, आकाश, ज्ञान आदि कारण-सामग्री पूर्वसंचित कर्मों की वजह से प्रवृत्त होती रहती है, तब तक पुरुष की तरह काय भी प्रवृत्त होता रहता है। जैसे सत्त्व (स्त्री, पुरुष आदि) भी परमार्थतः नहीं है, फिर भी उपर्युक्त कारणों से वैसी बुद्धि उत्पन्न होती है, इसी तरह जब तक कारण-सामग्री होती है, तब तक हाथ, पैर आदि में कल्पनावश (भ्रमवश) काय का आभास होता है। जैसे कि कहा गया है—

हेतुतः सम्भवो यस्य स्थितिर्न प्रत्ययैविना ।

विगमः प्रत्ययाभावात् सोऽस्तीत्यवगतः कथम^१ ॥

विचार करने पर 'काय' की सत्ता तो सिद्ध नहीं होती, किन्तु हाथ, पैर आदि तो प्रत्यक्षतः उपलब्ध होने के कारण परमार्थतः सत् होते हैं ? ऐसी आशंका का निरास करने के लिए आचार्य आगे कहते हैं —

एवमङ्गलिपुञ्जत्वात् पादोऽपि कतरो भवेत् ।

सोऽपि पर्वसमूहत्वात् पर्वपि स्वांशभेदतः ॥ ८६ ॥

དེ་ཡོད་དེ་སྤྱིད་དེར་ལྷམ་སྒྲུང་། །

དེ་བཞིན་སོར་མེད་ཚྲི་ལྟ་ས་ཡིན་ཕྱིར། །

ལག་པར་གང་ཞིག་ཡིན་པར་འགྱུར། །

དེ་ཡང་ཚེགས་ཀྱི་ཚེགས་ཡིན་ལྟར། ༥༦ །

जिस प्रकार सूक्ष्म विचार करने 'काय' का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार हाथ, पैर आदि की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती। क्योंकि हाथ (पैर) आदि भी अंगुलि, एड़ी आदि अवयवों के पुंज ही हैं। इसलिए हाथ, पैर आदि भी क्या हैं ?

अर्थात् अपने अवयवों के समुदाय से अतिरिक्त कुछ नहीं है। अवयवों से अतिरिक्त उनकी पृथक् सत्ता नहीं है।

वे अंगुलि आदि भी विचार करने पर वस्तुसत् सिद्ध नहीं हो पाते, क्योंकि वे भी पर्व (पोर) आदि के समूहमात्र ही हैं। इसलिए अंगुलि आदि भी क्या हैं ? अर्थात् नहीं हैं। क्योंकि वे भी अपने अवयवों में विभक्त हो जाते हैं।

अंशा अप्यणुभेदेन सोऽप्यणुदिग्विभागतः ।

दिग्विभागो निरंशत्वादाकाशं तेन नास्त्यणुः ॥ ८७ ॥

कैमलः गुणः रसः मीः कः सुः सः ।

कः पः दः सुः सुः सुः सः ॥

दुः सः रः सुः सुः सुः सुः सुः सः ॥

सुः सुः सुः सुः सुः सुः सुः सुः सुः ॥

सामः सः सुः सुः सुः सुः सुः सुः सुः सुः ॥ ८७ ॥

पर्व (पोर) अवयव भी वस्तुसत् नहीं हैं, क्योंकि वे भी अणुओं में विभक्त हो जाते हैं। इसलिए वे भी कल्पित ही हैं। प्रत्येक (एक-एक) अणु भी परमार्थतः सत् नहीं है, क्योंकि दिशाओं के भेद से उनका भी भेद (विभाजन) हो जाता है। जैसे परमाणु का जो उत्तरदिशा से सम्बद्ध भाग है, वही परमाणु की दक्षिण दिशा से सम्बद्ध नहीं है। इसी तरह अन्य दिशाओं से सम्बद्ध भाग को भी जानना चाहिए। और फिर जो परमाणु दिशाओं के भेद से विभक्त हो जाता है, उसे 'एक' कैसे कह सकते हैं ? जैसे परमाणु का खण्डन करते हुए आचार्य वसुबन्धु ने कहा है—

दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते^१ ।

इसे यों समझना चाहिए—मध्य में एक परमाणु है और उसकी चारों दिशाओं में चार परमाणु और एक ऊपर तथा एक नीचे—इस तरह छह परमाणु उससे सम्बद्ध हैं। अब प्रश्न यह है कि मध्य (बीच) वाले परमाणु का जो हिस्सा उत्तर में स्थित परमाणु से संलग्न होता है, क्या वही हिस्सा दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊपर या नीचे वाले परमाणु से भी संलग्न होता है या उनसे संलग्न होने वाले हिस्से अलग-अलग हैं ?

१. द्र०—विशिका विज्ञप्तिमात्रव्रतासिद्धि, पृ० ५२ (सं० संस्कृत विश्वविद्यालय-प्रकाशन) ।

यदि हर दिशा में स्थित परमाणु से संलग्न मध्यवर्ती परमाणु का हिस्सा भिन्न-भिन्न है तो मध्यवर्ती परमाणु के छह हिस्से हो जाते हैं। फलतः परमाणु एक और निरवयव सिद्ध नहीं होता।

यदि आप (परमाणुवादी) यह कहें कि मध्यवर्ती परमाणु का जो भाग उत्तरदिशा में स्थित परमाणु से संलग्न होता है, वही भाग दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊपर और नीचे स्थित परमाणु से भी संलग्न होता है तो सभी परमाणुओं की एक-देशता (एक ही देश में स्थित होना) हो जाएगी। इसका अर्थ होगा कि उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रही और वे सब मिलकर वहीं एक हो गए। फलतः ऐसी स्थिति में चाहे कितने ही (लाखों-करोड़ों) परमाणु आपस में जुड़े, उनके जुड़ने से आकार में वृद्धि नहीं होगी। क्योंकि सबका देश (स्थान) एक ही है। ऐसी हालत में जो यह पेड़, पहाड़ आदि के स्थूल आकार हैं, वे बन नहीं पाएंगे। फलतः परमाणु की सत्ता किसी तरह सिद्ध नहीं होती और परमाणु को सत् मानने पर अनेक दोष आते हैं। अतः परमाणु कल्पितमात्र हैं। इसी बात को आचार्य वसुबन्धु ने भी कहा है—

षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता ।

षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः^१ ॥

छह दिशाओं के भेद से मध्यवर्ती परमाणु के जो छह भाग हो जाते हैं, उनमें एक-एक भाग भी फिर दिशाओं के भेद से छह अंशों वाला हो जाता है, इस तरह कहीं एक वस्तु नहीं मिलेगी। अर्थात् कोई भी वस्तुसत् नहीं है। फलतः निरंश (निरवयव) परमाणु की सत्ता आकाश की तरह कल्पित है। जैसे आकाश निरंश होने से अभावमात्र है, उसी तरह निरंश परमाणु भी असत् है। फलतः परमाणु नहीं है।

जिस तरह परमाणु असत्, निःस्वभाव एवं शून्य है, उसी तरह हाथ, पैर भी निःस्वभाव हैं। उसी तरह काय (शरीर) भी परमार्थतः नहीं है। क्योंकि वह एक है कि अनेक ?—इस तरह विचार करते हैं तो न तो एक सिद्ध होता है, क्योंकि वह अनेक अवयवात्मक है। न तो काय अनेक ही सिद्ध होता है, क्योंकि एक वस्तु के अनेक स्वभाव होना समीचीन नहीं है। फलतः काय निःस्वभाव एवं शून्य ही सिद्ध होता है। ठीक इसी तरह सभी वस्तुएँ विचार करने पर विचार के समक्ष टिकती नहीं। उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। फलतः सभी धर्म निःस्वभाव हैं। कहा भी है—

१. द्र०—विशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० ४८-४९ (सं० संस्कृत विश्वविद्यालय-प्रकाशन) ।

निःस्वभावा अभी भावास्तत्त्वतः स्वपरोदिताः ।

एकानेकस्वभावेन वियोगात् प्रतिबिम्बवत्^१ ॥

निष्कर्ष यह है कि इस तरह न तो केश आदि, न आत्मा, न चित्त और न काय, कोई भी अहं-बुद्धि का विषय नहीं है। वस्तुतः आत्मा आदि की सत्ता न होने पर भी अविद्या के कारण अनादि काल से यह 'मैं' या 'अहं' को ग्रहण करनेवाली बुद्धि बिना विषय के (निर्विषयक) ही प्रवृत्त हो रही है। इसीलिए जो कह कहा गया था—

अहमेव न किञ्चित्चेद् भयं कस्य भविष्यति^२ ।

उसका सम्यक् उपपादन हो गया। इस उपर्युक्त पूरे निरूपण से कायस्मृत्युपस्थान का भी प्रतिपादन हो जाता है।

जब विचार करने पर काय (शरीर) आकाश के समान निःस्वभाव (शून्य) सिद्ध हो जाता है तो अज्ञ (मूढ) जन व्यर्थ ही शरीर में वस्तुसत्ता का आरोप करके उसके प्रति अपने में राग, द्वेष आदि पैदा करते हैं और अपने संसार (जन्म-मरण परम्परा) को आगे बढ़ाते हैं। इसी बात को आचार्य कहते हैं—

एवं स्वप्नोपमे रूपे को रज्येत विचारकः ।

कायश्चैवं यदा नास्ति तदा का स्त्री पुमांश्च कः ॥ ८८ ॥

दे'बु'र'क्षि'म'म'बु'सु'यो ।

म'द'त'म'र'सु'र'बु'सु'बे'म'क'म'स ।

म'द'क'दे'बु'र'सु'स'मे'स ।

दे'क'क्षे'स'म'द'सु'मे'स'म'द' ॥ ८८ ॥

पूर्वोक्त विधि से विचार करने पर जब यह निश्चय हो गया कि सभी धर्म स्वप्न के समान हैं। अर्थात् उनकी उतनी ही और वैसी ही सत्ता है, जितनी और जैसी स्वप्न में उपलब्ध वस्तुओं की होती है तो इस स्थिति में कौन विद्वान् उन वस्तुओं के प्रति 'राग' (अनुराग या आसक्ति) करेगा ? अर्थात् उनके प्रति राग करना बुद्धिमान्नी नहीं है। यहाँ राग का उल्लेख उपलक्षण (नमूना) मात्र है।

१. द्र०—मध्यमकालंकार, शान्तरक्षित विरचित, का०—१ ।

२. द्र०—बोधिचर्यावितार, ९ : ५७, पृ० ४१७ प्रस्तुत संस्करण ।

वस्तुतः कौन विद्वान् द्वेष या मोह भी करेगा ? वस्तुतः पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं—मन के अनुकूल (सौमनस्य स्थानीय), मन के प्रतिकूल (दौर्मनस्य स्थानीय) तथा न अनुकूल और न प्रतिकूल ऐसे उपेक्षास्थानीय । इनमें से कम समझदार लोगों को सौमनस्यस्थानीय वस्तुओं में राग, दौर्मनस्य स्थानीय में द्वेष और उपेक्षास्थानीय वस्तुओं में औदासीन्य होता है । पण्डितजातीय समझदार व्यक्ति विचार करने पर इन वस्तुओं में कोई सार उपलब्ध नहीं करते । न इन्द्रियों की, न विषयों की और न अनुभव करनेवाले किसी आत्मा की सत्ता उपलब्ध होती है । वह सभी धर्मों (पदार्थों) को, सभी इन्द्रियों को मायोपम और स्वप्नोपम देखता है^१ । वह सभी धर्मों को जब सम्यक् प्रज्ञा द्वारा यथाभूत देखता है^२, तो उसे किसी भी वस्तु के प्रति न राग उत्पन्न होता है, न द्वेष और न मोह ही उत्पन्न होता है ।

कायश्चैवं यदा नास्ति०—उपर्युक्त प्रकार से विचार करने पर जब 'काय' ही सत्तावान् पदार्थ सिद्ध नहीं होता, तब कौन पुरुष है और कौन स्त्री ? काय के न होने से जब कोई पुरुष नहीं है और न स्त्री तब किस पुरुष को किसी कमनीय स्त्री के प्रति या किस स्त्री को किसी मनोज्ञ पुरुष के प्रति राग होगा ? अर्थात् नहीं होगा । इसी तरह द्वेष या मोह भी न होंगे । इस तरह जब स्वभावतः काय नहीं है तो न स्वभावतः कोई पुरुष है और न स्त्री । अतः स्त्री की कल्पना करके पुरुष में राग होना या पुरुष की कल्पना करके स्त्री में राग, द्वेष आदि की उत्पत्ति असंगत है । यहाँ मुख्य विषयों पर विचार किया गया है । वस्तुतः माला, चन्दन आदि समस्त धर्मों का अस्तित्व काल्पनिक है । सभी स्वप्नोपम एवं मायोपम हैं^३ ।

वेदना स्मृत्युपस्थान

यद्यस्ति दुःखं तत्त्वेन प्रहृष्टान् किं न बाधते ।

शोकाद्यार्थाय मृष्टादि सुखं चेत् किं न रोचते ॥ ८९ ॥

१. स्वप्नान्तरेऽपि स्वप्नाभसर्वधर्मेक्षणदिकम् ।

तु०—अभिसमयालंकार, ५ : १, पृ० ६५ (केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा-संस्थान, सारनाथ-प्रकाशन)

२. द्रष्टव्यं भूततो भूतं भूतदर्शी विमुच्यते ।

तु०—अभिसमयालंकार, ५ : २१, पृ० ७१ (केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा-संस्थान, सारनाथ-प्रकाशन) ।

३. एवं महाराज, यथाभूतं सम्यक् प्रज्ञया द्रष्टव्यमिति । तेन का मन्यना ? मन्यना मारगोचरः । तत् कस्य हेतोः ? मन्यनापगता हि सर्वधर्माः । द्र०—पितापुत्रसमागमसूत्र, बोधिचर्यावितार-पंजिका में उद्धृत, पृ० २३८ ।

སྤྱུ་ལ་བསྐྱེད་ཅིང་དུ་ཡོད་ན། ।

ཅི་སྤྱི་རབ་དགའ་ལ་མི་གནོད། ।

བདེ་ན་མྱ་ངན་གདུང་སློགས་ལ། ।

ཞིམ་སློགས་ཅི་སྤྱི་དགའ་མི་བྱེད། ८० ।

वेदनाएँ तीन प्रकार की होती हैं, यथा—सुख, दुःख एवं अदुःखासुख अर्थात् उपेक्षा । जैसे उपर्युक्त परीक्षा के अनुसार रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि जड़ भौतिक पदार्थ परमार्थतः सत् नहीं हैं, उसी प्रकार चेतनात्मक आध्यात्मिक वेदनाएँ भी परमार्थसत् नहीं हैं ।

यदि दुःख वेदना वस्तुतः सत् है तो हर्ष, सन्तोष आदि से युक्त पुरुष उससे बाधित क्यों नहीं होते ? यदि सुख तत्त्वतः विद्यमान है और मधुर भोज्य, पेय आदि पदार्थ वस्तुतः सुख के हेतु हैं, या माला, चन्दन आदि सुख के वास्तविक हेतु हैं, तो शोक से पीड़ित या काम, भय, उन्माद आदि से पीड़ित लोगों को वे रुचिकर क्यों प्रतीत नहीं होते ? वस्तु अपने स्वभाव को तो कभी छोड़ती नहीं, फलतः सुख के हेतुओं से शोक आदि से पीड़ित लोगों में भी सुख का उत्पाद होना चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः सुख, दुःख आदि वेदनाएँ भी कल्पनाप्रसूत ही हैं ।

बलीयसाभिभूतत्वाद् यदि तज्ज्ञानुभूयते ।

वेदनात्वं कथं तस्य यस्य नानुभवात्मता ॥ ९० ॥

སྤྱུ་ལ་བསྐྱེད་ཅིང་དུ་ཡོད་ན། ।

ཅི་སྤྱི་རབ་དགའ་ལ་མི་གནོད། ।

བདེ་ན་མྱ་ངན་གདུང་སློགས་ལ། ।

ཞིམ་སློགས་ཅི་སྤྱི་དགའ་མི་བྱེད། ९० ।

वस्तुवादी—इस पर वस्तुवादी यदि यह कहे कि हर्ष और सन्तोष आदि की अवस्था में भी दुःख वेदना तो होती ही है । ऐसा नहीं है कि उन अवस्थाओं में दुःख सर्वथा असत् होता हो, किन्तु उद्भूत बलवती सुख वेदना के द्वारा उस समय विद्यमान भी दुःख वेदना अभिभूत रहती है । अर्थात् स्पष्टतया अनुभूत या प्रतीत नहीं होती ।

इस पर बौद्धों का कहना है कि अनुभव को ही 'वेदना' कहते हैं। जिसका अनुभव न हो फिर भी यदि वह 'वेदना' कही जाए, तब तो चाहे जिसे वेदना कहा जा सकता है। यदि हर्ष आदि की अवस्था में दुःख की अनुभूति नहीं होती, जैसा कि आपने कहा है तो फिर वेदना की विद्यमानता नहीं है—यह कहना ही समीचीन है।

अस्ति सूक्ष्मतया दुःखं स्थूल्यं तस्य हृतं ननु ।

तुष्टिमात्रापरा चेत् स्यात्तस्मात् साप्यस्य सूक्ष्मता ॥ ९१ ॥

श्रुमा'रक्ष्मा'स'म'क्षि'र'तु'प्य' ।

र'क्षि'र'स'म'क्षि'र'तु'प्य' ।

र'क्षि'र'स'म'क्षि'र'तु'प्य' ।

र'क्षि'र'स'म'क्षि'र'तु'प्य' ॥ ९१ ॥

वस्तुवादी—हम ऐसा नहीं कहते कि वह (दुःख वेदना) सर्वथा अनुभूत नहीं होती, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अनुभूत होने पर भी वह अनुभूत की तरह होती है ?

बौद्ध—आप (वस्तुवादी) कहते हैं कि हर्ष आदि के काल में विद्यमान भी दुःख वेदना सूक्ष्म होने के कारण परिलक्षित नहीं होती तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस अवस्था में बलवान् सुख ने केवल दुःख की स्थूलता का ही हनन किया। यदि आप इसे स्वीकार करते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि केवल स्थूलता का ही सुख वेदना ने हरण किया है तो उस सुख वेदना के काल में दुःख की सूक्ष्मता का अनुभव होना चाहिए, किन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता, फलतः यह कैसे कहा जा सकता है कि उस समय दुःख वेदना की सूक्ष्मता है ?

यदि आप (वस्तुवादी) कहें कि उस बलवती सुखा वेदना से एक अन्य छोटी सी (अल्प मात्र) सुख वेदना उत्पन्न होती है, जिसे हम 'तुष्टिमात्र' या 'सुखकणिका' कह सकते हैं, वही दुःख की 'सूक्ष्मता' है ?

यदि आप (वस्तुवादी) ऐसा मानते हैं तो वह सुख की ही सूक्ष्मता होगी, दुःख की नहीं। क्योंकि तुष्टि की जाति तो सुख वेदना की ही है। अर्थात् तुष्टि सुख-जातीय है, न कि दुःखजातीय। अतः यह निश्चित होता है कि सुख के अनुभव काल में दुःख की सूक्ष्मता भी नहीं होती।

वस्तुवादी—यद्यपि दुःख कदाचित् (कभी) होता है और कभी नहीं होता, किन्तु उसका कदाचित् होना (कदाचित्कत्व), उसके काल्पनिक (कल्पनाप्रसूत) होने के कारण नहीं है, जैसा आप (माध्यमिक बौद्ध) मानते हैं, अपि तु उसका कभी न होना, उस (दुःख) के कारणों की अविद्यमानता पर निर्भर है। आशय यह है कि जब कारण विद्यमान होते हैं तो दुःख वेदना उत्पन्न होती है और जब कारण नहीं होते तो दुःख वेदना नहीं होती। वह काल्पनिक नहीं है, जैसा आप मानते हैं ?

विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ दुःखस्यानुदयो यदि ।

कल्पनाभिनिविशो हि वेदनेत्यागतं ननु ॥ ९२ ॥

གཤམ་ཏེ་འགཤམ་ཀྱིན་སྒྲེས་པས་ན། །

ཐུག་བཅུལ་སྒྲེས་པ་མིན་ན་ནི། །

ཚོར་བར་དྲིལ་པ་མངོན་ཞེན་ཉིད། །

ཡིན་ཞེས་བྱ་བར་གྲགས་མིན་ནམ། ༤༩ །

यदि वस्तुवादी ऐसा कहता है कि दुःख का विरोधी जो सुख है, उसके हेतु स्पर्श के विद्यमान होने पर (स्पर्शप्रत्यया वेदना) हर्ष आदि की अवस्था में दुःख की उत्पत्ति नहीं होती है तो—

माध्यमिक—हम जो इतनी देर से कह रहे थे, वही बात अब आपने मान ली। हम कह रहे हैं कि यह 'सुख' या 'दुःख' कल्पनाजनित एक अवधारणामात्र (अभिविवेशमात्र) है। सुख या दुःख का कोई वास्तविक हेतु नहीं है।

इसे यों समझना चाहिए—अपने निजी स्वभाव से रहित होने पर भी जिसे हमने सुख के साधन के रूप में कल्पित कर लिया है, उसके उपस्थित होने पर सुख वेदना उत्पन्न होती है, जिसे दुःख का साधन माना है, उसके उपस्थित होने पर दुःख वेदना उत्पन्न होती है—इत्यादि। हम जैसा कह रहे हैं यदि वैसा न माना जाए तो ऐसा क्यों होता है कि जिसे हम सुख का साधन कहते हैं, वही किसी के लिए दुःख का साधन हो जाता है। जो किसी के लिए दुःख का साधन है, वही दूसरे के लिए सुख का साधन होता है। ऐसा क्यों होता है? इसे आप (वस्तुवादी) बताएँ? क्योंकि यदि कोई वस्तुतः सुख का साधन है तो उससे सबके लिए सुख उत्पन्न होना चाहिए? क्यों वह किसी के लिए दुःखसाधन हो जाता है? हम संसार में प्रायः ऐसा देखते हैं कि पहले जिसका नाम सुनने से भी दुःख होता था, वह कालान्तर में ऐसा हो जाता

वस्तुवादी—निरंश मानने पर सर्वथा (सर्वात्मना) संसर्ग मानना युक्त नहीं है ।

निरंशस्य च संसर्गः कथं नामोपपद्यते ।

संसर्गो च निरंशत्वं यदि दृष्टं निदर्शय ॥ ९६ ॥

क'मे'न'स'ल'ल'स'न'स'ले'न ।

सु'न'ई'ल'न'ल'न'स'न'ल'न' ।

स'न'स'न'न'क'मे'न'स'न' ।

न'न'न'न'न'न'न'न'न'न'न'न' ७७ ।

माध्यमिक—अंशरहित निरंश पदार्थ का संसर्ग या मिलन युक्त नहीं है । छोटे से छोटा पदार्थ भी जब किसी दूसरे पदार्थ से मिलता है तो अपने किसी एक अंश से ही मिलता है । जिसका कोई अंश ही नहीं है, उसका दूसरे से मिलना कैसे सम्भव है ? वह तो चित्त की तरह अमूर्त हो जाएगा और फलतः वह असत् ही होगा । माध्यमिक वस्तुवादियों से कहते हैं कि यदि आपने निरंश पदार्थ को कहीं संसर्ग करते हुए देखा हो अर्थात् आपके पास ऐसा कोई उदाहरण हो तो दिखाइए ।

विज्ञानस्य त्वमूर्तस्य संसर्गो नैव युज्यते ।

समूहस्याप्यवस्तुत्वाद् यथा पूर्वं विचारितम् ॥ ९७ ॥

क'मे'न'स'ल'ल'स'न'स'ले'न ।

स'न'स'न'न'न'न'न'न'न'न'न'न'न' ।

क'मे'न'स'ल'ल'स'न'स'ले'न ।

स'न'स'न'न'न'न'न'न'न'न'न'न'न' ७८ ।

विज्ञान (रूप, शब्द आदि विषयों का ज्ञान), जो कि अमूर्त (मूर्ति = आकार से रहित) है, का परस्पर संसर्ग अयुक्तियुक्त है, क्योंकि वह आकार रहित है । जिनमें आकार होता है, उनका परस्पर सम्पर्क तो हो सकता है, किन्तु जिनमें आकार ही नहीं है, ऐसे पदार्थों का परस्पर संसर्ग कैसे सम्भव है ? निरंश परमाणु के विज्ञान की तरह अमूर्त सिद्ध हो जाने से उनका परस्पर सम्पर्क असम्भव है ।

वस्तुवादी—द्रव्यपरमाणु का संसर्ग भले ही न हो, किन्तु संघात परमाणु का परस्पर सम्पर्क क्यों सम्भव नहीं है ? कम से कम आठ परमाणुओं का समूह 'संघात परमाणु' कहलाता है । ऐसे परमाणु परस्पर मिल सकते हैं ?

बाधा कस्य कुतो भवेद्—विचार करने पर जैसे वेदना निःस्वभाव (शून्य) सिद्ध होती है, वैसे ही उस वेदना का अनुभव करने वाले वेदक आत्मा का भी जब तक सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता, तभी तक अस्तित्व है। आत्मा के ऊपर पहले काफी विचार किया जा चुका है। फलतः वेदक का भी सर्वथा अभाव ही है। किसी वस्तु का दुःखदायी होना भी कल्पितमात्र है। फलतः वेदक (वेदना का अनुभव करने वाले) का और वेदना का भी अभाव होने से बाधा (पीड़ा) किसे होगी। अर्थात् नहीं होगी। दुःखदायी वस्तु का भी अस्तित्व नहीं है। इसलिए परमार्थतः किसी को किसी से पीड़ा नहीं होती। वेदयिता (वेदक) का अभाव होने से वेदना भी युक्त नहीं है।

यदा न वेदकः कश्चिद् वेदना च न विद्यते ।

तदावस्थामिमां दृष्ट्वा तृष्णे किं न विदीर्यसे ॥ ९९ ॥

म० क० क० स० म० म० म० म० म० म० ।

क० स० म० म० म० म० म० म० म० ।

म० क० म० म० म० म० म० म० म० ।

म० स० म० म० म० म० म० म० म० ॥ १०० ॥

अब इस बात पर विचार किया जा रहा है कि जब वेदना ही परमार्थतः नहीं है, तब उससे उत्पन्न होने वाली तृष्णा (वेदनाप्रत्यया तृष्णा) का भी वस्तुतः सर्वथा अभाव ही है।

जो वेदना का अनुभव करता है, उसे 'वेदक' कहते हैं। जब कोई आत्मा है ही नहीं, तब वस्तुतः वेदना का भी अभाव है। इस अवस्था को देखकर अर्थात् हे तृष्णे, जब तुम्हारा न कोई उत्पादक हेतु (वेदना) है और न वेदना का अनुभव करनेवाला कोई वेदक है—तब इस अवस्था को देखकर, तुम छिन्न-भिन्न क्यों नहीं हो जाती? अर्थात् तुम्हें विशीर्ण हो जाना चाहिए।

यदि वेदक नहीं है, वेदना भी नहीं है तो क्यों लोक में सुख आदि के साधनों को जुटाने का व्यवहार दिखाई देता है? और कैसे 'मैंने देखा, मैंने सुना'—इत्यादि व्यवहार भी लोक में होता है?

दृश्यते स्पृश्यते चापि स्वप्नमायोपमात्मना ।

चित्तेन सहजातत्वाद् वेदना तेन नेक्ष्यते ॥ १०० ॥

མཐོང་བ་ལམ་ནི་རིག་བ་ཡང་། །

མི་ལམ་ལྟ་བུའི་བདག་ཉིད་ཀྱིས། །

སེམས་དང་ལྟན་ཅིག་སྐྱེས་པའི་ཕྱིར།

ཆོར་བ་དེ་ཡིས་མགྲོང་མ་ཡིན། ༡༠༠ །

वस्तुवादी का कहना है कि आप भले ही आत्मा न माने, फिर भी आप वेदक तो मानते ही हैं, क्योंकि आपके मतानुसार चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान (चित्त) देखता है और कायेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान द्वारा स्पर्श किया जाता है ?

माध्यमिक कहते हैं कि यह ठीक है, किन्तु वह चित्त परमार्थसत् नहीं है, अपितु प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण स्वप्नोपम (स्वप्न के समान स्वभाववाला) एवं मायोपम है।

वेदना चित्त के साथ उत्पन्न है तथा वेदना और चित्त दोनों का जन्म एक ही कारणसामग्री से उत्पन्न हैं, अतः चित्त परमार्थतः वेदना का अनुभव नहीं कर सकता। अर्थात् उनमें परस्पर वेद्यवेदकभाव परमार्थतः सम्भव नहीं। इसी तरह परमार्थतः द्रष्टा आदि के द्वारा दर्शन आदि भी सम्भव नहीं हैं।

यद्यपि यह सही है कि जो साथ-साथ उत्पन्न हैं, उनमें द्रष्टा एवं दृष्ट आदि व्यवहार नहीं हो सकते। किन्तु ग्राह्याकार ज्ञान के उत्पन्न होने के अनन्तर ग्राहकाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए ग्राह्य-ग्राहक भाव सम्भव है ?

पूर्वपक्ष के इस आशय को ध्यान में रखकर आचार्य कहते हैं—

पूर्वं पश्चाच्च जातेन स्मर्यते नानुभूयते ।

स्वात्मानं नानुभवति न चान्येनानुभूयते ॥ १०१ ॥

ལྷན་དང་ཕྱི་མར་སྒྲིམ་བཤ་གྲང་། །

དཀ་པར་འགྱུར་གྱི་སྤྱོད་མ་ཡིན། །

རང་གིས་བདག་ཉིད་སྤྱོད་མིན་ལ། །

གཞན་དག་གིས་ཀྱང་སྤྱོད་མ་ཡིན། ༡༠༡ །

जो पहले उत्पन्न है, उसका पश्चाद्भावी ज्ञान के द्वारा स्मरण तो हो सकता है, किन्तु अनुभव कथमपि नहीं हो सकता। क्योंकि पश्चाद्भावी ज्ञान के काल में पूर्वभावी

अविद्यमान (असत्) है । अतीत के अविद्यमान होने से उसका स्वरूपतः अनुभव (वेदन) सम्भव नहीं है । अतः पञ्चादभावी के द्वारा स्मरणमात्र ही होता है । व्यवहार में सहजात का अनुभव ही सम्भव है ।

ज्ञान अपने स्वरूप का भी अनुभव नहीं कर सकता । स्वसंवेदन का पहले विस्तारपूर्वक खण्डन किया जा चुका है । समानकाल में उत्पन्न अन्य ज्ञान के द्वारा भी ज्ञान का अनुभव नहीं हो सकता । समानकालभावी दो पृथक् सिद्ध ज्ञानों का भी परस्पर वेद्यवेदकभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि उन दोनों में किसी तरह का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता । इस तरह ज्ञान का ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) द्वारा भी अनुभव (वेदन) नहीं होता ।

न चास्ति वेदकः कश्चिद् वेदनातो न तत्त्वतः ।

निरात्मके कलापेऽस्मिन् क एवं बाध्यतेऽनया ॥ १०२ ॥

कॅर'सॅ'र'म'र'य'र'य'र'य'र'य' ।

र'स'र'कॅर'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'r' ।

र'र'र'र'र'र'र'r'r'r' । १०३ ।

फलतः कोई वेदक (अनुभवकर्ता) सिद्ध नहीं है । जो वेदना का अनुभव करता है, उसे ही 'वेदक' कहते हैं । इसी कारण तत्त्वतः (परमार्थतः) कोई वेदना भी नहीं है, क्योंकि वेदना 'अनुभव' को कहते हैं और अनुभव होता ही नहीं, क्योंकि किसी के द्वारा अनुभव किया ही नहीं जाता । फलतः वेदना का जो लक्षण 'अनुभव' है, वह लक्षण ही उपपन्न नहीं होता । इसलिए वेदना केवल अभिनिवेश (एक प्रकार का आग्रह) मात्र है । जैसे कि आर्य अक्षयमत्तिसूत्र में कहा गया है—

“अपि तु खलु पुनरभिनिवेशो वेदना, परिग्रहो वेदना, उपादानं वेदना, उपलम्भो वेदना विपर्यासो वेदना, विकल्पो वेदना”—इत्यादि^१ ।

धर्मसंगीतिसूत्र में भी उल्लिखित है—

वेदनाऽनुभवः प्रोक्ता केनासावनुभूयते ।

वेदको वेदना वेद्यः पृथग्भूतो न विद्यते ॥

१. प्रस्तुत ग्रन्थ बोधिचर्यावितार में १७-२५ कारिकाओं का अवलोकन करें ।

२. द्र०—बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० २४४ (उद्धृत) ।

एवं स्मृतिरूपस्थेया वेदनायां विचक्षणैः ।

यथा बोधिस्तथा ह्येषा शान्ता शुद्धा प्रभास्वरा ॥

इसलिए यह काय वेदक और वेदना स्वभाव से शून्य, प्रतीत्यसमुत्पन्न मात्र एवं व्यापाररहित ही है। केवल माया के समान उपलब्ध मात्र होता है। फलतः किसी का अपना वस्तुतः सुख या दुःख नहीं है।

किसी वेदक स्वभाववाले आत्मा का अस्तित्व नहीं होने के कारण यह सम्पूर्ण काय निरात्मक या अस्वामिक (कोई इसका स्वामी नहीं) है । प्रतीत्यसमुत्पन्न मात्र होने के कारण कोई एक अनुयायी (सभी अवस्थाओं में अनुगमन करनेवाला) पदार्थ (आत्मा आदि) भी नहीं है । इसकी केवल माया या स्वप्न के ही समान उपलब्धि होती है । जब वेदक का ही अभाव है तो परमार्थतः दुःख वेदना के द्वारा कौन पीड़ित होता है ? विचार करने पर कोई नहीं । इसलिए यह सुखसाधन है, यह दुःखसाधन है—इस प्रकार का अध्यवसाय (निश्चय) मात्र विकल्प ही है ।

चित्तस्मृत्युपस्थान

नेन्द्रियेषु न रूपादौ नान्तराले मनः स्थितम् ।

नाप्यन्तर्न न बहिश्चित्तमन्यत्रापि न लभ्यते ॥ १०३ ॥

ཡིད་ནི་དབང་རྣམས་ལ་མི་གནས། །

གཞུགས་སོགས་ལ་མིན་བར་ནའང་མེད། །

ནང་ནང་སེམས་མིན་ཕྱི་མིན་ཞིང་། །

གཞན་དུ་ཡང་ནི་རྟེན་མ་ཡིན། ༡༠༩ །

यहाँ षष्ठ मनोविज्ञान^२ के बारे में निरूपण किया जा रहा है कि यह षष्ठ मनो-विज्ञान कहाँ रहना है ? चक्षु आदि इन्द्रियों में यह स्थित नहीं हो सकता और न तो रूप आदि विषयों में यह उपस्थित रहता है । इन्द्रिय और विषयों के बीच (अन्तराल) में भी यह नहीं रहता है । इन दोनों स्थानों में से एक भी जगह मन नहीं रहता ।

१. द्र०-बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० २४४ (उद्धृत) ।

२. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं मन—ये छह 'इन्द्रियाँ' होती हैं, उनसे चक्षुविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और मनोविज्ञान ये छह 'इन्द्रियविज्ञान' उत्पन्न होते हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म—ये छह क्रमशः इन विज्ञानों के विषय होते हैं। यहाँ मनोविज्ञान के बारे में कहा जा रहा है।

न चित्त (मन) बाहर रहता है और न भीतर । अर्थात् न शरीर के भीतर और न शरीर के अवयवों में ही यह रहता है । जो ऊपर स्थान कहे गये हैं, उनसे भिन्न स्थानों में भी यह उपलब्ध नहीं होता है । अर्थात् विचार करने पर कहीं भी इसकी उपलब्धि नहीं होती ।

यन्न काये न चान्यत्र न मिश्रं न पृथक् क्वचित् ।

तन्न किञ्चिदतः सत्त्वाः प्रकृत्या परिनिर्वृताः ॥ १०४ ॥

གང་ཞིག་ལྷན་མིན་གཞན་དུ་མིན། །

འདྲེས་མིན་ལྷགས་སྤྱད་འགར་མེད་པ། །

དེ་ནི་ཆུང་ཟད་མིན་དེའི་ཕྱིར། །

སེམས་ཅན་རང་བཞིན་གྱི་ངན་འདས། ༡༠༧ །

जो चित्त न शरीर के भीतर और न शरीर के बाहर किसी वस्तु में रहता है एवं न तो बाह्य और आभ्यन्तर (दोनों) में मिश्रितरूप से रहता है तथा जो चित्त न काय (शरीर) से पृथक् स्वतन्त्ररूप से ही कहीं रहता है, वस्तुतः (परमार्थतः) वह चित्त विद्यमान (वस्तुसत्) ही नहीं है। उसकी सत्ता केवल कल्पना द्वारा आरोपितमात्र है। जब तक संसार है तब तक वह चित्त निःस्वभाव होने से माया के समान आभासितमात्र होता है। इसलिए प्राणी (सत्त्व) स्वभावतः मुक्त स्वभाववाले ही हैं, क्योंकि निःस्वभावता (शून्यता)-लक्षण निर्वाण सभी प्राणियों में हमेशा विद्यमान रहता ही है। फिर भी जिनकी चित्तसन्तति क्लेश और उनकी वासनाओं से प्रभावित रहती हैं, ऐसे प्राणी अयथार्थ कल्पनाओं के कारण असत्य में सत्य का आरोप करके अपने को संसार रूपी कारागार में प्रतिबद्ध समझ लेते हैं और इस प्रकार अस्वतन्त्र और अमुक्त कहलाते हैं। किन्तु यह स्थिति परमार्थरूप में बिल्कुल नहीं होती।

षष्ठ मनोविज्ञान की स्वभावसत्ता का निषेध कर देने के अनन्तर अब चक्षुरादि पाँच इन्द्रियविज्ञानों के अस्तित्व पर विचार किया जा रहा है।

ज्ञेयात् पूर्वं यदि ज्ञानं किमालम्ब्यास्य सम्भवः ।

ज्ञेयेन सह चेज्ज्ञानं किमालम्ब्यास्य सम्भवः ॥ १०५ ॥

येसा'सु'असा'सु'येसा'ये'र'ग' ।

दे'के'उ'अ'दमीमा'र'सा'सु' ।

येसा'र'येसा'सु'ह'उ'मा'र' ।

दे'के'उ'अ'दमीमा'र'सा'सु' २०५ ।

वस्तुवादी—कोई भी इन्द्रियविज्ञान कहीं पर भी सत् (विद्यमान) रूप में अवस्थित नहीं होता, अपि तु चक्षु आदि इन्द्रियों एवं रूप, शब्द आदि आलम्बनों आदि कारणसामग्री की अपेक्षा करके इन्द्रियविज्ञान उत्पन्न होते हैं और रूप, शब्द आदि ज्ञेयों के ग्राहक कहलाते हैं ।

माध्यमिक—चक्षुरादि इन्द्रिय विज्ञानों की उत्पत्ति के बारे में तीन ही विकल्प हो सकते हैं—वे या तो रूप, शब्द आदि ज्ञेय विषयों के पूर्व होते हैं, समानकाल में उत्पन्न होते हैं या उनके पश्चात् होते हैं ।

यदि वस्तुवादी पहला विकल्प स्वीकार करते हैं अर्थात् ज्ञान ज्ञेय से पूर्व उत्पन्न होते हैं—ऐसा मानते हैं तो माध्यमिकों का कहना है कि जब ज्ञेय उत्पन्न ही नहीं है तो ज्ञान किस को आलम्बन करके उत्पन्न कहा जाएगा । अर्थात् ज्ञेय अनुत्पन्न होने से आलम्बन के बिना ज्ञान का उत्पाद कैसे सम्भव होगा ?

यदि आप (वस्तुवादी) द्वितीय पक्ष स्वीकार करते हैं अर्थात् यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और ज्ञेय समानकालीन होते हैं तो भी ज्ञान का उत्पाद असम्भव होगा । क्योंकि समानकालीन दो वस्तुओं में परस्पर कार्य-कारणभाव किसी भी तरह सम्भव नहीं है । बात यह है कि आलम्बन कारण हुआ करता है और ज्ञान कार्य । कारण को कार्य से पूर्ववर्ती होना चाहिए । आप दोनों को समानकालीन मानते हैं । ऐसी स्थिति में आलम्बन कभी कारण नहीं बन सकेगा । और जो कारण नहीं होता, वह कथमपि ज्ञान का विषय नहीं हो सकता ।

यदि आप (वस्तुवादी) तीसरा पक्ष स्वीकार करते हैं, अर्थात् यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान हमेशा ज्ञेय के पीछे (पश्चाद्) उत्पन्न होता है तो इस पर आचार्य कहते हैं—

अथ ज्ञेयाद् भवेत् पश्चात् तदा ज्ञानं कुतो भवेत् ।

एवं च सर्वधर्माणामुत्पत्तिर्नावसीयते ॥ १०६ ॥

देवदेवोऽस्य देवदेवोऽस्य ।

देवदेवोऽस्य देवदेवोऽस्य ।

देवदेवोऽस्य देवदेवोऽस्य ।

देवदेवोऽस्य देवदेवोऽस्य । १०७ ।

ज्ञेय के पश्चात् ज्ञान की सत्ता स्वीकार करने पर माध्यमिक कहते हैं कि ज्ञेय के पश्चात् ज्ञान के उत्पन्न होने का मतलब यह है कि ज्ञान के काल में ज्ञेय निवृत्त (नष्ट) हो चुका है । क्योंकि बौद्धों के अनुसार सभी वस्तुएँ क्षणिक होती हैं । अर्थात् जब ज्ञान ज्ञेय के पश्चात् उत्पन्न होता है, उस समय याने ज्ञान के काल में ज्ञेय नहीं है, वह नष्ट हो चुका है । ऐसी स्थिति में ज्ञान किसको आलम्बन बनाकर उत्पन्न होगा ? नष्ट हो जाने का तात्पर्य है ज्ञेय का असत् होना । तब ज्ञेय के न होने से आलम्बन के बिना ज्ञान का उत्पाद मानना कैसे तर्कसंगत कहा जा सकता है ? अर्थात् समीचीन नहीं है ।

इस तरह तीनों विकल्पों पर विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि विषय, इन्द्रिय आदि कारण-सामग्री से भी परमार्थतः ज्ञान का उत्पाद सर्वथा असिद्ध है ।

रत्नकूट आदि सूत्रों में भी भगवान् ने कहा है कि चित्त है कहाँ, जो राग, द्वेष या मोह से अन्वित होता है ? जब सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है तो उसकी कहीं भी स्थिति उपलब्ध नहीं होती । उसकी वह सत्ता केवल कल्पना के द्वारा प्रतीत होती है । नदी के स्रोत की तरह या दीपक की ज्वाला (लौ) की तरह प्रवाहित होनेवाली चित्तधारा प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से वस्तुतः माया के समान स्वरूपतः निःस्वभाव है^१ ।

१. कतरन् तच्चित्तं रज्यति वा दुष्यति वा मुह्यति वा ? किमतीतमनागतं प्रत्युत्पन्नं वा ? इति । तत्र यदतीतम्, तत् क्षीणम् । यदनागतम्, तदसम्प्राप्तम् । प्रत्युत्पन्नस्य स्थितिर्नास्ति । चित्तं हि काश्यप, नाध्यात्मं न बहिर्धा नोभयमन्तरेणोपलभ्यते । चित्तं हि काश्यप, अरूप्यनिदर्शनम-प्रतिघमविज्ञमिदमप्रतिष्ठमनिकेतम् । चित्तं हि काश्यप, सर्वबुद्धैर्न दृष्टम्, न पश्यन्ति, न द्रक्ष्यन्ति । ... कीदृशस्तस्य प्रचारो द्रष्टव्यः ? अन्यत्र वितथपतितया संज्ञया धर्माः प्रवर्तन्ते । चित्तं हि काश्यप, मायासदृशमभूतकल्पनतया विविधामुपपत्तिं परिगृह्णाति । ... चित्तं हि काश्यप, नदीस्रोतःसदृश-मनवस्थितमुत्पन्नभग्नविलीनम् । चित्तं हि काश्यप, दीपाचिःसदृशं हेतुप्रत्ययतया प्रवर्तते । चित्तं हि काश्यप, विद्युत्सदृशं क्षणभङ्ग्यनववस्थितम् । चित्तं हि काश्यप, आकाशसदृशम्, आगन्तुकैः

धर्मस्मृत्युपस्थान

एवं च सर्वधर्माणाम्—परीक्षा करने की उपर्युक्त प्रणाली से विचार करने पर सभी धर्मों का उत्पाद निश्चित नहीं होता। क्योंकि किसी भी धर्म (पदार्थ) की उत्पत्ति पर विचार करने पर उपर्युक्त तीन विकल्प उपस्थित हो जाते हैं। क्या पदार्थ अपने हेतु से पहले उत्पन्न होता है, हेतु के पश्चात् उत्पन्न होता है या हेतु के समानकाल में उत्पन्न होता है? और तीनों विकल्पों में किसी भी तरह उत्पाद सिद्ध नहीं होता। जब उत्पाद सिद्ध नहीं होता तो उन (पदार्थों) का निरोध भी उपपन्न (समीचीन) नहीं होता। क्योंकि निरोध हमेशा उत्पाद पर निर्भर करता है। अनुत्पन्न का निरोध कथमपि युक्त नहीं है। उत्पाद और निरोध नहीं होने से सभी धर्म निष्प्रपञ्च, मुक्त, शून्य, आकाशसम, सभी व्यवहारों से अतीत एवं निरभिलाष्य (बाणी के अविषय) कहे जाते हैं। इस तरह धर्मस्मृत्युपस्थान के अनुसार विचार करने पर सभी धर्मों में आसक्तिरहित (अनासक्त) ज्ञान उत्पन्न होता है।

आर्य अक्षयमतिसूत्र में कहा गया है कि धर्मस्मृत्युपस्थान के अनुसार विहार करता हुआ बोधिसत्त्व योगी किसी भी धर्म को नहीं देखता। सभी धर्म प्रकृतितः परिनिवृत्त होते हैं।

चतुःस्तव में भी उक्त है कि जिसकी उत्पत्ति ही नहीं है, उसका निरोध भी कैसा होगा? सभी धर्म (पदार्थ) मायागज की तरह प्रारम्भ से ही शान्त (आदि शान्त) हैं। जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, वही शून्यता है। उसी तरह सभी धर्म, यहाँ तक कि तथागत भी प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से शून्य ही हैं। इसी तत्त्व (सर्वधर्म-

क्लेशोपक्लेशैरुपविलश्यते । ... यावत् चित्तं हि काश्यप, परिगवेण्यमाणं न लभ्यते । द्यन् लभ्यते, तन्नोपलभ्यते । तन्नैवातीतं नानागतं न प्रत्युत्पन्नम् । तत् त्र्यध्वसमतिक्रान्तम् । यत् त्र्यध्वसमतिक्रान्तं तन्नैवास्ति न नास्तीत्यादि । द्र०—बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० २४५ (उद्धृत), शिक्षासमुच्चय, पृ० १२६ (उद्धृत) ।

१. धर्मं धर्मानुपश्यी विहरन् बोधिसत्त्वो न कञ्चिद् धर्मं समनुपश्यति । ... सर्वधर्मा निःसरणमिति विदित्वा अनावरणमहाकरुणासमाधिं समापद्यते । स सर्वधर्मेषु सर्वक्लेशेषु कृत्रिमसंज्ञां प्रतिलभते—निष्क्लेशा एते धर्मा नैते सक्लेशाः । तत्कस्य हेतोः ? तथाहि एते नीतार्थेऽर्थं समवसरन्ति । नास्ति क्लेशानां संनिचयो राशीभावः, न रागभावः न द्वेषभावः, न मोहभावः । एषामेवानुबोधाद् बोधिः । यत्स्वभावाश्च क्लेशाः तत्स्वभावा बोधिः, इत्येवं स्मृतिमुपस्थापयति । द्र०—शिक्षासमुच्चय, पृ० १२७ (उद्धृत) ।

निःस्वभावता) का साक्षात्कार करने से अर्थात् बोध करने से तथागत 'बुद्ध' कहलाते हैं। जैसे—

उत्पत्तिर्यस्य नैवास्ति तस्य का निर्वृतिर्भवेत् ।

सायागजप्रकाशत्वादादिशान्तं त्वयत्नतः ॥

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता ।

तथाविधश्च सद्धर्मस्तत्समश्च तथागतः ॥

तत्तत्त्वं परमार्थोऽपि तथता द्रव्यमिष्यते ।

भूतं तदविसंवादि तद्बोधाद् बुद्ध उच्यते^१ ॥

पूर्वपक्ष—यदि आप (माध्यमिक) जैसा कहते हैं, वैसा ही सत्य है, अर्थात् सभी धर्म अनुत्पन्न और अनिरुद्ध हैं तो पहले आपने जिस संवृत्तिसत्य का निरूपण किया है, वह अयुक्त हो जाएगा ? अर्थात् दो सत्य की व्यवस्था न हो सकेगी ? इसी बात को कहा जा रहा है—

यद्येवं संवृतिर्नास्ति ततः सत्यद्वयं कुतः ।

अथ साध्यन्यसंवृत्या स्यात् सत्त्वो निर्वृतः कुतः ॥ १०७ ॥

བཤམ་ཏེ་དེ་ལྟར་གྲུན་རྫོབ་མེད། །

དེ་ལ་བདེན་བཤིས་བཤིས་ལ་ཡོད། །

དེ་ཡང་ཀུན་རྫོབ་ལུགས་གྱིས་ན། །

སེམས་ཅན་སྤྱོད་ཅན་གྱི་ལ་འདུལ། ༡༠༧ །

यदि सभी धर्म सर्वथा अनुत्पन्न और अनिरुद्ध हैं तो एकमात्र परमार्थसत्य ही होगा, संवृतिसत्य अर्थात् व्यवहारसत्य सिद्ध न हो सकेगा। अर्थात् कोई व्यवहार न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में जो आपने “संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम्” (६:२) के अवसर दो सत्यों की व्यवस्था की है, वह न हो सकेगी? संवृतिसत्य न होने पर परलोकगमन, कर्म-कर्मफल आदि कोई व्यवस्था व्यवहार में भी नहीं बन सकेगी। फलतः सभी प्रकार के व्यवहारों का अभाव हो जाएगा? यदि आप (माध्यमिक) यह कहें कि यद्यपि ऐसा ही है, फिर भी जैसे प्रचण्ड धूप में सूर्य की किरणों में कल्पना (भ्रान्त बुद्धि) द्वारा जल का निश्चय हो जाता है, वैसे ही कल्पना के द्वारा दो सत्य निश्चित होते हैं तो इस पर हमारा कहना है कि जब वह संवृतिसत्य भी अन्य संवृति

जैसे आकाश-कुसुम में यह प्रतीत्यसमुत्पाद नियम लागू नहीं है, अतः वहाँ संवृति नहीं है ।

कहने का आशय यह है कि परिनिवृत्त व्यक्ति यद्यपि बुद्धि (विकल्प) द्वारा विषय बनाया जाता है, किन्तु दूसरे के विकल्प (संवृति) द्वारा विषय बनाया जाने से वह अपरिनिवृत्त (संवृति से युक्त) नहीं हो जाएगा । क्योंकि उसके स्वयं के तो सारे विकल्प शान्त हो चुके हैं । उदाहरणार्थ यदि कोई राग से युक्त पुरुष या स्त्री किसी वीतरागी पुरुष को आलम्बन बनाते हैं तो इतने से वह वीतरागी पुरुष अवीतरागी नहीं हो जाता । फलतः किसी अन्य व्यक्ति के विकल्प (बुद्धि = संवृति) द्वारा विषय बनाया जाने पर भी परिनिवृत्त व्यक्ति वस्तुतः परिनिवृत्त ही है । इसलिए सभी धर्म जो दूसरों की बुद्धि के विषय होते हैं, वे स्वयं तो वस्तुतः अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, प्रकृति से निवृत्त एवं आदिशान्त ही होते हैं । फिर भी वे (सभी धर्म) मायारूपी हेतुओं से मायारूपी कार्य के रूप में उत्पन्न होते हैं । इसी रूप में वे कल्पना के आलम्बन भी होते हैं, अतः 'सांवृतिक' कहलाते हैं । परमार्थरूप में वे न तो उत्पन्न होते हैं और न निरुद्ध होते हैं । जैसे बोधिचर्यावतारपंजिका में भी कहा गया है कि शून्य धर्मों से शून्य धर्मों की उत्पत्ति होती है—

शून्येभ्य एव शून्या धर्माः प्रभवन्ति धर्मेभ्यः^१ ।

आचार्य नागार्जुन ने भी चतुःस्तव में कहा है कि सारा उत्पाद मायिक उत्पाद की तरह होता है, वस्तुतः नहीं । सारा संसार विकल्पजनित है, वस्तुतः अनुत्पन्न है । न नित्य का संसरण होता है और न अनित्य का संसरण सम्भव है, अतः सारा संसार स्वप्न के समान है—

निरुद्धाद् वाऽनिरुद्धाद् वा बीजादङ्कुरसम्भवः ।

मायोत्पादवदुत्पादः सर्व एव त्वयोच्यते ॥

अतस्त्वया जगदिदं परिकल्पसमुद्भवम् ।

परिज्ञातमसद्भूतमनुत्पन्नं न नश्यति ॥

नित्यस्य संसृतिर्नास्ति नैवानित्यस्य संसृतिः ।

स्वप्नवत् संसृतिः प्रोक्ता त्वया तत्त्वविदां वर^२ ॥

ललितविस्तरसूत्र में भी उक्त है कि सारे संस्कार दीपक की लौ की भाँति शीघ्र ही उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने के स्वभाव वाले हैं । सभी धर्म चंचल, फेन-

१. द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० १७२ एवं २४८ (दरभंगा- संस्करण) ।

२. द्र०—लोकातीतस्तवः १८, १९, २० का० ।

आश्रित (निर्भर) हैं । अर्थात् कल्पना की अपेक्षा से कल्पित और कल्पित की अपेक्षा से कल्पना होती है । इसलिए लोक में जैसा प्रसिद्ध होता है, (अर्थात् यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह सुन्दर है, यह असुन्दर है-इत्यादि) उसी का आश्रय करके सारे विचार प्रवृत्त होते हैं । इस तरह सारा विचार-विमर्श संवृति का ही आश्रयण करता है । क्योंकि परमार्थसत्य सभी प्रकार के व्यवहारों, विचारों से अतिक्रान्त (परे) है ।

विचार भी तो कल्पना-स्वभाव होने से विचार करने योग्य है ? आचार्य कहते हैं कि यह सम्भव नहीं है—

विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते ।

तदानवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात् ॥ ११० ॥

म० क० ऋ० म० ५५५ म० ५५ ।

ऋ० ५५५ गृ० ऋ० ५५५ ५५५ ।

५५५ ऋ० ५५५ ५५५ ५५५ ।

ऋ० ५५५ ५५५ ५५५ म० ५५५ ॥ ११० ॥

विचारित (परीक्षित) विचार के द्वारा जब विचार किया जाता है तो अनवस्था दोष होता है । कैसे ? विचार पर विचार करने के लिए जिस विचार का ग्रहण किया जाता है, उस पर भी विचार हो सकता है । इस तरह विचारित विचारों पर पुनः पुनः विचार होने से कहीं अवस्थान (ठहराव या अन्तिम निश्चय) नहीं होता । फलतः अनवस्था दोष होता है ।

विचारिते विचार्ये तु विचारस्यास्ति नाश्रयः ।

निराश्रितत्वान्नोदेति तच्च निर्वाणमुच्यते ॥ १११ ॥

५५५ म० ऋ० म० ५५५ म० ५५५ ।

ऋ० ५५५ म० ऋ० ५५५ म० ५५५ ।

५५५ म० ५५५ म० ५५५ म० ५५५ ।

५५५ म० ५५५ म० ५५५ म० ५५५ ॥ १११ ॥

जो विचार्य अर्थात् विचार (परीक्षण) करने योग्य वस्तुएँ हैं, उन पर जब विचार कर लिया जाता है, तब फिर (बाद में) विचार करने के लिए कोई आश्रय ही नहीं रह जाता। अर्थात् विचार्य (विचार करने योग्य) पर विचार कर लेने पर वह चरितार्थ हो जाता है, अतः उस पर विचार करने की आकांक्षा ही अवशिष्ट नहीं रहती। फलतः निराश्रित हो जाने से पुनः विचार उत्पन्न ही नहीं होता। सभी प्रकार के समारोपों का निषेध हो जाने से वास्तविक तत्त्व का परिज्ञान हो जाता है और इस परिज्ञान से व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है, फलतः उसके लिए किसी विषय में प्रवृत्त होने या किसी विषय से निवृत्त होने के लिए अवकाश ही नहीं रहता। न वह कहीं आसक्त होता है और न किसी विषय से विरक्त ही होता है। और यही अवस्था निर्वाण कहलाती है।

यस्य त्वेतद् द्वयं सत्यं स एवात्यन्तदुःस्थितः ।

यदि ज्ञानवशादर्थो ज्ञानास्तित्वे तु का गतिः ॥ ११२ ॥

माद'मा'दु'र'क'र'द'र'मा'दु'र'क'र'द'र' ।

दे'दु'र'क'र'द'र'मा'दु'र'क'र'द'र' ।

मा'दु'र'क'र'द'र'मा'दु'र'क'र'द'र' ।

दे'दु'र'क'र'द'र'मा'दु'र'क'र'द'र' । ११३ ।

जिन (वस्तुवादियों) के मत में विचार और विचार्य दोनों की परमार्थ सत्ता (वस्तुसत्ता स्वाभाविकसत्ता) होती है, वे वस्तुस्वभाववादी अत्यन्त दुःख में स्थित होते हैं। उसे इस प्रकार समझना चाहिए—

यदि ज्ञानवशादर्थो०—यदि प्रमाणज्ञान के वश (सामर्थ्य) से अर्थ अर्थात् प्रमेय या वस्तु के अस्तित्व की व्यवस्था की जाती है तो प्रमाण से प्रमेय की व्यवस्था हो, आपको इससे कौन रोकता है, किन्तु ऐसी अवस्था में ज्ञान के अस्तित्व की क्या स्थिति (अवस्था) होगी ? अर्थात् ज्ञान के अस्तित्व का नियामक (निश्चायक) क्या होगा ? यह आप (वस्तुवादी) को बताना होगा। क्योंकि स्वसंवेदन (ज्ञान का अपने आपको जानना) तो होता नहीं (इसका युक्तिपूर्वक खण्डन पहले किया जा चुका है), यदि एक ज्ञान का प्रामाण्य दूसरे प्रमाण से खोजा जाए तो इस स्थिति में अनवस्था होगी। अर्थात् एक ज्ञान का प्रमाण दूसरे प्रमाण अर्थात् ज्ञान से माना जाए तो दूसरे का तीसरे से और तीसरे का चौथे से और इस तरह इसका कभी अन्त नहीं होगा और कभी ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। यही अनवस्था दोष है।

अनवस्था दोष तो तब होगा जब एक ज्ञान के अस्तित्व का प्रामाण्य दूसरे ज्ञान से खोजा जाए, किन्तु हमारे मन में यह दोष नहीं होगा। हम तो यह कहते हैं कि प्रमेय से ही प्रमाण की व्यवस्था होगी ?

अथ ज्ञेयवशाज्ज्ञानं ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः ।

अथान्योन्यवशात् सत्त्वमभावः स्याद् द्वयोरपि ॥ ११३ ॥

देवदेवोऽस्य सुखं देवदेवोऽस्य ।

देवदेवोऽस्य सुखं देवदेवोऽस्य ।

देवदेवोऽस्य सुखं देवदेवोऽस्य ।

देवदेवोऽस्य सुखं देवदेवोऽस्य ॥ ११३ ॥

यदि ज्ञेय (प्रमेय) के वश से ज्ञान (प्रमाण) की व्यवस्था की जाती है तो ज्ञेय के अस्तित्व का क्या हाल होगा ? अर्थात् ज्ञेय का अस्तित्व किससे प्रमाणित होगा ? यदि ज्ञेय के अस्तित्व को सिद्ध करने के दूसरा ज्ञान सक्षम माना जाए तो वह दूसरा ज्ञान किससे प्रमाणित होगा ? यदि वह ज्ञेय स्वयं को प्रमाणित कर देता है—ऐसा मानें तो वह ज्ञेय ही किस प्रमाण से सिद्ध होगा ? यदि उसकी सिद्धि के फिर दूसरा ज्ञान माना जाय तो फिर वही अनवस्था दोष होगा ।

इस पर वस्तुवादी का कहना है कि ज्ञान से ज्ञेय की और ज्ञेय से ज्ञान की, इस प्रकार हम परस्पर एक से दूसरे की सिद्धि मानेंगे ?

अथान्योन्यवशात्—परस्पर की अपेक्षा से यदि एक दूसरे की सिद्धि मानी जाएगी तो दोनों का ही अभाव हो जाएगा । अर्थात् एक की भी सिद्धि नहीं होगी । परस्पराश्रित होने से एक की सिद्धि न होने से दूसरे की भी सिद्धि नहीं होगी और दोनों (ज्ञान और ज्ञेय) का अभाव होगा ।

प्रस्तुत विषय को दृष्टान्त द्वारा समझाने के लिए आचार्य कहते हैं—

पिता चेन्न विना पुत्रात् कुतः पुत्रस्य सम्भवः ।

पुत्राभावे पिता नास्ति तथाऽसत्त्वं तयोर्द्वयोः ॥ ११४ ॥

गण'ते'सु'मे'य'म'न'न' ।

सु'ते'ग'न'न'स'सु'न'न' ।

सु'मे'य'न'न'न'स'मे'य' ।

दे'न'न'न'न'न'न'न'न' ११८ ।

पुत्र की उत्पत्ति के बिना पिता नहीं होता, क्योंकि 'पिता' यह नामकरण पुत्र की उत्पत्ति की अपेक्षा करता है। ऐसी स्थिति में पुत्र कैसे होगा? क्योंकि (पुत्र की उत्पत्ति से पूर्व) पिता का अभाव होता है। तो क्या पिता के बिना ही पुत्र होगा? क्योंकि पुत्र के अभाव में पिता नहीं होता। पिता के द्वारा पुत्र उत्पन्न किया जाता है। वह जब तक पुत्र उत्पन्न नहीं करता तब तक पिता ही नहीं होता और जब तक पिता नहीं होता तब तक पुत्र नहीं हो सकता। तो जैसे एक-दूसरे पर आश्रित (परस्पराश्रित) होने से दोनों का अभाव हो जाता है, यही नियम ज्ञान और ज्ञेय को परस्पराश्रित मानने पर लागू होता है। अर्थात् दोनों की सिद्धि नहीं होती।

वस्तुवादी—हम यह नहीं कहते कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों परस्पराश्रित हैं, अपितु हम यह कहते हैं कि ज्ञान जो है, वह ज्ञेय का कार्य है। जैसे अंकुर बीज का कार्य होता है?

अङ्कुरो जायते बीजाद् बीजं तेनैव सूच्यते ।

ज्ञेयाज्ज्ञानेन जातेन तत्सत्ता किं न गम्यते ॥ ११५ ॥

सु'ग'न'न'न'न'न'न' ।

स'न'न'न'न'न'न'न' ।

मे'स'सु'न'न'न'न'न' ।

दे'न'न'न'न'न'न' ११६ ।

वस्तुवादी का कहना है कि जैसे बीज से उत्पन्न अंकुर के द्वारा बीज की सत्ता सूचित होती है, वैसे ही ज्ञेय (प्रमेय) से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा ज्ञेय की सत्ता क्यों नहीं जानी जा सकती? अर्थात् जानी जा सकती है। क्योंकि बीज-अंकुर के समान यहाँ ज्ञान-ज्ञेय में भी कार्यकारणभाव विद्यमान होता है?

माध्यमिक

अङ्कुरादन्यतो ज्ञानाद् बीजमस्तीति गम्यते ।

ज्ञानास्तित्वं कुतो ज्ञातं ज्ञेयं यत्तेन गम्यते ॥ ११६ ॥

सु'गु'ल'स'म'ल'क'प'स'प'स' ।

स'स'क'प'स'प'स'प'स'प'स' ।

म'द'सु'र'प'स'प'स'प'स'प'स' ।

प'स'प'स'प'स'प'स'प'स'प'स' ११७ ।

माध्यमिकों का कहना है आप (वस्तुवादी) बीज-अंकुर का दृष्टान्त देकर कार्य-कारणभाव के आधार पर उसी तरह ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञान द्वारा सिद्ध करने का जो प्रयास कर रहे हैं, वह समीचीन नहीं है, क्योंकि यह दृष्टान्त इस सम्बन्ध में लागू ही नहीं होता ।

इसे यों समझना चाहिए- जो अंकुर (इस कार्य) से बीज (कारण) का अस्तित्व जाना जाता है, यह (जानना) केवल अंकुर की वजह से ही नहीं होता, अपितु अंकुर से अतिरिक्त जो यह ज्ञान होता है कि अंकुर बीज का कार्य है, उस (ज्ञान) की वजह से होता है । अर्थात् अंकुर से बीज को जानने से पहले ही उन दोनों के परस्पर कार्य-कारण भाव का ज्ञान होता है और तभी अंकुर से बीज का ज्ञान सम्भव होता है ।

कार्य होने मात्र से ही कोई कार्य अपने कारण का ज्ञान करानेवाला नहीं होता यदि ऐसा होता तो जो व्यक्ति उन दोनों के कार्यकारणभाव को नहीं जानता, उस व्यक्ति को भी अंकुर देखते ही उसके कारण बीज का ज्ञान हो जाना चाहिए ? किन्तु ऐसा नहीं होता । फलतः ऐसा अंकुर, जो कार्यकारणभाव को जाननेवाले ज्ञान द्वारा विषय बनाया गया है, वही (अंकुर) बीज का ज्ञान कराने में समर्थ होता है । किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में कार्य के रूप में ज्ञान का अस्तित्व पहले किस ज्ञान के द्वारा जान लिया गया है कि जिससे ज्ञेय से उत्पन्न वह ज्ञान अपने ज्ञेय का बोध करा सके । क्योंकि स्वसंवेदन का तो अभाव ही है तथा एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान द्वारा सिद्ध मानने पर अनवस्था दोष होता है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । ऐसी स्थिति में जब ज्ञान स्वयं अनिश्चित है, तो ऐसे अनिश्चित लिङ्ग से अपने साध्य (ज्ञेय के अस्तित्व) की सिद्धि कथमपि नहीं की जा सकती ।

फलतः परमार्थपक्ष में ज्ञान और ज्ञेय दोनों की असिद्धि होने से किसी तरह का विचार किया जाना सम्भव नहीं है, हाँ, व्यवहारपक्ष में लोकप्रसिद्धि के अनुसार विचार करने में दोष नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पाद, हेतु-प्रत्ययसापेक्षता, इदम्प्रत्ययता—ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है, वह वस्तुतः अनुत्पन्न होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता को सिद्ध करनेवाला उत्तम हेतु है। अनुत्पाद, अनिरोध, निःस्वभावता और शून्यता ये सब पर्यायवाची हैं। शून्यता परमार्थसत्य है और प्रतीत्यसमुत्पाद संवृत्ति-सत्य। क्योंकि किसी का भी वस्तुतः उत्पाद होता ही नहीं। सांवृतिक उत्पाद मानने में कोई हर्ज नहीं है। और इसी के आधार पर माध्यमिक सारी कर्म-फल, बन्ध-मोक्ष आदि की व्यवस्था करते हैं। नागार्जुन ने वस्तुतः उत्पाद का निषेध करने के लिए कहा है कि जो लोग उत्पाद मानते हैं, उनकी चार ही कोटियाँ हो सकती हैं। इन्हीं में सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। वे हैं—स्वतः उत्पाद, परतः उत्पाद, स्व-पर-उभयतः उत्पाद या अहेतुतः उत्पाद। चारों कोटियों का नागार्जुन ने अपनी मूलमाध्यमिककारिका के प्रारम्भ में ही विस्तृत खण्डन किया है। जैसे—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

(मूलमाध्यमिककारिका, १ : ३) ।

अर्थात् उत्पाद न स्वतः (अपने से अपना) होता है और न परतः (दूसरे से दूसरे का)। सांख्य स्वतः उत्पादवादी हैं। माध्यमिक कहते हैं कि स्वतः उत्पाद मानने पर उत्पाद सदा होता ही रहेगा, इसका कहीं अन्त न होगा या कभी उत्पाद होगा ही नहीं। न्याय-वैशेषिक आदि परतः उत्पादवादी हैं। माध्यमिकों का कहना है कि परतः उत्पाद मानने पर किसी से भी किसी का उत्पाद होने लगेगा। क्योंकि कारण के लिए अपने को छोड़कर सभी पर हैं और सभी से कारण पर हैं। फलतः सबसे सबका उत्पाद होने लगेगा। जब स्वतः और परतः दोनों तरह से उत्पाद नहीं होता तो उभयतः उत्पाद भी सम्भव नहीं है। स्वतः उत्पाद पक्ष में और परतः उत्पाद पक्ष में जो दोष होते हैं, उभयतः पक्ष में वे सभी दोष एक साथ उपस्थित होते हैं। जैन दर्शन उभयतः उत्पादवादी है। चतुर्थ कोटि अहेतुतः अर्थात् स्वभाववश उत्पाद मानने वालों की है। चार्वाक स्वभाववादी हैं। उनका कहना है कि उत्पाद का कोई कारण, कोई निश्चित हेतु नहीं होता। सभी धर्म स्वभावतः वैसे ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ इस चतुर्थ कोटि (स्वभाववाद) का खण्डन करते हुए आचार्य शान्तिदेव कहते हैं।

लोकः प्रत्यक्षतस्तावत् सर्वं हेतुमुदीक्षते ।

पद्मनालादिभेदो हि हेतुभेदेन जायते ॥ ११७ ॥

रे'लेमा'र'रेमा'देव'म'देव'सुख'सुख' ।

सु'द'म'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सु'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ११७ ।

चार्वाकों का कहना है कि जगत् की यह विचित्रता या दुनियाँ में विचित्र पदार्थों की उत्पत्ति हेतु की विना अपेक्षा किए अर्थात् हेतुनिरपेक्ष ही होती है। उदाहरणार्थ कमल के नाल, पत्ते, पुष्प आदि जो विचित्र भेद है, उनकी उत्पत्ति करने में जल, पङ्क (कर्दम = कीचड़) आदि सर्वथा असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न प्रकार के कमल पुष्पों की, मोर के रंग-विरंगे पंखों की विचित्रता किसने पैदा की। काँटों की तीक्ष्णता (नुकीलापन) किसने पैदा की। अपि च ऐसा कोई चेतन (सजीव प्राणी) भी उपलब्ध नहीं है, जो इस प्रकार का निर्माण करने में प्रवीण हो। न तो इस प्रकार का चेतन हमारे (चार्वाक) मत में मान्य है। क्योंकि सारे देशों और सभी कालों में एक साथ व्यापार (क्रिया) करनेवाला कोई सम्भव नहीं है। इसलिए जगत् का सम्पूर्ण वैचित्र्य विना किसी कारण के ही उत्पन्न होता है। आचार्य शान्तरक्षित ने चार्वाकों के इस मत को निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है—

सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते ।

स्वभाववादिभिस्ते च नाहुः स्वमपि कारणम् ॥

राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि ।

मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ॥

यथैव कण्टकादीनां तैक्ष्ण्यादिकमहेतुकम् ।

कादाचित्कतया तत्तद्दुःखादीनामहेतुता' ॥

माध्यमिक—चार्वाकों के उपर्युक्त मत में प्रत्यक्ष द्वारा ही बाधा उपस्थित होती है। सारी दुनियाँ, साधारण लोग तक अपने इन्द्रियज्ञानों (प्रत्यक्ष) द्वारा तथा अनुमान से भी अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा जानते हैं कि जगत् की यह

१. द्र०—तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविकजगद्वादपरीक्षा, प्रथम भाग, का० ११०-११२, पृ० ७८-७९

(बौद्ध भारती-संस्करण) ।

[बौद्धों द्वारा स्वभाववाद (अहेतुकवाद) का खण्डन करने पर ईश्वरवादियों को ऐसा लगा कि हमारा आधा भार (बोझ) तो बौद्धों ने हलका कर दिया । इस तरह उन्होंने हमारी सहायता ही की है । क्योंकि हम (ईश्वरवादी) भी कारण (हेतु) के बिना इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति नहीं मानते । यदि पदार्थ बिना हेतु के उत्पन्न होने लगेंगे तो किसी देशविशेष या किसी कालविशेष में ही वस्तुओं के उत्पाद का नियम नहीं रह जाएगा । बल्कि कहीं पर भी किसी भी समय किसी भी वस्तु का उत्पाद होने लगेगा । किन्तु ऐसा होता नहीं, आम वसन्त ऋतु में ही फलते हैं और ऊसर में अनाज पैदा नहीं होता । इसकी वजह अर्थात् निश्चित काल और निश्चित देश में वस्तु के उत्पन्न होने की वजह उस वस्तु की कारणसामग्री ही है । कारणसामग्री के सम्पन्न होने पर ही निश्चित देश और काल में वस्तु का उत्पाद होता है । अतः हम भी अहेतुकवाद नहीं मानते और बौद्धों ने उसका खण्डन करके हमारा काम सम्पन्न कर दिया है । उदाहरणार्थ अचेतन जल, पंक आदि कमल पुष्प की विचित्रता उत्पन्न नहीं कर सकते । अस्तु ।]

ईश्वरवादी—इस विचित्र जगत् का कारण ईश्वर है । वह भगवान् इस विविध विश्व के निर्माण में कुशल है जगत् का एकमात्र वही सूत्रधार है, सृष्टि के उत्पाद से पूर्व विद्यमान है, नित्य (उत्पाद-नाशरहित) है, उसकी शक्ति एवं प्रभाव का कभी क्षय नहीं होता, सभी उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के उपादान-कारणों को जानता है तथा जिसका माहात्म्य पश्चाद्वर्ती दार्शनिकों द्वारा अज्ञात है । उस ईश्वर की वजह से यह चराचर जगत् सहेतुक है—इस बात को कौन सचेतन प्राणी अस्वीकार करेगा ? इसलिए नैयायिक-वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि इस विश्व का हेतु (निर्माणकर्ता) 'ईश्वर' है ।^१

वह ईश्वर ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय का हेतु है । उसी से यह अशेष (सम्पूर्ण) विश्व उत्पन्न होता है । यदि ईश्वर न होगा तो ये पर्वत, नदी, वन, सागर कैसे पैदा होंगे ? इनके उपादान-कारण जो जड़ पदार्थ हैं, वे तो कथमपि इन्हें उत्पन्न नहीं कर सकते । जब तक चेतन का प्रयोग नहीं होता, तब तक जड़ पदार्थ किसी का उत्पाद नहीं कर सकते । जैसे चक्र, मिट्टी, दण्ड (डण्डा), रस्सी आदि होने पर भी जब तक कुम्भकार नहीं होता, तब तक उनसे घट (घड़े) की उत्पत्ति नहीं होती । जड़ से उत्पाद के लिए चेतना का व्यापार नितान्त अपेक्षित होता है ।

१. बोधिचर्यावितारपंजिकाकार के अनुसार ईश्वर का अर्थ भगवान् 'शङ्कर' से है, जैसे—'ईश्वर इति शङ्करस्याख्या' इस प्रकार वहाँ व्याख्या की गई है ।

द्र०—बोधिचर्यावितारपंजिका, पृ० २५४ (दरभंगा-संस्करण) ।

ये सारी बातें आचार्य शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त की हैं—

सर्वोत्पत्तिमतामीशमन्ये हेतुं प्रचक्षते ।

नाचेतनः स्वकार्याणि किल प्रारभते स्वयम्^१ ॥

न स्यान्मेरुरयं न चेयमवनी नैवाग्रमम्भोनिधिः

सूर्याचन्द्रमसौ निवेशमुभगौ नैतौ जगच्चक्षुषी ।

ईशानो न कुलालवद् यदि भवेद् विश्वस्य निर्माणकृत्

सत्त्वादीश्वरकर्तृकं जगदिदं वक्तोति कश्चित् किल^२ ॥

अनीश्वरवादी बौद्ध—आप (ईश्वरवादियों) ने अपनी कल्पनाओं द्वारा जिन ईश्वर आदि प्रमेयों की रचना कर डाली है या उनकी सत्ता खड़ी कर ली है और उनके सम्बन्ध में लच्छेदार वाक्यावलि रच ली है, उनसे क्या लाभ ? वे वाक्यावलियाँ आपके मत के अनुयायियों के लिए प्रीतिदायक हो सकती हैं, किन्तु प्रमाण-रहित होने से विद्वानों में सन्तोष का उत्पाद नहीं कर सकती ।

हमारा (बौद्धों का) कहना है कि आपका ईश्वर यदि कारुणिक है तो वह क्यों प्राणियों को इस लोक में या नरक आदि परलोक में दुःखों से पीड़ित करता है ? यदि वह प्राणियों को दुःखी करता है तो ऐसी स्थिति में उसकी कारुणिकता केवल श्रद्धा की वस्तुमात्र रह जाती है ।

ईश्वरवादी—वह जीवों के द्वारा किए गए असत् (पाप) कर्मों के फल का उपभोग करा कर उन कर्मों का क्षय करा देता है, फलतः ऐसा काम करनेवाला ईश्वर अकारुणिक (निर्दय) कैसे कहा जा सकता है ?

अनीश्वरवादी—प्रश्न यह है कि वह कारुणिक ईश्वर जीवों से असत् कर्म ही क्यों करवाता है, जिससे उन्हें उन कर्मों का अनिष्ट फल भोगना पड़े ? क्योंकि आपकी यह मान्यता है कि ईश्वर सभी कार्यों का निमित्तकारण है । उसकी इच्छा के बिना कोई कुछ कर ही नहीं सकता, अतः यह निश्चित होता है कि वही जीवों से असत् कर्म कराता है ।

प्रश्न है कि यदि ईश्वर कोई चेष्टा (व्यापार) न करे तो जीव अपने कर्मों का फल भोग सकते हैं या नहीं ?

१. द्र०—तत्त्वसंग्रह (ईश्वरपरीक्षा), शान्तरक्षित विरचित, का० ४६, पृ० ५१ (बौद्धभारती-संस्करण) ।

२. द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २५४ (उद्धृत) ।

यदि आप (ईश्वरवादी) कहें कि जीव बिना ईश्वर के व्यापार के भी अपने कर्मों का फल भोग सकते हैं तो आपकी इस मान्यता का आपके ही धर्म-शास्त्रों से विरोध होगा। महाभारत में कहा गया है कि मूढ़ जीव अपने सुख-दुःखों को भी उत्पन्न करने में असमर्थ है, वह जीव तो ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है। जैसे—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा^१ ॥

यदि आप (ईश्वरवादी) कहें कि ईश्वर की चेष्टा के बिना जीव अपने असत् कर्मों के फल का भोग नहीं कर सकते तो इस पर हमारा कहना है कि वह ईश्वर आपके मतानुसार क्योंकि दयालु है तो ऐसे अवसर पर वह उपेक्षा क्यों नहीं धारण कर लेता? अर्थात् निश्चेष्ट क्यों नहीं हो जाता? वह यत्नपूर्वक उन कर्मों के फल-भोग में सहायता क्यों करता है?

यदि आप (ईश्वरवादी) कहें कि जीवों के कर्मों का नाश कभी नहीं होता। उन कर्मों का फल उन्हें (जीवों को) अवश्य भोगना ही पड़ता है, अतः वह (ईश्वर) उन कर्मों के फल भोग में सहायता कर देता है?

इस पर हमारा (बौद्धों का) कहना है कि यदि वह (ईश्वर) चेष्टा (या सहायता) न करे तो जीव अपने असत् कर्मों का फलभोग कैसे करेंगे? अर्थात् नहीं करेंगे। क्योंकि फलभोग की जो कारण-सामग्री है अर्थात् उसके जितने कारण हैं, उनमें ईश्वर की चेष्टा (व्यापार) भी एक कारण है और यदि वह चेष्टा न करे तो पूरे कारण जुट नहीं पाएँगे, फलतः उन्हें (जीवों को) अपने असत् कर्मों के अनिष्ट फलभोग से राहत मिल जाएगी। अतः दयालु को दुःख देनेवाले इस प्रकार के व्यापार से विरत ही रहना चाहिए। यदि इस प्रकार विरत रहने से कर्मों के फल का भोग न हो सके या कर्म बिना फल दिए नष्ट भी हो जाएँ तो इसमें ईश्वर का क्या दोष होगा? अर्थात् कोई दोष न होगा। बल्कि इससे उसकी अपनी ईश्वरता ही द्योतित होगी। अर्थात् उसका यह सामर्थ्य प्रकाशित होगा कि सारी घटनाएँ उसकी इच्छा के अधीन हैं। उसने क्योंकि चेष्टा नहीं की, अतः असत् कर्मों का परिपाक न हो सका।

ईश्वरवादी—ईश्वर यद्यपि दयालु है, किन्तु प्राणियों के कर्मों से प्रेरित होने के कारण वह चुपचाप नहीं रह सकता?

अनीश्वरवादी—यदि दूसरे प्राणियों के कर्मों के कारण वह अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रख पाता है तब तो इससे ईश्वर की अपेक्षा कर्मों की ही शक्ति अधिक सिद्ध होती है। तब तो अच्छा है कि कर्मों की ही उपासना की जाए, जिन कर्मों के कारण महेश्वर भी अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रख पाता या चुपचाप नहीं रह पाता है। फलतः भर्तृहरि का यह कथन ही समीचीन है—

नमः सत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति^१।

बौद्ध पूछते हैं कि आप (ईश्वरवादी) यह बताएँ कि वह (ईश्वर) वीतराग (रागरहित) है या अवीतराग (रागसहित = सराग) है ?

यदि आप कहते हैं कि वह वीतराग है तो यह तो समझ में आता है कि कारुणिक न होने के कारण वह प्राणियों के लिए सुख का उत्पाद नहीं करता, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि वह उनके लिए दुःखों का क्यों उत्पाद करता है ? लोक में यह तो देखा जाता है कि कोई व्यक्ति राग (आसक्ति) के वशीभूत होकर दूसरे के लिए दुःख उत्पन्न करता है, किन्तु आप कहते हैं कि वह (ईश्वर) वीतराग है, फिर वह क्यों अकारण प्राणियों को दुःखी करता है ?

यदि आप (ईश्वरवादी) यह कहें कि वह लीला (क्रीडा) करता है और लीला के लिए उसकी इस प्रकार की प्रवृत्ति होती है ?

इस पर बौद्धों का कहना है कि तब तो यह निश्चित होता है कि वह (ईश्वर) सचमुच वीतराग नहीं है। राग (आसक्ति) से युक्त होने पर भी जिन लोगों ने अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लिया है या उन पर विजय प्राप्त कर ली है, ऐसे लोग भी क्रीडा (लीला) के वशीभूत होकर प्रवृत्त नहीं होते, फिर वीतराग के बारे में तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वीतराग की क्रीडा के लिए प्रवृत्ति कथमपि युक्त नहीं है। अधम जीवों के अलावा कौन ऐसा होगा, जो दूसरों के दुःख से क्रीडा (लीला) करेगा ?

यदि आप (ईश्वरवादी) कहें कि वह वीतराग नहीं है, अपितु अवीतराग (सराग = राग से युक्त) है, तब तो वह और लोगों अर्थात् साधारण लोगों की तरह ही है, फिर ऐसा होते हुए वह ईश्वर कैसे हो सकता है ? जो राग आदि क्लेशों के वशीभूत होकर प्रवृत्त होता है, वह जगत् का ईश्वर कैसे हो सकता है ? फिर अन्य लोगों ने ही क्या बिगाड़ा है जो ईश्वर नहीं हो सकते ? अपि च, जैसे अन्य

१. द्र० — नीतिशतक, भर्तृहरि कृत, का० ९४ (बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २५५ में उद्धृत उक्त कारिकावचन उपलब्ध नीतिशतक में किञ्चित् परिवर्तिरूप में पाया जाता है) ।

(साधारण) लोगों में इस विचित्र विश्व को रचने का कौशल या सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही क्लेशों से पराधीन ईश्वर में भी उस प्रकार का कौशल (चातुर्य) या सामर्थ्य नहीं है-ऐसा मानना पड़ेगा ।

बौद्ध प्रश्न करते हैं कि यह बताइए कि आपका ईश्वर स्वस्थात्मा है या अस्वस्थात्मा ?

यदि आप कहें कि स्वस्थात्मा है तो फिर यह बताएं कि वह क्यों बेवजह लोगों को दुःखी करता है ? लोक में भी देखा जाता है कि कोई स्वस्थात्मा पुरुष किसी निरपराध व्यक्ति को व्यर्थ ही नहीं सताता ?

यदि आप कहें कि वह कुमार्गगामी लोगों को ही पीडित करता है । अर्थात् जिन्होंने अपराध किया है, उन्हें ही दण्डित करता है ?

इस पर हम (बौद्ध) यह पूछते हैं कि उन्हें कुमार्गगामी बनाया किसने ? पहले लोगों को कुमार्ग में प्रवृत्त करके, उन्हें अपराध करने के लिए प्रेरित करके फिर उन्हें दण्डित करना जगदीश्वर के लिए शोभा नहीं देता । छोटे-छोटे सामन्त, जागीरदार आदि लौकिक मालिक (स्वामी = ईश्वर) भी जिसने स्वयं अपराध किया है, उसे ही दण्डित करते हैं । ऐसा तो कथमपि नहीं करते कि अपने ही उनसे अपराध करा कर फिर उन्हें ही दण्डित करें ।

यदि आप कहें कि वह (ईश्वर) अस्वस्थात्मा है तो इस पर हमारा यह कहना है कि तब तो स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष) आदि की प्राप्ति के लिए उसकी आराधना करना किसी भी तरह ठीक नहीं है । बात यह है कि स्वर्ग आदि के लोभ से बुद्धिमान् लोग ईश्वर की आराधना में प्रवृत्त होते हैं । यदि आपके कथनानुसार वह अस्वस्थात्मा है अर्थात् उसका स्वभाव निश्चित नहीं है तब तो उससे स्वर्ग आदि की प्राप्ति की सम्भावना नहीं हो सकती, बल्कि इससे विपरीत (उल्टी बात) की भी सम्भावना हो सकती है । इस प्रकार हम उसमें कोई प्रभाव-आधिक्य नहीं देखते ।

इस तरह के विचार का कहीं अन्त नहीं है । अतः यहीं विराम किया जाता है । किसी ने ठीक ही कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः कर्ताहमस्मीति वृथाभिमानः^१ ॥

१. द्र०—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २५६ (उद्धृत) ।

फलतः यह संसार अकर्तृक है, अर्थात् किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है। इसका यह अर्थ है कि जिस कार्य के जो कारण देखे जाते हैं, जैसे अंकुर (कार्य) बीज (कारण) से उत्पन्न होते हुए देखा जाता है, घट (कार्य) मिट्टी आदि कारणों से उत्पन्न होते हुए देखा जाता है, उन दिखलाई पड़ने वाले कारणों से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र, एक, व्यापक, सर्वज्ञ ईश्वर आदि अज्ञात कर्ता इस संसार का निर्माता नहीं है। इसी बात को मन में रखकर आचार्य कहते हैं—

वद कस्तावदीश्वरः—बौद्ध ईश्वरवादियों से पूछते हैं कि बोलो, वह आपकी मान्य ईश्वर कौन है ? इसका अभिप्राय यह है कि लोक में क्षिति (पृथिवी), जल, अग्नि, वायु आदि की वजह से अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, उन (पृथिवी आदि) के न होने पर नहीं देखे जाते हैं। अतः पृथिवी आदि 'कारण' कहे जाते हैं। बौद्ध पूछते हैं कि इन कारणों में से बताओ कौन तुम्हारा ईश्वर है ? बात यह है कि जिनके होने पर कार्य उत्पन्न होते हैं और जिनके न होने पर कार्य नहीं होते, वे ही 'कारण' कहलाते हैं। जैसे कि धर्मकीर्ति ने कहा है—

येषु सत्सु भवत्येव यत् तेभ्योऽन्यस्य कल्पने ।

तद्वेतुत्वेन सर्वत्र हेतूनामनवस्थितिः^१ ॥

पृथिवी, जल आदि महाभूतों के अतिरिक्त कोई ऐसा कारण दिखाई नहीं देता, जिसके होने या न होने पर कार्य का उत्पन्न होना या न होना निर्भर हो। अतः वे ही कारण हैं। अदृष्ट ईश्वर कारण नहीं हो सकता।

भूतानि चेद्—यदि ईश्वरवादी कहे कि ठीक है, पृथ्वी आदि महाभूत ही ईश्वर हैं ?

बौद्धों का कहना है कि यदि आप ऐसा कहते हैं कि महाभूत ही ईश्वर हैं तो हमारा इसमें आपसे कोई विवाद नहीं है। हमें नाम से क्या लेना, देना है। केवल नाममात्र को सिद्ध करने के लिए इतना श्रम करने की क्या जरूरत है ? हम पृथ्वी आदि महाभूत कहते हैं और आप उन्हें 'ईश्वर' कहना चाहते हैं। अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता। इस अर्थ-शून्य नाममात्र में हमारा आपसे कोई वैमत्य नहीं है।

अपि त्वनेकेऽनित्याश्च निश्चेष्टा न च देवताः ।

लङ्घ्याश्चाशुचयश्चैव क्षमादयो न स ईश्वरः ॥ १२० ॥

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसिद्धि परिच्छेद, का० २६, पृ० १७ (बौद्धभारती-संस्करण) ।
६३

འོན་ཀྱང་ས་སོགས་དུ་མ་དང་། ।

མི་དྲག་གཡོ་མེད་ལྷ་མིན་ཞིང་། ।

འགོམ་བྱ་ཉིད་དང་མི་གཙང་བས། ।

དེ་ནི་དབང་ལྷུག་ཉིད་མ་ཡིན། १२० ।

पुनः बौद्ध कहते हैं कि वस्तुस्थिति तो यह है कि आप के मत में ये पृथ्वी आदि महाभूत ईश्वर नहीं हो सकते । क्योंकि ईश्वर का लक्षण भिन्न है और पृथ्वी आदि के लक्षण भिन्न हैं । महाभूत आपके मत में अनेक हैं और ईश्वर एक है । पुनश्च महाभूत अनित्य हैं, अचेतन हैं, देवतारूप अर्थात् आराध्य नहीं हैं, अतिक्रमणीय (लंघ्य) हैं, और अशुचि (अपवित्र) हैं, जब कि ईश्वर इनसे सर्वथा भिन्न स्वभाव का है । अर्थात् ईश्वर इस प्रकार का नहीं है, अपितु इनसे विपरीत स्वभाव वाला है । अतः आपके मत में महाभूत 'ईश्वर' नहीं हो सकते ।

नाकाशमीशोऽचेष्टत्वाच्चात्मा पूर्वनिषेधतः ।

अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वमप्यचिन्त्यं किमुच्यते ॥१२१॥

དབང་ལྷུག་མཁའ་མིན་གཡོ་མེད་ལྱེད། ।

བསམ་མིན་བ་ཡི་བྱེད་པོ་ཡང་། ।

བསམ་མིན་བ་ཡི་བྱེད་པོ་ཡང་། ।

བསམ་མིན་བཟློག་པས་ཅི་ཞིག་བྱ། १२१ ।

यदि ईश्वरवादी कहें कि ठीक है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ईश्वर नहीं हैं तो आकाश हमारे मत में ईश्वर है ?

इस पर बौद्धों का कहना है कि आकाश 'ईश्वर' नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें कोई व्यापार (क्रिया = चेष्टा) नहीं होता । आप (ईश्वरवादियों) के मत में भी आकाश निष्क्रिय माना जाता है ।

यदि कहो कि तब आत्मा 'ईश्वर' है ? इस पर हमारा (बौद्धों का) कहना है कि आत्मा भी ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा तो शशविषाण (खरगोश के सींग) की तरह है ही नहीं । हमने उसकी सत्ता का पहले ही भलीभाँति खण्डन कर दिया है ।

अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वम्—यदि आप (ईश्वरवादी) कहें कि ईश्वर है, किन्तु उसके बारे में चिन्तन या विचार नहीं किया जा सकता । अर्थात् वह अचिन्त्य है । उसकी शक्ति, उसका माहात्म्य सब अचिन्त्य है ।

इस पर बौद्धों का कहना है कि तब तो उसका जगत् का कर्ता होना अर्थात् जगत् का कर्तृत्व भी अचिन्त्य है। अर्थात् उसका संसार का कारण होना भी अचिन्त्य है। उस पर विचार नहीं किया जा सकता। तब आप ईश्वर की जगत्कारणता पर क्यों इतना लम्बा-चौड़ा विचार कर रहे हैं ?

यदि ईश्वरवादी कहें कि ईश्वर का अस्तित्व या स्वभाव अलक्ष्य है। अर्थात् वह अचिन्त्य है। किन्तु उसका कार्य तो सभी लोगों को दिखलाई पड़ता है। अतः साधारण जनों की भी प्रतीति का गोचर होने से उसके कार्य पर तो विचार किया ही जा सकता है ? इस पर आचार्य कहते हैं —

तेन किं स्रष्टुमिष्टं च आत्मा^१ चेन्नन्वसौ ध्रुवः ।

क्षमादिस्वभाव ईशश्च ज्ञानं ज्ञेयादनादि च ॥ १२२ ॥

कर्मणः सुखदुःखे च वद किं तेन निर्मितम् ।

དེས་བསྐྱེད་འདོད་པ་འདྲ་བ་ཞིག་ཡིན། །

བདག་ནི་དེ་དང་ས་སོར་དང་། །

དབང་ཕྱུག་ངོ་བོ་ལང་ཏྱག་མིན་ནམ། །

ཤེས་པ་ཤེས་བྱ་ལས་སྒྲིམ་དང་། ༢༣༣ །

ཐུག་མེད་བདེ་སྐྱབས་ལས་ལས་ཡིན། །

དེ་བས་གང་ཞིག་སྒྲེད་པ་སྟོམ། །

बौद्धों का कहना है कि आप ईश्वरवादियों का यह कहना ठीक है कि उस (ईश्वर) के कार्यों पर चिन्तन किया जा सकता है। अर्थात् उसके कार्य चिन्त्य हैं, फिर भी हमारा पूछना यह है कि अचिन्त्य माहात्म्य वाले उस ईश्वर को किस चीज का निर्माण करना इष्ट है ? अर्थात् वह किसका निर्माण करना चाहता है ?

१. 'च' और 'आत्मा' शब्द में सन्धि के नियम के अनुसार 'च + आत्मा = चात्मा' यह संस्कृत में रूप हो जाना चाहिए, किन्तु पंजिकाकार का कहना है छन्द न बिगड़ जाए, इसलिये यहाँ सन्धि नहीं की गई है, यथा—अत्र पूर्वपदस्याकारेण च्छन्दोऽनुरोधात् सन्धिर्न कृतः ।

यदि आप (ईश्वरवादी) कहें कि उसे आत्मा का निर्माण करना इष्ट है ? तो—

नन्वसौ ध्रुवः—आत्मा का निर्माण कैसे इष्ट हो सकता है, क्योंकि आपके मत में आत्मा तो नित्य है। उसकी कैसे रचना की जा सकती है ? यदि उसका निर्माण होगा तो वह (आत्मा) अनित्य हो जाएगा ? आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के निर्माण में कहीं उसका रचना-व्यापार दृष्टिगोचर होता नहीं। फलतः वह किसकी रचना करता है ?

अपि च, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक् और मन का भी वह निर्माण नहीं कर सकता, क्योंकि ये सब पदार्थ भी नित्य हैं। आप (ईश्वरवादी) भी यह मानते हैं कि पृथ्वी आदि चार महाभूत द्विविध हैं। यथा-परमाणुरूप और स्थूलरूप। उनमें परमाणुरूप पृथ्वी नित्य है, क्योंकि आप महाभूतों के परमाणुओं को नित्य मानते हैं। उनका उत्पाद ईश्वर के द्वारा भी सम्भव नहीं है, नहीं तो उनकी नित्यता की हानि हो जाएगी। स्थूलरूप पृथिवी का भी निर्माण उसके द्वारा होना सम्भव नहीं। इस बात का हम आगे खण्डन करने जा रहे हैं। आकाश, काल, दिक् और मन भी नित्य हैं, इनका भी निर्माण नहीं किया जा सकता। ईश्वर भी नित्य है, इसलिए वह अपने-आप का भी उत्पाद नहीं कर सकता। ज्ञान भी हमेशा ज्ञेय (विषय) से ही उत्पन्न होता है। ज्ञान का ज्ञेय से उत्पन्न होने का यह नियम अनादि काल से चला आ रहा है और आसंसार प्रवृत्त होता रहेगा। इसलिए यह निश्चित होता है कि वह ज्ञान का भी उत्पाद नहीं करता। सुख, दुःख भी मनुष्य के शुभ, अशुभ कर्मों के विपाकस्वरूप उत्पन्न होते हैं। फलतः ईश्वर सुख, दुःख का भी उत्पाद नहीं करता। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर आचार्य पूछते हैं—

वद किं तेन निर्मितम्—बताओ आपके ईश्वर ने किसकी रचना (निर्माण) की है। किसी का भी उत्पाद करने में उसका सामर्थ्य दृष्टिगोचर नहीं होता। तब कैसे आप उसे जगत् का कर्ता कहते हैं ?

हेतोरादिर्न चेदस्ति फलस्यादिः कुतो भवेत् ॥ १२३ ॥

कस्मात् सदा न कुरुते न हि सोऽन्यमपेक्षते ।

तेनाकृतोऽन्यो नास्त्येव तेनासौ किमपेक्षताम् ॥ १२४ ॥

सुखं श्रेयं मन्त्रं च ।

अज्ञानं सुखं श्रेयं मन्त्रं च । १२३ ।

དྲི་ལ་རྩ་ཅི་ཕྱིར་བྱེད་མིན་དེ། །

དེ་ནི་མཁའ་ལ་ཕྱེས་པ་མིན། །

དེས་ཀྱིས་མིན་གཞན་ཡོད་མིན་ན། །

དེས་འདི་གང་ལ་ལྟོས་པར་འགྱུར། ༡༣༧ །

यह आपका ईश्वर जो आपके मतानुसार जगत् का हेतु माना जाता है, वह नित्य है कि अनित्य ? आप लोग तो उसे नित्य ही मानते हैं। वह ईश्वर, जो कि कारण है, यदि वह नित्य है तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसका कोई आदि (प्रारम्भ) नहीं है। जब कारण का आदि नहीं है तो उससे उत्पन्न होने वाले कार्य (जगत्) का आदि कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। आशय यह है कि समर्थ (सक्षम) कारण के सर्वदा उपस्थित रहने से उससे उत्पन्न होने वाला कार्य भी सर्वदा (नित्य) उपस्थित रहेगा। अर्थात् सृष्टि में जो क्रमिकता देखी जाती है, वह सम्भव न हो सकेगी।

हमारा पूछना यह है कि क्यों वह हमेशा कार्योत्पाद नहीं करता ? सभी कार्यो को सभी कालों में क्यों उत्पन्न नहीं करता ? क्यों किसी कार्य का कभी समापन हो जाता है ?

अथवा—यदि ईश्वर का आदि नहीं है और वह सर्वदा समर्थ है तो प्रलय काल में भी वह सृष्टि का उत्पाद क्यों नहीं करता ? नित्य समर्थ कारण के सदा विद्यमान होने से संसार का भी कोई आदि नहीं हो सकता । अर्थात् सृष्टि भी नित्य हो जाएगी । आशय यह है कि यदि वह नित्य है तो हमेशा ही सृष्टि रहेगी । अर्थात् सृष्टि भी नित्य होगी । अपि च, यदि वह सृष्टि की स्थिति और सृष्टि का संहार भी करता है तो उसके नित्य होने से सर्वदा स्थिति और संहार भी होंगे ? अर्थात् वे भी नित्य ही होंगे ।

ईश्वरवादी—यद्यपि ईश्वर नित्य है और वह सदा समर्थ-स्वभाव है, फिर भी वह धर्म, अधर्म आदि अनित्य सहकारी कारणों की अपेक्षा से सृष्टि का उत्पाद करता है। क्योंकि सहकारी कारण नित्य नहीं होने से सर्वदा उपस्थित नहीं रहते, अतः जब उनका सहकार (साहाय्य) मिलता है तब सृष्टि करता है और जब सहकार नहीं मिलता तब नहीं करता। इस तरह सृष्टि के उत्पाद में क्रमिकता बन जाती है और सारी सृष्टि के एक साथ (युगपत्) उत्पन्न होने का जो दोष आपने दिया है, वह हम पर लागू नहीं होता ?

न हि सोऽन्यमपेक्षते—यदि ईश्वर नित्य है तो उसके स्वभाव में किसी तरह का परिवर्तन सम्भव नहीं होगा। अर्थात् वह सदा एक-स्वभाव (अपरिवर्तित) स्वभाव ही रहेगा। तात्पर्य यह है कि उसके स्वभाव में किसी तरह के अतिशय का आधान किया जाना सम्भव न होगा। साथ ही वह समर्थ-स्वभाव भी माना जाता है। जब वह समर्थ है और उसका स्वभाव भी सदा अपरिवर्तनशील है तो वह क्यों किसी सहकारी की अपेक्षा ही करेगा? वास्तव में कोई किसी की अपेक्षा तब करता है जब उसमें कोई कमी हो और सहकारी की वजह से उस कमी की पूर्ति होती हो। ईश्वर में जब किसी कमी और फिर उसकी पूर्ति की सम्भावना ही नहीं है तो फिर क्यों वह किसी सहकारी की अपेक्षा ही करेगा? अर्थात् नहीं ही करेगा। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है—

क्रमजन्मनाम् ॥

नित्यादुत्पत्तिविश्लेषादपेक्षाया अयोगतः ।

कथञ्चिन्नोपकार्यत्वात्^१

यह बताइए कि वे सहकारी भी नित्य हैं या अनित्य? यदि वे नित्य हैं तब तो वे भी ईश्वर की तरह सर्वदा उसके समीप ही उपस्थित रहेंगे। ऐसी स्थिति में ईश्वर के द्वारा उत्पन्न होनेवाले कार्य (सृष्टि) की भी सर्वदा उपस्थिति का प्रसंग (दोष) पूर्ववत् ही बना रहेगा? अर्थात् पहले सृष्टि के नित्य होने का जो दोष दिया था, वह सहकारी कारण मानने पर भी हटा नहीं?

यदि कहो कि वे सहकारी अनित्य हैं तो उनकी उत्पत्ति भी ईश्वराधीन ही होगी। ऐसी स्थिति में ईश्वर (कारण) के नित्य होने से वे भी सदा ही उपस्थित (नित्य) रहेंगे। ऐसी हालत में आप यह नहीं कह सकेंगे कि सहकारी कारणों के समीप में नहीं रहने से हमेशा सृष्टि उत्पन्न होने का दोष नहीं होगा? क्योंकि वे सदा संनिहित ही रहेंगे। ऐसा कोई उत्पन्न होने वाला पदार्थ जगत् में है नहीं, जो ईश्वर के द्वारा निर्मित (उत्पन्न) न हो। तब वह किस अविद्यमान का कुछ काल इन्तजार करेगा? फलतः उसका किसी की अपेक्षा करना अयुक्त है।

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक, धर्मकीर्तिकृत, प्रमाणपरिच्छेद, का० १०-११ पृ० १० (बौद्धभारती-संस्करण १९६८) ।

तु०—अपेक्ष्यते परः कश्चिद् यदि कुर्वीत किञ्चन ।

यदकिञ्चित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते ॥

द्र०—चतुःस्तव ३:१२ (बोधिचर्यावतारपंजिका में उद्धृत, पृ० २५९) । ज्ञातव्य है कि उपलब्ध चतुःस्तव में उक्त कारिका उक्त रूप में नहीं है। विद्वान् इस पर विचार करें ।

यदि ईश्वरवादी यह कहे कि कारण तीन होते हैं, यथा—समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण। इनमें से ईश्वर केवल निमित्त कारण होता है। वह सामग्री (अन्य कारणों के समुदाय) की अपेक्षा करके कार्य उत्पन्न करता है, अतः आपने जो दोष दिये हैं, वह हम पर लागू नहीं होते? इस पर आचार्य कहते हैं—

अपेक्षते चेत् सामग्रीं हेतुर्न पुनरोश्वरः ।

नाकर्तुमीशः सामग्र्यां न कर्तुं तदभावतः ॥ १२५ ॥

གཤམ་ཏེ་ལྷོས་ན་ཆོགས་པ་ཉིད། །

གྲུ་ཡིན་འགྱུར་གྱི་དབང་ཕྱུག་མིན། །

ཆོག་ས་ན་མི་ཕྱི་དབང་མེད་ཅིང་། །

དེ་མེད་པར་ནི་མེད་པར་མེད། ༡༣༥ །

ईश्वरवादियों का कहना है कि यद्यपि ईश्वर सर्वदा सभी कार्य करने में समर्थ है, फिर भी वह सामग्री की अपेक्षा करता है। सामग्री के बिना समर्थ होते हुए भी उसके द्वारा कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। जैसे तन्तुवाय (जुलाहा) पट का निर्माण करने में समर्थ होता है, फिर भी वह तन्तु, तुरी, वेमा आदि (यन्त्र सामग्री) के बिना पट के उत्पादन में असमर्थ होता है ?

हेतुर्न पुनरीश्वरः—

यदि आप (ईश्वरवादी) यह मानते हैं कि सामग्री होने पर वह कार्योत्पादन करता है और सामग्री न होने पर नहीं करता तो इस पर हमारा कहना है कि ईश्वर 'हेतु' ही नहीं है । क्योंकि सामग्री के होने और न होने पर ही कार्य का होना और न होना निर्भर है । इस तरह कार्य का जैसा सम्बन्ध (अन्वय-व्यतिरेक) सामग्री के साथ देखा जाता है, वैसा कार्य के साथ ईश्वर का सम्बन्ध देखा नहीं जाता । अर्थात् ऐसा किसी के द्वारा नहीं देखा गया कि 'ईश्वर के होने पर कार्य होता है और नहीं होने पर नहीं होता' । आशय यह है कि सामग्री की तरह ईश्वर के साथ कार्य का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध दृष्ट नहीं है । इसलिए सामग्री ही हेतु है, ईश्वर नहीं । सामग्री के होने और नहीं होने दोनों अवस्थाओं में ईश्वर का समर्थ रूप जब एक जैसा है, अर्थात् दोनों अवस्थाओं में उसके स्वरूप में जब कोई अन्तर नहीं है तब क्यों वह किसी अवस्था में कार्य करता है और किसी अवस्था में नहीं ? अतः ईश्वर की कारणता अयुक्त है ।

यदि आप कहें कि जुलाहे की तरह वह कभी करता है, कभी नहीं, तो आपका यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जुलाहा पहले असमर्थ रहता है और सामग्री उपलब्ध होने पर पट उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है। इसलिए आपका जुलाहे का दृष्टान्त भी युक्तियुक्त नहीं है। फिर दूसरी बात यह भी है कि सामग्री को भी वही ईश्वर उत्पन्न करता है, इसलिए सामग्री को भी सर्वदा उसके समीप स्थित होना चाहिए। फलतः कभी सामग्री का अभाव होना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि वह सभी कार्यों को स्वयं उत्पन्न करता है, अतः सामग्री को क्यों उत्पन्न नहीं कर लेगा ? अर्थात् सामग्री को उत्पन्न करने में क्यों उदासीन रहेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बौद्ध स्वयं कहते हैं कि वह सामग्री को उत्पन्न करने में असमर्थ है, क्योंकि उस समय सामग्री का अभाव है। अर्थात् जब खुद सामग्री ही उत्पन्न की जाने वाली है तो उसके समीप सामग्री का अभाव रहेगा और उसके अभाव में वह सामग्री उत्पन्न करने में असमर्थ रहेगा। अभाव से कोई कार्य होना सम्भव नहीं है। जैसा आगे कहा जाएगा—

नाभावस्य विकारोऽस्ति हेतुकोटिशतैरपि ।

बौद्ध आगे कहते हैं कि हम थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि ईश्वर सामग्री उपस्थित होने पर सृष्टि का उत्पाद करता है, किन्तु हम आप से पूछते हैं कि सामग्री होने पर वह सामग्री के बल से आकृष्ट होकर स्वयं विना चाहते हुए भी कार्य उत्पन्न करता है या चाहते हुए उत्पन्न करता है ? यदि इन दोनों विकल्पों में पहला विकल्प आपको मान्य है, अर्थात् आप यह कहते हैं स्वयं न चाहते हुए भी उत्पन्न करता है ? इस पर आचार्य कहते हैं—

करोत्यनिच्छन्नीशदचेत् परायत्तः प्रसज्यते ।

इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात् कुर्वतः कुत ईशता ॥ १२६ ॥

येऽपि नित्यानणूनाहुस्तेऽपि पूर्वं निवारिताः ।

माम्'५'५५८'भुमा'५'५५८'म'५'५५८' ।

५५८'५'५५८'भुमा'५'५५८'म'५'५५८' ।

५५८'५'५५८'भुमा'५'५५८'म'५'५५८' ।

५५८'५'५५८'भुमा'५'५५८'म'५'५५८' १२७ ।

माद'रमा'हु'स'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

यदि आप (ईश्वरवादी) यह कहें कि ईश्वर न चाहते हुए कार्यों को उत्पन्न करता है तो ऐसी स्थिति में वह परतन्त्र हो जाएगा । क्योंकि सामग्री के वश से न चाहते हुए भी करने वाला (ईश्वर) सामग्री का वशवर्ती अर्थात् सामग्री के अधीन होगा । तथा जो परतन्त्र है, उसका ईश्वर होना युक्त नहीं है । यदि पराधीन भी ईश्वर होने लगेगा तो सभी के ईश्वर हो जाने का प्रसंग (दोष) होगा ?

इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात्—यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार करते हैं, अर्थात् यह कहते हैं कि ईश्वर चाहते हुए ही कार्यों का उत्पाद करता है ? तो ऐसी स्थिति में वह इच्छा के अधीन (परतन्त्र) हो जाएगा । अर्थात् इच्छा होने पर कार्य करना और न होने पर न करना ही 'इच्छापराधीन' होना है । जब वह इच्छाधीन है ? तो—

कुर्वतः कुत ईशता—इच्छाधीन होकर कार्योपाद करने वाले में ईश्वरत्व कहाँ ? अर्थात् पराधीन का ईश्वर होना युक्त नहीं है ।

ईश्वरवादियों में से किसी आचार्य का कहना है कि क्योंकि ईश्वर बुद्धिमान् है, अतः उस पर किसी तरह का दोष नहीं दिया जा सकता ? जो बुद्धिशून्य (बुद्धि-रहित) होता है, वही अपने द्वारा उत्पन्न होने वाले कार्यों को बिना क्रम के (अक्रम = युगपत्) उत्पन्न करता है । ईश्वर तो बुद्धिमान् है, अतः समर्थ होते हुए भी यदि न चाहे तो कार्योत्पाद नहीं करता । अतः न करने पर उस पर कोई उलाहना नहीं दिया जा सकता ?

बौद्धों का कहना है कि हमने ऊपर जो युक्तियाँ दी हैं, उन से उपर्युक्त आचार्य के कथन का भी निराकरण हो जाता है । इसे यों समझना चाहिए—इच्छा को भी तो वही उत्पन्न करता है, तो फिर वह उन्हें क्यों नहीं उत्पन्न करता ? यही दोष जिसका ऊपर उल्लेख किया है, वह उपस्थित हो जाता है । यदि इच्छा होने पर ही करता है तो भी पूर्ववत् उस पर इच्छाधीन (परतन्त्र) होने का दोष रहता है ।

यदि आप (ईश्वरवादी) कहें कि सर्वसमर्थ होने पर भी स्वभावतः सहकारियों के सहयोग के अभाव में वह कार्योत्पाद नहीं करता ? इस पर बौद्धों का कहना है कि आप (ईश्वरवादियों) का यह कहना तो वैसा ही है, जैसे कोई कहे कि—'माता होने पर भी वह स्वभावतः वन्ध्या (बाँझ) है' । ऐसी बात कोई बेसमझ व्यक्ति ही कह सकता है । अनित्य तो आप ईश्वर को मानते नहीं, फलतः अन्य साधारण

व्यक्तियों के तुल्य उस ईश्वर में ईश्वरत्व कहाँ ? अर्थात् नहीं है । फलतः यह सिद्ध होता है कि यह विचित्र जगत् ईश्वरनिर्मित नहीं है ।

यदि आप इस जगत् को किसी बुद्धिमान् की रचना नहीं मानते तो यह मान लीजिए कि यह जगत् परमाणुपुंज स्वरूप है ? अर्थात् दो अणुओं के योग से द्व्यणुक, फिर तीन द्व्यणुओं से एक त्रसरेणु-इस प्रकार उन (परमाणुओं) के योग से क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पृथ्वी, पर्वत आदि का निर्माण हो जाता है ? इस पर आचार्य कहते हैं—

येऽपि नित्यानूनाहुः—जो मीमांसक आदि सिद्धान्तवादी यह कहते हैं कि इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति नित्य परमाणुओं से होती है, उनका निराकरण हमने पहले परमाणु पर विचार करते समय कर दिया है^१ । इसलिए यह जगत् परमाणुपुञ्ज-स्वरूप भी नहीं है ।

सांख्यों की प्रधान-कारणता का निराकरण

सांख्याः प्रधानमिच्छन्ति नित्यं लोकस्य कारणम् ॥ १२७ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा अविषमस्थिताः ।

प्रधानमिति कथ्यन्ते विषमैर्जगदुच्यते ॥ १२८ ॥

मा० ३०५ मा० ३०५ मा० ३०५ ।

मा० ३०५ मा० ३०५ मा० ३०५ । १२७ ।

मा० ३०५ मा० ३०५ मा० ३०५ ।

मा० ३०५ मा० ३०५ मा० ३०५ ।

मा० ३०५ मा० ३०५ मा० ३०५ ।

मा० ३०५ मा० ३०५ मा० ३०५ । १२८ ।

कपिल मुनि के अनुयायी सांख्यों का कहना है कि यह विश्व प्रधान का परिणाम है । प्रधान, प्रकृति आदि पर्यायवाची हैं । वे कहते हैं कि नित्य प्रधान (प्रकृति)

१. अंशा अप्यणुभेदेन सोऽप्यणुद्विभक्तः ।

द्विभक्तो निरंशत्वादाकाशं तेन नास्त्यणुः ॥

द्र० — बोधिचर्यावतार (प्रस्तुत ग्रन्थ), ९ : ८७, पृ० ४५९ । इसमें परमाणु की सत्ता का युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है । इसे वहीं उसके हिन्दी व्याख्यान में देखें ।

ही इस चराचर लोक (जगत्) का कारण है। इस प्रधान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति०—सत्त्व, रजस् और तमस् नामक ये तीन गुण जब अविषम रूप से अवस्थित रहते हैं अर्थात् जब साम्य अवस्था में स्थित होते हैं, तो वे ही 'प्रधान' (प्रकृति) कहलाते हैं। जब वे ही तीन गुण विषम अवस्था में स्थित होते हैं, तो उन्हीं के द्वारा यह 'जगत्' कहलाता है। अर्थात् विषम अवस्था को प्राप्त तीन गुण ही जगत् है। सांख्यों की सृष्टि-प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है—

जब पुरुष (चेतन तत्त्व) को विषय-भोग की उत्सुकता उत्पन्न होती है, उस समय प्रकृति (प्रधान) पुरुष की उस उत्सुकता को जानकर पुरुष के साथ योग करती है। तब साम्यावस्था में स्थित उस प्रकृति (तीन गुणों) में क्षोभ (विकार) उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् वह विषम हो जाती है। उसके विषम होने पर सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

सबसे पहले प्रकृति से महान् (महत्तत्त्व) उत्पन्न होता है, इसे ही 'बुद्धि' भी कहते हैं। उस महत्तत्त्व से अहंकार (अहं-प्रत्यय) उत्पन्न होता है। उस अहंकार से एक ओर ११ इन्द्रियाँ और दूसरी ओर पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। वाक् (जिह्वा), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (मलेन्द्रिय) एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय), त्वक् (स्पर्शेन्द्रिय), चक्षु (आँख), रसना (स्वाद लेने वाली जिह्वेन्द्रिय) तथा घ्राण (नाक) ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन-इन्द्रिय (जिसका स्वभाव कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों का होता है), इस तरह कुल ११ इन्द्रियाँ होती हैं। पाँच तन्मात्राएँ इस प्रकार हैं—शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा एवं गन्ध तन्मात्रा। शब्द आदि पंच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, यथा—शब्द तन्मात्रा से आकाश महाभूत, स्पर्श तन्मात्रा से वायु महाभूत, रूप तन्मात्रा से तेजस् (अग्नि) महाभूत, रस तन्मात्रा से अप् (जल) महाभूत और गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी महाभूत उत्पन्न होता है। जैसे कि सांख्यकारिका में कहा गया है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

इन २४ तत्त्वों में से जो पहला तत्त्व प्रकृति है, वह केवल कारण है। अर्थात् वह किसी का कार्य नहीं है। महान्, अहंकार और शब्द आदि पञ्च तन्मात्राएँ ये सात तत्त्व किसी के कार्य भी हैं और किसी के कारण भी हैं। उदाहरणार्थ महान्

प्रकृति का कार्य है और अहंकार का कारण भी है। इसी तरह अन्य छह तत्त्वों के बारे में भी जानना चाहिए। ११ इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत ये सोलह तत्त्व केवल कार्य ही हैं, किसी के कारण नहीं। पुरुष तत्त्व, जो चेतन तत्त्व है, वह न कारण है और न कार्य। जैसे कि वही कहा गया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

इस तरह अशेषशक्तिमय प्रकृति से यह विचित्र जगत् अपना अस्तित्व प्राप्त करता है। ऊपर कहा गया है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस् और तमस् रूप) है। उससे जन्म लेने वाले समस्त कार्य भी त्रिगुणात्मक ही होते हैं। साथ ही उनका अपूर्व (असत्) उत्पाद नहीं होता, अपितु वे सब अपनी कारण जो प्रकृति है, उसमें अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं। सांख्य दर्शन का यह प्रसिद्ध नियम है कि अविद्यमान का उत्पाद नहीं होता। यदि तिल में तैल अव्यक्त रूप से पहले से विद्यमान न हो तो तिलों से तैल प्रकट नहीं हो सकता। बालू में क्योंकि तैल पहले से विद्यमान नहीं होता, इसीलिए बालू को पेरने से उससे तैल नहीं निकलता। इस नियम को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। कार्य का अपने कारण में उत्पाद से पूर्व विद्यमान रहना, इसका अर्थ है।

माध्यमिक—

एकस्य त्रिस्वभावत्वमयुक्तं तेन नास्ति तत् ।

एवं गुणा न विद्यन्ते प्रत्येकं तेऽपि हि त्रिधा ॥ १२९ ॥

१. आचार्य शान्तरक्षित ने अपने ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में उपर्युक्त बातों को निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

अशेषशक्तिप्रचितात् प्रधानादेव केवलात् ।

कार्यभेदाः प्रवर्तन्ते तद्रूपा एव भावतः ॥

यदि त्वसद् भवेत् कार्यं कारणात्मनि शक्तिः ।

कर्तुं तन्नैव शक्येत नैरूप्याद् वियदब्जवत् ॥

द्र०—तत्त्वसंग्रह, भाग-१ (प्रकृतिपरीक्षा), का० ७-८, पृ० २२-२३ (बौद्धभारती-संस्करण, वाराणसी १९६८) ।

गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' ।

दे'गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' ।

दे'गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' ।

दे'गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' १३० ।

बौद्ध सांख्यों के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अपनी कल्पनाओं से खड़ा किया गया यह आपका सारा जगत्-रूपी महल आकाश में निर्मित चित्र (गन्धर्वनगर) की तरह प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि किसी एक वस्तु का याने प्रकृति का तीन स्वभाव होना अर्थात् सत्त्व, राजस्, तमस् स्वभाव वाला होना सर्वथा अयुक्त है। इसलिए प्रधान (प्रकृति) का किसी तरह अस्तित्व ही नहीं है। किसी वस्तु को 'एक' कहना और उसके अनेक स्वभाव मानना परस्पर निरुद्ध है। जब प्रकृति का अस्तित्व (सत्ता) ही सिद्ध नहीं तो फिर उससे उत्पन्न कार्यों के बारे में तो कहना ही क्या ? अर्थात् उनका किसी भी तरह अस्तित्व नहीं है।

सांख्यों का कहना है कि एक प्रकृति त्रिगुणात्मक चाहे न हो, किन्तु तीन गुण तो हैं ? अर्थात् उनका अस्तित्व तो है। इस पर आचार्य कहते हैं—

एवं गुणा न विद्यन्ते—बौद्धों का कहना है कि आप (सांख्यों) का मान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक होती है। ऐसी स्थिति में तीन गुणों में से प्रत्येक गुण भी त्रिगुणात्मक होंगे तथा हमने कहा है कि एक वस्तु का तीन स्वभाव होना सर्वथा असंगत है। फलतः प्रत्येक गुण की सत्ता सिद्ध नहीं होती। जब गुण ही नहीं हैं तो उनसे पैदा लेने वाले आगे के कार्य भी उत्पन्न न होंगे। इस बात को कहने के लिए आचार्य कहते हैं—

गुणा भावे च शब्दादेरस्तित्वमतिदूरतः ।

अचेतने च वस्त्रादौ सुखादेरप्यसम्भवः ॥ १३० ॥

अ'गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' ।

दे'गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' ।

दे'गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' ।

दे'गुणैर्वा'ल'र'म'लैर्वा'गुणैर्वा' १३० ।

वस्तुएँ न तो अवयवी के रूप में^१, न तो परमाणु के रूप में^२ और न ही त्रिगुणात्मक रूप में^३ सत् (विद्यमान) हैं। सभी प्रतीत होने वाले (प्रतिभासमान) पदार्थ माया के समान निःस्वभाव हैं। तब ये बाह्य जड पदार्थ सुख आदि के हेतु कैसे हो सकेंगे ? अर्थात् नहीं ही होंगे।

पुनश्च, आपके मत में सत्त्व, रजस् और तमस्ये तीन गुण ही सुख, दुःख और मोह माने जाते हैं तथा आप यह मानते हैं कि सत्त्व, रजस्, तमस् आदि तीन गुणों से ही सारे कार्य अर्थात् सारी सृष्टि उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति में सिद्ध तो यह हुआ कि सुख, दुःख आदि ही सभी वस्तुओं के कारण हैं। अतः बाह्य जड वस्त्र आदि वस्तुओं के सुख दुःख ही कारण हुए, न कि बाह्य वस्तुएँ सुख, दुःख आदि की कारण हैं—जैसा कि आपने ऊपर उन (बाह्य वस्त्र आदि) वस्तुओं को सुखादि का कारण कहा है। अर्थात् आपके कहने के विपरीत ही सिद्ध होता है।

पटादेस्तु सुखादि स्यात् तदभावात् सुखाद्यसत् ।

सुखादीनां च नित्यत्वं कदाचिन्नोपलभ्यते ॥ १३२ ।

ལྷུ་མ་སོགས་ལས་ནི་བདེ་སོགས་ཡིན། །

དེ་མེད་ཕྱིར་ན་བདེ་སོགས་མེད། །

བདེ་སྐྱབས་ཏྲག་པ་ཉིད་དུ་ཡང་། །

ནམ་ཡང་དམིགས་པ་ཡོད་མ་ཡིན། ༡༣༣ །

यदि सुख, दुःख आदि पट (कपड़े), माला, चन्दन आदि के कार्य हैं तो पट आदि के अभाव में सुख आदि भो असत् (अविद्यमान) हो जाएँगे ? क्योंकि पट आदि सुखादि के कारण हैं और कारण के न होने पर कार्य नहीं हो सकते । ऐसी स्थिति में सुख, दुःख आदि जो सत्त्व, रजस् आदि गुण स्वभाव वाले हैं तथा जो आप उन गुणों को नित्य मानते हैं, और इसीलिए सुख आदि भी तुम्हारे मन में नित्य ही होंगे, फलतः उन (सुख आदि) की नित्यता की हानि होगी, क्योंकि पट आदि (कारण) के न होने पर उन (सुख आदि) का आप को अभाव मानना पड़ेगा और नित्य वस्तु का तो कभी अभाव होता नहीं ? यह विपरीत परिस्थिति आपके लिए उत्पन्न होगी ।

१. अवयवी के खण्डन के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत ग्रन्थ ९ : ८१-८५, पृ० ४५५-४५८ ।

२. परमाण के खण्डन के लिये देखिये ९ : ८६-८७, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४५८-४६१ ।

३. तीन गुणों के अस्तित्व के निषेध के लिये द्रष्टव्य ९ : १२८-१२९ (प्रस्तुत ग्रन्थ) पृ० ५०६-५१०।

पुनश्च, सुख दुःख आदि नित्य हों—ऐसा तो जगत् में कहीं दिखलाई नहीं देता । ऐसा तो दिखलाई नहीं देता कि सुख या दुःख हमेशा रहते हों । दूसरी बात यह भी है कि हमने गुणों के अस्तित्व का ही खण्डन कर दिया है, अतः नित्य, सुख आदि का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है ।

सत्यामेव सुखव्यक्तौ संवित्तिः किं न गृह्यते ।

तदेव सूक्ष्मतां याति स्थूलं सूक्ष्मं च तत् कथम् ॥ १३३ ॥

सदेऽस्मात्समासात्समासात्समासात्समासात् ।

सुखं च दुःखं च तदेव सूक्ष्मं च स्थूलं ।

देहेन्द्रियसंज्ञासंज्ञासंज्ञासंज्ञासंज्ञा ।

समासात्समासात्समासात्समासात्समासात् ॥ १३३ ॥

यदि आपके कथनानुसार सुख आदि नित्य हैं तो उनकी हमेशा अनुभूति क्यों नहीं होती ? जब एक बार सुख की अनुभूति हुई तो सुख के नित्य होने से सर्वदा सुख की अनुभूति होते रहना चाहिए ? किन्तु ऐसा तो होता नहीं । इसलिए कभी-कभी अनुभूत होने वाले की नित्यता कैसे मानी जा सकती है ?

यदि आप कहें कि सुख आदि को हम हमेशा व्यक्त अर्थात् स्थूल रूप मानें तो यह दोष हम पर लागू होगा, किन्तु हम तो यह कहते हैं कि वे सुख आदि अव्यक्त रूप अर्थात् शक्ति रूप में रहते हैं ?

तदेव सूक्ष्मतां याति०—वही सुख जो कभी व्यक्त (स्थूल) रूप था और जिसकी अनुभूति हो रही थी, वही पीछे जबकि उसकी अनुभूति नहीं हो रही है तब सूक्ष्म (अव्यक्त या शक्तिरूप) हो जाता है तो आपका यह कहना भी सर्वथा असंगत (युक्तिहीन) ही है, क्योंकि जिसका स्वभाव (स्वरूप) व्यक्त या स्थूल है, वह सूक्ष्म कैसे हो सकता है ? फिर जिसका स्वभाव अव्यक्त है अर्थात् अनुभूति का विषय ही नहीं है, उसे (सुख भी कैसे कह सकते हैं ? पुनश्च, एक वस्तु का अनेक स्वभाव होना भी युक्त नहीं है । अर्थात् एक वस्तु का स्थूल और सूक्ष्म दो स्वभाव मानना युक्ति से परे है ।

सांख्य यदि यह कहें कि एक वस्तु का एक समय में परस्पर दो विरोधी स्वभावों से युक्त होना यद्यपि युक्त नहीं है और हम ऐसा कहते भी नहीं है, किन्तु हम तो यह कहते हैं कि एक ही वस्तु में पहले का स्वभाव निवृत्त हो जाता है और उसी में दूसरा स्वभाव उत्पन्न हो जाता है ?

स्थौल्यं त्यक्त्वा भवेत् सूक्ष्ममनित्ये स्थौल्यसूक्ष्मते ।

सर्वस्य वस्तुनस्तद्वत् किं नानित्यत्वमिष्यते ॥ १३४ ॥

स्वभावोऽस्मिन् न स्यात् ।

स्वभावोऽस्मिन् न स्यात् ।

स्वभावोऽस्मिन् न स्यात् ।

स्वभावोऽस्मिन् न स्यात् ।

यदि वस्तु अपनी स्थूलरूपता को छोड़कर बाद में सूक्ष्म हो जाती है तो ये स्थूलता और सूक्ष्मता अनित्य हो गईं । क्योंकि इनका उत्पाद और विनाश हुआ । अर्थात् स्थूलता नष्ट हुई और सूक्ष्मता उत्पन्न हुई या सूक्ष्मता नष्ट हुई और स्थूलता उत्पन्न हुई ।

सांख्य कहें कि ठीक है, अनित्य हुई, इससे हमारी क्या क्षति (हानि) हुई ?

सर्वस्य वस्तुनः—हमारा (बौद्धों का) कहना है कि तब आप स्थूलता और सूक्ष्मता की तरह सभी अपने २४ पदार्थों (तत्त्वों) को अनित्य क्यों नहीं मान लते ? अर्थात् क्यों नहीं उनका निरन्वय (सर्वथा = निःशेष) विनाश मान लेते ?

आशय यह है कि स्थूलता और सूक्ष्मता का जो आप आविर्भाव (प्रकट होना) और तिरोभाव (छिप जाना) मानते हैं, उन्हें भी आपको निरन्वय विनाश और असद्-उत्पाद के रूप में ही मानना होगा । अर्थात् जब तिरोभाव होता है, तब उसे निरन्वय (निःशेष) विनाश के रूप में और जब आविर्भाव होता है तो उसे सर्वथा नया उत्पाद मानना चाहिए । यदि आप ऐसा नहीं मानते अर्थात् तिरोभाव को निरन्वय विनाश नहीं मानते तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप उसकी किसी न किसी रूप में सत्ता मानते हैं और यदि आप आविर्भाव को सर्वथा नया अर्थात् सर्वथा अविद्यमान (असत्) का नया उत्पाद नहीं मानते तो इसका अर्थ हुआ कि उत्पन्न होने से पहले भी वह किसी न किसी रूप में सत् था तो ऐसी स्थिति में उनकी उपलब्धि होनी चाहिए अर्थात् किसी भी रूप में अवस्थित होने से उन्हें उपलब्ध होना चाहिए, किन्तु उपलब्ध नहीं होते, अतः आविर्भाव, तिरोभाव को निरन्वय विनाश और असद्-उत्पाद के रूप में ही आपको मानना चाहिए । और यदि आप वैसा मान लेते लेते हैं तो आविर्भाव, तिरोभाव की तरह सभी पदार्थों को भी वैसा

ही मानिए। अर्थात् उनका भी निरन्वय विनाश और असद्-उत्पाद मान लीजिए, क्योंकि उनमें कोई फर्क नहीं है।

यदि आप (सांख्य) स्थूलता और सूक्ष्मता को अनित्य मानते हैं तो आपको सुख, दुःख को भी अनित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि स्थूलता, सूक्ष्मता से सुख, दुःख अभिन्न हैं। आप बताइए कि स्थूलता (या सूक्ष्मता) सुख (या दुःख आदि) से भिन्न है या अभिन्न ?

यदि स्थूलता मुख से भिन्न है तो स्थूलता की निवृत्ति होने पर भी पहले ही की तरह मुख का संवेदन होते रहना चाहिए ? जैसे घट (घड़े) से पट (कपड़ा) भिन्न है और पट की निवृत्ति हो जाने पर भी घट पूर्ववत् उपलब्ध होते रहता है । दो भिन्न वस्तुओं में ऐसा सम्बन्ध नहीं हो सकता कि एक की निवृत्ति से दूसरे की भी निवृत्ति हो जाए । किसी तरह सम्बन्ध मान भी लें, फिर भी यदि उन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है तो एक की निवृत्ति से दूसरे की निवृत्ति सम्भव नहीं है, जैसे गो (गाय) की निवृत्ति से गोस्वामी (गाय के मालिक) की निवृत्ति नहीं होती । यदि आप कहें कि स्थूलता और मुख अभिन्न हैं ? तब तो—

न स्थौल्यं चेत् सुखादन्यत् सुखस्यानित्यता स्फुटम् ।

नासद्रुत्पद्यते किञ्चिदसत्त्वादिति चेन्मतम् ॥ १३५ ॥

व्यक्तस्याप्रत उत्पत्तिरकामस्यापि ते स्थिता ।

अन्नादोऽमेध्यभक्षः स्यात् फलं हेतौ यदि स्थितम् ॥ १३६ ॥

पटार्धेणैव कर्पासबीजं क्रीत्वा निवस्यताम् ।

मोहाच्चेन्नेक्षते लोकस्तत्त्वज्ञस्यापि सा स्थितिः ॥ १३७ ॥

རགས་པ་བདེ་ལས་གཞན་མིན་ན། །

བདེ་བ་གསལ་བ་མི་དྲག་ཉིད། །

གཤམ་ཏེ་མེད་པ་འགའ་ཡང་ནི།

སྐྱེ་མིན་མེད་ཕྱིར་ཞེས་འདོད་ན། །

གསལ་བ་མེད་པར་སྒྲེ་བར་ནི། །

བྱུང་མི་འདོད་ཀྱང་གཞན་པ་ཉིད། ༡༣༥ །

नाम'हे'सु'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । १३७ ।

ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल'ल' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । १३८ ।

यदि स्थूलता सुख से अन्य नहीं है, अर्थात् सुख और स्थूलता एक (अभिन्न) ही हैं तो स्थूलता की निवृत्ति होने पर सुख की भी निवृत्ति मानना होगा । अर्थात् जैसे स्थूलता अनित्य है, वैसे ही सुख भी अनित्य होगा । क्योंकि दोनों स्वभावतः एक और अभिन्न हैं ।

सांख्यों के सत्कार्यवाद का खण्डन

सांख्य—यदि विनाश की अवस्था में वस्तु का सर्वथा विनाश हो जाता हो, अर्थात् वस्तु सर्वथा असत् हो जाती हो तो उसका फिर उत्पन्न होना असम्भव हो जाएगा ? जैसे सर्वथा असत् आकाशकमल कभी उत्पन्न नहीं होता ?

नासदुत्पद्यते किञ्चित्०—सांख्यों का कहना है कि जो (कार्य उत्पाद से पहले) अपने कारण में सर्वथा अविद्यमान (असत्) होता है, वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे आकाशपुष्प । आकाशपुष्प की तरह जो भी असत् होता है, वह उत्पन्न नहीं होगा । इसलिए यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि असत् (अविद्यमान) की उत्पत्ति नहीं होती ।

व्यक्तस्यासत्०—बौद्धों का कहना है कि आपका उक्त सिद्धान्त सर्वथा असंगत है । यह आपके मत के अनुसार भी असंगत (विरुद्ध) है । इसे यों समझना चाहिए—आप सांख्य भी उत्पत्ति से पहले अव्यक्त अवस्था में कार्य को व्यक्त (स्थूल) रूप में अविद्यमान ही मानते हैं और बाद में उस अविद्यमान व्यक्त का उत्पाद मानते हैं । इस तरह नहीं चाहते हुए भी सत्कार्यवादी आप (सांख्य) को अविद्यमान (असत्) का उत्पाद मानना पड़ा । यदि वह व्यक्त उत्पाद से पहले भी विद्यमान होता तो उसे पहले ही व्यक्तरूप में उपलब्ध होना चाहिए था, किन्तु उपलब्ध नहीं होता । अतः जैसे आप असत् व्यक्त की उत्पत्ति मानते हैं, वैसे ही

आपको अन्य असत् की भी उत्पत्ति मान लेना चाहिए और यदि आप ऐसा मान लेते हैं तो फिर आपके सिद्धान्त में परस्पर विरोध भी नहीं आएगा। अतः आप अपने सिद्धान्त सत्कार्यवाद को छोड़कर हमारी तरह असत्कार्यवाद को स्वीकार कर लीजिए।

अपि च, सत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार यदि आप उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य को कारण में सत् (विद्यमान) मानेंगे तो आपके मत में यह दोष भी आएगा—

अन्नादोऽमेध्यभक्षः स्यात् - आप जानते ही हैं कि जो अन्न आप खाते हैं, बाद में उसी से अमेध्य (अशुचि-मल) का निर्माण होता है। याने अन्न मल का कारण है। आपके सिद्धान्तानुसार कार्य (मल) पहले से ही कारण (अन्न) में विद्यमान होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो अन्न खाता है, वह मल खाता है। और भी—

पटार्घेणैव कर्पासबीजम्०—आपकी मान्यता के अनुसार यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान होता है तो आप जानते ही हैं कि कपास के बीज (बिनीले) भावी पट के कारण होते हैं। अर्थात् पट अपने कारण कपास के बीजों में विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में पट से आधे ही मूल्य (कीमत) में कपास के बीजों को खरीद कर आप उन्हें क्यों नहीं पहन लेते ?

यदि सांख्य यह कहे कि परमार्थतः कार्य जो है, वह कारण में विद्यमान होता है, किन्तु संवृत्ति-स्वरूप अविद्या से जिनका ज्ञान प्रभावित है, ऐसे साधारण लोग यह देख नहीं पाते ? अर्थात् अज्ञानवश लोग तात्त्विक स्थिति को नहीं देखते, अतः हम पर उक्त दोष लागू नहीं होता ?

तत्त्वज्ञस्यापि सा स्थितिः—यदि साधारण जन अपने अज्ञान के कारण वस्तु-स्थिति को न देखने के कारण वैसा व्यवहार करते हैं तो हमारा तो कहना यह है कि परमार्थ को जाननेवाला जो तत्त्ववेदी (तत्त्वज्ञ) सांख्य है, उसकी भी वही स्थिति है, जो साधारण जन की है। अर्थात् आपके तत्त्वज्ञ भी अन्न के भोजन में प्रवृत्त होते हुए और पट (कपड़े) के अभिलाषी होने पर कपास के बीजों को ग्रहण न करते हुए देखे जाते हैं। अपि च—

लोकस्यापि च तज्ज्ञानमस्ति कस्मान्न पश्यति ।

लोकाप्रमाणतायां चेद् व्यक्तदर्शनमप्यसत् ॥ १३८ ॥

येस'दे'द्वैमा'द्वैव'ल'य'व' ।

य'द'स'त'स'स'स'स' ।

द्वैमा'द्वैव'ल'य'व' ।

मास'ल'स'स'स'स'स' । १३८ ।

(दूसरी बात यह है कि) साधारण लौकिक जन अज्ञानवश तात्त्विक स्थिति नहीं जानते—यह जो आप (सांख्य) ने कहा है, वह भी जहाँ तक कार्यकारण के ज्ञान का प्रश्न है, वह तो साधारण जन को भी होता है। कार्य को देख कर उसका कारण में निश्चय तत्त्वज्ञ और लौकिक जन दोनों ही करते हैं। अतः कारण में कार्य है, यह ज्ञान साधारण जन को भी होता ही है। फिर वह (लोक) क्यों नहीं (कपास के बीज में पट) देखता—इसका आप (सांख्य) कारण बताएं ? अर्थात् लोक के द्वारा नहीं देखे जाने का आपको कारण बताना चाहिए।

यदि आप (सांख्य) कहें कि लौकिक जन प्रमाणभूत नहीं होते, अतः उनका ज्ञान भी प्रमाण नहीं है ? इस पर बौद्ध कहते हैं कि यदि लौकिक साधारण जन अप्रमाण हैं तो उनके द्वारा जो यह स्थूल जगत् देखा जाता है, वह भी असत् हो जाएगा।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि लौकिक जन के ज्ञान द्वारा तत्त्वव्यवस्था नहीं की जा सकती—ऐसा कह कर मानों आप (सांख्य) ने हमारे मन की बात ही कह डाली है। अर्थात् आप हमारे ही पक्ष में आ गए। क्योंकि हम भी व्यावहारिक ज्ञानों (प्रमाणों) को परमार्थतः प्रमाण नहीं मानते।

सांख्य द्वारा माध्यमिकों पर समानदूषणता का आरोप

प्रमाणमप्रमाणं चेन्ननु तत्प्रमितं मृषा ।

तत्त्वतः शून्यता तस्माद् भावानां नोपपद्यते ॥ १३९ ॥

मा'द'ल'य'व' ।

दे'स'ल'य'व' ।

दे'ल'य'व' ।

स'स'स'स' । १४० ।

सांख्य कहते हैं कि आप (माध्यमिकों) के मतानुसार यदि लौकिक प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) परमार्थतः प्रमाण नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में उन प्रमाणों के द्वारा जो निश्चित किया जाता है, वह भी मिथ्या (मृषा) हो जाएगा ?

आशय यह है कि उन लौकिक प्रमाणों द्वारा जो सभी धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता अर्थात् शून्यता निश्चित होती है, वह शून्यता भी मिथ्या हो जाएगी ? क्योंकि आप लौकिक जन और उनके व्यावहारिक प्रमाणों को परमार्थतः प्रमाण नहीं मानते ?

कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते ।

तस्माद् भावो मृषा यो हि तस्याभावः स्फुटं मृषा ॥ १४० ॥

བདག་པ་པའི་དངོས་ལ་མ་རེག་པར། ।

དེ་ཡི་དངོས་མེད་འཇིག་མ་ཡིན། ।

དེ་ཤིར་རྒྱུན་པའི་དངོས་ལ་མ་ཡིན། ।

དེ་ཡི་དངོས་མེད་ལས་ལ་བར་རྒྱུན། १८० ।

माध्यमिक — सभी धर्म (वस्तुएँ) स्वप्न की वस्तुओं के समान कल्पना (संवृति = व्यवहार) के क्षेत्र में ही सत् होते हैं । पारमार्थिक रूप में उनकी बिल्कुल भी सत्ता नहीं होती । उनकी पारमार्थिक सत्ता स्वप्न के समान अलीक होती है । जब उनका अस्तित्व ही कल्पित है तो उनका नास्तित्व भी कल्पित होता है । इसलिए माध्यमिक लोग धर्मों की वास्तविक स्थिति को अस्तित्व और नास्तित्व दोनों कोटियों से परे (ऊपर) स्थापित करते हैं ।

माध्यमिकों का कहना है कि कल्पना द्वारा आरोपित अस्तित्व का बिना ग्रहण किए उस (अस्तित्व) का अभाव भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता । जैसे सामान्य जन जब पहले कल्पना द्वारा घट (घड़े) का अस्तित्व आरोपित कर लेते हैं, तभी उसके अभाव को भी ग्रहण कर पाते हैं, क्योंकि भाव का अभाव के साथ सम्बन्ध होता है । किन्तु विचार (परीक्षण) करने पर जब घट का अस्तित्व ही (अर्थात् उसका कोई स्वरूप ही) स्थिर नहीं होता, तब उसका अभाव भी कुछ नहीं होता । इसीलिए आचार्य आगे कहते हैं —

तस्माद् भावो मृषा० — जिस पदार्थ का अस्तित्व ही मृषा है, उसका अभाव भी अस्पष्ट ही मृषा (मिथ्या) होता है । सभी धर्म निःस्वभाव (भावरहित) होते

हैं। अर्थात् जब उनका भाव ही नहीं है तो अभाव कहाँ से होगा ? आशय यह है कि जब भाव (अस्तित्व) कल्पित है तो अभाव भी कल्पित ही है। इस तरह भाव और अभाव दोनों के कल्पित होने से सर्वधर्म-निःस्वभावता ही सिद्ध होती है।

तस्मात् स्वप्ने सुते नष्टे स नास्त्येति विकल्पना ।

तद्भावकल्पनोत्पादं निबध्नाति मृषा च सा ॥ १४१ ॥

तस्मादेवं विचारेण नास्ति किञ्चिदहेतुतः ।

देस'व'स्व'प'न'सु'प'न' ।

दे'मे'न'स्व'प'न'सु'प'न' ।

दे'प'न'स्व'प'न'सु'प'न' ।

मे'प'न'स्व'प'न'सु'प'न' । १०१ ।

दे'प'न'स्व'प'न'सु'प'न' ।

मे'प'न'स्व'प'न'सु'प'न' ।

उपसंहार—जैसा ऊपर प्रतिपादन किया गया है, उसके अनुसार क्योंकि भाव और अभाव दोनों कल्पित हैं, मिथ्या हैं, इसलिए स्वप्न में पुत्र के उत्पन्न होकर नष्ट (मृत) हो जाने पर उस (पुत्र) की अभाव कल्पना (अभाव बुद्धि) जैसे उस (पुत्र) की भाव-कल्पना (अस्तित्व बुद्धि) को रोकती है, वैसे ही वह (अभाव-कल्पना) अपने आपको भी मिथ्या सिद्ध करती है। क्योंकि स्वप्न में पुत्र न वस्तुतः उत्पन्न होता है और मरता ही है। अथवा सचमुच के पुत्र के भी स्वप्न में मर जाने से उसकी अभाव-कल्पना जैसे मिथ्या ही होती है, उसी तरह सभी अभाव-कल्पनाएँ भी मिथ्या ही हैं।

इसे इस प्रकार समझना चाहिए—जैसे स्वप्न में उपलब्ध (दृष्ट) वस्तुओं का उत्पाद और निरोध कल्पना द्वारा आरोपित मात्र होता है, परमार्थसत् (वास्तविक) नहीं होता और पदार्थ जैसे उत्पन्न होते और निरुद्ध होते हुए निश्चित ही केवल कल्पना में ही प्रतीत होते हैं और वह कल्पना जैसे असत्य (मिथ्या) को अपना विषय बनाने के कारण निश्चित ही अप्रमाण होती है, क्योंकि उसका विषय वास्तविक नहीं है, वैसे ही जाग्रत-अवस्था में भी उपलब्ध होने वाले भाव और अभाव (वस्तु और वस्तु का अभाव) दोनों की सत्ता व्यवहारमात्र ही होती है। अर्थात् जाग्रत-अवस्था में भी भाव और अभाव की व्यवस्था केवल कल्पना द्वारा ही

स्थापित होती है। इसलिए उस कल्पना अर्थात् व्यावहारिक प्रमाणों का अप्रामाण्य सिद्ध हो जाने से भी निःस्वभावता असिद्ध नहीं होती। जैसे नागार्जुन ने भी कहा है—

उत्पन्नश्च स्थितो नष्ट उक्तो लोकोऽर्थतस्त्वया ।

कल्पनामात्रमित्यस्मात् सर्वधर्माः प्रकाशिताः ॥

कल्पनाप्यसतो प्रोक्ता यया शून्यं विकल्प्यते^१ ।

सांख्य ने ऊपर कहा था कि प्रमाण ज्ञान भी जब परमार्थतः 'प्रमाण' नहीं रहेंगे तो उनके द्वारा निश्चित विषय का भी प्रामाण्य नहीं रहेगा, ऐसी स्थिति में प्रमाण द्वारा निश्चित तुम्हारी (बौद्धों की) शून्यता भी प्रमाणित न हो सकेगी। सांख्यों के इस आक्षेप का माध्यमिकों ने ऊपर सम्यग् निराकरण किया है। बौद्धों का कहना है कि क्योंकि आप (सांख्य आदि) लोग वस्तुओं को सत्यतः सिद्ध मानते हो, इसीलिए आपको प्रमाणों को अप्रमाण मानने पर सारी व्यवस्था विलुप्त होती हुई प्रतीत होती हैं और आप शून्यतावाद से भयभीत होने लगते हैं। हमारे मत में प्रमाण-प्रमेय, बन्ध-मोक्ष आदि सारी व्यवस्थाएँ व्यवहार में सुचारु रूप से सम्पन्न होती हैं। व्यावहारिक प्रमाणों के द्वारा व्यावहारिक विषयों का निर्धारण, व्यावहारिक मार्ग (प्रतिपक्ष) के द्वारा व्यावहारिक संक्लेशों (विपक्ष) का प्रहाण हमारे मत में सर्वथा सम्भव है।

इस प्रकार अहेतुकवाद के खण्डन के प्रसंग में स्वभाववाद, ईश्वरकारणवाद एवं प्रधानकारणवाद का युक्तिपूर्वक निराकरण कर दिया गया और इस तरह हमने जो कहा था कि 'भावों की अहेतुतः भी उत्पत्ति नहीं होती' इसे सिद्ध कर दिया गया है।

जो हमने स्वभावतः (स्वभावतः या अकारणतः) किसी भी कार्य के उत्पन्न होने का खण्डन किया है, वह तो मात्र एक बानगी (उपलक्षण) मात्र है, वस्तुतः ईश्वर, काल, प्रधान, आदि कारणों से भी कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। ये सब भी अहेतु (अर्थात् हेतु नहीं) के अन्तर्गत है। अतः कोई भी कार्य अहेतुतः उत्पन्न नहीं होता, यह सिद्ध हुआ।

यह ठीक है कि कोई भी कार्य स्वभाव, ईश्वर, प्रधान आदि अहेतु से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु जो कार्य किसी कारण से उत्पन्न होते दिखाई देते हैं, उन दिखाई देनेवाले (दृष्ट) कारणों से परमार्थतः क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ? अर्थात् दृष्ट कारणों

१. द्र०—अचिन्त्यस्तव, का० २५ एवं का० ३६ (बोधिचर्यावतार में किञ्चित् परिवर्तित रूप में उद्धृत, पृ० २६७)।

से वे अवश्य ही उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में सभी धर्मों की निःस्वभावता अर्थात् अन्तुपाद कैसे सिद्ध होगा ?

इन समस्याओं के समाधान के प्रसंग में अब 'न स्वतः, न परतः और न उभयतः'—इन अवशिष्ट तीन कोटियों का निषेध करने के लिए आचार्य कहते हैं—

न च व्यस्तसमस्तेषु प्रत्ययेषु व्यवस्थितम् ॥ १४२ ॥

अन्यतो नापि चायातं न तिष्ठति न गच्छति ।

मायातः को विशेषोऽस्य यन्मूढैः सत्यतः कृतम् ॥ १४३ ॥

སྟོ་སྟོ་བ་ལྟ་ལྟ་སྟོ་བ་ཡི། །

ཀྱེན་རྣམས་ལ་ཡང་གནས་མ་ཡིན། ༡༥༣ །

བཀའ་ལྟར་ཞུས་པའི་ལོ་རྒྱུས་ལྟར་མཛུགས་པའི་ལོ་རྒྱུས་ལ།

གནས་པ་མ་ཡིན་འགྲོ་མ་ཡིན།

སྒྲིངས་པས་བདེན་པར་གང་བྱས་འདི། །

ལྷ་མ་ལས་ནི་བྱང་ཅི་ཡོད། ༡༥༣ །

कार्य (पदार्थ) जो उत्पन्न होते हैं, वे अपने उत्पाद के लिए न तो व्यस्त अर्थात् एक-एक (स्व या पर) कारण पर निर्भर करते हैं और न समस्त (स्व+पर = उभय) कारणों पर निर्भर करते हैं।

स्वतः (अपने से अपने) उत्पाद का निषेध—पदार्थ अपने अस्तित्व से (स्वभाव से या स्वतः) उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उत्पाद से पूर्व जब उनका स्वभाव (अपना अस्तित्व) ही नहीं रहता तो उससे उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं है। यदि उत्पत्ति से पूर्व उस (कार्य पदार्थ) का स्वरूप (अपना अस्तित्व) है तब तो वह विद्यमान ही है तब उसके उत्पाद की बात ही बेकार है। अपने से अपने उत्पाद का अर्थ होता है—‘विद्यमान का पुनः उत्पाद’ और विद्यमान का पुनः उत्पाद व्यर्थ है। यदि विद्यमान का भी पुनः उत्पाद होने लगे तब तो उत्पाद ही होते रहेगा और इस प्रक्रिया का कहीं अन्त न (अनवस्था दोष) होगा। अर्थात् बीज से बीज, फिर बीज—इस तरह बीज का ही उत्पाद होते रहेगा, अंकुर को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिलेगा। और लोक में तो ऐसा देखा नहीं जाता। अतः आपके स्वतः उत्पाद पक्ष में लोक से ही बाधा है। क्योंकि लोक में तो बीज से अंकुर उत्पन्न होते देखा जाता है। अपि च, अपने से अपने (स्वतः) उत्पाद के पक्ष में अन्योन्याश्रय

दोष (परस्पराश्रय दोष) भी है, जैसे जब तक पहले स्वभाव (अपना अस्तित्व) न रहेगा तब तक उत्पत्ति ही न होगी और जब तक उत्पत्ति न होगी तब तक स्वभाव ही न होगा । फलतः स्वतः उत्पाद पक्ष सर्वथा अयुक्त है । अर्थात् किसी का भी स्वतः (अपने से) उत्पाद नहीं होता । आचार्य चन्द्रकीर्ति ने भी कहा है—

तस्माद्वि तस्य भवने न गुणोऽस्ति कश्चिज्जातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम्^१ ।

परतः (दूसरे से) उत्पाद का निषेध - पदार्थ दूसरे अर्थात् कारणों से भी उत्पन्न नहीं होते । बात यह है कि स्व' (अपने) से भिन्न दुनियाँ की सभी वस्तुएँ 'पर' (दूसरी) होती हैं । उदाहरणार्थ उत्पन्न होने वाले घड़े (घट) से भिन्न (अतिरिक्त) दुनियाँ की जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब घड़े से 'पर' हैं । घड़े के लिए जैसे कपड़ा भिन्न है, वैसे ही मिट्टी, पानी, चाक (चक्र), कुम्हार आदि भी 'पर' हैं । अतः घड़ा जैसे मिट्टी, पानी, चाक (चक्र), कुम्हार आदि 'पर' (दूसरे) से उत्पन्न होता है, वैसे ही उसे कपड़ा, घास, लकड़ी आदि 'पर' (दूसरों) से भी उत्पन्न होना चाहिए । क्योंकि घड़े लिए सभी 'पर' हैं । अर्थात् सभी पदार्थों में घड़े से परता (दूसरा होना) समान रूप से विद्यमान है । इसलिए यदि 'पर' से (परतः) उत्पाद माना जाएगा तो सभी से सभी का उत्पाद मानना होना । अर्थात् सभी से सभी की उत्पत्ति का प्रसंग (दोष) होगा । तब तो आपको आग से भी अन्धकार की उत्पत्ति माननी पड़ जाएगी । इसी बात को आचार्य चन्द्रकीर्ति निम्न शब्दों में प्रकट करते हैं —

अन्यत् प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यज्जायेत तर्हि बहुलः शिखिनोऽन्धकारः ।
सर्वस्य जन्म च भवेत् खलु सर्वतश्च तुल्यं परत्वमखिलेऽजनकेऽपि यस्मात्^२ ॥

अपि च, यदि परतः उत्पत्तिवादी यह कहे कि कार्य और कारण में जन्य-जनकभाव निश्चित होता है, अतः सबसे सबकी उत्पत्ति का दोष हम पर लागू नहीं होता ?

इस पर माध्यमिक कहते हैं, जब कार्य की उत्पत्ति ही अभी नहीं हुई है, तब वह जन्यजनकभाव का नियम दोनों में कैसे रहेगा ? फिर कार्य और कारण दोनों एक काल में कभी नहीं होते, फिर दोनों में उस जन्यजनकभाव नियम के होने का प्रश्न ही नहीं है । यदि आप (परतः उत्पत्तिवादी) कहें कि कार्य और कारण दोनों

१. द्र०—(क) मध्यमकावतार (चन्द्रकीर्ति कृत) पष्ठ परिच्छेद, का० ८ ।

(ख) प्रसन्नपदा, मूलमाध्यमिककारिका टीका, पृ० ५-११ (दरभंगा-संस्करण) ।

२. द्र०—मध्यमकावतार, पष्ठ परिच्छेद, का० १४ ।

एक सन्तति (प्रवाह) में पतित हैं, अतः जन्यजनकभाव उस सन्तति में रहता है ? इस पर माध्यमिकों का कहना है, जब अभी कार्य उत्पन्न ही नहीं है, तब कार्य के बिना सन्तति का भी अभाव ही है । जब कारण और कार्य दोनों की स्थिति एक क्षण भी नहीं है, तब 'सन्तति' किसका नाम है ? पूर्व और पश्चात् यह कालिक अवधारणा काल्पनिक है । अर्थात् पूर्व और पश्चात् यह मात्र कल्पना द्वारा आरोपित है । ऐसी स्थिति में 'सन्तति' किसी भी तरह वास्तविक नहीं है । अर्थात् सन्तति की स्थिति वास्तविक नहीं है । इसी तरह कार्य और कारण में सदृशता भी वास्तविक नहीं है । क्षणमात्र भी स्थित न होने वाले में सदृशता कैसी ? अतः सादृश्य भी काल्पनिक ही है । अतः कार्यकारण में जन्यजनकभाव होना, विचार के समक्ष नहीं ठहरता । फलतः परतः उत्पत्तिवाद भी समीचीन नहीं है । आशय यह है कि किसी कार्य की 'पर' (भिन्न कारण) से भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है ।

उभय (स्व और पर दोनों) से भी उत्पत्ति का निषेध

स्व और पर एकसाथ दोनों से भी पदार्थ का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है । हमने स्वतः उत्पत्ति पक्ष में तथा परतः उत्पत्ति पक्ष में जो दोष दिये हैं, वे दोष 'उभयतः पक्ष' में एकसाथ उपस्थित होते हैं । जब स्वतः पक्ष और परतः पक्ष अलग-अलग उत्पाद करने में असमर्थ हैं तब दोनों मिलकर उत्पन्न करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? यदि एक अन्धा किसी मार्ग को नहीं देख सकता तो बहुत मिलकर भी कैसे देख सकते हैं ? अर्थात् नहीं देख सकते । उसी तरह उभयतः पक्ष भी उत्पाद करने में सर्वथा असमर्थ ही है । एक बालू जैसे तैल उत्पन्न करने में असमर्थ है तो बहुत मिलकर भी तैल उत्पन्न नहीं कर सकतीं, उसी तरह दोनों पक्षों के दोष उभयतः पक्ष में आ जाने से यह पक्ष भी उपयुक्त नहीं है ।

इस तरह स्वतः, परतः, उभयतः या अहेतुतः किसी भी तरह वस्तु का उत्पन्न होना युक्तिसंगत नहीं है । इसलिए परमार्थतः अनुत्पाद और अनिरोध ही वास्तविक स्थिति है । सारे धर्म (पदार्थ) माया के समान, मृगमरीचिका के समान और प्रतिबिम्ब के समान स्वभावतः शून्य एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न मात्र भासित होते हैं । जैसे प्रतिबिम्ब, माया आदि हेतुप्रत्यय की अपेक्षा से प्रतीति के विषय होते हैं, वैसे ही सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न (परसापेक्ष) मात्र हैं । माध्यमिकों के शून्यता या अनुत्पाद पक्ष में सापेक्ष उत्पाद अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद निषिद्ध नहीं है । अर्थात् व्यावहारिक या सांवृतिक प्रतीत्यसमुत्पाद का निषेध नहीं किया जाता, अपितु प्रतीत्यसमुत्पाद से सभी धर्मों की निःस्वभावता ही प्रकट होती है । इसीलिए भगवान् ने भी कहा है—

जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है, वह बुद्ध को देखता है^१ । आचार्य नागार्जुन ने भी चतुःस्तव में कहा है—

स्वयं कृतं परकृतं द्वाभ्यां कृतमहेतुकम् ।
तार्किकैरिष्यते दुःखं त्वया तूक्तं प्रतीत्यजम्^२ ॥

अपि च,

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षमहे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्तु सैव मध्यमा^३ ॥

त्रैकाल्यवादी सर्वास्तिवाद का निषेध—सर्वास्तिवादी बौद्ध तीनों कालों की सत्ता मानते हैं । वे कहते हैं कि वस्तुओं का सर्वथा अनुत्पाद (शून्यता) किसी भी तरह समीचीन नहीं है । उनका कहना कि हेतु-प्रत्ययों के बल से वस्तुएँ अनागत से वर्तमान में आती हैं और फिर वर्तमान से अनित्यता के बल से अतीत में चली जाती हैं । इस तरह वस्तुओं के उत्पाद, स्थिति और भंग सिद्ध होते हैं । इसी हमारे मत में प्रतीत्यसमुत्पाद भी ठीक-ठीक उपपन्न होता है । वस्तुओं का अनुत्पाद, अनिरोध आदि मानना प्रतीत्यसमुत्पाद से विपरीत है । अतः आप (माध्यमिकों) का मत समीचीन नहीं है ?

अन्यतो नापि चायातं०—कहीं से अर्थात् किसी देश या किसी काल (अनागत आदि) से कोई वस्तु न तो वर्तमान में आती है और न वह वर्तमान होकर कहीं जाती है तथा न वह तीनों कालों में एक ही रूप (स्वभाव) में रहती है । यदि वह (वस्तु) अनागत से वर्तमान में आए और वर्तमान से अतीत में जाए तो वह तीनों कालों में रहने से नित्य हो जाएगी, जबकि आप सभी संस्कृत (हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न) वस्तुओं को अनित्य मानते हैं । इस तरह आपके कथन या मान्यता में परस्पर विरोध होता है ।

सर्वास्तिवादियों का कथन है कि हम कारित्र (क्रिया) के आधार पर तीनों कालों की व्यवस्था करते हैं । यथा जिसने अभी कारित्र प्राप्त ही नहीं किया है, वह 'अनागत' है, जो कारित्र कर रही है, वह 'वर्तमान' है तथा जिसका कारित्र निवृत्त (समाप्त) हो गया है, वह 'अतीत' है । इसलिए हम पर आपके द्वारा उक्त दोष लागू नहीं होता ?

१. द्र०—शालिस्तम्बसूत्र, महायानसंग्रह, भाग-१, पृ० १०० (दरभंगा-संस्करण) ।

२. द्र०—चतुःस्तव में लोकातीतस्तव, का०, ९ ।

३. द्र०—मूलमाध्यमिककारिका, २४ : १८, पृ० २१९ (दरभंगा-संस्करण) ।

माध्यमिकों का कथन है कि ऐसा कहने पर भी आप दोष से मुक्त नहीं होते । हम पूछते हैं कि यदि वस्तु अपने एक स्वभाव से ही तीनों कालों में रहती है तो अनागत और अतीत में वह अपने कारित्र से मुक्त कैसे हो सकती हैं ? फिर जब आप अनागत और अतीत में उसे (वस्तु को) कारित्र (अर्थक्रिया) से मुक्त (रहित) भी मानते हैं और वस्तु भी मानते हैं तो ऐसी हालत में आपको अश्वविषाण (घोड़े के सींग) को भी वस्तु मानना पड़ेगा ? अर्थात् अर्थक्रियारहित अश्वविषाण, आकाश-पुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि भी आपके मत में वस्तु हो जाएँगे ।

जैसे वर्तमान द्रव्यसत् है, वैसे ही यदि अतीत और अनागत भी द्रव्यसत् हैं तो तीनों कालों में स्वभावतः विद्यमान (द्रव्यसत्) वस्तु का उत्पन्न होना और नष्ट होना सर्वथा असंगत है । अर्थात् उसमें क्या नहीं था, जिससे वह 'अजात' (अनुत्पन्न) कहलाती थी तथा पीछे उसमें क्या नहीं रहा, जिससे कि वह 'विनष्ट' कहलाने लगी ? जिस रूप में वह वर्तमान है, उसी रूप में यदि अतीत और अनागत में भी है तो जैसे वह वर्तमान में उपलब्ध होती है, वैसे ही उसे अतीत और अनागत में भी उपलब्ध होना चाहिए ? इन सब विचारों से तीनों कालों का योग असंगत है । इसी-लिए आचार्य वसुबन्धु ने भी कहा है—

स्वभावः सर्वदा नास्ति भावो नित्यश्च नेष्यते ।

न च स्वभावाद् भावोऽन्यो व्यक्तमीश्वरचेष्टितम्^१ ॥

सर्वास्तिवादी बौद्ध कहते हैं कि आप (माध्यमिक) यह कैसे कह सकते हैं कि अतीत, अनागत का सद्भाव नहीं होता ? जब कि भगवान् ने भी कहा है कि अतीत कर्म होता है, अनागत फल होता है (अस्त्यतीतं कर्म, अस्त्यनागतं फलम्) इत्यादि ?

माध्यमिकों का कहना है कि उपायकुशल भगवान् का उक्त वचन किसी अभिप्राय से (आभिप्रायिक = नेयार्थ) है । जो नास्तिक 'कोई हेतु नहीं होता, कोई फल नहीं होता'—इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के कारण हेतु-फल का अपवाद (निषेध) करते हैं, उन नास्तिकों की मिथ्यादृष्टि का अपनयन (निवारण) करने के लिए भगवान् ने अतीत, अनागत के अस्तित्व की देशना की है । यह उनका वास्तविक मन्तव्य (नीतार्थ देशना) नहीं है । अतीत का अर्थ है जो उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका है और अनागत का अर्थ है जो हेतुओं की समग्रता होने पर होगा । यह कतई

१. द्र० — अभिधर्मकोश, वसुबन्धुविरचित ५ : २७ पृ० ८११ (बौद्धभारती-संस्करण) ।

अर्थ नहीं है कि जो अतीत हो चुका है, वह है या जो उत्पन्न होगा, वह अनागत में स्थित है। इसीलिए भगवान् ने 'परमार्थब्रून्यतासूत्र' में कहा है—

“चक्षुर्भिक्षवः, उत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानं न क्वचित् संनिचयं गच्छति । इति हि भिक्षवः, चक्षुरभूत्वा भवति, भूत्वा च प्रतिविगच्छती” ति^१ ।

यदि अनागत चक्षु का अस्तित्व होता तो भगवान् उसे (चक्षु को) ऐसा नहीं कहते कि वह पहले नहीं था और अब हुआ है (अभूत्वा भवतीति) इत्यादि । फलतः वस्तु का तीनों कालों में अवस्थान या गमन असंगत है ।

इसी तरह किसी भी पदार्थ (जड़ या चेतन) का न कहीं से आना है और न कहीं जाना है। न तो भासित होने वाले वर्तमान का ही कोई स्वरूप विचार के सामने ठहरता है। इसीलिए आचार्य कहते हैं—

मायातः को विशेषोऽस्य० — किसी भी पदार्थ का स्वरूप माया (इन्द्रजाल) से निर्मित हाथी, घोड़े आदि से बिलकुल भिन्न नहीं है । अर्थात् जैसे मायानिर्मित हस्ती, अश्व आदि निःस्वभाव हैं, वैसे ही सभी पदार्थ भी निःस्वभाव (शून्य) हैं । अज्ञानी लोग अपने अज्ञान के कारण उन्हें स्वभावतः सत् समझने लगते हैं । जितनी भी वस्तुएँ हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हैं, वे सब निःस्वभाव हैं । जैसे मायिक हस्ती, अश्व आदि प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से निःस्वभाव होते हैं, वैसे ही सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थ निःस्वभाव हैं ।

सायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् ।

आयाति तत्कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ॥ १४४ ॥

ལྷ་མཚན་སྒྲུབ་བ་གང་ཡིན་དང་། །

ལྷོ་རྣམས་ཀྱིས་ནི་གང་སྐྱེལ་བ། །

དེ་ནི་གང་ནས་འོངས་གྲུང་ཅིང་། །

གང་དུ་འགྲོ་བའང་བདུག་པར་གྱིས། ༡༧༧ །

जो वस्तु माया से निर्मित हैं और जो वस्तुएँ (घट, अंकुर आदि) हेतुओं (लोकप्रसिद्ध मिट्टी, बीज आदि) से निर्मित हैं, उनका सूक्ष्मता से परीक्षण कीजिए कि वे कहाँ से आती हैं और नष्ट होकर कहाँ जाती हैं ? अर्थात् कहाँ से आती हुई और कहाँ जाती हुई उपलब्ध होती हैं ? अर्थात् यह गमन, आगमन सब मिथ्या है ।

१. द्र०-परमार्थशून्यता, बोधिचर्यावितारपंजिका में उद्धृत, पृ० २७१ ।

यदन्यसंनिधानेन दृष्टं न तदभावतः ।

प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ॥ १४५ ॥

གང་ཞིག་གང་ནི་ཉེ་བ་ཡིས།

མཐོང་འགྲུང་དེ་མེད་ན་མིན་པ། །

བཅོས་བྱ་གཞུགས་བརྟན་དང་མཆོངས་པ། །

དེ་ལ་བདེན་ཉིད་རྒྱ་ལོད། ༡༠༥༥ །

जो वस्तु अन्य अर्थात् हेतु-प्रत्ययों की वजह से दिखलाई देती हैं या उपलब्ध होती हैं और उन (हेतु-प्रत्ययों) के न होने पर उपलब्ध नहीं होतीं, वे दर्पण में दिखलाई पड़ने वाले मुख आदि (प्रतिबिम्ब) के समान हैं। जैसे दर्पण होने पर प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है और दर्पण न होने पर दिखलाई नहीं पड़ता, वैसे ही हेतु-प्रत्ययों के होने पर वस्तु (घट, अंकुर) आदि उपलब्ध होते हैं और न होने पर उपलब्ध नहीं होते। उन हेतु-प्रत्ययों के वशीभूत, कृत्रिम वस्तुओं में सत्यता कहाँ ? अर्थात् पराधीन वस्तुओं में अकृत्रिमता या सत्यता नहीं ही होती। प्रतिबिम्ब के समान वे सब असत्य हैं। इसीलिए आचार्य नागार्जुन ने भी कहा है—

हेतुतः सम्भवो येषां तदभावाच्च सन्ति ये ।

कथं नाम न ते स्पष्टं प्रतिबिम्बसमा मताः^१ ॥

फलतः हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न कोई भी वस्तु परमार्थसत् नहीं है और न तो परमार्थतः हेतु-प्रत्ययों में हो किसी वस्तु को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है।

प्रश्न—माध्यमिक पूछते हैं कि 'स्व' हेतु से अर्थात् स्वयं को हेतु बनाकर (स्वतः) कोई विद्यमान भाव (पदार्थ) उत्पन्न होता है या अविद्यमान ? इसी तरह 'पर' हेतु से (परतः), दोनों (स्व और पर उभयात्मक) हेतु से (उभयतः) या अहेतु से (अहेतुतः) कोई विद्यमान पदार्थ उत्पन्न होता है या अविद्यमान ? या उभयस्वभाव (दोनों स्वभाव वाला) पदार्थ उत्पन्न होता है ? यदि वस्तुवादी कहे कि विद्यमान पदार्थ उत्पन्न किया जाता है तो इस पर आचार्य कहते हैं—

विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजनम् ।

अथाप्यविद्यमानोऽसौ हेतुना किं प्रयोजनम् ॥ १४६ ॥

को वान्यो भावतां गतः—जो असत् है, वह बिना विकृत हुए सत् कैसे हो सकता है। अभाव से अन्य वह कौन है, जो अभावरूपता को छोड़कर भावरूपता को प्राप्त करता है ? प्रागभाव (पूर्ववर्ती अभाव) से भिन्न ऐसा कोई प्रतीत नहीं होता।

कोई अन्य नहीं होता, केवल भाव का विरोधी जो प्राग्-अभाव है, उसके होने से भाव नहीं हो रहा था, अब जब वह प्राग्-अभाव समाप्त हो गया तो भाव उत्पन्न हो जाएगा ?

नाभावकाले भावश्चेत् कदा भावो भविष्यति ।

नाजातेन हि भावेन सोऽभावोऽपगमिष्यति ॥ १४८ ॥

མེད་ཆེ་དངོས་ཡོད་སྤྱིད་མིན་ན། །

དངོས་པོ་ཡིད་པར་ནམ་ཞིག་འགྱུར། །

དངོས་པོ་སྒྲིམ་པར་མ་གྱུར་པར། །

དངོས་མེད་དང་ནི་འབྲུལ་མི་འབྱུར། ༡༥༤ །

यदि अभाव के काल में भाव नहीं होता है तब भाव कब होगा ? अर्थात् यदि अभाव के काल में भाव की उत्पत्ति नहीं है तो फिर कभी उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह (भाव) अपने विरोधी अभाव के द्वारा ग्रस्त है ।

यदि उत्पत्तिवादी कहे कि उस उत्पन्न होनेवाले भाव से ही अभाव का नाश हो जाएगा ?

नाजातेन हि भावेन०—जब तक भाव उत्पन्न नहीं होगा, तक तक अभाव का नाश सम्भव नहीं है। इसीलिए अनुत्पन्न भाव के द्वारा वह प्राग्-अभाव रूपी अभाव अपगत नहीं होगा। अर्थात् अभाव निवृत्त नहीं होगा।

अभाव चाहे निवृत्त न हो, फिर भी उसके बिना निवृत्त हुए ही भाव उत्पन्न हो जाएगा ?

न चानपगतेऽभावे भावावसरसम्भवः ।

भावश्चाभावतां नैति द्विस्वभावप्रसङ्गतः ॥ १४९ ॥

५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ।

५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ।

५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ।

५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ ५८९॥ । ५८९॥ ।

ऐसा सम्भव नहीं है। जब तक अभाव निवृत्त (अपगत) नहीं होता, तब तक भाव को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं है, क्योंकि भाव का विरोधी अभाव वहाँ विद्यमान है।

यदि उत्पत्तिवादी कहे कि भाव को उत्पन्न करने के जो कारण हैं, वे कारण ही उस अभाव का नाश कर देंगे ?

यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कारण का व्यापार केवल कार्य को उत्पन्न करने मात्र के लिए होता है।

कार्य उत्पन्न करते हुए ही कारण अभाव को निवृत्त कर देंगे ?

जब तक अभाव का सामर्थ्य विद्यमान है तब तक कारण उस (अभाव) से कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। फिर यह भी बात है कि कारण का उस प्राग्-अभाव से तो कोई विरोध है नहीं, क्योंकि कारण के काल में भी प्राग्-अभाव तो विद्यमान रहता ही है।

इस तरह न विद्यमान और न अविद्यमान भाव (कार्य) में कारण का किसी तरह का व्यापार युक्त है। जब विद्यमान भाव के और अविद्यमान भाव के उत्पन्न होने में दोष हैं तो ऐसी स्थिति में उभयस्वभाव पदार्थ का उत्पाद भी सम्भव नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में वे दोनों प्रकार के दोष होंगे, जिनका हमने एक एक (विद्यमान या अविद्यमान) पक्ष में प्रदर्शन किया है। फलतः यह सिद्ध होता है कि भावों का उत्पाद कथमपि सम्भव नहीं है, अतः अनुत्पाद ही भावों की वास्तविक स्थिति है। नागार्जुन ने कहा है—

न सन्नोत्पद्यते भावो नाप्यसन् सदसन्न च ।

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां जायते कथम् ॥

इसलिए परमार्थतः उत्पत्ति नहीं है और उत्पन्न भाव की जो स्वभावतः सत् है, उसकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं है। जैसे आचार्य ने कहा है—

भावश्चाभावतां नैति०—जैसा हम (माध्यमिकों) ने ऊपर यह सिद्ध किया है कि अभाव कभी भाव नहीं हो सकता, उसी तरह यह भी निश्चित है कि भाव भी कभी अभाव (निवृत्त) नहीं हो सकता । यदि ऐसा होगा तो एक वस्तु में दो स्वभाव होने का दोष (प्रसंग) होगा । यदि भाव के विद्यमान रहते हुए अभाव हो जाएगा तो एक ही वस्तु में दो स्वभावों का अस्तित्व मानना पड़ जाएगा । क्योंकि एक ही वस्तु में भाव और अभाव ये दो रूप हो गए । अपनी भावरूपता को छोड़कर वह अभावरूपता को प्राप्त करता है—ऐसा भी आप (उत्पत्तिवादी) नहीं कह सकते, क्योंकि उस स्थिति में भाव के अभाव हो जाने से कौन अभावरूपता को प्राप्त करता है ? यह हमारी समझ में नहीं आता । यदि वस्तु परमार्थतः सत्स्वभाव है तो उसकी निवृत्ति कथमपि युक्त नहीं है । यदि निवृत्ति होती है तो उसे परमार्थतः सत्स्वभाव ही नहीं कह सकते ।

एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा ।

अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥ १५० ॥

ने'हृर'अमम'स'अ'द'मै'र'र' ।

र'द'स'म'अ'द'अ'द'मै'र'ने'अ'म' ।

अ'म'स'अ'द'र'म'म'स'अ'द' ।

र'म'र'म'म'स'अ'द'म'अ'द' । १५० ।

जिस प्रकार हमने ऊपर परीक्षा की है, उसके अनुसार न तो किसी सत्स्वभाव भाव का निरोध सम्भव है और न किसी भाव का अस्तित्व ही सिद्ध होता है । अर्थात् किसी भी वस्तु के साथ उत्पाद और निरोध का योग नहीं बनता । इसलिए भगवान् ने कहा है—

“उत्पादाद् वा तथागतानाम् अनुत्पादाद् वा तथागतानां स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता धर्मस्थितता धर्मनियामता धर्मधातुः तथता अवितथता” — इत्यादि ।

इसलिए यह सम्पूर्ण चराचर (जड-चेतनात्मक) विश्व अर्थात् सम्पूर्ण सत्त्व-लोक और भाजन लोक अजात (अनुत्पन्न) और अनिरुद्ध अर्थात् अविनष्ट है, क्योंकि किसी भी वस्तु का युक्तिपूर्वक विचार करने पर उत्पाद और विनाश सिद्ध नहीं होता । फलतः सभी धर्म अर्थात् सम्पूर्ण विश्व निःस्वभाव (शून्य) है । निःस्वभावता ही धर्मों की वास्तविक स्थिति है ।

फिर भी व्यवहार में मायिक उत्पाद और निरोध के समान उत्पाद और निरोध होते हैं। माया के समान उत्पाद और निरोध का क्योंकि माध्यमिक निषेध नहीं करते, इसलिये उनके अनुसार सांवृतिक अस्तित्व का निषेध नहीं किया जाता। इसी संवृति के आधार पर माध्यमिक प्रमाण-प्रमेय, बन्ध-मोक्ष, लौकिक-लोकोत्तर मार्ग-फल, अभ्युदय-निःश्रेयस आदि समस्त की व्यवस्था करते हैं।

धर्मसंगीतिसूत्र में भी कहा गया है कि 'तथता' यह शून्यता का नाम है। यह न उत्पन्न होती है और न निरुद्ध। यदि सभी धर्म न उत्पन्न होंगे और न निरुद्ध होंगे तो क्या इसका यह अर्थ है कि बोधिसत्त्व को कुछ भी करना नहीं है? भगवान् कहते हैं कि 'कुलपुत्र, ऐसा ही है'। तब प्रश्न है कि 'सभी धर्म उत्पन्न होते हैं और निरुद्ध होते हैं'—भगवान् के दूसरे स्थलों पर इस प्रकार के कथनों का क्या अभिप्राय है? भगवान् कहते हैं कि लोक अर्थात् साधारण जन प्रायः वस्तुओं के उत्पाद और निरोध को मानते हैं, उत्पाद और निरोध के प्रति उनमें दृढ अभिनिवेश होता है। अनुत्पाद और अनिरोध की देशना करने पर जो कि वस्तुओं की वास्तविक स्थिति है, फिर भी इसे सुनकर, वे (सामान्य जन) परेशान हो सकते हैं, उन्हें किसी तरह का त्रास (परेशानी) न हो, इसे बचाने के लिए उपायकुशल, महाकारुणिक, भगवान् तथागत व्यवहार के वश से अर्थात् सांवृतिक दृष्टि से धर्मों का उत्पाद एवं निरोध कहते हैं। वास्तव में किसी धर्म का न उत्पाद ही होता है और न निरोध^१।

इसलिए वस्तुतः कोई धर्म उत्पन्न ही नहीं होता। क्योंकि कोई धर्म उत्पन्न नहीं होता, इसलिए निरुद्ध भी नहीं होता। उत्पाद और निरोध के न होने से सभी धर्म वस्तुतः आदिशान्त एवं प्रकृति से (स्वभावतः) परिनिवृत्त ही हैं। जगत् के निःस्वभाव होने से उसके अन्तर्गत जो नरक आदि हैं, वे भी निःस्वभाव ही हैं।

१. तथता तथतेति कुलपुत्र, शून्यताया एतदधिचचनम्। सा च शून्यता नोत्पद्यते न निरुध्यते। आह—यदि सर्वधर्माः शून्या उक्ता भगवता, तत् सर्वधर्मा नोत्पत्स्यन्ते न निरोत्स्यन्ते? निरारम्भो बोधिसत्त्वः? आह—एवमेत् कुलपुत्र, यथाभिसम्बुध्यसे। सर्वधर्मा नोत्पद्यन्ते, न निरुध्यन्ते। आह—यदेतदुक्तं भगवता संस्कृता धर्मा उत्पद्यन्ते निरुध्यन्ते च, इत्यस्य तथागतभाषितस्य कोऽभिप्रायः? आह—उत्पादनिरोधाभिनिविष्टः कुलपुत्र, लोकसंनिवेशः। तत्र तथागतो महाकारुणिको लोकस्य त्रासपदपरिहारार्थं व्यवहारवशादुक्तवान्—उत्पद्यन्ते निरुध्यन्ते च। न चात्र कस्यचिद् धर्मस्य उत्पादो न निरोधः। इति।

द्र०—धर्मसंगीतिसूत्र, बोधिचर्यावितारपंजिका में उद्धृत, पृ० २७४।

स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः ।

निर्वृतानिर्वृतानां च विशेषो नास्ति वस्तुतः ॥ १५१ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १५२ ॥

नरक, प्रेत, तिर्यक् (पशु-पक्षी), मनुष्य और देव आदि जितनी योनियाँ हैं, वे सब स्वप्न में उपलब्ध होने वाली वस्तुओं के समान हैं। जैसे स्वप्न में व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है या आता है; दुःख, सुख आदि का अनुभव करता है, उसी तरह अज्ञानी पुरुष का, जिसने परमार्थ तत्त्व का अधिगम नहीं किया है, उसका नरक आदि योनियों में गमन है। तत्त्वतः कुछ भी नहीं है। अर्थात् न कहीं जाना है और न कहीं से आना है, न किसी का अनुभव ही वस्तुतः सत् है। विचार (परीक्षा) करने पर सभी धर्म कदली (केले के स्तम्भ) के समान वस्तुतः निःसार हैं। कदली के स्तम्भ (खम्भे) को छीलते-छीलते जैसे अन्त में कुछ भी सार उपलब्ध नहीं होता, ऐसे ही सारी गतियाँ भी निःसार हैं। इसीलिए ग्रन्थकार ने भी पहले कहा है—

मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय त्रासं भजस्वोद्यमम्^१ ।

इस तरह क्योंकि सभी धर्म अनुत्पन्न और अनिरुद्ध हैं, इसलिए निर्वृत्त अर्थात् वे पुरुष, जिन्होंने सभी क्लेशावरणों और ज्ञेयावरणों का प्रहाण कर दिया है और सभी बन्धनों से मुक्त हो गए हैं और अनिर्वृत्त अर्थात् वे पुरुष, जिनकी चित्त-सन्तति राग, द्वेष आदि क्लेशों के पाश से आबद्ध है, इन दोनों प्रकार के पुरुषों में वस्तुतः कोई भी फर्क नहीं है, क्योंकि सभी धर्म परमार्थतः निःस्वभाव होने से प्रकृत्या (स्वभावतः) परिनिर्वृत्त ही हैं। हाँ, यह जरूर है कि सांवृतिक स्थिति में इनमें जरूर भेद (फर्क) है, इस बात की पहले अनेक बार चर्चा की जा चुकी है। नागार्जुन ने भी कहा है—

बुद्धानां सत्त्वधातोश्च येनाभिन्नत्वमर्थतः ।

आत्मनश्च परेषां च समता तेन ते मता^२ ॥

१. द्र०-प्रस्तुत बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ, ४ : ४७, पृ० १०५ ।

२. द्र०-अचिन्त्यस्तव, का० ४२ ।

सत्कार किया या किसने किसका अपमान किया ? आशय यह है कि जब सस्वभाव कोई धर्म है ही नहीं, तब उपर्युक्त सारी स्थितियाँ असम्भव हैं। वस्तुतः किसी ने कुछ किया नहीं।

जब कोई सुख के हेतु ही नहीं है तो सुख कैसे होगा ? इसी तरह दुःख के हेतुओं का अभाव होने से दुःख ही कैसे सम्भव होगा ? ऐसी स्थिति में सुख की प्राप्ति और दुःख के परिहार के लिए प्रयत्न भी असंगत ही है। किसी का प्रिय होना या किसी का अप्रिय होना कल्पना के वश से, कल्पना के कारण हुआ करता है। अर्थात् प्रिय, अप्रिय आदि कल्पित हैं। फलतः प्रिय के समागम के लिए या अप्रिय के वियोग (दूर हटाने) के लिए किया जाने वाला सारा प्रयास व्यर्थ है। अपि च, तृष्णा ही क्या है ? जिस (तृष्णा) के वशीभूत होकर लोग किसी लाभ की आकांक्षा करते रहते हैं। तथा वह तृष्णा कहाँ है ? जिससे किसी प्रिय वस्तु में उसका उत्पाद हो सके ? अर्थात् किसी वस्तु में तृष्णा होना अयुक्त है। खोजने पर भी किसी सस्वभाव तृष्णा की उपलब्धि नहीं होती। जब किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में निर्विषयक (विना विषय वाली) तृष्णा का भी अभाव ही है। फलतः तृष्णा के वशीभूत होकर कर्मों का संचय किया जाना भी अनुपपन्न ही है।

जब हम वस्तु की पारमार्थिक स्थिति पर विचार करते हैं तो यह सत्त्व (प्राणी) लोक क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है। जब सत्त्व ही सिद्ध नहीं है तो इस लोक में कौन मरेगा ? अर्थात् किसी की मृत्यु सम्भव नहीं है। इसी तरह कौन उत्पन्न ही होगा ? कौन भविष्य में उत्पन्न होगा या कौन पहले उत्पन्न हुआ है ? अर्थात् अतीत, अनागत आदि व्यवहार काल्पनिक और मिथ्या हैं। इसी तरह कौन बन्धु (स्वजन) है ? और कौन किसका मित्र ही है ? जिस स्वजन या मित्र की वजह से व्यक्ति कोई भी दुराचार करने में हिचकता नहीं है ? अर्थात् ये सब कहीं कुछ नहीं है।

जो कुछ भी है, सब कुछ कल्पना द्वारा आरोपित मात्र है। स्वभावतः सभी कुछ शून्य है, फिर भी अज्ञानी लोग आरोपित वस्तु-स्वरूप को तत्त्व समझने लगते हैं। अतः आचार्य कहते हैं—

सर्वमाकाशसङ्काशं परिगृह्णन्तु मद्विधाः ।

प्रकुप्यन्ति प्रहृष्यन्ति कलहोत्सवहेतुभिः ॥ १५५ ॥

स्रमस'उद'रस'मस'र'र'र'र' ।

सदमा'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र' । १५५ ।

वस्तुस्थिति यह है कि तमाम लौकिक-लोकोत्तर वस्तुएँ तत्त्वरहित होने से आकाश के तुल्य हैं। यद्यपि बाल-पृथग्जन उन में तत्त्व (सत्यता) का आरोप करते हैं, परन्तु वे अपने रूप में साररहित, तुच्छ एवं शून्य हैं। विद्वानों को उन्हें आकाश के समान ही ग्रहण करना चाहिए। किन्तु मेरे जैसे अज्ञानी लोग उनमें स्वभावसत्ता का आरोप करते हैं, जो स्वभावसत्ता उनमें सर्वथा अविद्यमान है। ग्रन्थकार (शान्तिदेव) अज्ञानी लोगों के उदाहरण के रूप में विनम्रतावश स्वयं अपने को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मेरे जैसे अज्ञानी, जो परमार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ (अपरिचित) हैं और जिनका चित्त असत् वितर्कों से भरा पड़ा है, ऐसे लोग वस्तु में अस्तित्व का मिथ्या समारोप करके कुपित होते हैं, लाभ जो कि सर्वथा अलीक है, उसे प्राप्त करने पर प्रमुदित होते हैं तथा आनन्द के हेतुओं की वजह से उत्सव मनाते हैं तथा विवाद करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जिन्हें परमार्थ तत्त्व का ज्ञान नहीं है, ऐसे लोग वस्तु के सांवृतिक स्वरूप में सत्यता का अभिनिवेश करके कलह, विवाद आदि दुःखों में फँसते हैं। जैसे कि 'पिता-पुत्रसमागमसूत्र' में कहा भी गया है —

“एतावच्चैव ज्ञेयं यदुत संवृतिः परमार्थश्च । तच्च भगवता शून्यतः सुदृढं सुविदितं सुसाक्षात्कृतम् । तेन सर्वज्ञ इत्युच्यते । तत्र संवृतिर्लोकप्रचारतस्तथागतेन दृष्टा । यः पुनः परमार्थः सोऽनभिलाष्यः अनाज्ञेयोऽविज्ञेयः अदेशितः अप्रकाशितः, यावत् अक्रियः अकरणः, यावत् न लाभो नालाभो न दुःखं न सुखं न यशो नायशः न रूपं नारूपमित्यादि ।”

शोकायासैर्विषादैश्च मिथश्छेदनभेदनैः ।

यापयन्ति सुकृच्छ्रेण पापैरात्मसुखेच्छवः ॥ १५६ ॥

सु'द'द'द'द'द'द'द'द' । ।

स'द'द'द'द'द'द'द'द' । ।

द'द'द'द'द'द'द'द' । ।

स'द'द'द'द'द'द'द'द' । १५७ ।

[परमार्थ तत्त्व (शून्यता) का अधिगम (ज्ञान) न होने से और भी अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं, जैसे —]

पुत्र, पत्नी आदि के वियोग से उत्पन्न शोक, सुख की प्राप्ति और दुःख के परिहार के निमित्त किया जाने वाला आयास (परिश्रम), लाभ, सत्कार आदि जो मुझे मिलने चाहिए थे, वे दूसरों को प्राप्त हो गए—इत्यादि विचारों से उत्पन्न दीर्घमनस्य (विषाद) तथा आपस में हाथ, पैर आदि का काटना तथा पेट, वक्षःस्थल आदि का भेदन—आदि अनेकविध उपद्रवों का अनुभव तत्त्व न जानने वाले अज्ञानी लोगों को करना पड़ता है । इस प्रकार अपने लिए सुख चाहने वाले संसारी लोग बड़े कष्ट के साथ पाप कर्म करते हुए जीवन यापन करते हैं ।

मृताः पतन्त्यपायेषु दीर्घतीव्रव्यथेषु च ।

आगत्यागत्य सुगतिं भूत्वा भूत्वा सुखोचिताः ॥ १५७ ॥

द'द'द'द'द'द'द'द' । ।

स'द'द'द'द'द'द'द'द' । ।

स'द'द'द'द'द'द'द'द' । ।

सु'द'द'द'द'द'द'द'द' । १५८ ।

अपि च, उपर्युक्त प्रकार के लोग मर कर उन नरक, प्रेत, तिर्यक् (पशु, पक्षी) आदि योनियों में उत्पन्न होते हैं, जिनमें बहुत दिनों तक असहनीय, एवं भयंकर व्यथाओं को भोगना पड़ता है । बीच-बीच में देव, मनुष्य आदि योनियों में आ-आ कर और वहाँ के सुखों को भोग कर भी, फिर अपाय भूमियों में जन्म लेते हैं ।

भवे बहुप्रपातश्च तत्र चातत्त्वमीदृशम्^१ ।

तत्रान्योन्यविरोधश्च न भवेत् तत्त्वमीदृशम् ॥ १५८ ॥

१. 'चासत्त्व०' यह मूल-पाठ है । टीकाकार ने 'चातत्त्व०' मानकर व्याख्या की है । दोनों का अर्थ एक ही है । 'चातत्त्व०' पाठ समुचित है ।

स्निग्धं च कर्तुं न शक्यं ।

देवर्षिदेवैर्भक्तैर्भक्तैः ।

देवर्षिदेवैर्भक्तैर्भक्तैः ।

स्निग्धं च कर्तुं न शक्यं । १५८ ।

अतत्त्व अर्थात् व्यामोह ऐसा पदार्थ है कि जिससे अनेक बार भव में गिरना पड़ता है, जिस भव (संसार) में अनेक प्रकार के आपसी विरोध, विवाद, कलह, लड़ाई-झगड़े आदि हैं। तत्त्व (की अवस्था) में ये सब नहीं होते। अर्थात् तत्त्व ऐसा नहीं है, अतः तत्त्व प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए।

तत्र चानुपमास्तीव्रा अनन्ता दुःखसागराः ।

तत्रैवमल्पबलता तत्राप्यल्पत्वमायुषः ॥ १५९ ॥

देवर्षिदेवैर्भक्तैर्भक्तैः ।

स्निग्धं च कर्तुं न शक्यं ।

देवर्षिदेवैर्भक्तैर्भक्तैः ।

देवर्षिदेवैर्भक्तैर्भक्तैः । १६० ।

इससे भी अधिक वहाँ ऐसे घोर दुःख भोगने पड़ते हैं, जिनकी कोई उपमा नहीं है। ये दुःख भी थोड़े समय के लिए नहीं, अपितु अनन्त हैं। अर्थात् इनके विपाक का कोई अन्त (सीमा-अवधि) नहीं है। साथ ही उनका परिमाण भी इतना अधिक है कि महायान के बिना उनसे निस्तार पाना असम्भव है, अतः उन्हें 'दुःख-सागर' कहा गया है।

यदि यह सोचा जाए कि ऐसे उद्वेग की जरूरत नहीं है, उत्साहपूर्वक लम्बे समय तक पर्याप्त परिश्रम किया जाए तो सुगति (देव, मनुष्य आदि योनि) को प्राप्त कर किसी तरह उनसे निस्तार पाया जा सकता है ?

आचार्य कहते हैं कि ऐसा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उस सांसारिक अवस्था में बल की भी अत्यधिक कमी है, साथ ही, आयु भी थोड़ी है।

अपि च,

तत्रापि जीवितारोग्यव्यापारैः क्षुत्कलमश्रमैः ।

नद्रयोपद्रवैर्बालसंसर्गैर्निष्फलैस्तथा ॥ १६० ॥

वृथैवायुर्वहत्याशु विवेकस्तत्र दुर्लभः ।

दे० ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

उस थोड़ी आयु में भी जीने के लिए स्नान, मालिश, व्यायाम आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ (व्यापार) तथा स्वस्थ रहने के लिए या रोगों के आक्रमण से बचने के लिए कटु, तिक्त आदि अनेक प्रकार के भोजन, पान एवं औषधि-सेवन में समय नष्ट होता है। इनके अतिरिक्त भूख, थकावट, नींद, हँसी-मजाक, धक्का-मुक्की एवं साँप, बिच्छू, डंस, मच्छर आदि से उत्पन्न उपद्रवों के कारण कुशल पक्ष (पुण्य) का बिना संचय किए आयु नष्ट होते रहती है। इतना ही नहीं, कम-समझदार, अज्ञानी लोगों के साथ निन्दा-प्रशंसा एवं व्यर्थ बकवास में भी काफी समय बेकार नष्ट होता है। इस तरह उपर्युक्त मिथ्या प्रसंगों में शीघ्र ही आयु क्षीण हो जाती है। इन सब परिस्थितियों के विद्यमान रहते 'हेय क्या है उपादेय क्या है' ? इत्यादि के विवेक लिए अवसर पाना अत्यन्त दुर्लभ है। अर्थात् विवेक की प्राप्ति अत्यन्त मुश्किल है।

तत्राप्यभ्यस्तविक्षेपनिवारणगतिः कुतः ॥ १६१ ॥

तत्रापि मारो यतते महापायप्रपातने ।

तत्रासन्मार्गबाहुल्याद् विचिकित्सा च दुर्जया ॥ १६२ ॥

दे० ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥ ५८ ॥

देव'य'द'न'सो'द'के'व'स'र'की ।

हु'द'सु'र'स'नु'र'की'स'के'व'स'र'सु'र' ।

दे'र'की'स'र'स'र'स'र'स'र'स'र' ।

सो'के'स'स'र'स'र'स'र'स'र'स'र' । २७३ ।

ऊपर जितनी बाधाएँ कही गई हैं, उनके अलावा भी अन्य अनेक विपत्तियाँ हैं, जैसे कि हमने कामवितर्क, हिंसा-वितर्क आदि चित्त को चंचल करने वाले अनेक कारणों का अनादि काल से अभ्यास कर रखा है, उनको रोकने का उपाय क्या है ? अर्थात् ध्यान-भावना आदि करते समय चंचलता के कारण चित्त एकाग्र नहीं हो पाता । उसे नियन्त्रित करना कठिन है ।

किसी तरह सुगति प्राप्त भी हो जाए तो हमारे कुशलपक्ष को देखकर मार (देवपुत्र मार) इस कोशिश में लगा रहता है कि इन्हें कैसे महानरकों में गिरा दें ।

इतने पर भी दुनियाँ में चार्वाक, मोमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि इतने असत् मार्ग (मिथ्या पन्थ) विद्यमान हैं कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि सही मार्ग क्या है ? इस प्रकार की विचिकित्सा (संशय) पर विजय पाना भी कठिन होता है ।

पुनश्च क्षणदौर्लभ्यं बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः ।

क्लेशौघो दुर्निवारश्चेत्यहो दुःखपरम्परा ॥ १६३ ॥

क्ष'र'य'द'न'स'र'स'र'स'र'स'र' ।

स'र'स'र'स'र'स'र'स'र'स'र' ।

सु'र'स'र'स'र'स'र'स'र'स'र' ।

सो'के'स'स'र'स'र'स'र'स'र'स'र' । २७३ ।

और भी—किसी तरह सुगति (देव, मनुष्य) भूमि की प्राप्ति हो जाने पर भी आठ अक्षणों से (अनवसरों) से रहित क्षण (अवसर) की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ

१. नरक, प्रेत, तिर्यक् योनि में जन्म म्लेच्छ, लम्बी उम्र वाले देव, मिथ्या दृष्टि, बुद्ध का अभाव एवं मूकता—ये आठ अक्षण (अनवसर) हैं । इन अवस्थाओं में पुरुषार्थ सिद्ध कर पाना असम्भव होता है ।

है। किसी प्रकार इस तरह के क्षण की उपलब्धि हो जाने पर भी समस्त जगत् को ज्ञान का आलोक प्रदान करने वाले और समस्त दुःखों के मूल क्लेशरूपी शक्तियों का अपसारण करने वाले बुद्ध का उस समय लोक में उत्पाद अत्यन्त दुर्लभ है। संसार-रूपी सागर से पार उतारने का उपाय बताने वाले एकमात्र भगवान् तथागत ही हैं। लोक में उनका जन्म गूलर के फूल के समान अत्यन्त दुर्लभ होता है। किसी तरह बुद्ध का उत्पाद भी हो जाए फिर भी तृष्णा, अविद्या आदि क्लेशों का और जन्म-मरण आदि दुःखों का अविच्छिन्न प्रवाह अत्यन्त दुस्तर है। अर्थात् इससे निस्तार पाना अत्यन्त कठिन है। दुःखों की यह अनादि और अविराम परम्परा अत्यन्त खेदजनक है। एक दुःख की किसी तरह निवृत्ति होती है, तब तक दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है। अतः यह स्थिति देखकर आचार्य 'खेद' (अहो) प्रकट करते हैं।

वर्तमान में प्राणियों को अत्यन्त दुःखी देकर करुणा से आर्द्र हृदय वाले और उनके दुःखों से दुःखी ग्रन्थकार आचार्य शान्तिदेव उन (प्राणियों) के दुःखों पर चिन्ता प्रकट करते हुए कहते हैं—

अहो बतातिशोच्यत्वमेषां दुःखौघवर्तिनाम् ।

ये नेक्ष्यन्ते स्वदौःस्थित्यमेवमप्यतिदुःस्थिताः ॥ १६४ ॥

ने'क्ष्यन्'स्व'दौ'स्थि'त्य'मे'व'म'प्य'ति'दु'स्थि'ताः । ।

स्व'दौ'स्थि'त्य'मे'व'म'प्य'ति'दु'स्थि'ताः । ।

स्व'दौ'स्थि'त्य'मे'व'म'प्य'ति'दु'स्थि'ताः । ।

गु'ह्य'स्व'दौ'स्थि'त्य'मे'व'म'प्य'ति'दु'स्थि'ताः ॥ १६५ ॥

अफसोस, अपने हित और अहित को भी न जानने वाले ये प्राणी अनादि काल से दुःख-रूपी सागर की लहरों के थपेड़े खाते हुए डूब-उतरा रहे हैं। इनकी यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय (चिन्तनीय) है। इससे भी अधिक दुःखद बात तो यह है कि अविद्या (अज्ञान) से अन्धे बने हुए ये लोग अपनी इस दुरवस्था को देख भी नहीं पाते हैं। इसलिए इनको यह हालत अत्यन्त दुःखद है।

स्नात्वा स्नात्वा यथा कश्चिद् विशेद् वान्नि मुहुर्मुहुः ।

स्वसौस्थित्यं च मन्यन्ते एवमप्यतिदुःस्थिताः ॥ १६५ ॥

དེ་ལྟར་སྤྲུལ་བསྐྱེད་མེས་གཏུངས་ལ། །

བསོད་ནམས་སྒྲིན་ལས་ལེགས་བྱང་བའི།

རང་གི་བདེ་བའི་ཚོགས་ཆར་གྱིས། །

ཞི་བྱེད་པར་བདག་ནམ་ཞིག་འགྱུར། ༡༩༧༧ །

जिस प्रकार ऊपर वर्णन किया गया है, उस प्रकार के दुःखाग्नि से तप्त संसारी जीवों के ताप का कब मैं अपने द्वारा उपार्जित सुख के साधनों—अर्थात् वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, शयन, आसन आदि जो पुण्यरूपी मेघों से उपत्त हैं—से शमन करूँगा।

इस प्रकार दूसरों के अभ्युदय के लिए अपने मन के संकल्प का निरूपण करके उनके निःश्रेयस की कामना करते हुए आचार्य कहते हैं—

कदोपलम्भदृष्टिभ्यो देशयिष्यामि शून्यताम् ।

संवृत्यानुपलम्भेन पुण्यसम्भारमादरात् ॥ ६८ ॥

ནམ་ཞིག་དམིགས་པ་མེད་ཅེ་ན། །

གུས་པས་བསྟོད་ནམས་ཆོགས་བསགས་དེ། །

དམིག་བས་ཕྱང་བར་གྱུར་ནྟམས་ལ། །

ཕྱོང་བ་ཉིད་ནི་ཕྱོད་བར་འགྱུར། ༡༩༤ །

जिनमें भावों (पदार्थों) की सत्ता के प्रति अभिनिवेश (दृढ आग्रह) है, उन संसारि जीवों को कब मैं संवृति का आश्रयण करके सर्वधर्मनिःस्वभावता (शून्यता) का उपदेश करूँगा ? अर्थात् निःश्रेयस के हेतु ज्ञानसम्भार का कब प्रकाशन करूँगा । तथा ज्ञानसम्भार के निमित्त पुण्यसम्भार के अनुपलम्भदृष्टिपूर्वक संचय का भी आदरपूर्वक कब उपदेश करूँगा ?

संवृत्या—उपदेश हमेशा शब्दों के द्वारा दिया जाता है तथा शब्दोच्चारण से पूर्व मन में (विकल्प में) उस वस्तु का आकार आता है, जिस के लिए शब्द का प्रयोग करना है। इस तरह शब्द और विकल्प द्वारा ही देशना सम्भव होती है। स्थिति यह है कि परमार्थ शून्यता कभी भी शब्द और कल्पना का विषय नहीं होती। फिर कैसे शून्यता का उपदेश किया जा सकता है ? इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य ने 'संवृत्या' अर्थात् 'संवृति के द्वारा' इस शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः शून्यता का अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु कथन नहीं किया जा सकता। किन्तु बिना कथन किए काम नहीं चल सकता। कथन न किया जाए तो अज्ञानी लोगों को वस्तु की यथार्थ स्थिति का बोध कैसे होगा ? ऐसी स्थिति में शब्द को

सुनकर श्रोता के मन में और शब्द कहने से पूर्व वक्ता के मन में शून्यता का जो सामान्य आकार (सामान्य लक्षण) भासित होता है, उसी को आलम्बन बनाकर शब्द-व्यवहार किया जाता है। न केवल शून्यता के उपदेश में यह प्रक्रिया होती है, अपितु लोक के सारे शब्दव्यवहार सामान्य-आकार के आधार पर ही चलते हैं। आशय यह है कि सारे शब्दव्यवहार संवृति के क्षेत्र में ही होते हैं। परमार्थ में उन (शब्दों) की गति नहीं है। आचार्य नागार्जुन ने भी कहा है कि बिना संवृति का आश्रय लिए परमार्थ की देशना नहीं की जा सकती और बिना देशना के परमार्थ का बोध सम्भव नहीं है तथा बिना परमार्थ के निर्वाण की प्राप्ति नहीं की जा सकती। जैसे—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते^१ ॥

अनुपम्वेन—बुद्धत्व प्राप्ति का निमित्त केवल ज्ञानसम्भार (प्रज्ञा) ही नहीं है, अपितु उसके लिए पुण्यसम्भार भी अपेक्षित है। किन्तु दान, शील, क्षान्ति आदि पुण्यों का कितना भी अभ्यास किया जाए, चाहे जितना संचय किया जाए, जब तक वस्तु के प्रति उपलम्भ दृष्टि (सत्ता का अभिनिवेश) होती है, तब तक वह पुण्य-संचय बुद्धत्व की प्राप्ति का हेतु नहीं बन सकता। उससे स्वर्ग, सुगति आदि प्राप्त हो सकते हैं, बुद्धत्व नहीं। अतः दान आदि पारमिताओं को प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होना चाहिए। अर्थात् प्रज्ञा द्वारा वस्तु की निःस्वभावता को देखते हुए उसका दान देना चाहिए। प्रज्ञा द्वारा अवलोकन करने पर दाता, देय वस्तु तथा प्रतिग्राहक (दान लेने-वाला) तीनों की उपलब्धि नहीं होती, फिर भी दान होता है। ऐसा दान 'त्रिकोटि-परिशुद्ध' कहलाता है। इस तरह त्रिकोटिपरिशुद्ध पुण्यसम्भार बुद्धत्व का निमित्त होता है। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि अनुपलम्भपूर्वक पुण्यसम्भार का उपदेश मैं संसारी लोगों को कब दूंगा।

बोधिसत्त्व का उद्देश्य समस्त प्राणियों को बुद्धत्व प्राप्त कराना होता है। बुद्धत्व की प्राप्ति द्विविध (ज्ञान एवं पुण्य) सम्भारों से होती है। इसीलिए आचार्य इस अन्तिम कारिका में कहते हैं कि कब मैं शून्यता की देशना (ज्ञानसम्भार) करूंगा और कब पुण्यसम्भार की देशना करूंगा। अर्थात् लोगों को दोनों सम्भारों के अर्जन के लिए प्रेरित करके आचार्य उन्हें बुद्धत्व प्राप्त कराना चाहते हैं। यही बोधिसत्त्व का उद्देश्य होता है।

चरितं बोधिसत्त्वानां भाषायां सम्प्रकाश्य यत् ।

पुण्यं लब्धं मया तेन बुद्धः स्यादखिलो जनः ॥

॥ बोधिचर्यावतार में प्रज्ञापारमिता नामक नवम परिच्छेद समाप्त ॥

१. द्र०—मूल माध्यमिक कारिका, २४:१० पृ० २१६ (दरभंगा-संस्करण १९६०) ।

दशम परिच्छेद

परिणामना

अपने द्वारा अर्जित पुण्यों को किसी उद्देश्य-विशेष के लिए परिणामित कर देना 'परिणामना' कहलाता है। पापदेशना, पुण्यानुमोदना, परिणामना आदि बौद्ध-धर्मावलम्बियों की पूजा के अंग हैं। इसी परिपाटी के अनुसार प्रत्येक ग्रन्थकार ग्रन्थ-प्रणयन कृत्य से उत्पन्न पुण्यों की परिणामना करते हैं। परिणामना से पुण्य अक्षय हो जाता है। जैसे समुद्र में पतित जलबिन्दु तब तक समाप्त नहीं होती, जब तक समुद्र समाप्त नहीं होता, उसी तरह परिणामित पुण्यों का भी तब तक क्षय नहीं होता, जब तक अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता। बोधिसत्त्व प्रायः अपने पुण्यों की समस्त प्राणियों को बोधिप्राप्ति के लिए परिणामना करते हैं, अतः जब तक उन्हें बोधिप्राप्ति नहीं होती, तब तक उनका पुण्य भी अक्षुण्ण रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ बोधिचर्यावतार के रचयिता भी परिणामना करते हुए कहते हैं—

बोधिचर्यावतारं मे यद्विचिन्तयतः शुभम् ।

तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधिचर्याविभूषणाः ॥ १ ॥

सप्तमः सोमः सुदः कुवः सुदः सः ॥

सप्तमः सः सुदः सः सुदः सः ॥

सप्तमः सः सुदः सः सुदः सः ॥

सप्तमः सः सुदः सः सुदः सः ॥

बोधिचर्यावतार के चिन्तन-मनन और रचना करने से जो मुझे पुण्य प्राप्त हुए हैं, उनसे संसार के समस्त प्राणी बोधि की वास्तविक चर्या से विभूषित हो जाएँ, अर्थात् यथार्थ चर्या में प्रविष्ट हो जाएँ।

सर्वासु दिक्षु यावन्तः कायचित्तव्यथानुराः ।

ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः सुखप्रामोद्यसागरम् ॥ २ ॥

सुखस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

सुखस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

देवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

सदेवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ३ ।

सभी (दशों) दिशाओं में जितने भी प्राणी शारीरिक और मानसिक व्यथाओं से पीड़ित हैं, वे सभी मेरे इन पुण्यों से सुख (शारीरिक) और प्रमोद (मानसिक) के समुद्रों को प्राप्त करें। समुद्र जैसे कभी रिक्त नहीं होता, वैसे ही उन प्राणियों के शारीरिक और मानसिक सुख कभी समाप्त न हों।

आसंसारं सुखज्यानिर्मा भूतेषां कदाचन ।

बोधिसत्त्वसुखप्राप्तं भवत्वविरतं जगत् ॥ ३ ॥

देवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

सुखस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

देवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

सदेवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ३ ।

उन सभी प्राणियों के, जब तक वे संसार में रहें अर्थात् जब तक उनका आवागमन होता रहे, तब तक कभी भी (उनके) सुख की हानि न हो और यह सम्पूर्ण जगत् निरन्तर अविच्छिन्न रूप से बोधिसत्त्वों को प्राप्त होनेवाले अनुत्तर सुख से अन्वित हो ।

यावन्तो नरकाः केचिद् विद्यन्ते लोकधातुषु ।

सुखावतीसुखामोद्यैर्मोदन्तां तेषु देहिनः ॥ ४ ॥

देवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

सुखस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

देवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ।

सदेवस्य भूतस्य गुणस्य सत्त्वस्य सत्त्वस्य ४ ।

आकाशपर्यन्त लोकधातुओं में शीत, उष्ण आदि जितने भी नरक हैं, उनमें रहनेवाले जितने भी सत्त्व (प्राणी) हैं, वे सब नारकीय दुःखों से मुक्त होकर सुखावती लोक के सुखामोद से आनन्दित हों ।

शीतार्ताः प्राप्नुवन्तूष्णमुष्णार्ताः सन्तु शीतलाः ।

बोधिसत्त्वमहामेघसम्भवैर्जलसागरैः ॥ ५ ॥

गुण'वस'भूम'प्रण'द्वै'प्रव'प्रेम ।

गुण'कुव'सोमस'दम'द्वै'क'के'व'व' ।

गुण'व'द्वै'कु'व'म'प्र'व'व' ।

क'व'व'भूम'प्रण'व'व'व'व' ५ ।

बुद्बुद आदि आठ शीत-नरकों में जो प्राणी शीत से पीड़ित हैं, वे उष्णता को प्राप्त करें तथा जो नरक के ताप से पीड़ित हैं, वे बोधिसत्त्वरूपी महामेघों से उत्पन्न जल के समुद्रों से शीतलता प्राप्त करें ।

असिपत्रवनं तेषां स्यान्नन्दनवनद्युति ।

कूटशाल्मलिवृक्षाश्च जायन्तां कल्पपादपाः ॥ ६ ॥

व'व'व'व'व'व'व'व'v' ।

व'व'व'व'v'v'v'v'v'v' ।

व'v'v'v'v'v'v'v'v'v' ।

व'v'v'v'v'v'v'v'v'v' ६ ।

उष्ण-नरक के समीप स्थित असिपत्रवन (ऐसे वृक्षों का वन, जिनके पत्ते तलवार के समान धारदार हैं) भी उन नारकीय प्राणियों के लिए इन्द्र के नन्दनवन के समान हो जाए तथा कूट शाल्मली वृक्ष भी सभी मनोरथों को पूर्ण करनेवाले देवलोक के कल्पवृक्ष हो जाए ।

कादम्बकारण्डवचक्रवाक-

हंसादिकोलाहलरम्यशोभैः ।

सरोभिरुद्दामसरोजगन्धै-

भवन्तु हृद्या नरकप्रदेशाः ॥ ७ ॥

मसिद'रे'य'दु'र'स'र'ग'र'र'र'र'र'र' । ।
 स'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।
 स'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'r' । ।
 र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'r'r' ।

नरकों के वे प्रतिकूल (दुःख)-वेदनीय प्रदेश कादम्ब, कारण्डव, चक्रवाक, हंस आदि के कोलाहल से सुरम्य हों तथा सुगन्धित कमलों के सरोवरों से मनोहारी हो जाएँ ।

सोऽङ्गारराशिर्मणिराशिरस्तु

तप्ता च भूः स्फाटिककुट्टिमं स्यात् ।

भवन्तु सङ्घातमहीधराश्च

पूजाविमानाः सुगतप्रपूर्णाः ॥ ८ ॥

स'र'र'र'र'र'r'r'r' ।

स'र'र'र'r'r'r' ।

स'र'r'r'r' ।

स'r'r'r' ।

नारकीय अङ्गार-राशि विविध मणियों की राशि हो जाएँ । तप्त (लौह) भूमि स्फटिक मणि से निर्मित फर्श बन जाए । सङ्घात नामक नरक के (लौहमय) पर्वत बुद्ध-पूजा के विमानों के रूप में परिवर्तित हो जाएँ तथा बुद्धों से अधिष्ठित (पूर्ण) हो जाएँ ।

अङ्गारतप्तोपलशस्त्रवृष्टि-

रद्यप्रभृत्यस्तु च पुष्पवृष्टिः ।

तच्छस्त्रयुद्धं च परस्परेण

क्रीडार्थमद्यास्तु च पुष्पयुद्धम् ॥ ९ ॥

स'र'r'r' ।

र'r'r' ।

स'r'r' ।

र'r'r' ।

अङ्गार, जलते पत्थर और शस्त्रों की वर्षा आज से पुष्पवृष्टि हो जाएँ तथा सञ्जीव आदि नरकों में होनेवाले पारस्परिक शस्त्रयुद्ध भी आज से क्रीडा के लिए पुष्प-युद्ध हो जाएँ ।

पतितसकलमांसा कुन्दवर्णास्थिदेहा

दहनसमजलायां वैतरण्यां निमग्नाः ।

मम कुशलबलेन प्राप्तदिव्यात्मभावाः

सह सुरवनिताभिः सन्तु मन्दाकिनीस्थाः ॥ १० ॥

कुर्वेत्सर्वमेवमेवेदं नृप नृप नृप नृप नृप ।

नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप ।

नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप ।

नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप १० ।

अग्नि के समान दहकते जलवाली वैतरणी (नरक की) नदी में डूबे हुए, अथ च, जिनका सारा का सारा मांस (गल कर) गिर जाने के कारण जो कुन्द पुष्प के समान सफेद हड्डियों के ढाँचे मात्र रह गए हैं, वे प्राणी भी मेरे पुण्यों के बल से दिव्य शरीर पाकर सुरांगनाओं के साथ मन्दाकिनी (के जल) में विहार करें ।

त्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मादिह यमपुरुषाः काकगृध्राश्च घोरा

ध्वान्तं ध्वस्तं समन्तात् सुखरतिजननी कस्य सौम्या प्रभेयम् ।

इत्यूर्ध्वं प्रेक्षमाणा गगनतलगतं वज्रपाणिं ज्वलन्तं

दृष्ट्वा प्रामोद्यवेगाद् व्यपगतदुरिता यान्तु तेनैव सार्धम् ॥ ११ ॥

उत्तिष्ठन् नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप ।

नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप ।

नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप ।

नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप नृप ।

नृप नृप नृप ११ ।

भयङ्कर यमदूत, काक (कोए) और गृध्र (गीध) भयभीत हो देखें कि यह नरक में अकस्मात् परिवर्तन कैसे हो गया, यहाँ का सारा अन्धकार नष्ट हो गया तथा सुख (कायिक सुख) और प्रीति (मानसिक आनन्द) देने वाली यह सौम्य प्रभा किसकी है ? ऐसा सोच-विचार करते हुए नरक के प्राणी ऊपर आकाशतल में निहारते हुए तेजस्वी वज्रपाणि (बोधिसत्त्व) को देख कर मुदिता के वेग से पापरहित होकर उन्हीं के साथ विचरण करें ।

पतति कमलवृष्टिर्गन्धपानीयमिश्राऽ—

शमितनरकवर्ह्नि दृश्यते नाशयन्ती ।

किमिदमिति सुखेनाह्लादितानामकस्माद्

भवतु कमलपाणेर्दर्शनं नारकाणाम् ॥ १२ ॥

सिंहा'क'स'स्र'कु'र'र'र'र'र'र'र' ।

र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र'र' ।

सिंहा'क'स'स्र'कु'र'र'र'र'r'r' ।

सिंहा'क'स'स्र'कु'र'र'र'r'r' १३ ।

सुगन्धित जल के साथ कमल-पुष्पों की वृष्टि हो रही है और नरक की दहकती आग बुझती दिखाई पड़ रही है, यह क्या ? क्यों हम अकस्मात् सुख से आह्लादित हो गए हैं ?—ऐसा तर्क-वितर्क करते हुए (ऊपर देखने पर) नारकीयों को कमल-पाणि (बोधिसत्त्व) का दर्शन हो ।

आयातायात शीघ्रं भयमपनयत भ्रातरो जीविताः स्मः

सम्प्राप्नोऽस्माकमेष ज्वलदभयकरः कोऽपि चोरीकुमारः ।

सर्वं यस्यानुभावाद् व्यसनमपगतं प्रीतिवेगाः प्रवृत्ताः

जातं संबोधिचित्तं सकलजनपरित्राणमाता दया च ॥ १३ ॥

सिंहा'क'स'स्र'कु'र'र'r'r' ।

सिंहा'क'स'स्र'कु'र'र'r'r' ।

सिंहा'क'स'स्र'कु'र'r'r' ।

सिंहा'क'स'स्र'कु'र'r'r' १३ ।

आओ, शीघ्र आओ, सारे भय दूर करो, भाइयो, जान बच गई। हमारे लिए यह कोई तेजस्वी, अभयकारी, चौरधारी कुमार आ पहुँचा है, जिसके प्रताप से हमारा सम्पूर्ण दुःख दूर हो गया, प्रीतिवेग उमड़ पड़ा, संबोधि-चित्त उत्पन्न हो गया और समस्त प्राणियों को त्राण देने वाली माँ दया (करुणा) उत्पन्न हो गई है।

पश्यन्त्वेनं भवन्तः सुरशतमुकुटैरर्च्यमानाङ्घ्रिपद्मं

कारुण्यादाद्रदृष्टिं शिरसि निपतितानेकपुष्पौघवृष्टिम् ।

कूटागारैर्मनोज्ञैः स्तुतिमुखरसुरस्त्रीसहस्रोपगीतै-

दृष्ट्वाग्रे मञ्जुघोषं भवतु कलकलः साम्प्रतं नारकाणाम् ॥ १४ ॥

བྱེད་ཀྱིས་ལྷ་བཟུའི་ཅིང་བན་དག་གིས་ཞབས་ཀྱི་བརྩོ་ལ་མཆོད་ཅིང་། །

ཐུགས་རྗེས་བཞུན་ཐུན་དབྱ་ལ་མེ་རྟོག་དུ་མཛི་ཚོགས་ཀྱི་རྒྱ་འབབས་པ། །

ཁང་བཅེགས་པོར་འོང་ཞི་ཕྱོད་ཀྱི་ཡུག་བཟོན་རྒྱལ་མ་ཚུགས་ཐུན་འཛི་ཏུ་མ་ཞེས།

འཇམ་དབྱངས་དེ་འདྲ་མཐོང་ནས་ད་ནི་སེམས་དབྱུང་ཅ་ཅོ་འདྲན་པར་གྱུ་ ༡༥ །

स्तुति करने के कारण मुखर सुरांगनाओं के हजारों-हजार गीतों से युक्त मनोहर कूटागारों के साथ बोधिसत्त्व मञ्जुघोष को अपने आगे देख कर नारकीय सत्त्वों में यों कलकल हो—आप सब इन्हें (मञ्जुघोष को) देखिए, इनके चरण-कमल देवताओं के शत-शत मुकुटों से पूजित हो रहे हैं, इनके मस्तक पर नानाविध पुष्पसमूहों की वृष्टि हो रही है तथा इनकी आँखें करुणा से आर्द्र हैं ।

इति मत्कुशलैः समन्तभद्र-

प्रमुखानावृतबोधिसत्त्वमेघान् ।

सुखशीतसुगन्धवातवृष्टी-

नभिनन्दन्तु विलोचय नारकास्ते ॥ ६५ ॥

དེ་ལྟར་བདག་གི་དགེ་ཕྱིན་དུ་བཟང་ལ་སོགས། །

བྱང་རྒྱལ་སེམས་དཔའ་སྒྲིབ་པ་མེད་སྒྲིན་བདེ་བ་དང་། །

བསེལ་ཞིང་དྲི་ཞིམ་ངད་ལྷན་ཆར་བ་འབེབས་མགྱོང་ནས། །

སེམས་ཅན་དཔྱལ་བ་དེ་དག་མངོན་པར་དགའ་བྱུང་ཅིག ༡༥ ।

सन्तर्प्यन्तां प्रेताः स्नाप्यन्तां शीतला भवन्तु सदा ।

आर्यावलोकितेश्वरकरगलितक्षीरधाराभिः ॥ १८ ॥

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

ॐ नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ॥ १८ ॥

आर्य अवलोकितेश्वर (बोधिसत्त्व) के करकमलों से निःसृत (अमृतरूपी) दुग्ध-धाराओं से प्रेत (भूख और प्यास से) अच्छी तरह हमेशा तृप्त हों, उससे स्नान करें तथा शीतलता का अनुभव करें ।

अन्धाः पश्यन्तु रूपाणि शृण्वन्तु बधिराः सदा ।

गर्भिण्यश्च प्रसूयन्तां मायादेवीव निर्व्यथाः ॥ १९ ॥

गच्छेत् सुखं नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ॥ १९ ॥

अन्धे (चक्षु इन्द्रिय प्राप्त कर) सदा रूप को देखें, बहरे सदा शब्द सुनें तथा गर्भवती स्त्रियाँ माया देवी (भगवान् बुद्ध की माता) की भाँति बिना कष्ट के प्रसव करें ।

वस्त्रभोजनपानीयं स्रक्चन्दनविभूषणम् ।

मनोऽभिलषितं सर्वं लभन्तां हितसंहितम् ॥ २० ॥

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ।

नमः शिवाय नमः शिवाय नमः शिवाय ॥ २० ॥

निर्वस्त्र लोगों को वस्त्र, भूखे को भोजन एवं प्यासे को मधुर पेय प्राप्त हों तथा स्रक् (माला), चन्दन, आभूषण और समस्त हितकारी मनोरथों का सभी को लाभ हो ।

भीताश्च निर्भयाः सन्तु शोकार्ताः प्रीतिलाभिनः ।

उद्विग्नाश्च निरुद्वेगा धृतिमन्तो भवन्तु च ॥ २१ ॥

सोमस'उक्'वद'स'ई'हो'द'स' ।

श्रु'द'व'वद'स'स'स'स'स' ।

सो'स'स'वद'व'स'स'स' ।

द'स'स'स'स'स'स'स'स' ३१ ।

भयभीत लोग निर्भय हों (दरिद्र लोग धन प्राप्त करें), शोक से पीड़ित (मानसिक) सुख प्राप्त करें, उद्विग्न जन उद्वेग से रहित हों एवं धृति (धैर्य) को प्राप्त करें ।

आरोग्यं रोगिणामस्तु मुच्यन्तां सर्वबन्धनात् ।

दुर्बला बलिनः सन्तु स्निग्धचित्ताः परस्परम् ॥ २२ ॥

सो'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सो'स'स'स'स'स'स'स' ३२ ।

रोगी जन आरोग्य प्राप्त करें, बन्धन में पड़े लोग सभी बन्धनों से मुक्त हों, दुर्बल लोग बलवान् हों तथा परस्पर (आपस में) स्नेहपूर्ण चित्तवाले हों ।

सर्वा दिशः शिवाः सन्तु सर्वेषां पथि वर्तिनाम् ।

येन कार्येण गच्छन्ति तदुपायेन सिध्यन्तु ॥ २३ ॥

सम्राज्यं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

सुमन्त्रं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

नृपतिं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

नृपतिं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ३३ ।

सभी राहगीरों की सभी दिशाएँ मङ्गलमय हों जो जिस कार्य से जा रहे हैं, उनका वह कार्य उपाय से सिद्ध हो ।

नौयानयात्रारूढाश्च सन्तु सिद्धमनोरथाः ।

क्षेमेण कूलमासाद्य रमन्तां सह बन्धुभिः ॥ २४ ॥

सुन्दरं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

नृपतिं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

सुन्दरं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

नृपतिं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ३८ ।

नौयान (जहाज) से यात्रा करनेवालों के मनोरथ सिद्ध हों । अर्थात् समुद्र में रत्न आदि की खोज में निकले लोगों को प्रभूत मात्रा में रत्न, स्वर्ण आदि प्राप्त हों । वे सकुशल तट पर पहुँच कर अपने भाई-बन्धुओं के साथ रमण (विहार) करें ।

कान्तारोन्मार्गपतिता लभन्तां सार्थसङ्गतिम् ।

अश्रमेण च गच्छन्तु चौरव्याघ्रादिनिर्भया ॥ २५ ॥

सुन्दरं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

नृपतिं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

सुन्दरं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ।

नृपतिं च नृपतिं प्रमत्तं च नृपम् ३५ ।

कान्तार (अर्थात् मरुस्थल या महारण्य, जिसमें चोर, डाकुओं आदि का भय हो) में फँसे और राह-भटके लोगों को काफिले का साथ मिल जाए, वे चोर,

समसः उरः नमः सान्द्रः सङ्गेनः वल्लिः ॥ १८ ॥

सिद्धः सुखः कृतः सः सितः सः सितः ॥

सुखः सः सितः सितः सितः सितः ॥

सः सः सः सः सितः सितः सितः ॥ १९ ॥

निर्धन लोग गगनगञ्ज (आकाशव्यापी कोष अथवा गगनगञ्ज समाधि) के समान कभी समाप्त न होनेवाली सम्पत्ति के (अक्षय) कोष को प्राप्त करें। सभी लोग परस्पर द्वन्द्व (कलह आदि) से रहित हो, उपायास^१ अर्थात् अधिक मात्रा में कायिक और मानसिक दुःख से रहित हों तथा स्वतन्त्र आचरण करने वाले हों अथवा सबकी वृत्ति (जीविका) अपने अधीन हो।

अल्पौजसश्च ये सत्त्वास्ते भवन्तु महौजसः ।

भवन्तु रूपसम्पन्ना ये विरूपास्तपस्विनः ॥ २० ॥

सोमसः उरः नमः सान्द्रः सङ्गेनः वल्लिः ॥

सिद्धः सुखः कृतः सः सितः सः सितः ॥

सुखः सः सितः सितः सितः सितः ॥

सः सः सः सः सितः सितः सितः ॥ २१ ॥

जो प्राणी अल्प ओजस्वी हैं, वे महान् ओजस्वी हों, जो बेचारे शीत-आतप आदि से पीड़ित होने के कारण कुरूप (मलिन कान्ति वाले) हैं, वे रूपशोभा से सम्पन्न हों।

याः काश्चन स्त्रियो लोके पुरुषत्वं व्रजन्तु ताः ।

प्राप्नुवन्तु च तानि नोचा हतमाना भवन्तु च ॥ २२ ॥

१. चित्तस्य परिदहना कायस्य विसादना च अधिमत्तं ।

यं दुःखमुपायासो जनेति दुःखो ततो वृत्तो ॥

द्र०-विभङ्ग-अट्ठकथा सम्मोहविनोदनी, पृ० १०८ (नालन्दा-संस्करण १९६१) ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ३० ।

लोक में जितनी भी स्त्रियाँ हैं, वे पुरुषत्व को प्राप्त करें, लोक में जो नीच हैं, वे उच्चता को प्राप्त करें और अभिमानरहित हों,

अनेन मम पुण्येन सर्वसत्त्वा अशेषतः ।

विरम्य सर्वपापेभ्यः कुर्वन्तु कुशलं सदा ॥ ३१ ॥

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ३१ ।

मेरे इस पुण्य से सभी प्राणी प्राणातिपात, अदत्तादान आदि समस्त पापों से सर्वथा विरत होकर हमेशा कुशल कर्मों का अनुष्ठान करें ।

बोधिचित्ताविरहिता बोधिचर्यापरायणाः ।

बुद्धैः परिगृहीताश्च मारकर्मत्रिर्वाजिताः ॥ ३२ ॥

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ।

ॠ॒त्त॒मा॒ह॒न्त्सु॒त॒मे॒ह॒न्त्सु॒त॒मा॒ ३२ ।

वे कभी बोधिचित्त से विरहित न हों, हमेशा दान, शील आदि बोधिचर्या के अभ्यास में लगे रहें, उन प्राणियों पर बुद्धों (कल्याणमित्रों) का अनुग्रह हो तथा पुण्यसंचय में विघ्नकारक मार-कर्मों से वे दूर रहें ।

अप्रमेयायुषश्चैव सर्वसत्त्वा भवन्तु ते ।

नित्यं जीवन्तु सुखिता मृत्युशब्दोऽपि नश्यतु ॥ ३३ ॥

སེམས་ཅད་དེ་དག་ཐམས་ཅད་ནི། །

ཆེ་ཡང་དཔག་མེད་རིང་པར་ཤོག།

དྲལ་དུ་བདེ་བར་འཛོལ་བྱུང་ཞིང་། །

འཆི་བའི་ལྷ་ཡང་གྲགས་མ་གྱར། ༣༣ །

सभी प्राणियों की अपरिमित (अपार) आयु हो, वे सुखपूर्वक जीवन-यापन करें तथा 'मृत्यु' यह शब्द भी नष्ट हो जाए।

रम्याः कल्पद्रुमोद्यानैः दिशः सर्वा भवन्तु च ।

बुद्धबुद्धात्मजाकीर्णा धर्मध्वनिमनोहरैः ॥ ३४ ॥

དཔག་བསམ་ཤིང་གི་སྤྱོད་མེས་ཆེ། །

མངས་བྱས་དང་ཉི་མངས་བྱས་ལྟས། །

ཆེས་སྒྲུབ་སྒྲོགས་པས་གང་བ་ཡིས། །

ཕྱགས་ནམས་ཐམས་ཅད་གང་པར་ཞེས། ༣༧ །

सभी दिशाएँ बुद्ध और बोधिसत्त्वों (बुद्धात्मजों) से व्याप्त, धर्मध्वनि से मनोहर (अनुगुंजित) तथा कल्पवृक्षों के उपवनों से रमणीय हों ।

शर्करादिव्यपेता च समा पाणितलोपमा ।

मद्वी च वैडूर्यमयी भूमिः सर्वत्र तिष्ठतु ॥ ३५ ॥

ཐམས་ཅད་དེ་ནི་ས་གཞི་དལ།

གཤམ་མ་ལ་སྟོགས་མེད་པ་དང་། །

ལག་མཐོལ་ལྟར་མཉམ་བེད་ཀྱི།

རང་བཞིན་འཇམ་པོར་གནས་གྱུར་ཅིག ༣༥ །

यह सम्पूर्ण भूमि सर्वत्र (सभी जगह) काँटे-कंकड़, रोड़े आदि से रहित, हथेली के समान समतल, मृदु और वैज्ञर्यमयी हो जाए ।

इन्हें (प्राणियों को) बुद्ध और बोधिसत्त्वों (बुद्धसुतों) का नित्य (सदा) समागम प्राप्त हो तथा वे अनन्त पूजा-मेघों से जगद्गुरु भगवान् बुद्ध की पूजा करें ।

देवो वर्षतु कालेन सस्यसम्पत्तिरस्तु च ।

स्फीतो भवतु लोकश्च राजा भवतु धार्मिकः ॥ ३९ ॥

ह्रस्व'गुण'दुस्'सु'कर'अवेवस'सि' । ।

अ'दमा'सुव'सुव'कैवस'स'अ' ।

सु'अ'अ'कैव'स'वैव'सु'द'सु'अ' ।

अ'दमा'देव'दमा'गुण'द'स'स'अ' ३० ।

(धर्माचरण में अनुकूलता के लिए) देव (मेघ) समय पर बरसें, खेती में धान्य सुसम्पन्न हों, लोक सुसमृद्ध हो तथा राजा धर्म का अनुसरण करनेवाला हो ।

शक्ता भवन्तु चौषध्यो मन्त्राः सिध्यन्तु जापिनाम् ।

भवन्तु करुणाविष्टा डाकिनीराक्षसादयः ॥ ४० ॥

ह्रस्व'कैवस'स'सु'द'अ'व'स'द' । ।

मा'स'सु'मा'स'सु'स'अ'द'सु'स'स'अ' ।

मा'स'अ'सु'स'स'अ'अ'स'स'स' । ।

ह्रस्व'दे'दे'स'स'स'द'अ'व'सु'अ' । ८० ।

औषधियाँ रोग-शमन में प्रभावी हों, लौकिक, लोकोत्तर सिद्धियों के लिए मन्त्रजप का जिस प्रकार उल्लेख है, जपने वालों को उसी प्रकार सिद्धि प्राप्त हो, डाकिनी और राक्षस आदि सत्त्वों का चित्त करुणा से परिपूर्ण हो ।

मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो मा पापी मा च रोगितः ।

मा होनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः ॥ ४१ ॥

स'स'अ'अ'अ'अ'अ'अ'अ'अ' ।

स'स'अ'अ'अ'अ'अ'अ'अ' ।

अ'दमा'स'द'अ'अ'अ'अ'अ'अ' ।

अ'दमा'अ'अ'अ'अ'अ'अ' । ८१ ।

कोई भी प्राणी दुःखी न हो, न पापी हो, न रोगी हो, कोई भी हीन न हो, तिरस्कृत न हो और कोई भी प्राणी दुष्ट चित्त वाला न हो ।

पाठस्वाध्यायकलिला विहाराः सन्तु सुस्थिताः ।

नित्यं स्यात् सङ्घसामग्री सङ्घकार्यं च सिध्यतु ॥ ४२ ॥

मार्तुमा'यमा'मर'कमसा'म्लोमा'स'र' । ।

म'र'क'म्लोमा'म्लोमा'म्लोमा'म्लोमा'म्लोमा' ।

र'मा'र'मा'र'मा'र'मा'र'मा'र'मा' । ।

र'मा'र'मा'र'मा'र'मा'र'मा'र'मा' ८२ ।

संघ के लिए परिणामना—विहार (और उनमें रहनेवाले भिक्षु-संघ) बुद्ध-वचन और उनके व्याख्यान-ग्रन्थों के पठन-पाठन और स्वाध्याय से सदा व्याप्त रहते हुए भलीभाँति स्थित रहें, संघ की समग्रता सर्वदा बनी रहे, अर्थात् उनमें परस्पर कलह-संघर्ष आदि न हों अर्थात् संघभेद न हो तथा सत्त्वहित के लिए जो भी कार्य संघ को अभिप्रेत (इष्ट) हो, वह कार्य तदनु रूप ही सिद्ध हो ।

विवेकलाभिनः सन्तु शिक्षाकामाश्च भिक्षवः ।

कर्मण्यचित्ता ध्यायन्तु सर्वविक्षेपवर्जिताः ॥ ४३ ॥

म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा' । ।

म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा' । ।

म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा' । ।

म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा'म'म्लोमा' ८३ ।

प्रव्रजितों के लिए परिणामना—भिक्षुगण विवेक (शील की रक्षा के लिए कायविवेक) के लाभी हों, अर्थात् उन्हें शोरगुल से रहित एकान्त स्थान प्राप्त हो, तथा वे अपनी शिक्षाओं की यथोचित रक्षा चाहनेवाले हों, भिक्षु-गण सभी प्रकार के मानसिक विक्षेपों से रहित हों, कर्मण्यचित्त होकर अर्थात् कायप्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि से युक्त होकर ध्यान करें अर्थात् कुशल की भावना करें ।

लाभिन्यः सन्तु भिक्षुण्यः कलहायासवर्जिताः ।

भवन्त्वखण्डशीलाश्च सर्वे प्रव्रजितास्तथा ॥ ४४ ॥

དགེ་སྤྱོད་མ་རྣམས་ཉིད་ལྷན་ཞིང་། །

འཕྲུབ་དང་གཞི་དཔ་སྤངས་པར་གྱེག།

དེ་བཞིན་རབ་དྲ་བྱུང་བ་ཀླན། །

ཆེད་སྒྲིམས་ཉམས་པ་མེད་ལྟར་ཅིག །

भिक्षुणियों को उचित लाभ-सत्कार आदि प्राप्त हों, वे पारस्परिक कलह और दुर्भावनाओं से दूर रहें, उसी प्रकार सभी प्रव्रजितों का शील खण्डित न हो ।

दुःशीलाः सन्तु संविग्नाः पापक्षयरताः सदा ।

सुगतेर्लाभिनः सन्तु तत्र चाखण्डितव्रताः ॥ ४५ ॥

ཚུལ་བྱིམས་འཆལ་བའི་ཡིད་བྱུང་ནས། །

དྲིལ་ཏུ་སྒྲིལ་པ་ཟད་བྱེད་ཤོལ།

བདེ་འགྲོ་དག་ཀྱང་ཐོབ་གྱུར་ནས། །

དེར་ཡང་བརྟེན་ཞུགས་མི་ཉམས་ཤིག ལ་ ।

दुःशील (दुराचारी) लोगों को अपने दुराचरण के प्रति संवेग (ग्लानि) हो तथा उसके लिए पश्चात्ताप करके वे उन पापों के क्षय में हमेशा लगे रहें, इससे दूसरे जन्मों में वे सुगति (देव, मनुष्य योनि) के लाभी हों तथा वहाँ (सुगति भूमि में) उनका शीलव्रत खण्डित न हो ।

पण्डिताः सत्कृताः सन्तु लाभिनः पैण्डपातिकाः ।

भवन्तु शुद्धसन्तानाः सर्वदिक्ख्यातकीर्तयः ॥ ४६ ॥

མཁས་པ་རྣམས་ནི་བཀྲར་བ་དང་། །

བསོད་སྟོམས་དག་ཀྱང་རྟེན་པར་ཤོག །

གྱུད་ནི་ཡོངས་སུ་དག་པ་དང་། །

ཕྱོགས་ནམས་ཀྱི་དུ་བྲགས་པར་བྱེད། ༥༩ །

सुदं कुव'सोमस'द्वद'क्षस'गुस'की ।

दस्रो'दे'सुमस'द'दस'दसुव'वेमा ।

सस्रो'वे'सोस'की'द'दस'द' ।

सोमस'उव'क्षस'द'द'दे'दसुव'वेमा ८० ।

जगत् का कल्याण करने के लिए बोधिसत्त्वों के जैसे और जो-जो मनोरथ हों, वे सभी मनोरथ सिद्ध हों। प्राणि-हित के लिए वे नाथ (बोधिसत्त्व) जो भी सोचते हों, उनके सोचने के अनुसार ही सभी सत्त्वों को सब कुछ सम्पन्न हो जाए।

प्रत्येकबुद्धाः सुखिनो भवन्तु श्रावकास्तथा ।

देवासुरनरैर्नित्यं पूज्यमानाः सगौरवैः ॥ ५० ॥

दे'स'वे'द'द'स'स'स'क्ष'क्ष'द' ।

उव'वे'क्ष'क्ष'गु'द'द'स'स' ।

द'द'गु'द'द'स'स'द'द'स'स' ।

स'द'द'द'द'स'स'स'स' । ५० ।

सभी प्रत्येकबुद्ध एवं श्रावक-अर्हत् भी उसी प्रकार सुखी (शान्ति के लाभी) हों, तथा देव, असुर और मनुष्यों के द्वारा वे गौरव के साथ हमेशा पूजित हों।

अपने लिए परिणामना

जातिस्मरत्वं प्रव्रज्यामहं च प्राप्नुयां सदा ।

यावत् प्रमुदिताभूमिं मञ्जुघोषपरिग्रहात् ॥ ५१ ॥

द'द'द'द'स'स'द'द' ।

द'द'द'द'स'स'स' ।

द'द'द'द'स'स' ।

उव'क्ष'क्ष'द'द'स'स' । ५१ ।

बोधिसत्त्व मञ्जुघोष के अनुग्रह से (तथा अपने पुण्यों के बल से) जब तक मुझे प्रमुदिता भूमि प्राप्त न हो, तब तक हमेशा पूर्वजन्मों का स्मरण बना रहे और सभी जन्मों में प्रव्रज्या (जो सभी सद्गुणों का आधार है) प्राप्त हो।

येन तेनाशनेनाहं यापयेयं बलान्वितः ।
विवेकवाससामग्रीं प्राप्नुयां सर्वजातिषु ॥ ५२ ॥

कै'र'स'गु'र'दु'द'वे'र'ग'र'स'वा ।
सु'र'सु'र'सु'र'स'सु'र'स'सु'र' ।
म'र'कै'र'स'स'र'द'र'द'र'स' ।
सु'र'सु'र'सु'र'स'सु'र'स'सु'र' । ५२ ।

जैसा भी (थोड़ा और साधारण भी) भोजन मिले, उसे खाकर मैं जीवित रहूँ, उसी से स्वस्थ एवं सबल रहूँ और सभी जन्मों में मुझे पूर्ण विवेक (काय और चित्त का एकान्त) अर्थात् एकान्तवास प्राप्त हो ।

यदा च द्रष्टुकामः स्यां प्रष्टुकामश्च किञ्चन ।
तमेव नाथं पश्येयं मञ्जुनाथमविघ्नतः ॥ ५३ ॥

म'म'र'स'र'द'र'स'सु'र'स'सु'र'स' ।
म'म'र'स'स'र'स'स'स'स'स'स' ।
सु'र'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।
स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ५३ ।

जब मुझे देखने या (बुद्ध वचनों के अर्थ) पूछने की इच्छा हो तो उन प्रभु मञ्जुनाथ का बिना विघ्न-बाधा के साक्षात्कार हो ।

दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने ।
यथा चरति मञ्जुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम ॥ ५४ ॥

स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।
स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।
स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।
स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ५४ ।

दशों दिशाओं के आकाशपर्यन्त समस्त प्राणियों के हित-साधन के लिए जिस प्रकार की चर्या मञ्जुश्री की होती है, मेरी भी चर्या वैसी ही हो ।

आकाशस्य स्थितिर्यावद् यावच्च जगतः स्थितिः ।

तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः ॥ ५५ ॥

दे'क्षी'द'व'द'मा'र्'वा'न'स'सु'र'व'स' ।

२'सु'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु' ।

२'सु'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु' ।

दे'गु'व'व'द'मा'र्'वा'न'स'सु'र'व'स' ५५ ।

जब तक आकाश स्थित है और जब तक संसार (प्राणियों का आवागमन) रहे, तब तक जगत् के दुःखों का नाश करते हुए मेरी भी स्थिति बनी रहे ।

यत्किञ्चिद् जगतो दुःखं तत् सर्वं मयि पच्यताम् ।

बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ॥ ५६ ॥

सु'द'कु'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु' ।

२'सु'व'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु' ।

२'सु'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु' ।

व'दे'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु'व'सु' । ५६ ।

जगत् का जो कुछ भी दुःख है, वह सब मैं भोगूँ और बोधिसत्त्व के सभी गुणों से सारा जगत् (सभी सत्त्व) सुखी हो ।

जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसम्पत्सुखाकरम् ।

लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम् ॥ ५७ ॥

व'सु'व'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु' ।

व'सु'व'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु' ।

व'सु'व'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु' ।

व'सु'व'व'दे'क्षु'मा'व'सु'व'सु'व'सु' । ५७ ।

बुद्धशासन की चिरस्थिति के लिए परिणामना

जगत् के दुःखों के निवारण के लिए एकमात्र औषध, सभी प्रकार की सम्पत्ति और सुखों की एकमात्र खान (आकर) जो भगवान् बुद्ध का शासन (धर्म) है, वह चिरकाल तक स्थित रहे ।

मञ्जुघोषं नमस्यामि यत्प्रसादान्मतिः शुभे ।

कल्याणमित्रं वन्देऽहं यत्प्रसादाच्च वर्धते ॥ ५८ ॥

मम'मी'द्वि'श्री'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

सु'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' ।

स'स'स'स'स'स'स'स'स'स'स' । ५८ ।

कृतज्ञता ज्ञापन

जिनकी कृपा से पुण्य-कार्य में बुद्धि प्रवृत्त होती है, अर्थात् जिनकी कृपा से बोधिचित्त का उत्पाद, बोधिचर्या का अभ्यास और बोधिचर्यावतार नामक इस ग्रन्थ के प्रणयन में मेरी बुद्धि प्रवृत्त हुई है, उन प्रभु मञ्जुघोष को मैं प्रणाम करता हूँ तथा जिन कल्याणमित्रों की कृपा से पुण्य-अनुष्ठान (श्रुत, चिन्ता, भावना आदि कुशल पक्ष) की वृद्धि होती है, अर्थात् जिनकी कृपा से मेरा कुशल पक्ष बढ़ा है, जिनसे इसकी प्रेरणा मिली है, उन कल्याणमित्रों को भी मैं शिरसा नमन करता हूँ ।

॥ बोधिचर्यावतार में 'परिणामना' नामक दशम परिच्छेद समाप्त ॥

❀ भवतु सर्वमङ्गलम् ❀

बोधिचर्यावतार : श्लोकार्थानुक्रमणी

अकस्मान्मृत्युरायातो ७।८, २१८
 अकारणेनैव रिपुधतानि ४।३९, १०१
 अकुर्वतश्च कुशलं ४।१९, ९२
 अकृष्टजातानि च २।५, ३७
 अगणितशरशक्तिः ४।३७, १००
 अङ्कुरादन्यतो ज्ञानाद् ९।११६, ४८७
 अङ्कुरो जायते बीजाद् ९।११५, ४८६
 अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य २।४४, ५४
 अङ्गारतप्तोपलशस्त्रवृष्टिः १०।९, ५४८
 अचित्तके कृता पूजा ९।३९, ३९४
 अचिन्त्यबौद्धसौख्येन १०।४८, ५६४
 अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वं ९।१२१, ४९८
 अचेतनश्च नैवाहम् ९।६९, पृ० ४३२
 अचेतनं स्वभावेन ८।५४, २७१
 अचेतने च वस्त्रादौ ९।१३०, ५०९
 अच्छटादि तु कर्तव्यम् ५।९२, १४७
 अजरामरलीलानाम् ९।१६६, ५४२
 अजातमनिरुद्धं च ९।१५०, ५२१
 अज्ञस्य निष्क्रियस्यैवं ९।७०, ४३३
 अज्ञानानां यदि ज्ञानं ९।६२, ४२४
 अत एव न मे परार्थचिन्ता १।२, ८
 अत एव विचारोऽयं ९।९३, ४६६
 अत एवाह भगवान् ४।२०, ९२
 अतः परं प्रतिष्ठन्तां २।२०, ४४
 अतः परार्थं कृत्वापि ८।१०९, २९८
 अतः सुषुप्पचन्द्रेण ८।१०६, २९६
 अतिसूक्ष्मतया दुःखं ९।११, ४६४
 अतीतानागतं चित्तं ९।७४, ४४३
 अतीत्य युष्मद्वचनं २।५४, ५७
 अतोऽयं बहुदोषोऽपि ८।१८४, ३३६
 अतो ममार्थाय परार्थचित्ता २।७, ३८

अत्यनिष्टागमेनापि ६।९, १५६
 अत्यप्रमत्तस्तिष्ठामि २।५८, ५९
 अत्ययमत्ययत्वेन २।६६, ६२
 अत्र ग्रही भविष्यामि ४।४३, १०३
 अत्र मे चेतना नास्ति ४।२७, ९५
 अथ ज्ञश्चेतनायोगाद् ९।६९, ४३२
 अथ ज्ञेयवशाज्ज्ञानं ९।११३, ४८५
 अथ ज्ञेयाद् भवेत् पश्चात् ९।१०६, ४७६
 अथ त्वदिच्छया सिद्धं ६।८८, १९४
 अथ दोषोऽयमागन्तुः ६।४०, १७२
 अथ न श्रूयते तेषां ८।११, २५४
 अथ नास्ति प्रतीकाशे ६।१०, १५७
 अथ प्रत्यपकारी स्यां ६।५१, १७७
 अथ मत्समधातुरेव १।३, ९
 अथ यस्य मनःप्रसादमेति १।३५, ३३
 अथ साप्यन्यसंवृत्या ९।१०७, ४७९
 अथान्योन्यवशात् ९।११३, ४८५
 अथापि हस्तपादादि ७।२०, २२३
 अथाप्यर्थो भवेदेवम् ६।८९, १९४
 अथाप्यविद्यमानोऽसौ ९।१४६, ५२७
 अथाहमचिकित्स्योऽस्य ८।१४५, ३१६
 अथाविकृत एवात्मा ९।७०, ४३३
 अथाहमात्मदोषेण ६।१०३, २००
 अथैवमुच्यमानेऽपि ८।१६८, ३२७
 अथोत्पन्नमहं चित्तं ९।७४, ४४३
 अदरिद्रं जगत् कृत्वा ५।९, १११
 अदान्ता मत्तमातङ्गा ५।२, १०८
 अद्याप्यस्ति मम स्वार्थं ८।१७०, ३२९
 अद्य बुद्धकुले जातो ३।२५, ७६
 अद्य मे सफलं जन्म ३।२५, ७६
 अद्यापि चेत्यैव स्यां ४।१४, ९०

अद्यैव मरणं नैति १।५९, ६०
 अद्यैव शरणं यामि २।४८, ५५
 अधुना वद कस्मात्त्वं ५।६४, १३३
 अध्यतिष्ठदतो नाथः ८।१०८, ३०२
 अध्वानं प्रतिपन्नस्य ८।३४, २६३
 अनर्थः कस्यचिन्माभूत् ३।१४, ६९
 अनाथबालवृद्धानां १०।२६, ५५६
 अनाथानामहं नाथः ३।१७, ७१
 अनादिकालोपचितात् ४।२१, ९३
 अनादिमति संसारे २।२८, ४८
 अनाद्यन्तं महादोषं—४।३२, ९७
 अनारम्भो वरं नाम ७।४७, २३५
 अनित्यजीवितासङ्गात् २।४३, ५३
 अनिवर्ती भविष्यामि ४।४२, १०३
 अनिष्टकरणाज्जातम् ६।७, १५५
 अनिष्यमाणोऽपि बलात् ६।२३, १६२
 अनिष्यमाणमप्येतत् ६।२३, १६२
 अनीलत्वेन तन्नीलं ९।२०, ३७०
 अनीलत्वेन तन्नीलं ९।२१, ३७०
 अनीलत्वे हि को नीलं ९।२०, ३७०
 अनुग्राह्या मयान्येऽपि ८।९४, २८९
 अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति ६।२८, १६५
 अनुनीतं प्रतिहतं ५।४८, १२८
 अनुमोदे प्रमोदेन ३।१, ६३
 अनेकदोषदुष्टेन २।३१, ४९
 अनेके श्रुतवन्तोऽपि ५।२६, ११९
 अनेन मम पुण्येन १०।३१, ५५८
 अनेन शतशः सर्वे ८।१५४, ३२०
 अनेन हि विहारेण ५।२१, ११७
 अन्धः संकारकूटेभ्यः ३।२७, ७७
 अन्धाः पश्यन्तु रूपाणि १०।१९, ५५३
 अन्नादोऽमेध्यभक्षः स्यात् ९।१३६, ५१४
 अन्य एव मृतो यस्माद् ८।९८, २९१
 अन्यचित्तेन मन्देन ५।१६, ११४

अन्यच्च कार्यकालं च ७।४८, २३६
 अन्यतो नापि चायातं ९।१४२, ५२१
 अन्यत्र तद्विधात् क्लेशात् ४।४३, १०३
 अन्यत्र मयि वा प्रीत्या ६।९५, १९६
 अन्यथा मे कथं ६।११०, २०३
 अन्यथा लोकवाधा स्याद् ९।८, ३५७
 अन्यदीयश्चरो भूत्वा ८।१५९, ३२३
 अन्यदीयेन गन्धेन ८।६५, २७५
 अन्यद् रूपमसत्यं चेत् ९।६७, ४२९
 अन्यसम्बद्धमस्मीति ८।१३७, ३१२
 अन्याधिक्यशोवादैर् ८।१६३, ३२६
 अन्यानुभूते सम्बन्धात् ९।२४, ३७३
 अन्येनापि कृतं दोषं ८।१६२, ३२५
 अन्योऽपौ पूर्वकः कालः ८।१६९, ३२८
 अन्योन्यदुःखनाद् घोरं ८।१३३, ३१०
 अन्योन्यभक्षणभयं १०।१७, ५५२
 अन्योभयेष्टसत्यत्वे ९।४३, ४०१
 अपकाराशयोऽस्येति ६।११०, २०३
 अपरान् गुणमानेन ८।१४६, ३१७
 अपश्यन्नरतिं याति ८।६, २५१
 अपायदुःखविश्रामं ३।१, ६३
 अपायदुःखैः समूढः ४।१८, ९१
 अपायपातरथार्थं ६।९९, १९८
 अपि त्वनेकेऽनित्याश्च ९।१२०, ४९७
 अपि नाम गुणा येऽस्य ८।१४८, ३१८
 अपि सर्वत्र मे लोके ८।१४८, ३१८
 अपुण्यवानस्मि महा० २।७, ३८
 अपूर्वं इव सर्वत्र ८।१६, २५६
 अपेक्षते चेत् सामग्रीं ९।१२५ ५०३
 अप्रमादकथां स्मृत्वा ८।१८५, ३३६
 अप्रमेयगुणं सत्त्वमेकैकं १।२२, २४
 अप्रमेयव्यथाभाज्ये ७।३४, २२९
 अप्रमेया मया दोषा ७।३३, २२९

अप्रमेया गता बुद्धाः ४।१३, ८९
 अप्रमेया गताः कल्पाः ८।१५५, ३२०
 अप्रमेयायुषश्चैव १०।३३, ५५९
 अप्रमेयेण पुण्येन १।२१, २४
 अप्रवेशे न मिश्रत्वं ९।९५, ४६८
 अप्रहीणा हि तत्कर्तुः ९।३२, ३८४
 अप्रिया न भविष्यन्ति २।३६, ५१
 अप्रीतिदुःखं द्वैपैस्तु ५।७८, १३८
 अभयं केन मे दत्तं २।६०, ६०
 अभविष्यदिदं कर्म ८।१५७, ३२१
 अभिलाषविघातश्च ७।४१, २३२
 अभुक्त्वापायिकं दुःखं १०।४७, ५६४
 अभ्यर्चयाम्यर्च्यतमान् २।१५, ४२
 अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ३।१६, ७०
 अभ्यासादन्यदीयेषु ८।१११, २९९
 अममेषु प्रदेशेषु ८।२८, २६०
 अमेध्यक्षेत्रसम्भूतं ८।५९, २७३
 अमेध्यघटितं यन्त्रं ५।६१, १३२
 अमेध्यभवमल्पत्वान्न ८।६०, २७३
 अमेध्यभस्त्रामपरां ८।५३, २७०
 अमेध्यभाण्डानपरान् ८।६१, २७४
 अमेध्यशौण्डचित्तस्य ८।५७, २७२
 अयमेव हि कायो मे ८।३१, २६२
 अयं किल महाल्लोके ८।१४२, ३१४
 अयं सुस्थः परो दुःस्थो ८।१६०, ३२३
 अयुक्तमपि चेदेतद् ८।१००, २९२
 अर्जनरक्षणनाशविषादैः ८।७९, २८१
 अलभ्यमाने मानुष्ये ४।१७, ९१
 अल्पमप्यस्य दोषं च ८।१६२, ३२५
 अल्पौजसश्च ये सत्त्वास्ते १०।२९, ५५७
 अवर्णवार्दिन द्वेषः ६।६२, १८२
 अवर्णात् प्रतिघश्चेति ८।१२, २५४
 अवश्यमेति सा वेला २।५९, ६०
 अवश्यं गन्तुरल्पस्य ८।८२, २८२

अवश्यं न भविष्यामि २।६०, ६०
 अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः १।१९, २२
 अविषादबलव्यूह ७।१६, २२१
 अवोचिमवगाहन्ते ८।१०७, २९७
 अव्यापारसुखास्वाद ७।३, २१६
 अव्यापारितसाधुस्तु १।३१, २९
 अश्वयमिच्छतः क्लेश ८।१७६, ३३२
 अशाश्वतेन घर्मेण ८।८, २५२
 अशुचिप्रतिमा घोरा ८।१७८, ३३३
 अशुचिप्रतिमामिमां १।१०, १५
 अशुच्यादिषु शुच्यादि ९।६, ३५४
 अशुभान्तियतं दुःखं २।६३, ६१
 अशेषाकाशपर्यन्त ४।१०, ८८
 अशोच्यमानो लोकेन ८।३५, २६३
 अश्रमेण च गच्छन्तु १०।२५, ५५५
 अश्रमोपाजितस्तस्माद् ६।१०७, २०२
 असत्यपि यथा माया ९।२८, ३७९
 असत्सहायमेकं हि ९।२९, ३८०
 असम्प्रजन्यक्लेशोऽपि ५।४४, १२६
 असम्प्रजन्यचित्तस्य ५।२५, ११९
 असम्प्रजन्यचौरेण ५।२७, १२०
 असम्प्रजन्यदोषेण ५।२६, ११९
 असहिष्णुत्वसं भीतं ५।५३, १२९
 असंस्तवाविरोधाभ्यां ८।३६, २६४
 असिपत्रवनं तेषां १०।६, ५४७
 असिपत्रवनं यद्वद् ६।४६, १७५
 अस्थिपञ्जरतो मांसं ५।६२, १३३
 अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा ५।६३, १३३
 अस्यापि हि वराकस्य ८।२५१, ३१९
 अस्यैकस्यापि कायस्य ८।३२, २६२
 अस्यैवं पतितस्यापि ८।१७५, ३३१
 अस्वामिकानि दुःखानि ८।१०२, २९४
 अहमेव तदापीति ८।९८, २९१
 अहमेव न किञ्चिच्चेद् ९।५७, ४१७

अहमेवापकार्येषां ६।४९, १७६
 अहं कथं स्वामिषु तेषु तेषु ६।१२१, २०८
 अहं करोमि कर्माणि ८।१४२, ३१४
 अहं च न भविष्यामि २।३६, ५१
 अहो वतातिशोच्यत्वं ९।१६४, ५४१
 अंशा अप्यणुभेदेन ९।८७, ४५९
 अंशा अंशेषु वर्तन्ते ९।८१, ४५५
 आकाराचारसम्पन्ना १०।२७, ५५६
 आकाशगर्भसूत्रे च ५।१०४, १५०
 आकाशघातुप्रसरा २।५, ३७
 आकाशस्य स्थितिर्याविद् १०।५५, ५६७
 आगत्यागत्य सुगतिं ९।१५७, ५३७
 आगमाच्च कलं तत्र ९।४०, ३९५
 आचारो बोधिसत्त्वानाम् ५।९७, १४७
 आत्मदुःखं न निहतं ८।१०६, २९६
 आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ४।४२, १०३
 आत्मभावपरित्यागं ८।११३, ३००
 आत्मभावांस्तथा भोगान् ३।१०, ६८
 आत्मव्यामोहनोद्युक्तैः ८।६९, २७७
 आत्मसत्त्ववशं नित्यम् ५।५७, १३०
 आत्मानमपरित्यज्य ८।१३५, ३११
 आत्मानं चापरांश्चैव ८।१२०, ३०४
 आत्मानं पीडयित्वा तु ८।१२६, ३०७
 आत्मानं भोजयित्वैव ८।११६, ३०२
 आत्मभावं यथा दीपः ९।१८, ३६८
 आत्मार्थं परमाज्ञाप्य ८।१२८, ३०७
 आत्मार्थं पीडयित्वान्यं ८।१२६, ३०७
 आत्मीकृतं सर्वमिदं ६।१२६, २११
 आत्मीकर्षः परावर्णः ८।१३, २५४
 आदाय बुद्ध्या मुनिपुङ्गवेभ्यः २।६, ३७
 आदौ साकादिदानेऽपि ७।२५, २२६
 आपदा बाधतेऽल्पापि ७।५२, २३८
 आभासमात्रं दृष्ट्वा च ५।३६, १२३

आयस्य चागमो नास्ति २।४०, ५२
 आयातायात शीघ्रं १०।१३, ५५०
 आयाति तत्कुतः कुत्र ९।१४४, ५२६
 आयास्यन्त्यापदो घोराः ९।१६६, ५४२
 आयुः क्षणं विसंवादि ४।१६, ९१
 आराधनायाद्य तथागतानां ६।१२५, २१०
 आरोग्यं दिवसं चेदं ४।१६, ९१
 आरोग्यं रोगिणामस्तु १०।२२, ५५४
 आर्यनागाजुंनावद्वं ५।१०६, १५१
 आर्यमाकाशगर्भं च २।५२, ५७
 आर्यावलोकितेश्वरकरं १०।१८, ५५३
 आलस्यं कुत्सितासक्तिः ७।२, २१५
 आशयस्य च माहात्म्यं ६।११४, २०५
 आसंसारं सुखज्यानिर् १०।३, ५४६
 आस्तां तावत् परो लोको ८।१३२, ३०९
 आस्तां भविष्यद् बुद्धत्वं ६।१३३, २१३
 आहारः पूज्यतेऽन्येषां ८।४७, २६८
 इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात् ९।१२६, ५०४
 इत्याद्यवश्यमशुभं ८।१३, २५४
 इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् ५।३२, १२१
 इति मत्कुशलैः समन्तभद्रं १०।१५, ५५१
 इति सत्त्रपतौ जिनस्य पुत्रे १।३४, ३२
 इति सन्ततदीर्घवैरिषु ४।३४, ९८
 इत्यूर्ध्वं प्रेक्षमाणा गगनं १०।११, ५४९
 इत्वरव्याधिभीतोऽपि २।५५, ५८
 इदं च ते हृष्टिसुखं ६।७७, १८९
 इदं तु मे परिमितं ७।२२, २२४
 इदं न प्राप्तमारब्धम् ७।८, २१८
 इदं सुबाहुपृच्छायां १।२०, २३
 इमं चर्मपुटं तावत् ५।६२, १३३
 इमं परिकरं सर्वं ९।१, २४१
 इमं ये कायमिच्छन्ति ८।१८३, ३३५
 इयमेव तु मे चिन्ता २।६३, ६१
 इह जन्मान्तरे वापि ६।५४, १७८

इह बन्धवधोच्छेदः ८१४०, २६५
 इह शय्यागतेनापि २१४१, ५२
 इहैव तिष्ठतस्तावद् २१३८, ५१
 इहैव सौभाग्ययशः ६१३३, २१३
 ईदृशाः प्रत्यया अस्येत्येवं ६१३३, १६९
 ईर्ष्योत्कृष्टात् समाद् ८११२, २५४
 ईश्वरो जगतो हेतुर्वद ९१११९, ४९१
 उक्तं च लोकनाथेन ९११७, ३६६
 उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठाः ५१८३, १४१
 उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य ६१२४, १६३
 उत्प्रासकास्तथान्येऽपि ३११६, ७०
 उदिग्नाश्च निरुद्धेगा १०१२१, ५५४
 उद्दंशदंशमशक ६११५, १५९
 उद्धतं सोपहासं वा ५१४९, १२८
 उद्बन्धनप्रपातेश्च ६१३६, १७०
 उन्नाम्यमानं यत्नाद् ८१४४, २६७
 उपचित्यापि पुण्यानि ५१२७, १२०
 उपद्रवा ये च भवन्ति ८१३४, ३१०
 उपशान्तवितर्कः सन् ८१८९, २८५
 उपस्थानार्थि मे चित्तं ५१५१, १२९
 उत्पाद्यमेव तद्दुःखं ८११०५, २९६
 उपाध्यायानुशासन्या ५१३०, १२१
 उपानच्चर्ममात्रेण ५११३, ११३
 उरसारातिघातान् ये ६१२०, १६१
 ऋजु पश्येत् सदा ५१८०, १३९
 एक उत्पद्यते जन्तु ८१३३, २६२
 एकक्षणकृतात् पापाद् ४१२१, ९३
 एकस्मादशनादेषां ८१४९, २६८
 एकस्य त्रिस्वभावत्वम् ९१२२९, ५०८
 एकस्यापि हि सत्त्वस्य ४११०, ८८
 एकःपिता च पुत्रश्च ९१६४, ४२६
 एकाकी क्वापि यास्यामि २१६२, ६१
 एकाकी विहरिष्यामि ८११४, २५५
 एकेन सूत्रतुल्येन ९१५१, ४१२

एकेनागम्यमानेन ९१५१, ४१२
 एकेनापि यतः सर्वे २१५६ ५८
 एकैकस्मिच्छले सुष्ठु ७१७२, २४७
 एकैकस्यापि दोषस्य ७१३३, २२९
 एतच्चान्यच्च बुद्धोक्तं ५११०३, १५०
 एतदंशानुरूप्येण ६१११८, २०७
 एतदेव समासेन ५११०८, १५२
 एतद्धि बडिशं घोरं ६१८९, १९४
 एतस्मै प्रथमं देयम् ६११०८, २०२
 एतानाराध्य बहवो ६१११२, २०४
 एतानाश्रित्य मे पापं ६१४८, १७६
 एतानेव समाश्रित्य ५१८०, १३९
 एतान् सर्वान् विसंवाद्य ४१४, ८५
 एतावांश्च भवेत् स्वार्थो ६१९१, १९४
 एवमङ्गुलिपुञ्जत्वात् ९१८६, ४५८
 एवमन्विष्य यत्नेन ५१६४, १३३
 एवमाकाशनिष्ठस्य ३१२१, ७२
 एवमागन्तुकोऽस्मीति २१३९, ५२
 एवमात्मगुणान् श्रुत्वा ८११५२, ३१९
 एवमादिभिराकारैः ८१८९, २८५
 एवमादीनवो भूयान् ८१८०, २८२
 एवमादीनि दुःखानि ६१६, १५५
 एवमापत्तिबलतो ४१११, ८९
 एवमुद्विज्य कामेभ्यो ८१८५, २८४
 एवमेव वशः कार्यो ८११६७, ३२७
 एवमेव हि सत्त्वानाम् ५१८५, १४२
 एवं करादौ सा यावत् ९१८५, ४५७
 एवं कुरुष्व तिष्ठेवं ८११६७, ३२७
 एवं कृच्छ्रमपि प्राप्य ७१६१, २४२
 एवं क्षमो भजेद् वीर्यं ७११, २१५
 एवं गुणा न विद्यन्ते ९१२२९, ५०८
 एवं गृहीत्वा मतिमान् ३१२४, ७६
 एवं गृहीत्वा सुदृढं ४११, ८३
 एवं च को गुणो लब्धः ९१३०, ३८२

एवं च न निरोधोऽस्ति १।१५०, ५३१
 एवं च सर्वधर्माणाम् १।१०६, ४७६
 एवं चानेकधा दत्त्वा ८।१७२, ३२९
 एवं चामेध्यमप्येतद् ८।७१, २७८
 एवं चित्तं यदासङ्गाद् ६।७१, १८६
 एवं तस्यापि तत्सङ्गात् ८।१४, २५५
 एवं ते रक्षतश्चापि ५।६७, १३४
 एवं दुर्जनमव्यस्थो ५।१९ ११६
 एवं दुःखाग्निप्लानां १।१६७, ५४२
 एवं परवशं सर्वं ६।३१, १६८
 एवं परार्थं कृत्वापि ८।११६, ३०२
 एवं बुद्ध्वा तु पुण्येषु ६।६९, १८५
 एवं बुद्ध्वा परार्थेषु ५।८४, १४१
 एवं भावितसन्तानाः ८।१०७, २९७
 एवं वशीकृतस्वात्मा ५।७१, १३६
 एवं विनिश्चत्य करोमि ४।४८, १०६
 एवं विपक्षमुन्मूल्य ७।३२, २२९
 एवं शून्येषु धर्मेषु १।१५२, ५३४
 एवं सर्वमिदं कृत्वा ३।६, ६६
 एवं सर्वास्ववस्थामु ५।३८, १२४
 एवं संक्लिष्टमालोक्य ५।५४, १३०
 एवं सुखात् सुखं गच्छन् ७।३०, २२८
 एवं स्वप्नोपमे रूपे १।८८, ४६१
 एवं हि सुकृतं सर्वम् ५।४४, १२६
 एष सत्क्रियते नाहं ८।१४१, ३१४
 एषामत्र किमायातं ६।५०, १७७
 कङ्कालान् कतिचिद् दृष्ट्वा ८।७० २७७
 कतिपयजनसत्प्रदायकः १।३२, ३०
 कथञ्चिदपि सम्प्राप्तो ४।२६, ९५
 कथञ्चिल्लभ्यते सौख्यं ६।१२, १५८
 कथं करोमि येनेदं ७।७२, २४७
 कथं कायः स्थित इति ५।३९, १२४
 कथं च निःसराभ्यस्मात् २।३२, ४९
 कथं च निःसराभ्यस्मात् २।३३, ४९

कथं ज्ञात्वापि तत्रैव ८।६४, २७५
 कथं ते रोचते भोक्तुं ७।६ २१७
 कथं नामास्ववस्थामु ७।७३, २४७
 कदलोव फलं विहाय याति १।१२, १७
 कदा तथागतोत्पादं ४।१५, ९०
 कदा तैः सुखसंवासेः ८।२६, २५९
 कदानपेक्षो यास्यामि ८।२७, २६०
 कदायं किं करोतीति ८।१६१, ३२४
 कदोपलम्भदृष्टिभ्यो १।१६८, ५४३
 करादिभ्यः पृथङ् नास्ति १।८३, ४५६
 करोति यामवीच्यादौ ५।२, १०८
 करोति सर्वकार्यणि १।३८, ३९१
 करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत् १२६, ५०४
 कर्पूरादिषु हृद्येषु ८।६२, २७४
 कर्म कृत्वा विनष्टे हि १।७१, ४३३
 कर्मणः सुखदुःखे च वद १।१२२, ४९९
 कर्मण्यचित्ता ध्यायन्तु १०।४३, ५६२
 कर्मागमाद् यथापूर्वं ७।७४, २४७
 कर्मव तु सुखं यस्य ७।६३, २४३
 कर्मोपकरणं त्वेतन् ५।६६, १३४
 कलहायासशून्यासु ८।८५, २८४
 कलहेनापि संसाध्यं ८।१४७, ३१७
 कलुषोदयसंख्यया च १।३४, ३२
 कल्पकोटीरसंख्यया ७।२१, २२४
 कल्पना कल्पितं चेति १।१०९, ४८२
 कल्पनाभिनिविशो हि १।९२, ४६५
 कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु ३।५, ६५
 कल्पाननल्पान् प्रविचिन्तयद्भिः १।७, १२
 कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा १।१४०, ५१८
 कल्याणमित्रं वन्देऽहं १०।५८, ५६८
 कस्माच्चेत् फलदो हेतुः १।११८, ४९०
 कस्मात् सदा न कुर्वते १।१२३, ५००
 कस्मादन्यप्रसादेन ६।९६, १९७
 कस्मादेवं कृतं पूर्वं ६।६८, १८५

कस्माद् विपर्ययं कृत्वा ६।४९, १७६
 कस्य मातुः पितुर्वापि १।२३, २५
 कस्यानित्येष्वनित्यस्य ८।५, २५१
 कः पण्डितस्तमात्मानम् ८।१२४, ३०५
 कातरैर्दृष्टिपातैश्च २।४६, ५४
 का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा ९।१५३, ५३४
 कादम्बकारण्डवचक्रवाकं १०।७, ५४७
 कान्तारोन्मार्गपतिता १०।२५ ५५५
 कामानामुपमां यान्ति ८।८४, २८३
 कामा ह्यनर्थजनका ८।४०, २६५
 कामैर्न तृप्तिः संसारे ७।६४, २४३
 कायचित्तविवेकेन ८।२, २४९
 कायभूमि निजां गत्वा ८।३०, २६१
 कायश्चैवं यदा नास्ति ९।८८, ४६१
 कायस्यार्थे कृतो योऽयं ८।८२, २८२
 कायस्यावयवत्वेन ८।११४, ३०१
 कायं दास्यति गृध्रेभ्यः ५।६७, १३४
 कायं न बाधते तेन ६।५३, १७८
 कायास्तावन्त एव स्युः ९।८२, ४५६
 कायेनैव पठिष्यामि ५।१०९, १५२
 कायेनैवमवस्थेयम् ५।३९, १२४
 काये नौबुद्धिमाधाय ५।७०, १३५
 काये न्यस्तोऽप्यसौ गन्धः ८।६५, २७५
 कायो न पादौ न जङ्घा ९।७९, ४५४
 कायो यास्यति खादित्वा ५।६८, १३५
 कारयन्तु च कर्माणि ३।१४, ६९
 कारितोऽस्मि च चात्मार्यः ६।७४, १८७
 कार्यं कस्य न चेत् सत्त्वः ९।७७, ४४७
 कार्यार्थमभ्युपेतेन ९।७६, ४४४
 किञ्चिन्नास्तीति चाभ्यासात् ९।३३, ३८६
 किमक्लिष्टापि तृष्णैषां ९।४७, ४०७
 किमक्षराणि भक्ष्याणि ६।९२, १९५
 किमत्र सारमस्तीति ५।६३, १३३
 किमद्यापि न जानासि ७।४, २१६
 किमनर्थहचिर्लोकस्तं ८।६६, २७६

किमर्थमयमायासः ९।९८, ४७०
 किमस्य काष्ठतुल्यस्य ८।१८०, ३३४
 किमस्य श्रुतमेतावत् ८।१५१, ३१९
 किमिदमिति सुखेना० १०।१२, ५५०
 किमुत सततसर्वदुःखहेतुन् ४।३८, १०१
 किमुतानुत्तरं सौख्यम् ४।६, ८६
 किमुताप्रतिमं शूलम् १।२२, २४
 किमुताहं नरो जात्या ७।१९, २२३
 किमु निरवधिसत्त्व० १।३३, ३०
 किमु योजनसाहस्रे २।५८, ५९
 किमु व्याधिशतैर्ग्रस्तः २।५५, ५८
 कियतो मारयिष्यामि ५।१२, ११३
 किंकृतो हेतुभेदश्चेत् ९।११८, ४९०
 किं च निश्छिन्नबन्धनाम् ६।११९, २०७
 किं तेन जीवितेनापि ६।६१, १८१
 किं निर्गुणेन कर्त्तव्यं ८।१४३, ३१५
 किं पुनर्मदृशैरजैः ८।२२, २५८
 किं पुनर्भैरवाकारैः २।४५, ५४
 किं पुनः कृतपापस्य ७।११, २१९
 किं पुनः सर्वसत्त्वानां १।२७, २७
 किं ममैतद् गुणैः कृत्यम् ८।१४५, ३१६
 किं मयानेन यन्त्रेण ८।१७९, ३३३
 किं वारयतु पुण्यानि ६।८५, १९२
 किं वीर्यं कुशलोत्साहः ७।२, २१५
 कीर्त्यमाने परगुणे ६।७९, १९०
 कृतपुण्यैः सह स्पर्धा ६।८६, १९३
 कृतं कल्पसहस्रैर्यत् ६।१, १५३
 कृताकृतपरीक्षोऽयं २।३४, ५०
 कृताञ्जलिर्दुःखभीतः २।६५, ६१
 कृते यः प्रतिकुर्वीत १।३१, २९
 कृत्वाऽपि पापानि सुदारुणानि १।१३, १८
 कृत्वा च नारकं कर्म ७।१२, २१९
 कृपया बहु दुःखं चेत् १०४, २९५
 क्रियामिमामप्युचितां ७।२४, २२५

क्रीडन्तु मम कायेन ३।१३, ६९
 कूटागारैर्मनोजैः १०।१४, ५५१
 कुटुम्बाजीविनं लब्ध्वा ६।८२, १९१
 कुतः सुखं वा दुःखं वा ९।१५३, ५३४
 कुतो वा तादृशं मित्रं १।३०, २८
 कुत्र मे वर्तत इति ५।४१, १२५
 कुपितः किं नृपः कुर्याद् ६।१३१, २१३
 कुप्यामीति न सञ्चिन्त्य ६।२४, १६३
 कुर्वन्तु मे मूर्ध्नि पदं ६।१२५, २१०
 कुशलानां च सर्वेषां ७।४०, २३२
 कुशलाभ्यासयोग्यत्वम् ४।१५, ९०
 कूटशाल्मलिवृक्षाश्च १०।६, ५४७
 केचित् स्वशोणितं दृष्ट्वा ६।१७, १६०
 केचिद् दिनान्तव्यापारैः ८।७३, २७९
 कोपार्थमेवमेवाहं ६।७४, १८७
 को भविष्यति को भूतः ९।१५४, ५३४
 को मे महाभयादस्मात् २।४६, ५४
 कौतूहलेषु सर्वेषु ५।४५, १२६
 क्लेशतस्करसंघोऽयम् ५।२८, १२०
 क्लेशप्रहाणान्मुक्तिश्चेत् ९।४६, ४०६
 क्लेशप्रहारान् संरक्षेत् ७।६७, २४४
 क्लेशवागुरिकाघ्रातः ७।४, २१६
 क्लेशस्वतन्त्रो लोकोऽयं ७।५०, २३७
 क्लेशोत्पादपरायत्ते ६।६३, १८३
 क्लेशोत्पादादिदं ५।५६, १३०
 क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेव ६।३८, १७१
 क्लेशौघो दुर्निवारश्चेत् ९।१६३, ५४०
 क्व यास्यसि मया दृष्टः ८।१६९, ३२८
 क्वासौ यायान्मन्मनस्तो ४।४६, १०४
 क्षणमशनकमात्रदानतः १।३२, ३०
 क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा १।४, १०
 क्षणात् क्षिपन्ति मां ४।३१, ९७
 क्षणाद् भवन्ति सुहृदो ८।१०, २५३
 क्षपयन् पूर्वपापानि ७।२९, २२८

क्षमासिद्धिचाशयो नास्य ६।१०९, २०२
 क्षान्त्या समं तपो नास्ति ६।१०२, १९९
 क्षुत्पिपासाव्यथां हन्याम् ३।८, ६७
 क्षेमेण कूलमासाद्य १०।२४, ५५५
 क्षमादिस्वभाव ईशश्च ९।१२२, ४९९
 खड्गयुद्धमिवापन्नः ७।६७, २४४
 गगनजनपरिक्षयाश्रयं १।३३, ३०
 गण्डोऽयं प्रतिमाकारो ६।४४, १७४
 गतापि प्रत्युपस्थाप्या ५।२९, १२०
 गतिपत्तनविप्रवासशीलाः १।११, १६
 गन्तुकामस्य गन्तुश्च १।१६, २१
 गन्धोपलिप्तेषु च कुट्टिमेषु २।१७, ४३
 गम्भीरोदारमल्पेषु ५।८९, १४४
 गर्भिण्यश्च प्रसूयन्तां १०।१९, ५५३
 गलन्त्वन्त्राणि मे कामं ४।४४, १०३
 गुणलेशोऽपि नाभ्यासो ७।३६, २३०
 गुणवत्सु च मात्सर्यं ६।९८, १९८
 गुणसारैकराशीनां ६।१७, २०७
 गुणाभावे च शब्दादे ९।१३०, ५०९
 गुणा मयार्जनीयाश्च ७।३५, २३०
 गुणोऽपरश्च दुःखस्य ६।२१, १६१
 गुणोपकारिक्षेत्रे च ५।८१, १४०
 गुह्लाघवमूढत्वं ७।२०, २२३
 गुह्यवन्त्येषु वा क्षेपात् २।३०, ४९
 गुह्यसालोहिवादीनां ६।६५, १८३
 गृध्रैरामिषसंगृह्यैः ५।५९, १३१
 गृध्रैर्व्यक्तीकृतं पश्य ८।४५, २६७
 गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया २।६, ३७
 गृहमागत्य सायाह्ने ८।७३, २७९
 ग्रामश्मशाने रमसे ८।७०, २७७
 ग्राह्यमुक्तं यदाचित्तं ९।३०, ३८२
 ग्लानानामस्मि भेषज्यं ३।७, ६६
 धनन्तु निन्दन्तु वा नित्यम् ३।१२, ६९
 चकर्थ त्वमहंकारं ८।१५८, ३२३

घक्रवर्तिसुखं स्फीतं ६।१३४, २१४
 चतुर्भिः पुरुषैर्यवित् ८।३५, २६३
 चर्मण्युत्पाटिते यस्माद् ८।६४, २७५
 चर्यादुःखान्महद् दुःखं ८।८३, २८२
 चिकित्सापाठमात्रेण ५।१०९, १५२
 चिकित्स्योऽहं यथाशक्ति ८।१४४, ३१६
 चित्तमायासमेते तु ९।११, ३६१
 चित्तमेव यदा माया ९।१७, ३६६
 चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं १।२६, २६
 चित्तशोधनमाचारं ५।९७, १४७
 चित्तस्यैकस्य दमनात् ५।५, १०८
 चित्तस्यैव स आकारो ९।१६, ३६५
 चित्तं रक्षितुकामानां ५।२३, ११८
 चित्तादन्या न माया चेत् ९।२७, ३७८
 चित्तादेव भवन्तीति ५।६, १०९
 चित्तेन सहजातत्वाद् ९।१००, ४७१
 चित्तीत्पादसमुद्रांश्च ३।३ ६३
 चिन्तामणिर्भद्रघटः ३।१९, ७१
 चिन्तामणिः कल्पतरुः ९।३६, ३८९
 चिरं धक्ष्यति मे कार्यं ४।२५, ९४
 चिरात् प्राप्तं क्षणवरं ५।५८, १३१
 चेतनाचेतनकृता ६।६६, १८४
 चेतनाचेतने चैक्यं ९।६८, ४३०
 छन्दमानरतित्यागात् ७।३२, २२९
 छन्द-स्याम-रति-मुक्ति ७।३१, २२८
 छन्दं दुःखभयात् कुर्याद् ७।३१, २२८
 छाद्येरन्नपि मे दोषाः ८।१४९, ३१८
 छिद्यन्ते कामिनः केचिद् ८।७८, २८१
 छेत्तव्यश्चास्मि भेतव्यो ७।२१, २२४
 जगत्क्लेशोष्मशमन ३।३०, ८०
 जगत् सर्वं विसंवाद्य ४।६, ८६
 जगतोऽव्ययवत्वेन ८।११४, ३०१
 जगदज्ञानातमिर ३।३१, ८०
 जगदानन्दबीजस्य १।२६, २६

जगद् दरिद्रमद्यापि ५।९, १११
 जगद्दारिद्र्यचशमनं ३।२८, ७८
 जगद्दुःखहरे दुःखे ६।७५, १८८
 जगद्दुःखं निरूप्येदं ८।१०४, २९५
 जगद्दुःखैकभैषज्यं १।०।५७, ५६७
 जगदद्य निमन्त्रितं ३।३३, ८२
 जगद्रथार्थमुद्युक्तान् २।४८, ५५
 जगद्व्याधिप्रशमनं ३।२९, ७९
 जगन्मृत्युविनाशाय ३।२८, ७८
 जन्मान्तरेऽपि सोऽभ्यासः ७।४८, २३६
 जपास्तपांसि सर्वाणि ५।१६, ११४
 जातं चेदप्रियं शत्रोः ६।८७, १९३
 जातिस्मरत्वं प्रव्रज्या १।०।५१, ५६५
 जानन्नपि च नीयेऽहं ४।२६, ९५
 जिनेषु गौरवं यद्वन्न ६।११३, २०५
 जीवमत्स्य इवास्मीति ७।११, २१९
 जीवलोकमिमं त्यक्त्वा २।६२, ६१
 ज्ञात्वा सदोषमात्मानं ८।११३, ३००
 ज्ञानता चेत् ततः सर्वं ९।६७, ४२९
 ज्ञानास्तित्वं कुतो ज्ञातं ९।११६, ४८७
 ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति ९।६१, ४२३
 ज्ञेयाज्ज्ञानेन जातेन ९।११५, ४८६
 ज्ञेयात् पूर्वं यदि ज्ञानं ९।१०५, ४७५
 ज्ञेयेन सह चेज्ज्ञानं ९।१०५, ४७५
 ज्वलदसिंशक्तिघात ७।४५, २३४
 तच्चित्तरत्नग्रहणाय २।१, ३५
 तच्चित्तस्य दृढत्वेन ६।१८, १६०
 तच्चिन्तया मुधा याति ८।८, २५२
 तच्छस्त्रयुद्धं च पर १।०।९, ५४८
 तच्छस्त्रं मम कायश्च ६।४३, १७३
 तज्जीयतेऽन्येन शुभेन १।६, १२
 ततः कोटिशतेनापि ८।८३, २८२
 ततः प्रभृति सुप्तस्य १।१९, २२
 ततः सुरवतानि सुधूपि २।१२, ४१

ततोऽपि न निवर्त्यश्चेद् १।७८, ४५०
 तत्करोति क्रमात् पश्चात् ७।२५, २२६
 तत्कर्मगौणोऽतृप्तात्मा ७।६२, २४२
 तत्क्षणं तत्परित्याज्यं ६।७१, १८६
 तत्तत् सहस्रगुणितं ८।१८, २५७
 तत्तत् स्मरणतां याति २।३७, ५१
 तत्तदात्मनि सत्त्वार्थे ८।१६५, ३२६
 तत्तदेवापहृत्यार्थं ८।१५९, ३२३
 तत्तदेवापहृत्यास्मात् ८।१३९, २१३
 तत्तोषणात् सर्वमुनीन्द्र ६।१२२, २०९
 तत्त्वतः क्षणिका नैते १।७, ३५६
 तत्त्वतः शून्यता तस्माद् १।१३९, ५१७
 तत्त्वयानवबुद्धत्वाद् १।५२, ४१२
 तत्र कुर्यान्न वेत्येवं ४।२, ८४
 तत्र खड्गं यथा भ्रष्टं ७।६८, २४५
 तत्र चानुपमास्तीव्रा १।१५९, ५३८
 तत्र तत्रैव तत्पापै ७।४३, २३३
 तत्र तत्रैव तत्पुण्यैः ७।४२, २३३
 तत्र दोषक्षयारम्भे ७।३४, २२९
 तत्र प्राकृतको लोको १।३, ३४९
 तत्र लोको द्विधा दृष्टो १।३, ३४९
 तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य २।५७, ५९
 तत्रान्योन्यविरोधश्च १।१५८, ५३७
 तत्रापि जीवितारोग्य १।१६०, ५३८
 तत्रापि मारो यतते १।१६२, ५३९
 तत्राप्यभ्यस्तविक्षेप १।१६१, ५३९
 तत्राप्यहं न कुप्यामि ४।२९, ९६
 तत्राप्येवमसम्बन्धात् ६।९७, १९७
 तत्रामेध्यमनिष्टं ते ८।४९, २६८
 तत्रासन्मार्गबाहुल्याद् १।१६२, ५३९
 तत्रैकैकगुणाभ्यासो ७।३५, २३०
 तत्रैवमल्पबलता १।१५९, ५३८
 तत्सर्वं देशयाम्येष २।६५, ६१
 तत्सुखेन सुखित्वं चेत् ६।९६, १९७

तथाऽधुना मया कार्यं ३।२६, ७७
 तथा कथंचिदप्येतद् ३।२७, ७७
 तथा कायोऽन्यदीयोऽपि ८।११२, २९९
 तथा किञ्चित् परापेक्षं १।१९, ३६९
 तथा तथागतान् २।२२, ४५
 तथागताराधनमेतदेव ६।१२७, २११
 तथा जगद् भिन्नमभिन्नं ८।९१, २८७
 तथा न दुर्बलं कञ्चिद् ६।१२९, २१२
 तथापि तद्दुःखमेव ८।९२, २८७
 तथापि तस्य तद्दुःख ८।९३, २८८
 तथापि निद्रां यास्येव ७।५, २१७
 तथाप्ययुक्तस्तत्कोपः ६।४०, १७२
 तथा भवाध्वगस्यापि ८।३४, २६३
 तथा भेदोऽनयोर्ज्ञेयो १।१६, २१
 तथाभ्यां विकलं चित्तं ५।२४, ११८
 तथा यद्यप्यसवेद्यं ८।९३, २८८
 तथा स्तुतिशोहानी ६।९३, १९६
 तथाहमप्यसद्भूतो १।७५, ४४३
 तथैव छिद्रमासाद्य ७।६९, २४५
 तथोत्साहवशं यायाद् ७।७५, २४८
 तदत्ययं देशयामि २।२९, ४८
 तदद्य पापं प्रतिदेशयामि ६।१२४, २१०
 तदद्य भक्षितं यावत् ८।४६, २६७
 तदयुक्तं निवर्त्य तत् ८।१००, २९२
 तदर्थमर्जनायासो ८।७१, २७८
 तदवस्थः कथं भावः १।१४७, ५२८
 तदात्मनः को विशेषो ८।९६, २९०
 तदात्मनः को विशेषो ८।९५,
 तदानवस्था तस्यापि १।११०, ४८३
 तदा निराश्रयोऽभावः १।३४,
 तदान्यगत्यभावेन १।३५, ३८९
 तदावस्थामिमां दृष्ट्वा १।९९, ४७१
 तदाहं किं करिष्यामि २।४७, ५४
 तदुपस्थायकश्चैव ३।७, ६६

तदेव तावन्निष्पाद्यं ५।४३, १२६
 तदेव रूपं जानाति ९।६३, ४२५
 तदेव सूक्ष्मतां याति ९।१३३, ५१२
 तदेव हि भवामीति ६।२७, १६४
 तदेवं शून्यतापक्षे ९।५४, ४१५
 तदेवं स्पर्शनाभावे ९।९८, ४७०
 तदेवान्येन रूपेण ९।६६, ४२८
 तदैवां परकायेषु ६।३७, १७०
 तद्दुःखेन न मे बाधे ८।९७, २९०
 तद्दुष्टाशयमेवातः ६।१११, २०३
 तद्दृष्टिकाले तस्यातो ९।३२, ३८४
 तद्धेतुरूपाभावाच्चेन्न ९।१३१, ५१०
 तद् बोधिचित्तं द्विविधं १।१५, २०
 तद्भावकल्पनोत्पादं ९।१४१, ५१९
 तद्वदुत्पादयाम्येष ३।२३, ७४
 तद्वदेव च ताः शिक्षा ३।२३, ७४
 तन्न किञ्चिदतः सत्त्वाः ९।१०४, ४७५
 तन्न प्राप्तं मुधैवायु ८।७५, २७९
 तन्नारकव्यथाहेतुः ६।७३, १८७
 तन्नास्ति कायो मोहात्तु ९।८४, ४५७
 तन्निमित्तं तु यत् पापं २।३८, ५१
 तन्मुखं त्वत्परिक्लेशं ८।४५, २६७
 तसायः कुट्टिमं केन ५।७, ११०
 तमेव नाथं पश्येयं १०।५३, ५६६
 तल्लोकचित्तरक्षार्थं ५।१०७, १५१
 तस्माच्छुभं दुर्लभमेव १।६, १२
 तस्मात् कर्मावसानेऽपि ७।६५, २४४
 तस्मात् कार्यः शुभच्छन्दो ७।४६, २३५
 तस्मात् क्षान्तिं प्रयत्नेन ६।२, १५३
 तस्मात् प्राज्ञो न तामिच्छेद् ८।१९, २५७
 तस्मात् स्तुत्यादिघाताय ६।९९, १९८
 तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारान् ५।२९, १२०
 तस्मात् स्वदुःखशान्त्यर्थं ८।१३६, ३११
 तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं ५।१८, ११६

तस्मात् स्वप्ने सुते नष्टे ९।१४१, ५१९
 तस्मादमित्रं वा मित्रं वा ६।३३, १६९
 तस्मादहं स्तुतोऽस्मीनित ६।९७, १९७
 तस्मादाराधयेत् सत्त्वान् ६।१३०, २१२
 तस्मादावरणं हन्तुं ८।१८६, ३३७
 तस्मादुत्पादयेत् प्रज्ञां ९।१, ३४१
 तस्मादुत्सङ्गमे सपे ७।७१, २४६
 तस्मादेकाकिता रम्या ८, ३८, २६४
 तस्मादेतत्परित्यागे ८।३, २५०
 तस्मादेवं विचारेण ९।१४१, ५१९
 तस्माद् दृढेन चित्तेन ७।५४, २३८
 तस्माद् बहूनि दुःखानि ७।२३, २२५
 तस्माद् भावो मृषा यो हि ९।१४०, ५१८
 तस्माद् यथार्तिशोकादेः ८।११७, ३०२
 तस्माद् यथान्तशोऽवर्णाद् ८।११०, २९९
 तस्माद् यथान्यदीयेषु ८।१५८, ३२३
 तस्माद् यथाप्रतिज्ञात ४।१२, ८९
 तस्माद् विघातयिष्यामि ६।८, १५६
 तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये ५।८ १११
 तस्मान्न तावदहमत्र ४।३६, ९९
 तस्मान्न प्रमरो देयः ८।१७७, ३३२
 तस्मान्निर्विचिकित्सेन ९।५४, ४१५
 तस्मान्मया यज्जन ६।१२४, २१०
 तस्मान्मयैषां कर्तव्यं ७।५०, २३७
 तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् ६।१४, १५८
 तस्मान्मे युक्तमेवैतत् ६।४२, १७३
 तस्मान्मयानपेक्षेण ८।१८४, ३३६
 तस्माल्लोकं परित्यज्य ८।२, २४९
 तस्य क्रियेति सम्बन्धे ६।३०, १६७
 तस्य दुर्गतिपर्यन्तो ४।९, ८८
 तस्यापि मूलं सततं ७।४०, २३२
 तस्यास्वादलवस्यार्थे ८।८१, २८२
 तस्यैव तत्प्रीतिमुखं ६।९५, १९६
 तस्यैव सुखमित्येवं ६।७८, १८९

तं चावलोकितं नाथं २।५१, ५६
 तान्येवास्थीनि नान्यानि ८।४३, २६६
 तामेवान्यत्र सङ्क्राम्य ८।१२७, ३०७
 तावन्मम स्थितिर्भूयात् १०।५५, ५६७
 तास्ववस्थासु याः शिक्षा ५।९९, १४८
 तिष्ठन् परार्थं संपारे ७।२८, २२७
 तीर्थिकैः सविवादत्वात् ९।४४, ४०३
 तुल्याशये तु तत् त्याज्यम् ५।८७, १४३
 तुल्यैव पठ्यते यस्मात् ९।३२, ३९४
 तुष्टः किं नृपतिर्दद्यात् ६।१३२, २१३
 तुष्टिमात्रापरा चेत् स्यात् ९।९१, ४६४
 तूर्यसगोतिमेघश्च २।२०, ४४
 तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शैर् ८।५०, २६८
 तृणादौ यत्र सज्येत ६।७०, १८६
 तृप्तिं सर्वसुखैः कुर्यात् १।२९, २८
 तृष्णा तावदुपादानं ९।४७, ४०७
 तृष्णान्धेन मया तत्र ६।४४, १७४
 ते ते विजयिनः शूराः ६।२०, १६१
 तेन किं स्रष्टुमिष्टं च ९।१२२, ४९३
 तेन शस्त्रं मया कायो ६।४३, १७३
 तेन सत्त्वपरो भूत्वा ८।१३९, ३१३
 तेन सर्वे जनाः सन्तु १०।१, ५४५
 तेन स्यां सर्वसत्त्वानां ३।६, ६६
 तेनाकृतोऽन्यो नास्त्येव ९।१२४, ५०९
 तेनालं लोके चरितैः ८।१८, ३३६
 तेनासंनिहितज्ञेयं ९।६२, ४२४
 तेऽपि चेन्मानिनां मध्ये ७।५८, २३९
 तेऽपि नावीचिकं बल्लि ४।३०, ९७
 तेऽप्यासन् दशमशका ७।१८, २२२
 तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति ६।४, १५४
 ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः १०।२, ५४५
 ते बोधिसत्त्वशिक्षाया ३।३३, ७३
 ते मानिनो विजयिनश्च ७।५९, २४१
 तेषामेव च सत्त्वानां १।२४, २५

तेषां शरीराणि नम १।३६, ३४
 तेषां स एव हेतु ३।१५, ७०
 तेषु कोपो न युक्तो मे ६।३९, १७१
 तैरेव ननु पर्याप्तं ८।१०८, २९८
 तैलपात्रधरो यद्वद् ७।७०, २४६
 तैश्चाप्यधिगतं धर्मं २।४९, ५५
 तोपस्थाने प्रकुप्यन्ति ८।१०, २५३
 त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं ३।११, ६९
 त्यक्त्वान्योन्यमुखोत्पादं ८।१३३, ३०
 त्यजेद् भृकुटिसकोचं ५।७१, १३६
 त्यजेन्न जीवित तस्माद् ५।८७, १४३
 प्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मा १०।११, ५४९
 त्राणशून्या दिशो दृष्ट्वा २।४७, ५४
 त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो ७।१०, २१८
 त्रिषु मानो विधातव्यः ७।४९, २३६
 त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं ६।६८, १९१
 त्रैलोक्यविजिगापुत्वं ७।५४, २३८
 त्यक्तश्चेत् पृथगेवायं ५।६०, १३२
 त्वदाशंसनमात्रेण ६।८७, १९३
 त्वं मां नरकपालेषु ८।१७१, ३२९
 त्वं विक्रीतो मयान्येषु ८।७०, ३२९
 त्वामेवं निग्रहीष्यामि ८।१६८, ३२७
 त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि ८।११, ३२९
 दक्ष उत्थानसम्पन्नः ५।८२, १४०
 दण्डयात्राभिरपरे ८।७४, २७९
 दत्तस्तेभ्यो मया कायश्च ३।१३, ६९
 दत्त्वास्मै थापनामात्रं ८।१५३, ३१९
 दत्त्वास्मै वेतनं तस्मात् ५।६९, १३५
 ददामि चात्मानमहं २।८, ३९
 ददाम्यन्येभ्य आत्मानं ८।१३६, ३११
 दन्तकाष्ठस्य खेटस्य ५।९१, १४५
 दन्तकेशनखा नाहं ९।५८, ४१८
 दरिद्राणां च सत्त्वानां ३।९, ६७
 दशदिग्व्योमपर्यन्तं ४।४१, १०२

दशदिग्ब्योमपर्यन्त १०५४, ५६६
 दह्यते तेन शोकेन ८१७, २५२
 दह्यमाने गृहे यद्वद् ६१७०, १८६
 दानकाले तु शीलस्य ५१४२, १२५
 दानपारमिता प्रोक्ता ५११०, ११२
 दासार्थिनामहं दासो ३११८, ७१
 दिग्विभागो निरंशत्वाद् ९१८७, ४१९
 दिव्यैर्मुदुश्लक्ष्ण २११३, ४१
 दिशो विश्रम्य वीक्षेत ५१३७, १२३
 दीपः प्रकाशत इति ९१२२, ३७२
 दीपार्थिनमहं दीपः ३१८१, ७१
 दीर्घसन्तानमात्रेण ९११०, ३६०
 दुर्गतिर्नीचता मौख्यं ८११२७, ३०७
 दुर्गतिभ्यो विमुच्यन्तां १०११६, ५५२
 दुर्गतिव्याधिमरण ४११४, ९०
 दुर्गतिव्यालवक्त्रस्थे ८११४६, ३१७
 दुर्गत्युत्तरणे सेतुः ३१३०, ८०
 दुर्गन्धं न सुवन्तीति ८१५०, २६८
 दुर्गापित्रककर्णाटा ६११३, १५८
 दुर्बला बालिनः सन्तु १०१२२, ५५४
 दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु ३१८, ६७
 दुर्योधनः क्लेशगणैः ७१६०, २४१
 दुष्करन्ननिवर्तेत ८१११९, ३०३
 दुःखत्वादेव वार्याणि ८११०२, २९४
 दुःखदुर्योधनस्तस्माद् ६११८, १६०
 दुःखमेवाभिधावन्ति ११२८, २८
 दुःखव्युपशमार्थं तु ९१७७, ४४७
 दुःखहेतुरहंकार ९१७८, ४५०
 दुःखं कस्मान्निवार्यं ८११०३, २९५
 दुःखं नेच्छामि दुःखस्य ६१४५, १७४
 दुःखं न्यक्कारपारुष्यं ६१११, १५७
 दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ६११०१, १९९
 दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ५११७, ११५

दुःखानि दीर्घमनस्यानि ७१४१, २३२
 दुःखाय केवलं मातुर्गतो ७१३८, २३१
 दुःखेऽपि नैव चित्तस्य ६११९, १६०
 दुःखेनैव च निःसारतः ६११२, १५८
 दुःखशीलाः सन्तु संविम्नाः १०१४५, ५६३
 दृश्यते तस्य पूजार्थं ६१११७, २०७
 दृश्यते स्पृश्यते चापि १११००, ४७१
 दृश्यन्त एते ननु सत्त्व ६११२६, २११
 दृश्यन्ते दह्यमानाश्च ८१७८, २८१
 दृष्टं च तेषु सामर्थ्यं ९१४६, ४०६
 दृष्टान्तेनोभयेष्टेन ९१४, ३५१
 दृष्टिश्चामहेतोस्तु ५१३६, १२३
 देवतानामृषाणां वा ११२३, २५
 देवादिलोकेषु च २१४, ५०, ३६
 देवासुरनरैर्नित्यं १०१५०, ५६५
 देवो वर्षतु कालेन १०१३९, ५६१
 दोलायमानः सतारं ४१११, ८९
 दीर्घमनस्याशन प्राप्त ६१७, १५५
 दीर्घमनस्येऽपि नास्तीष्टं ६१९, १५६
 द्रक्ष्यस्येतद्गुणान् ८११५६, ३२०
 द्रव्यनाशे यथोद्वेगः ८१२५, २५९
 द्वयोरप्यावयोः सिद्धे ९१७२, ४३५
 द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि ६१४१, १७२
 धन्यानां गुरुसवासात् ५१३०, १२१
 धन्यैः शशाङ्ककर ८१८६, २८४
 धर्मचिन्तामहास्तम्भे ५१४०, १२४
 धर्मच्छन्दावयोगेन ७१३९, २३२
 धर्मध्वनिरविश्रामं १०१३७, ५६०
 धर्मप्रदीपं कुर्वन्तु ३१४, ६५
 धर्मं गच्छामि शरणं २१२६, ४७
 धर्मं निर्गौरवे स्वस्थे ५१८८, १४४
 धर्मार्थमात्रमादाय ८११६, २५६
 धारयामीदृशं चित्त ५१५८, १३१
 न करोत्यन्यथा कायः ५१५९, १३१

न कर्त्तव्यं न वक्तव्यं ५१४८, १२८
 न कर्त्तव्यात्मनि प्रीति ८११७३, ३३०
 न कर्मफलसम्बन्धो ९१७१, ४३३
 न किञ्चिदस्ति तद् वस्तु ६११४, १५८
 न कृता शासने कारा ७१३७, २३१
 न केवलं त्वमात्मानं ६१८६, २७४
 न केवलं त्वमात्मानं ६१८६, १९३
 न केवलं दया नास्ति ६१३८, १७१
 न क्लेशा विषयेषु ४१४७, १०५
 न खादितव्यमशुचि ५१६५, १३४
 न ग्रीवा न शिरः कायः ९१८०, ४५४
 नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः ६१५५, १७९
 न चच्छिद्राण्यहं नापि ९१६०, ४१९
 न च तन्मात्रमेवासौ ४१२२, ९३
 न च तृप्यति दृष्ट्वापि ८१६, २५१
 न च द्वेषसमं पापं ६१२, १५३
 न च पापमकीर्तिर्वा ८१४१, २६६
 न च प्रत्ययसामग्र्या ६१२६, १६४
 न च प्रव्राजके प्राप्ते ६११०५, २०१
 न च व्यस्तसमस्तेषु ९११४२, ५२१
 न च स्नेहो न च द्वेषः ८११८१, ३३४
 न चाचारं परित्यज्य ५१९०, १४५
 न चात्र मे व्ययः कश्चित् ५१७८, १३८
 न चानपगत्यभावे ९११४९, ५२९
 न चान्तिकचराः केचिद् ८१३७, २६४
 न चापि जनितस्यास्ति ६१२६, १६४
 न चास्ति वेदकः कश्चिद् ९११०२, ४७३
 न चाहमन्त्रनिर्गुणो ९१५९, ४१९
 न चेत्प्रयोजनं तेन ८१५१, २७०
 न चेदं तादृशं दुःखं ६१७५, १८८
 नच्छिनत्ति यथात्मानं ९११७, ३६६
 न जाने केन मुह्यामि ४१२७, ९५
 न तदस्ति न यत् ५११००, १४८
 न तु बुद्धैः समाः ६१११६, २०६
 न तु मायावदित्यत्र ९१५, ३५३

न त्वविच्छिन्नपुण्यत्वं १११७, २१
 न त्वेवावर्तति यामि ४१४४, १०३
 न दुःखो व्यक्तपापत्वात् ७१२७, २२७
 न दोषो योगिसंवृत्या ९१८, ३५७
 न द्विपेत् कस्तमात्मानं ८११२१, ३०४
 न नाम साध्यं बुद्धत्वं ८११३१, ३०९
 न निद्रां न धृति ६१३, १५४
 ननु (नूनं ?) निवर्तते सौख्यं ६१५८, १८०
 नन्वसिद्धं महायानं ९१४२, ३९९
 न पश्यति यथाभूत ८१७, २५२
 न पश्येच्छत्रुवृक्षचैर्न ८११२४, ३०५
 न प्राप्तं भवत्पूजा ७१३७, २३१
 न बलार्थं न चारोग्ये ६१९०, १९४
 न बालो कस्यचिन्मित्र ८१२४, २५९
 न बाहूत्क्षेपकं कश्चिद् ५१९५, १४७
 न भद्रकमिदं नाथा २१६६, ६२
 न भवेत् कस्यचिद् दुःखं ६१३४ १७०
 नमः करोम्युपाध्यायान २१२५, ४६
 न युक्तं स्पन्दितुं स्वार्थम् ८११३८, ३१३
 न युक्तं स्वार्थदृष्ट्यादि ८११३८, ३१३
 न युज्यते मम द्वेषो ६१६४, १८३
 न वारितं च गुणिभिः ६१७७, १८९
 न विनानेन मार्गेण ९१४१, ३९७
 न विपाकफलाकाङ्क्षा ८११०९, २२८
 न शस्त्रं न विषं नाग्निर्न ८१८४ २८३
 न शिक्षा रक्षितुं शक्या ५११, १०७
 न शूरा न च ते प्राजाः ४१२८, ९५
 नश्यत्वन्यच्च कुशलं ५१२२, ११७
 नश्यन्ति येषां भैषज्यं २१५६, ५८
 नष्टशल्यव्यथापोहे ७१२२, २२४
 न संस्तवानुबन्धेन ८११५, २५५
 न सिद्धाणं न च श्लेष्मा ९१५८, ४१८
 न स्थास्यतीति भृत्याय ५१६८, १३५
 न स्थौल्यं चेत् सुखादन्यत् ९११३५, ५१४
 न स्वार्थेन विना प्रीतिः ८१२४, २५९

न स्वीकरोषि हे मूढ ५।६१, १३२
 न हस्ती नाप्ययं पार्श्वौ ९।८०, ४५४
 न हि कालोपपन्नेन ६।१०५, २०१
 न हि किञ्चिदपूर्वमत्र १।२, ८
 न हि तद् विद्यते किञ्चिद् ५।१००० १४८
 न हि वीर्यं धिना पुण्यं ७।१, २१५
 न हि वैतनिकोपात्तं ५।६९, १३५
 न हि सर्वान्यशत्रूणां ४।३२, ९७
 न हि स्फटिकवन्तीलं ९।१९, ३६९
 न हीदृशैर्मंचरितै ४।१७ ९१
 नाकर्तुमीशाः सामग्र्यां ९।१२५, ५०३
 नाकाशमीशोऽचेष्टत्वात् ९।२१, ४९८
 नागन्तुकगुणांशेन ८।१६४, ३२६
 नागामिकाय दुःखान्मे ८।९७, २९०
 नाङ्गुल्या कारयेत् किञ्चिद् ५।९४, १४६
 नाजातेन हि भावेन ९।१४८, ५२९
 नाणोरणौ प्रवेशोऽस्ति ९।९५, ४६८
 नातः परा वञ्चनास्ति ४।२३, ९४
 नाथ निर्वाणशय्यावत् ५।९६, १४७
 नाद्य चेत् क्रियते यत्नम् ४।१२, ८९
 नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वा ८।२२, २५८
 नानाविधप्रलापेषु ५।४५, १२६
 नानोपकरणाकारै ३।९, ६७
 नान्त्राणि चूषितव्यानि ५।६५, १३४
 नान्यस्य तद्व्यथाभागः ८।३३, २६२
 नाप्यन्तर्न बहिर्हितं ९।१०३, ४७४
 नाभावकाले भावश्चेत् ९।१४८ ५२९
 नाभावस्य विकारोऽस्ति ९।१४७, ५२८
 नामेध्यमयमन्यस्य ८।५६, २७२
 नालं पूरयितुं वाञ्छां ८।१७५, ३३१
 नावकाशः प्रदातव्यः ५।८२, १४०
 नावध्यायन्ति तरवो ८।२६, २५९
 नाशयत्यपि संमोहं १।३०, २८
 नासदुत्पद्यते किञ्चिद् ९।१३५, ५१४

नास्फालयेत् कपाटं च ५।७२, १३६
 नाहं मासं न च स्नायु ९।६०, ४१९
 नाहं वसा न च स्वेदो ९।५९, ४१९
 निकृष्टदासवच्चैनं ८।१६३, ३२६
 निगृह्णीयाद् दृढं शूरः ५।५४, १३०
 निघ्नन्ति केचिदात्मानम् ६।३६, १७०
 नित्यं जीवन्तु सुखिता १०।३३, ५५९
 नित्यं स्यात् सङ्घसामग्री १०।४२, ५६२
 नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा ६।२९, १६६
 निद्रयोपद्रवैर्बाल ९।१६०, ५३८
 निद्रालस्यागमे तद्वत् ७।७१, २४६
 निध्यायन्तीव सततं ५।३५, १२२
 निन्दन्त्यलाभिनं सत्त्वं ८।२३, २५८
 निरन्तरत्वेऽप्येकत्वं ९।९४, ४६७
 निरपेक्षस्त्यजाम्येष ३।१०, ६८
 निरंशस्य च संसर्गः ९।९६, ४६९
 निरात्मके कलापेऽस्मिन् ९।१०२, ४७३
 निराशो यस्तु सर्वत्र ८।१७६ ३३२
 निराश्रितत्वान्नोदेति ९।१११, ४८३
 निरिन्द्रियेणैव मया ५।३४, १२२
 निरुद्यमफलाकाङ्क्षिन् ७।१२०, २२०
 निरूप्यः सर्वयत्नेन ५।४०, १२४
 निर्द्वन्द्वा निरुपाया सा १०।२८, ५५६
 निर्भयो विहरिष्यामि ८।२९, २६१
 निर्मलस्य कुलस्यास्य ३।२६, ७७
 निर्माणमिव निर्माणं ५।५७, १३०
 निर्माणवदन्तेषु ६।३१, १६८
 निर्वातुकामांश्च जिनान् ३।५, ६५
 निर्वासितस्यापि हि नाम ४।४५, १०४
 निर्वृतः परमार्थेन ९।१३, ३६२
 निर्वृतानिर्वृतानां च ९।१५१, ५३३
 निर्व्यापारश्च तत्रात्मे ९।७२, ४३५
 निश्चलादपि ते त्रासः ८।४८, २६८
 निषिद्धमप्यनुज्ञातं ५।८४, १४१

निषीदन्तु स्वशोभाभिः १०१३६, ५६०
 निष्फला नेत्रविक्षेपा ५१३५, १२२
 निहन्मि स्वार्थचेतं त्वां ८११७२, ३२९
 निःशब्दसौम्यवन ८१८६, २८४
 नीचं कर्म करोत्यन्यः ७१५१, २३७
 नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठाम् ५१८३, १४१
 नेन्द्रियेषु न रूपादौ ९११०३, ४७४
 नेष्टं जले स्थले भोग्ये ५१९१, १४५
 नेष्यते विषभागश्च ८१९, २५३
 नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद् ५१९३, १४६
 नैकस्य सर्वसामर्थ्यं ९११२, ३६१
 नैव प्रकाश्यते दीपो ९११८, ३६८
 नैवान्तर्न बहिः कायः ९१८३, ४५६
 नैवावसादः कर्तव्यः ७११७, २२२
 नैवोत्साहोऽस्य दातव्यो ८११६६, ३२७
 नैषामहं स्वदोषेण ४११३, ८९
 नोत्पन्नपूर्वः स्वप्नेऽपि ११२४, २५
 नोदरं नाप्ययं पृष्ठं ९१७९, ४५४
 नोदारधर्मपात्रं च ५१९०, १४५
 नोद्योगो मे केवलं मन्द ४१४६, १०४
 नौयानयात्रारूढाश्च १०१२४, ५५५
 न्यवकारः पक्षं वाक्यम् ६१५३, १७८
 पक्षिभ्यः सर्ववृक्षेभ्यो १०१३७, ५६०
 पक्षि-मत्स्य-मृगान् हन्ति ८११२२, ३०५
 पटादेस्तु सुखादि स्यात् ९११३२, ५११
 पटार्धेणैव कर्पास ९११३७, ५१४
 पण्डिताः संस्कृता सन्तु १०१४६, ५५३
 पतति कमलवृष्टि १०११२, ५५७
 पतितसकलमांसाः १०११०, ५४९
 पद्मनालादिभेदो हि ९१११७, ४८९
 परचक्षुर्निपातेभ्यो ८१४६ २६७
 परचित्तविकल्पोऽसौ ९११०८, ४८०
 परचोदनदक्षाणाम् ५१७४, १३७
 परत्वं तु स्वकायस्य ८१११२, २९९
 परपिण्डाशिनो दासा ७१५७, २३९

परशोपितमप्येके ६११७, १६०
 परस्परविरुद्धाभि ५१५६, १३०
 परः करोत्ययं नेति ८११६०, ३२३
 परः किल मयि प्रोत ६१९४, १९६
 परात्मसमता चैव ७११६, २२१
 परात्मसमतामादौ ८१९०, २८६
 परायत्ताप्रसादत्वाद् ६१६३, १८३
 परायशस्करेऽप्येवं ६१६२, १८२
 परार्थं क्लृप्तं स्वार्थार्थि ५१५२, १२९
 परार्थं त्वेनमाज्ञप्य ८११२८, ३०७
 परिग्रहं मे कुरुताग्रह २१८, ३९
 परिग्रहारक्षणखेद ८१८७, २८५
 परिग्रहेणास्मि भवत् २१९, ३९
 परेष्वपि तथात्मत्वं ८१११५, ३०१
 परोक्षं च गुणान् ५१७६, १३८
 पर्पच्छारद्यभयम् ८१११८, ३०२
 पश्चात्तापानलश्चित्तं ४१२५, ९४
 पश्यन्त्वेनं भवन्तः सुरशतमुकुटैः १०११४, ५५१
 पश्यामो मुदितास्तावत् ८११५०, ३१८
 पाठस्वाध्यायकलिला १०१४२, ५६२
 पाददुःखं न हस्तस्य ८१९९, २९१
 पापकारिमुखेच्छा तु ७१४३, २३३
 पापक्षयं च पुण्यं च ६१६०, १८१
 पापचित्तसमुद्भूतं ५१८, १११
 पारम्पर्येण साक्षाद् वा ५११०१, १४१
 पारेष्मतां च नौभूतः ३११७, ७१
 पिता चेन्न विना पुत्रात् ९१११४, ४८५
 पितादिषु मे न कोपो ६१२२, १६२
 पिपासितो दीनदृष्टि २१४४, ५४
 पुण्यकारिणमालोक्य ५१७५, १३७
 पुण्यक्षयश्च पापं च ६१६०, १८१
 पुण्यमेकं तदा त्राणं २१४२, ५३
 पुण्यमेघसमुद्भूतैः ९११६७, ५४२
 पुण्यविघ्नः कृतोज्जेने ६११०२, १९९

पुण्यामृतैः कथं तृप्ति ७।६४, २४३
 पुण्येन कायः सुखितः ७।२८, २२७
 पुत्राभावे पिता नास्ति ९।११४, ४८५
 पुनश्च क्षणदौर्लभ्यं ९।१६३, ५४०
 पुनश्च मञ्जुघोषाय २।५०, ५६
 पुनः पृष्ठस्य पुण्ड्र्यर्थं ३।२४, ७६
 पुरतः खलु सर्वतायिनाम ३।३३, ८२
 पुरा दृष्टमदृष्टं वा मुखं ८।४४, २६७
 पुष्पाति यस्त्वया पोष्यं ६।८२, १९१
 पुष्परत्नादिवर्षाश्च २।२१, ४५
 पूजयत्यर्थमानैर्याम् ६।४, १५४
 पूजामेघैरनन्तैश्च १०।३८, ५६०
 पूज्यन्तां सर्वसंबुद्धाः १०।४८, ५६०
 पूर्वमेव मृतो लोक ८।३६, २६४
 पूर्ववत् प्रत्ययोत्पादं ६।६५, १८३
 पूर्वं च पापं समतिक्रमामि २।९, ३९
 पूर्वं तावदिदं चित्तं ५।३४, १२२
 पूर्वं निरूप्य सामग्रीम् ७।४७, २३५
 पूर्वं पश्चाच्च जातेन ९।१०१, ४७२
 पूर्वानुभूतनष्टेभ्यः २।६१, ६०
 पृथक् पृथक् गमिष्यन्ति ८।३२, २६२
 पृथिव्यादीनि भूतानि ३।२०, ७२
 प्रकामं सम्परिव्रज्य कि ८।४३, २६६
 प्रकाशा वाऽप्रकाशा वा ९।२३, ३७३
 प्रकुप्यन्ति प्रहृष्यन्ति ९।१५५, ५३५
 प्रकृतिमरणदुःखिता ४।३७, १००
 प्रकृत्या दुःखसंवासैः ८।२३, २५८
 प्रकृत्या यच्च सावद्यं २।६४, ६१
 प्रक्षिप्तश्च भयेऽप्यात्मा ८।४२, २६६
 प्रतिज्ञाय मदात्मापि ४।४१ १०२
 प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् ९।१४५, ५२७
 प्रतिमास्तूपसद्धर्म ६।६४, १८३
 प्रतीच्छेच्छिरसा वाक्यं ५।७४, १३७
 प्रत्यक्षमपि रूपादि ९।६, ३५४

प्रत्ययनां तु विच्छेदात् ९।१४, ३६३
 प्रत्ययानामनुच्छेदे ९।१४, ३६३
 प्रत्ययान्तरयुक्तस्य ९।२५, ३७५
 प्रत्ययान्तरसङ्गेषु ६।२९, १६६
 प्रत्येकबुद्धाः सुखिनो १०।५०, ५६५
 प्रधानमिति कथ्यन्ते ९।१२८, ५०६
 प्रवारयाम्येष महा २।१९, ४४
 प्रधूपितैर्धौतमलै २।१२, ४१
 प्रमत्तेन मया नाथा २।४३, ५३
 प्रमदाजनमव्ये ५।२१, ११७
 प्रमाणमप्रमाणं चेन्ननु ९।१३९, ५१७
 प्रमादादात्मनात्मानं ६।३५, १७०
 प्रलम्बपादं नासीत् ५।९२, १४५
 प्रलम्बमुक्तामणिहार २।१८, ४३
 प्रसूयन्ते स्त्रियोऽन्येषाम ८।७६, २८०
 प्राप्नुवन्तुच्चतां नीचा १०।३० ५५७
 प्राप्नोत्यभिमतं कार्यमेवं ५।७३, १३७
 प्राप्यावतारं मुष्णाति ५।२८, १२०
 प्रासादिकत्वमारोग्यं ६।१३४, २१४
 प्रियाणामात्मनो वापि ६।११, १५७
 प्रियाप्रियनिमित्तेन २।३५, ५०
 फलेन सह सर्वस्व ५।१०, ११२
 वक्रो विडालश्चौरश्च ५।७३, १३७
 बद्धश्चेत् चित्तमातङ्ग ५।३, १०८
 बन्धून् निराशान् सम्पश्यन् ७।९, २१८
 बलनाशानुबन्धे तु ७।६६, २४४
 बलीयसाभिभूतत्वाद् ९।९०, ४६३
 बहवो लाभिनोऽभूवन् ८।२०, २५७
 बहुना वा किमुक्तेन ८।१३०, ३०८
 बहुसौख्यशतानि भोक्तु १।८, १३
 बहूनामेकदुःखेन यदि ८।१०५, २९६
 बह्वमेध्यमयं कायम् ८।६०, २७३
 बाध्यन्ते धीविशेषेण ९।४, ३५१
 बालाद् दूरं पलायते ८।१५, २५५

बालैः सभागचरितो ८१९, २५३
 बुद्धधर्मगमांशेन ६११६, २०६
 बुद्धधर्मोदयांशस्तु ६११८, २०७
 बुद्धप्रसादात् यत् पुण्यं ६११५, २०६
 बुद्धबुद्धसुतेनित्यं १०१३८, ५६०
 बुद्धबुद्धात्मजाकीर्णा १०१३४, ५५९
 बुद्धं गच्छामि शरणं २१२६, ४७
 बुद्धाधिष्ठानत इव ६१०१, १९९
 बुद्धानुभावेन तथा ११५, ११
 बुद्धानुस्मृतिरप्येवं ५१३२, १२१
 बुद्धाश्च बोधिसत्त्वाश्च ५१३१, १२१
 बुद्धिः प्रकाशत इति ९१२२, ३७२
 बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं ९१२, ३४५
 बुद्धैः परिगृहीताश्च १०१३२, ५५८
 बुद्धोऽपि संसरेदेव ९११३, ३६२
 वृद्धाद्यनुस्मृति वास्य ८१३७, २६४
 बोधिचर्यानुसङ्ग्येण ९१३८, ३९१
 बोधिचर्यावितारं मे १०११, ५४५
 बोधिचर्यासहायत्वात् ६११०७, २०२
 बोधिचित्तबलादेव ७१२९, २२८
 बोधिचित्तरथं प्राप्य ७१३०, २२८
 बोधिचित्तं कुतस्तस्य ६१८३, १९१
 बोधिचित्तं समुत्पाद्य ६१८०, १९०
 बोधिचित्ताविरहिता १०१३२, ५५८
 बोधिप्रणिधिचित्तस्य १११७, २१
 बोधिप्रणिधिचित्तं च १११५, २०
 बोधिसत्त्वत्व-बुद्धत्वम् ३१२, ६३
 बोधिसत्त्वमहापर्वन् १०१३६, ५६०
 बोधिसत्त्वमहामेघ १०१५, ५४७
 बोधिसत्त्वव्रतधरं ५११०२, १४९
 बोधिसत्त्वशुभैः सर्वै १०१५६, ५६७
 बोधिसत्त्वसुखप्राप्तं १०१३, ५४६
 बोधिसत्त्वस्य तेनैवं ४१८, ८७
 ब्रूमः कमेषु निर्दोषं ६१६७, १८५
 बौद्धं सम्पत्सुखं मुक्त्वा ८११५७, ३२१

भक्तच्छेदादिभिः कोपाद् ६१३५, १७०
 भद्रकं नाम तद् वस्तु ८११७७, ३३२
 भयमस्तङ्गतं सर्वं ५१३, १०८
 भयोत्सवादिसम्बन्धे ५१४२, १२५
 भवचारकपालका इमे ४१३५, ९९
 भवचारकवन्धनो वराकः ११९, १४
 भवति मम विपाददैन्य ४१३८, १०१
 भवत्यहमिति ज्ञानम् ८११११, २९९
 भवदुःखशतानि तर्तु ११८, १३
 भवन्तु कर्णविष्टा १०१४०, ५६१
 भवन्तु रूपसम्पन्ना १०१२९, ५५७
 भवन्तु शुद्धमन्तानाः १०१४६, ५६३
 भवन्तु सङ्घातमहीधराश्च १०१८, ५४८
 भवन्तु सुखिनः प्रेता १०११७, ५५२
 भवन्त्यक्षयकोपाश्च १०१२८, ५५६
 भवन्त्वखण्डशीलाश्च १०१४४, ५६३
 भवाध्वभ्रमणान्त ३१२९, ७९
 भवेन्ममाशयगुणो ६१५०, १७७
 भवे बहुप्रपातश्च ९११५८, ५३७
 भवेयमुपजीव्योऽहं ३१२१, ७२
 भवेयं कल्पवृक्षश्च ३११९, ७१
 भस्मनिष्ठावसानेयं ८११७८, ३३३
 भावयेर्या च मानं च ८११४०, ३१४
 भावश्चाभावतां नैति ९११४९, ५२९
 भिन्दन्ति देहं प्रविशन्त्य ६११२०, २०८
 भीताश्च निर्भयाः सन्तु १०१२१, ५५४
 भीतेभ्यो नाभयं दत्तम् ७१३८, २३१
 भुञ्जीत मध्यमां मात्रां ५१८५, १४२
 भूतानि चेद् भवत्वेवं ९१११९, ४९१
 भूमिं छादयितुं सर्वा ५११३, ११३
 भूतिदानादिविरते ६१७८, १८९
 भृत्यस्य कुर्वतः कर्म ८११३२, ३०९
 भोक्ष्ये तुष्टिसुखं ५१७७, १३८
 भोज्यैश्च खाद्यैर्विविधैश्च २११६, ४३
 मच्चित्तावस्थिता एव ४१२९, ९६

मञ्जुघोषप्रभृतयः २।२२, ४५
 मञ्जुघोषं नमस्यामि १०।५८, ५६८
 मणिप्रदीपप्रभयोः ८।१३७, ३१२
 मतिवेश्मनि लोभपञ्जरे ४।३५, ९९
 मत्कर्मचोदिता एव ६।४७, १७५
 मत्कर्मजनिता एव ६।४६, १७५
 मत्स्यादयः क्व नीयन्तां ५।११, ११२
 मद्यद्यूतादिसेव्यं स्याद् ६।९१, १९४
 मद्रिज्जप्या तथात्रापि ८।१५६, ३२०
 मधुरेणोपचारेण ७।२४, २२५
 मनसा चिन्तयित्वापि ४।५, ८५
 मनस्वत्वमपि तं स्तुत्वा ६।७६, १८८
 मनः शमं न गृह्णाति ६।३, १५४
 ममार्थं दासतां यान्ति ८।७७, २८०
 मनुष्यदुःखैर्नरका ६।७२, १८७
 मनोज्ञगन्धोदकपुष्प २।११, ४०
 मनोऽभिलषितं सर्वं १०।२०, ५५३
 मनोरथः शुभकृतां ७।४२, २३३
 मनो हन्तुममूर्त्तत्वा ६।५२, १७८
 मन्त्रादीनामसामर्थ्या ९।१२, ३६१
 मम कुशलबलेन प्राप्त १०।१०, ४४९
 मम तावदनेन याति वृद्धि १।३, ९
 मया चानेन चोपात्तं ६।१८०, २०२
 मयान्यदुःखं हन्तव्यं ८।९४, २८९
 मयापि च यथाशक्ति ४।३, ८४
 मयापि पूर्वं सत्त्वानाम् ६।४२, १७३
 मया बालेन मूढेन २।६४, ६१
 मया वा पालितस्यैवं ८।१८१, ३३४
 मयैवात्र कृतो विघ्नः ६।१३०, २००
 मयैवैकेन कर्त्तव्य ७।४९, २३६
 मयैवैकेन सोढव्या २।४१, ५२
 मयैव मानो बोढव्यो ७।५५, २३९
 मय्यप्रसादो योऽन्येषां ६।५४, १७८
 मलपङ्कधरो नग्नः ८।६८, २७७

महता हि बलेन पापकं १।३५, ३३
 महत् कण्ड्वादिदुःखं च ६।१५, १५९
 महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु ७।६१, २४२
 महाकारुणिकाश्चापि २।२७, ४७
 महाकाश्यपमुख्यैश्च ९।५२, ४१२
 महात्रासाज्ज्वरग्रस्तः २।४५, ५४
 महापकारिष्वपि तेन सर्वं ६।१२०, २०८
 महायानं भवत्सूत्रैः ९।५०, ४१२
 महार्थसिद्धयै तु समुद्यतस्य ४।३९, १०१
 महीधरा रत्नमयास्तथाप्ये २।३, ३६
 मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो १०।४१, ५६१
 मानाच्चेन्न करोम्येतन् ७।५१, १३७
 मानो शत्रुवशं नैति ७।५६, २३९
 मानुष्यं नावमासाद्य ७।१४, २२०
 मानेन दुर्गतिं नीता ७।५७, २३९
 मान्दारवेन्दीवरमल्लि २।१५, ४२
 मा भून्मे मृत्युरचिराद् २।३२, ४९
 मा ममाक्षीणपापस्य २।३३, ४९
 मामाश्रित्य तु यान्त्येते ६।४८, १७६
 मामेवान्ये जुगुप्सन्ति ८।२१, २५८
 मामेवान्ये प्रशंसन्ति ८।२१, २५८
 मायया निर्मितं यच्च ९।१४४, ५२६
 मायातः को विशेषोऽस्य ९।१४३, ५२१
 मायापुरुषघातादौचित्त ९।११, ३६१
 माया हि सर्वं जेतव्यं ७।५५, २३९
 मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय ४।४७, १०५
 मायोपमत्वेऽपि ज्ञाते ९।३१, ३८३
 मायोपमाज्जिनात् पुण्यं ९।९, ३५८
 मारणीयः करं छित्त्वा ६।७२, १८७
 मारिते क्रोध चित्ते तु ५।१२, ११३
 मार्गादौ भयबोधार्थं ५।३७, १२३
 माहीनः परिभूतो वा १०।४१, ५६१
 मांसकर्दमसंलिप्तं ८।५२, २७०
 मांसप्रियोऽहमस्येति ८।५४, २७१

मांसास्थि त्यजतस्तस्य ७।२६, २२६
 मांसोच्छ्रयभिर्गं दृष्ट्वा ८।४७, २६८
 मिथ्याकल्पनया चित्ते ७।२७, २२७
 मुक्त्यर्थिनश्चायुक्तं मे ६।१००, १९८
 मुक्त्वा घर्मरति श्रेष्ठाम् ७।१५, २२१
 मुखक्षिप्तविसृष्टेषु ८।६२, २७४
 मुखपूरं न भुञ्जीत ५।९२, १४५
 मुख्यं दण्डादिकं हित्वा ६।४१, १७२
 मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ८।१०८, २९८
 मुनिकरबोधिताम्बु ७।४४, २३४
 मुहूर्तमपरो यश्च ६।५७, १८०
 मूढ, कालो न निद्राया ७।१४, २२०
 मृतं दुण्डुभमासाद्य ७।५२, २३८
 मृताः पतन्त्यपायेषु ९।१५७, ५३७
 मृत्पात्रमात्रविभवः ८।२९, २६१
 मृत्युग्रस्तोऽमराकार ७।१३, २२०
 मृदाद्यमेव्यलितत्वाद् ८।५८, २७३
 मृद्वी च वैडूर्यमयी १०।३५, ५५९
 मृन्मर्दनतृणोच्छेद ५।४६, १२७
 मेरोरपि यदासङ्गा ४।३१, ९७
 मैत्र्याशयश्च यत्पूज्यः ६।११५, २०६
 मोहाच्चेन्नेक्षते लोक ९।१३७, ५१४
 मोहादेकेऽपराध्यन्ति ६।६७, १८५
 मोहानुनयविद्वेषैः २।३९, ५२
 मोहेन दुःखिनामर्थे ९।५३, ४१४
 यच्चिन्तयन्ति ते नाथा १०।४९, ५६४
 यच्च शक्यं न तद्वेत्ति ८।५५, २७१
 यच्चानुमोदितं किञ्चित् २।२९, ४८
 यतस्ततो वास्तु भयं ९।५७, ४१७
 यतस्तन्निर्गतं कायान् ८।५८, २७३
 यतः पुनः सम्भूतशक्ति ४।४५, १०४
 यतः प्रभृत्यपर्यन्त १।१८, २२
 यतः सुखेनैव सुखं १।७, १२
 यतो नरकपालास्त्वां ६।८९, १९४
 यतो निवार्यते यत्र ५।१०७, १५१

यतो मेऽनपराधस्य ६।१०६, २०१
 यत् कायचित्तावस्थायाः ५।१०८, १५२
 यत्किञ्चिद् जगतो दुःखं १०।५६, ५६७
 यत्कृतं दारुणं पापं २।३१, ४९
 यत्पटोरेककस्यापि ५।१५, ११४
 यत्परार्थाशयोऽन्येषां १।२५, २६
 यत्प्रत्यया च तत्रास्था ९।४३, ४०१
 यत् प्रधानं किलाभीष्टं ६।२७, १६४
 यत्रच्छन्नेऽप्ययं रागः ८।५१, २७०
 यत्र यत्र रति याति मनः ८।१८, १५७
 यत्रापकारोऽपि सुखा १।३६, ३४
 यत् सत्त्वदीर्घमनस्येन ६।१३१, २१३
 यत् सत्त्वसौमनस्येन ६।१३२, २१३
 यत् सन्तोषमुखं भुङ्क्ते ८।८८, २८५
 यत् सूत्रेऽवतरेद् वाक्यं ९।५०, ४१२
 यथा कश्चिन्न जानीयाद् ८।१६४, ३२६
 यथाकामङ्गमं कायं ५।७०, १३५
 यथा गारुडिकः स्तम्भं ९।३७, ३९१
 यथा गृहीतं सुगतैः ३।२२, ७३
 यथाग्निमपरित्यज्य ८।१३५, ३११
 यथा क्षपलमव्यस्यो ५।१९, ११६
 यथा चरितमञ्जुश्रीः १०।५४, ५६६
 यथात्मबुद्धिरभ्यासात् ८।११५, ३०१
 यथा दृष्टं श्रुतं जातं न ९।२६, ३७७
 यथा पांशुगृहे भिन्ने ६।९३, १९६
 यथा प्रसिद्धमाश्रित्य ९।१०९, ४८२
 यथा मध्याह्नसन्तप्त ७।६५, २४४
 यथा यथास्य ८।१७४, ३३१
 यथा संज्ञिसमापत्तौ ९।९४, ४१०
 यथैको राजपुरुषः ६।१२८, २१२
 यथैव कदलीस्तम्भो न ९।७५, ४४३
 यथैव तूलकं वायोः ७।७५, २४८
 यदन्यसंनिधानेन दृष्टं ९।१४५, ४२७
 यदर्थं दूतदूतीनां ८।४१, २६६
 यदर्थमेव जीवामि तदेव ६।६१, १८१

यदर्थमेव विक्रीत ८।७५, २७९
 यदा कुशलयोग्योऽपि ४।१८, ९१
 यदा च द्रष्टुकामः स्यात् १०।५३, ५६६
 यदा चलितुकामः स्याद् ५।४७, १२७
 यदात्मोत्कर्षणाभासं ५।५०, १२८
 यदा न भावो नाभावो ९।३५, ३८९
 यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति ९।१५, ३६५
 यदा न लभते भावो यो ९।३५, ३८८
 यदा न वेदकः कश्चिद् ९।९९, ४७१
 यदा मम परेषां च ८।९५,
 यदा मम परेषां च ८।९६, २९०
 यदा मायास्त्रियां रागः ९।३१, ३८३
 यदा मायैव ते नास्ति ९।१५, ३६५
 यदा शाकेष्विव प्रज्ञा ७।२६, २२६
 यदि केशनखैर्दीर्घैः ८।६८, २७७
 यदि चैवं प्रतिज्ञाय ४।४, ८५
 यदि चैवं विमृष्यामि ४।२४, ९४
 यदिच्छसि न तच्चित्तं ८।५५, २७१
 यदि ज्ञानवशादर्थो ९।११२, ४८४
 यदि तस्यैव यद् दुःखं ८।९९, २९१
 यदि तु स्वेच्छया सिद्धिः ६।३४, १७०
 यदि तेन न तल्लब्धं ६।८४, १८२
 यदि ते नाशुचौ रागः ८।५२, २७०
 यदि ते नाशुचौ रागः ८।५९, २७३
 यदि दास्यामि किं भोक्ष्ये ८।१२५, ३०६
 यदि नात्र विचिन्त्यते हितं १।४, १०
 यदि नास्ति स्वसंवित्तिः ९।२४, ३७२
 यदि प्रत्यक्षमप्येतदमेध्यं ८।६३, २७४
 यदि प्रीतिमुखं प्राप्तमन्यैः ६।७६, १८८
 यदि भोक्ष्ये किं ददामीति ८।१२५, ३०६
 यदि मायोपमः सत्त्वः ९।९, ३५८
 यदि सत्त्वो न विद्यते ९।७६, ४४४
 यदि सर्वेषु कायो ९।८१, ४५५
 यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् ८।६६, २७६

यदि स्वभावो बालानां ६।३९, १७१
 यदीदृशं क्षणं प्राप्य ४।२३, ९४
 यदेवापद्यते कर्म ७।६२, २४२
 यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् ६।३७, १७०
 यद्दुःखजननं वस्तु ९।५६, ४१७
 यद् बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ५।४३, १२६
 यद् बोधिचित्तत्यागोऽपि ४।७, ८७
 यद्यप्यन्येषु देहेषु ८।९२, २८७
 यद्यप्यस्य भवेत्लाभो ८।१५३, ३१९
 यद्यस्ति दुःखं तत्त्वेन ९।८९, ४६२
 यद्यस्त्येव प्रतीकारो ६।१०, १५७
 यद्यात्मा रक्षितव्योऽयं ८।१७३, ३३०
 यद्येतन्मात्रमेवाद्य ६।७३, १८७
 यद्येवं संवृत्तिर्नास्ति ९।१०७, ४७९
 यन्न काये न चान्यत्र ९।१०४, ४७५
 यन्मया पशुना पापं २।२८, ४८
 यमदूतादयो दुष्टा २।५३, ५७
 यमदूतैर्गृहीतस्य २।४२, ५३
 यमपुष्पापनीतसकल ७।४५, ३३४
 यमेनोद्बोध्यमाणस्य ७।६, २१७
 यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थं ६।९२, १९५
 यश्चासुखीकृतश्चात्मा ३।१२, ६९
 यस्तेषां सुखरङ्गाणां १।२९, २८
 यस्मान्चिरमपि स्थित्वा ६।५६, १७९
 यस्मात् तथागतः सत्यं ७।१७, २२२
 यस्मात्तद् वेदयन्नेव ३।२२, ९३
 यस्मादापद्यमानोऽसौ ४।८, ८७
 यस्मादुभयसिद्धोऽसौ ९।४२, ३९८
 यस्माद् भयानि सर्वाणि ५।६, १०९
 यस्मान्न मद्बध्नादन्यत् ६।८, १५६
 यस्मान्नरकपालश्च ६।१३०, २१२
 यस्मान्नैव स एकाकी ६।१२८, २१२
 यस्मिन्नामन्यतिस्नेहाद् ८।१२१, ३०४
 यस्य त्वेतद् द्वयं सत्यं ९।११२, ४८४

यस्य दुःखं स नास्ति ८।१०१, २९२
 यस्यानुशंसानमिता १।१४, १९
 यस्यैव श्रवणात् त्रासः ८।११, ३०३
 यं दृष्ट्वैव च संवस्ताः २।५३, ५७
 यः क्रोधं हन्ति निर्वन्धात् ६।६, १५५
 यः पूर्ववत् क्रियाकाले ६।३०, १६७
 या अवस्थाः प्रपद्येत ५।९९, २४८
 याः काश्चन स्त्रियो लोके १०।३०, ५५७
 यात्यर्जनेन तारुण्यं ८।७२, २७८
 यान्येव च परिष्वज्य ८।४२, २६६
 यापयन्ति सुकृच्छ्रेण ९।१५६, ५३६
 यावत् प्रत्ययसामग्री ९।१०, ३६०
 यावत्प्रत्ययसामग्री ९।८५, ४५७
 यावत् प्रमुदिताभूमि १०।५१, ५६५
 यावत् सम्भृतसम्भारं ७।३, २१७
 यावन्ति पुष्पाणि फलानि २।२, ३६
 यावन्तो नरकाः केचिद् १०।४, ५४६
 युक्तं गृध्रशृगालादे ५।६६, १३४
 युक्ता प्रतीत्यता यस्माद् ६।३२, १६८
 युगान्तकालानलबन्महान्ति १।१४, १९
 ये केचिदपराधाश्च ६।२५, १६३
 ये केचिद् दुःखिता लोके ८।१२९, ३०८
 ये केचिद् सुखिता लोके ८।१२९, ३०८
 ये तं स्फुरन्तमपि मान ७।५९, २४१
 येन कार्येण गच्छति ९०।२३, ५५४
 येन जन्मसहस्राणि ८।५, २५१
 येन तेनाशनेनाहं १०।५२, ५६६
 येन यास्यन्ति नरकान् ६।४७, १७५
 येन सर्वे भविष्यन्ति ६।६९, १८५
 ये नेक्ष्यन्ते स्वदीःस्थित्यं ९।१६४, ५४१
 येऽपि नित्यानणूनाहुस्ते ९।१२६, ५०४
 ये मोचयन्ति मां बन्धाद् ६।१००, १९८
 येषां क्रुद्धाः प्रसन्ना वा ३।१५, ७०
 येषां सुखे यान्ति मुदं ६।१२२, २०९

येषु मेऽभिनिविष्टेन २।६१, ६०
 ये सत्त्वा मानविजिता ७।५६, २३९
 यैस्ताहवशात् प्राप्ता ७।१८, २२२
 यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं ५।१७, ११५
 योऽप्यन्यः क्षणमप्यस्य ४।९, ८८
 यो लाभसत्क्रियाहेतोः ८।१२३, ३०५
 यो हि येन विना नास्ति ६।१०४, २००
 रक्षणीमं मनः कस्माद् ५।६०, १३२
 रक्षाचित्तं दयाचित्तं ८।११०, २९९
 रक्षाचित्तं दयाचित्तं ८।११७, ३०२
 रणं जीवितमन्देहं ८।७७, २८०
 रतिरौद्धत्यहास्यादौ ७।१५, २२१
 रत्नत्रयस्वमादद्याद् ८।१२३, ३०५
 रत्नत्रयेऽपकारो यो २।३०, ४९
 रत्नप्रदीपांश्च निवेदयामि २।१७, ४३
 रत्नप्रदीपांश्च निवेदयामि २।१७, ४३
 रत्नानि यावन्ति च सन्ति २।२, ३६
 रत्नोज्ज्वलस्तम्भभवो २।१०, ४०
 रम्याः कल्पद्रुमा यानि १०।३४, ५५९
 रसाजातमतीव वेधनीयं १।१०, १५
 रात्रिन्दिवमविश्रामं २।४०, ५२
 रात्रिन्दिवं च त्रिस्कन्धं ५।९८, १४८
 रात्री यथा मेघघनान्धकारे १।५, ११
 रिक्तहस्तश्च नग्नश्च ६।५९, १८१
 रोषो यस्य खलीकारात् ८।१८२, ३३५
 लघुं कुर्याद् यथात्मानं ७।७४, २४७
 लङ्घ्याश्चाशुभाश्चैव ९।१२०, ४९७
 लताः सपुष्पाभरणो २।३, ३६
 लब्धे विरतिचित्ते तु ५।११, ११२
 लब्ध्वापि च बहूलभात् ६।५९, १८१
 लभमानो न गृह्णातु ६।८५, १९२
 लाभसत्कारकीर्त्यर्थि ५।५१, १२९
 लाभसत्कारसहितं १०।५७, ५६७
 लाभा नश्यन्तु मे कामं ५।२२, ११७
 लाभान्तरायकारित्वाद् ६।५५, १७९

लाभिन्यः सन्तु भिक्षुण्यः १०१४४, ५६३
 लाभो च सत्कृतश्चाहं ८११७, २५६
 लोकस्य दुःखापहम् ६१२७, २११
 लोकस्यापि च तज्ज्ञानं ९११३८, ५१६
 लोकः प्रत्यक्षतस्तावत् ९१११७, ४८९
 लोकाप्रमाणतायां चेद् ९११३८, ५१६
 लोकाप्रसादकं सर्वं ५१९३, १४६
 लोकावतारणार्थं च ९१७, ३५६
 लोकेन भावा दृश्यन्ते ९१५, ३५३
 लोष्टादेः को विशेषोऽस्य ८११७८, ३३३
 वक्तुमिच्छति मे चित्तं ५१५२, १२९
 वज्रध्वजस्थविधिना ७१४६, २३५
 वत्सरैरपि नेक्षन्ते ८१७४, २७९
 वन्द्यादुहितुलीलेव ९१२३, ३७३
 वरमद्यैव मे मृत्यु ६१५६, १७९
 वर्धयित्वैवमुत्साहं ८११, २४९
 वस्तु चेत् सा कथं नान्या ९१२७, ३७८
 वस्त्रभोजनपानीयं १०१२०, ५५३
 वस्त्राश्रयश्चेत् संसारः ९१२८, ३७९
 वस्त्राश्रयेणाभावस्य ९१२९, ३८०
 वाक्यमुल्लङ्घयामीति २१५७, ५९
 वारणापि न युक्तैवं ६१३२, १६८
 वार्यं चेत् सर्वमप्येवं ८११०३, २९५
 विकर्तुं नैव शक्नोति ६१२२८, २१२
 विकल्पक्षेत्रसम्भूत ९१९३, ४६६
 विक्रीतस्वात्मभावानां ८१७६, २८०
 विक्षिप्तचित्तस्तु नरः ८११, २४९
 विघनाकर्णशुक्तिकं ८१५७, २७२
 विचारितं तु यद्बुद्धं ४१३, ८४
 विचारितेन तु यदा ९१११०, ४८३
 विचारिते विचार्ये तु ९११११, ४८३
 विचारे जीवलोकः कः ९११५४, ५३४
 विज्ञानस्य त्वमूर्तस्य ९१९७, ४६९
 विज्ञापयामि संबुद्धान् २१२७, ४७
 विद्यमानस्य भावस्य ९११४६, ५२७

विना शून्यतया चित्तं ९१४९, ४१०
 विनिपातगता नाथ ५१८५, १४२
 विनेयप्रणिधानाभ्यां ९१३६, ३८९
 विपत्तिरीदृशी जाता को ७१३९, २३२
 विपुलसुगन्धिशीतल ७१४४, २३४
 विमानमेघान् स्तुतिगीत २११८, ४३
 विमार्गाच्चिन्तमाकृष्य ८१८६, ३३७
 विरम्य सर्वपापेभ्यः १०१३१, ५५८
 विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ ९१९२, ४६५
 विरौम्यातैरवं भीतः २१५१, ५६
 विवेकलाभिनः सन्तु १०१४३, ५६२
 विवेकवाससामग्रीं १०१५२, ५६६
 विशेषश्च यदा मिथ्या ९१६८, ४३०
 विश्वस्तविन्यस्तपदं ५१७९, १३९
 विषयव्यापृतत्वाच्च ६१२८, १६५
 विषं रुधिरमासाद्य ७, ६९, २४५
 विषादकृतनिश्चेष्टे ७१५३, २३८
 विस्तरेण सदाचारो ५११०५, १५१
 विहृत्य यत्र ववचिद् ८१८७, २८५
 वृथा नीतं मया जन्म ७१३६, २३०
 वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थ ६११३, १५८
 वृथैवायुर्वहत्याशु ९११६१, ५३९
 वेतालेनेव केनापि ८१४८, २६८
 वेत्ति सर्वज्ञ एवैताम् ४१७, ८७
 वेदनात्वं कथं तस्य ९१९०, ४६३
 वेदनाप्रत्यया तृष्णा ९१४८, ४०९
 वैद्योपदेशाच्चलतः ४१४८, १०६
 व्यक्तस्यासत उत्पत्तिः ९११३६, ५१४
 व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः ५१४, १०८
 व्याध्याकुलो नरो यद्वन्न ५१२४, ११८
 व्युत्थितश्चेष्टमानस्तु ७१४३, २३८
 व्रणदुःखलवाद् भीतो ५१२०, ११७
 शकटं वहतो यद्वतत् ८१८०, २८२
 शक्ता भवन्तु चौषधो १०१४०, ५६१
 शब्दग्रहणयुक्तस्तु ९१६५, ४२७

शब्दग्रहणरूपं यत् १।६४, ४२६
 शब्दज्ञानं यदि तदा १।६१, ४२३
 शब्दस्तावदचित्त्वात् ६।९४, १९६
 शब्दस्यासन्निधानाच्चेत् १।६३, ४२५
 शमथः प्रथमं गवेषणीयः ८।४ २५०
 शमथेन विपश्यनासुयुक्तः ८।४, २५०
 शरणं यामि भावेन २।४९, ५५
 शरणं यामि वो भीता २।५४, ५७
 शरीरपक्षपातेन वृथा ८।१८०, ३३४
 शरीराभिनिवेशात् ६।५२, १७८
 शर्करादिव्यपेता च १०।३५, ५५९
 शस्त्राणि केन नरके ५।७ ११०
 शाम्यन्तु वेदनास्तीव्रा १०।१६, ५५२
 शासनं भिक्षुतामूलं ९।४५, ४०४
 शिक्षानतिक्रमे यत्नं ४।१, ८३
 शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं ५।१०५, १५१
 शिक्षां रक्षितुकामेन ५।१, १०७
 शिक्षाः सूत्रेषु दृश्यन्ते ५।१०४, १५०
 शिरःशूलानि सत्त्वानां १।२१, २४
 शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं ८।७२, २७८
 शीतातपादिव्यसनं ४।४ १०२
 शीतार्ताः प्राप्तुवन्तूष्णं १०।४, ५४७
 शीतोष्णवृष्टिवाताच्च ६।१६, १५९
 शीलदृष्टिर्विपत्त्यादि ८।१४४, ३१६
 शून्यता दुःखशमनी ततः १।५६, ४१७
 शून्यतावासनाधाना ९।३३, ३८६
 शून्यदेवकुले स्थित्वा ८।२७, २६०
 शूराश्रयेणेव महाभयानि १।१३, १८
 शृगाला अपि यद् गन्धा ८।३१, २६२
 शेषापत्तिशमस्तेन ५।९८, १४८
 शोकवेगसमुच्छ्रान्त ७।९, २१८
 शोकाद्यार्ताय मृष्टादि ९।८९, ४५२
 शोकायासैर्विपादैश्च ९।१५६, ५३६
 शोचिष्यामि चिरं भूयो ४।२४, ९४

श्मशाने पतितान् घोरान् ८।६३, २७४
 श्रमेण महतानेन ८।१५५, ३२०
 श्रुतिमौख्यं कृपामूलं ५।७९, १३९
 स एव कारणं तस्य ६।१०४, २००
 स एव चेन्न जानाति ८।१८२, ३३५
 स एवातः क्षमाहेतुः १।६६, ४२८
 स किं नेच्छामि सत्त्वानां ६।८३, १९१
 स किं संस्क्रियते यत्नादात्म ८।६९, २७७
 सक्तित्रायान्तनिर्मुक्त्या ९।५३, ४१४
 स चरेत् परमं गुह्यं ८।१२०, ३०४
 सचेतनेषु किं कोपः ६।२२, १६२
 सच्छत्रदण्डशास्त्रे च ५।८८, १४४
 सच्छिद्रकुम्भजलवन्न ५।२५, ११९
 सततं फलति क्षयं न याति १।१२, १७
 स तस्मिन्निश्चरनष्टेऽपि ९।३७, ३९१
 सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा ६।८१, १९१
 सत्कृतः परिभूतो वा ९।१५२, ५३४
 सत्यतः कल्पना त्वत्र ९।२६, ३७७
 सत्यदर्शनयोर्मुक्तिः ९।४१, ३९७
 सत्यबुद्धं कृता पूजा ९।४०, ३९५
 सत्यामेव सुखव्यक्तौ ९।१३३, ५९२
 सत्त्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रं ६।११२, ५१२
 सत्त्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रं ६।११२, २०४
 सत्त्वरत्नविशेषोऽयं १।२५, २६
 सत्त्वव्यथायामपि तद् ६।१२३, २०९
 सत्त्वं रजस्तमश्चेति ९।१२८, ५०६
 सत्त्वं रजस्तमो वापि ९।६५, ४२७
 सत्त्वानामप्रमेयाणां ३।२०, ७२
 सत्त्वानामेव चार्थाय ५।१०१, १४९
 सत्त्वाराधनमुत्सृज्य ६।११९, २०७
 सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च ६।११३, २०५
 सदाकल्याणमित्रं च ५।१०२, १४९
 सद्धर्मक्षीरमथनान्नव ३।३१, ८०
 सद्धर्मरत्नस्य च निर्मल २।१ ३५

सद्धर्मसेवकं कार्यं ५।८६, १४२
 सनरामरलोकवन्द १।९, १४
 सन्तर्प्यन्तां प्रेताः स्नाप्यन्तां १०।१८, ५५३
 सन्तानस्यैक्यमाश्रित्य ९।७३, ४३६
 सन्तानः समुदायश्च ८।१०१, २९२
 सन्ति ते येष्वहं नीचः ८।१४३, ३१५
 सन्त्यज्यापि तदालस्य ७।७, २१७
 स पश्चान्नियतः सोऽस्ति ९।१०८, ४८०
 स प्रेतो भवतीत्युक्तम् ४।५, ८५
 समदुःखसुखाः सर्वे ८।९०, २८६
 समन्तभद्राजितमञ्जु २।१३, ४१
 समन्तभद्रायात्मानं २।५०, ५६
 सममात्मानमवलोक्य ८।१४७, ३१७
 समस्तेनैव हस्तेन ५।९४, १४६
 समं च तेन माहात्म्यं ६।११४, २०५
 समाददाति तच्चित्तम १।१८, २२
 समाधानधुरं नैव ५।४१, १२५
 समाधानाय चित्तस्य ८।३९, २६५
 समूहस्याप्यवस्तुत्वाद् ९।९७, ४६९
 सम्प्रजन्यं तदायाति ५।३३, १२२
 सम्प्रजानंल्लघूत्थानः ५।९६, १४७
 सरांसि चाम्भोरुह २।४, ३६
 सरेदपसरेद् वापि ५।३८, १२४
 सरोभिर्द्दामसरोज १०।७, ५४७
 सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च २।२४, ४६
 सर्वचैत्यानि वन्देऽहं २।२५, ४६
 सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद् ७।१९, २२३
 सर्वतः परिभूताश्च ७।५८, २३९
 सर्वत्यागश्च निर्वाणं ३।११, ६९
 सर्वत्रिसाहस्रविसारि २।१४, ४१
 सर्वत्र्यध्वगतान् बुद्धान् २।२४, ४६
 सर्वथापि न तत्तेऽस्ति ६।८४, १९२
 सर्वमाकाशसङ्काशं ९।१५५, ५३५
 सर्वमुत्सृज्य गन्तव्य २।३५, ५०

सर्वमेतत् सुचरितं ६।१, १५३
 सर्वमेवाग्रतस्तेषां ५।३१, १२१
 सर्वविक्षेपशमनी ८।३८, २६४
 सर्वसत्त्वहिताधाना ३।३, ६३
 सर्वसद्धर्मरत्नेषु २।२१, ४५
 सर्वस्य वस्तुनस्तद् ९।१३४, ५१३
 सर्वं तत्प्रत्ययबलात् ६।२५, १६३
 सर्वं यस्यानुभावाद् १०।१३, ५५०
 सर्वाक्षणविनिर्मुक्ता १०।२७, ५५६
 सर्वाणि तान्यात्मपरि ८।१३४, ३१०
 सर्वात्मना चेत् सर्वत्र ९।८२, ४५६
 सर्वा दिशः शिवाः सन्तु १०।२३, ५५४
 सर्वान् महाकृपांश्चापि २।५२, ५७
 सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्तः ८।३९, २६५
 सर्वारम्भा हि तुष्ट्यर्थीः ५।७७, १३८
 सर्वासु दिक्षु यावन्तः १०।२, ५४५
 सर्वासु दिक्षु संबुद्धान् ३।४, ६५
 सर्वे कर्मपरायताः ६।६८, १८५
 सर्वे देवा मनुष्याश्च ४।३०, ९७
 सर्वे नरकपालाश्च ५।४, १०८
 सर्वेऽपि वैद्याः कुर्वन्ति ७।२३, २२५
 सर्वे बद्धा भवन्त्येते ५।५, १०८
 सर्वे स्वकायमिच्छन्ति ८।१८३, ३३५
 सर्वे हिताय कल्पन्ते ४।३३, ९८
 सलज्जं सभयं शान्तं ५।५५, १३०
 सविवादं महायानं ९।४४, ४०३
 सशब्दपातं सहसा ५।७२, १३६
 सह लाभयशोभिस्ते ८।२०, २५७
 सहसा यत् समारब्धं ४।२, ८४
 सहापि वाक्शरीराभ्यां ५।१५, ११४
 संकलेशपक्षमध्यस्थो ७।६०, २४१
 संक्षेपाद् यद्यदात्मार्थे ८।१६५, ३२६
 संक्षेपान्नास्ति तत् किञ्चित् ६।५, १५४
 संक्षेपेणाथवा तावत् ५।१०६, १५१

संग्रामो हि सह क्लेशै ६११९, १६०
 संघातपर्वताघाताद् ५१२०, ११७
 संजातपुलको हृष्टः ८११५२, ३१९
 संनिवेशविशेषेण ९१८४, ४५७
 संवृत्तिः परमार्थश्च ९१२, ३४५
 संवृत्यानुपलम्भेन ९११६८, ५४३
 संसर्गं कर्म वा प्राप्तम् ७१७३, २४७
 संसर्गं च निरंशत्वं ९१९६, ४६९
 संसारदुःखनिर्मोक्षम् ३१२, ६३
 संसारदुःखानुद्वेगाद् ७१३, २१६
 संसारिषु च कारुण्यं ६१२१, १६१
 सातत्याभिनिवेशोत्थं ५१८१, १४०
 साधिक्षेपं संसंस्मभं ५१५०, १२८
 सान्तराविन्द्रियार्थं चेत् ९१९४, ४६७
 सालम्बनचित्तानां ९१४५, ४०४
 सालम्बनेन चित्तेन ९१४८, ४०९
 सा व्यथा चेतने दृष्टा ६१६६, १८४
 सांख्याः प्रधानमिच्छन्ति ९१२२७, ५०६
 सिद्धाञ्जनाविधेर्दृष्टो ९१२५, ३७५
 सिद्धिहेतुराचित्तोऽपि ६११०९, २०२
 सिध्यन्तु बोधिसत्त्वानां १०१४९, ५६४
 सुकुमारतरा भूत्वा ८११७४, ३३१
 सुखभोगबुभुक्षितस्य ३१३२, ८१
 सुखशीतसुगन्धवात १०११५, ५५१
 सुखसत्त्वमिदं ह्युपस्थितं ३१३२, ८१
 सुखाच्च व्यावनीयोऽयं ८११५४, ३२०
 सुखाच्च व्यावयात्मानं ८११६१, ३२४
 सुखादीनां च नित्यत्वं ९११३२, ५११
 सुखाद्येव च ते हेतुर्न ९११४१, ५१०
 सुखार्थं क्रियते कर्म ७१६३, २४३
 सुखावती सुखाभोद्यैः १०१४, ५४६
 सुखेच्छयैव संमोहात् ११२८, २८
 सुगतात्मजसंवरा १११, ३
 सुगतान् ससुतान् सधर्म १११, ३

सुगतेर्लाभिनः सन्तु १०१४५, ५६३
 सुनिश्चित सुप्रसन्नं ५१५५, १३०
 सुपरीक्षितमप्रमेय ११११, १६
 सुप्तमत्तप्रमत्तानां १०१२६, ५५६
 सुभाषितेषु सर्वेषु ५१७५, १३७
 सुलब्धा अद्य मे लाभाः ८११४९, ३१८
 सुलभा याचका लोके ६११०६, २०१
 सुवर्णदण्डैः कमनीयरूपैः २११९, ४४
 सुसमाप्तं च तन्मुच्येद् ७१६६, २४४
 सुहृदोऽप्युद्विजन्ते ६१५, १५४
 सूतससून्मृष्टमुधीत २११४, ४१
 सेव्यमानास्त्वमी क्लेशाः ४१३३, ९८
 सैवोपमा मृत्युकाले ६१५८, १८०
 सोऽङ्गारराशिर्मणि १०१८, ५४८
 सोत्प्रासातिशयं वक्रं ५१४९, १२८
 सोऽपि सर्वसमृद्धत्वात् ९१८६, ४५८
 सौकुमार्यं न कर्त्तव्यम् ६११६, १५९
 स्खलिते मरणवासात् ७१७०, २४६
 स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो ६१९०, १९४
 स्तुतिसंगातिमेघाश्च २१२३, ४६
 स्तुत्यादयश्च मे क्षेमं ६१९८, १९८
 स्तूयतेऽयमहं निन्द्यो ८११४१, ३१४
 स्थाप्यो नववधूवृत्तौ ८११६६, ३२७
 स्थौल्यं त्यक्त्वा भवेत् ९११३४, ५१३
 स्नात्वा स्नात्वा यथा ९११६५, ५४१
 स्नानं करोम्येष तथा २१११, ४०
 स्नेहान्न त्यज्यते लोको ८१३, २५०
 स्पृष्ट उष्णोदकेनापि ७११२, २१९
 स्फीतस्फुरद्गन्धमनो २११६, ४२
 स्फीतो भवतु लोकश्च १०१३९, ५६१
 स्मृतिखड्गं तथा भ्रष्टं ७१६८, २४५
 स्मृतिर्यदा मनोद्वारे ५१३३, १२२
 स्मृतिं च सम्प्रजन्त्यं ५१२३, ११८
 स्मृत्वा ताथागतीं शिक्षां ५१४६, १२७

स्वकार्यं तुल्यिष्यामि ८१३०, २६१
 स्वगुणे कीर्त्यमाने ६१७९, १९०
 स्वचित्तं प्रत्यवेक्ष्यादौ ५१४७, १२७
 स्वच्छन्दचार्यनिलयः ८१८८, २८५
 स्वच्छन्दचार्यनिलयो ८१२८, २६०
 स्वच्छोज्ज्वलस्फाटिक २११०, ४०
 स्वजीविकामात्रनिबद्ध ४१४०, १०२
 स्वपक्षाभिनिविष्टं च ५१५३, १२९
 स्वपापस्मृतिसन्तप्तः ७११०, २१८
 स्वप्नानुभूतवत् सर्वं २१३७, ५१
 स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं ६१५७, १८०
 स्वप्नोपमास्तु गतयो ९११५१, ५३३
 स्वमेव बह्विधं ते ८१५३, २७०
 स्वयमेव च यात्येतद् ८११९, २५७
 स्वयं मम स्वामिन एव ६११२१, २०८
 स्वयं लब्धसुखेष्वद्य ६१८०, १९०
 स्वयूथ्यान्मार्यमाणांस्त्वं ७१५, २१७
 स्वराङ्गसागरैः स्तोत्रैः २१२३, ४६
 स्वल्पेऽपि तावदपकारिणी ४१३६, ९९
 स्ववर्णे भाष्यमाणे च ५१७६, १३८
 स्वसुखस्यान्यदुःखेन ८११३१, ३०९

स्वसौस्थित्यं च मन्यन्ते ९११६५, ५४१
 स्वस्थास्वस्थैरविश्वास्य २१३४, ५०
 स्वात्मानं नानुभवति ९११०१, ४७२
 स्वापराधागते दुःखे ६१४५, १७४
 स्वामेध्यमयमेव त्वं तं ८१५६, २७२
 स्वार्थद्वारेण या प्रीतिः ८१२५, २५९
 स्वार्थार्थिनश्च बालस्य ८११३०, ३०८
 हतः सुगतिशब्दोऽपि ४११९, ९२
 हता दैवहतेनेयं ८१८१, २८२
 हस्तपादादिरहिताः ४१२८, ९५
 हस्तादिभेदेन बहुप्रकार ८१११, २८७
 हास्यं जनस्य सर्वस्य ८११५०, ३१८
 हितमुक्ताः प्रकुप्यन्ति ८१११, २५४
 हिताशंसनमात्रेण ११२७, २७
 हीनादिष्वात्मतां कृत्वा ८११४०, ३१४
 हीनाधिमुक्तिसत्त्वार्थं ११२०, २३
 हीनोत्कृष्टेषु धर्मेषु ५१८९, १४४
 हीयते चापि मे चर्या ६१५१, १७७
 हृदये निवसत्सु निर्भयं ४१३४, ९८
 हेतुमान् फलयोगीति ९१७३, ४३६
 हेतोरादिर्न चेदस्ति ९११२३, ५००

सामान्यशब्दानुक्रमणी

अकरणीय २५४	अचेतनकाष्ठ-१२८, १२९
अकर्मण्यता २२१	अचेतनकृत १८४
अकारणवत्सल २९, ५५	अजडस्वभाव ३७१
अकारणिक ४९३	अजर-अमर २२०
अकुटिल स्वभाव १७२	अजात ५३१
अकुशल ३९, ६१, ९१-२५५, ३९०,	अजित मैत्रेयनाथ ४१
अकुशलकर्म ६२, २२९, २३४,	अज ४३३
अकुशलकर्मकारी ३९	अज्ञान ३९, ७५, ८१, १८५, २७४, ४०८
अकुशलधर्म ११८	अज्ञानतिमिर (व्या०) ८०
अकुशलपक्ष १२, १८	अज्ञानी ६२
अकृताभ्यागम ४३६, ४३८	अङ्गुन ३७६
अकृताभ्यापगम ४३५	अणु ४५९
अकृत्रिमता ५२७	अतात्त्विक ४२९
अकौशल ५	अतिशय ५०२
अक्लिष्ट अज्ञान ४०८, ४०९	अतीत ६८, ५३५
अक्लिष्ट तृष्णा ४०८, ४०९	अतीत (व्या०) ५२४, ५२५
अक्षण ११	अतीतकालिकज्ञान ३७२
अक्षणिक ३५६	अतीतचित्त ४४३
अक्षयनिधि ६८, ७८, ७९	अत्यन्त दुर्लभ १०
अक्षयमत्तिसूत्र १८, ४७३	अदत्तादान ५०, ६२, ५५८
अगुरु ४१	अदरिद्र १११
अगौरव ४०१	अद्वय ३८२, ३८३
अग्नि ४२२, ४९७, ४९८, ५००	अधमाधम ८८
अग्निस्कन्ध १९	अधर्म २७८, ५०१
अग्रधर्म ३९७	अधिगम ५, ३५, ७४, २०५, २०६
अङ्गारराशि ५४८	अधिगमधर्म ६
अचित्स्वभाव ४२२	अधिगमसमापत्ति ४
अचिन्त्य ४९९	अधिगम सम्पद् ३२२
अचिन्त्यगति ८७	अधिमोक्ष ४५
अचेत ४३२	अविष्टितचित्त ११६
अचेतन १८४, २७१, ४२२, ४३१	अध्ययन २४३

अध्यात्मशून्यता ३८८
 अध्यात्मिक १६८
 अध्याशय ४५, ३२३
 अध्याशयपूर्वक मनस्कार ७४
 अध्याशयसंचोदनसूत्र ४०१
 अध्येषणा ६५
 अनन्त ४९०
 अनन्तकाल ६६
 अनपराधी २०१
 अनभिव्यक्त १६५, ४२४
 अनर्घ (व्या०) १५
 अनर्थ ३३, १९४, २७६, २७८, ४०१
 अनर्थकारी १९४, २७६
 अनर्थ-चिन्तन १९४
 अनवद्य ३१, १३१
 अनवस्था ४८४
 अनवस्थादोष १६५, ३७६, ४८३, ४८५, ४८७
 अनवस्थादोष (व्या०) ४८४
 अनागत ६८, ५३५
 अनागत (व्या०) ५२४, ५२५
 अनागत चित्त ४४३
 अनागारिक २८५
 अनात्म ३९७
 अनात्म-दर्शन ४५२
 अनाथ ७३, ७५, ५५६
 अनादर २११, ३१४
 अनादि ४९०, ५४१
 अनादिकाल ९३, ९८, १६९, २८३, ३६२, ४१७
 ४१८
 अनादिपरम्परा १६८
 अनादिसंसार ४८
 अनाभोग ३९२
 अनाभोगचर्या (व्या०) ३९२
 अनारोपित ३९८

अनालम्बना ४४६
 अनासक्त ४१०
 अनासक्ति १५६, १९८
 अनित्य ३९७
 अनित्य (व्या०) ४२९
 अनित्यता २५१, २६१
 अनित्यता (व्या०) ४२९
 अनिमित्त ३९९
 अनिरुद्ध ४७९, ४८१, ४८२, ५३१
 अनिरोध ४८८, ५२३, ५२४, ५३२
 अनिर्वचनीय ४२२, ४३९
 अनिवर्त्य २३
 अनिष्ट ७०, १७०, २०४, ४०६
 अनीश्वरवादी ४९३, ४९५
 अनुकूलता ९८
 अनुच्छेद ३९२
 अनुत्तरगुणक्षेत्र ४९
 अनुत्तरपूजा ४५
 अनुत्तरबोधि ७५
 अनुत्तरसुख ५४६
 अनुत्तरसुख (व्या०) ८६
 अनुत्पन्न ४७९, ४८१, ४८२
 अनुत्पाद ३९२, ४८८, ५२१, ५२३, ५२४,
 ५३०, ५३२
 अनुत्पादज्ञान ३९७
 अनुपलम्भ ३९९
 अनुबन्धचतुष्टय ३, ६
 अनुभव ३७४, २७५, ४७३
 अनुमान ३७४, ३७७, ४८८
 अनुमानप्रमाण ३४९, ४९१
 अनुमोदन ६३
 अनुशंसा ११, ३५, ७३
 अनुशासन ३२७
 अनुशासनी १२१

अनुशीलन ७५	अप्रतिष्ठित निर्वाण ६४, ३३०
अनुष्ठान ८३, ९३, २४७	अप्रतिष्ठित निर्वाण (व्या०) ३९३, ४१५
अनुस्मृति २६४	अप्रतिहत ४०८
अन्तराभव ७९	अप्रमाण ५२०
अन्तराल ४६७	अप्रमाण्य ५२०
अन्धकार ६५, ७१, ३६९	अप्रमादकथा २४८, ३३७
अन्धकाराच्छन्न ६६	अप्रमादी ११७
अन्धता ३६७	अप्रशस्त ४
अन्नपान ६७	अप्रसन्नता १८२
अन्यथात्व ५२८	अप्रसाद १७९
अन्य-निरपेक्ष ३७०	अप्रतिहत ४१०
अन्यनिरपेक्षता ३६९	अप्रिय ५०
अन्वय-व्यतिरेक ५०३	अप्रियसमागम ३२५
अपकार ३४, ५०, ७१, १५४, १६९, १७२, १७३, १७४, १७६, १८२, २०१, २०२, २०३, २०९, २१३, ३२७, ३६१, ४५३	अप् संवर्त ६७
अपकाराशय २०३	अभयकारी ५५१
अपकारी ३४, १००, २०१, २०२	अभव्य ११
अपटुता ५	अभागा २५९
अपश्य १७९	अभाव ५१९, ५२९, ५३१
अपमान २६६, ५३५	अभावकल्पना ३८७, ३८८, ५१९
अपयश १८२	अभावरूपता ५२९, ५३१
अपराध १६८, १८५	अभिधर्म ४०३
अपरिनिर्वृत ४८१	अभिधान-अभिधेय ३८३
अपरिमितगुण २३१	अभिधानाभिधेयसम्बन्ध ७
अपरिमित ज्ञान २०६	अभिधेय ३, ६, ७
अपवर्ग १०, ४९६	अभिनन्दन १३९
अपवाद १४१	अभिनन्दनीय २०२
अपवादान्त ४१४	अभिनिवेश २९३, ३५६, ३८६, ३८७, ४०५, ४१०, ४६६, ४७३, ५३६, ५४३
अपुनरावृत्ति ४	अभिनिवेशमात्र ४६६, ४६७
अप् ७२	अभिमान ४२, १९८, २५४
अप् (जल) महाभूत ५०७	अभिरति २५१
अप्रकाशस्वभाव ३०३	अभिव्यक्ति १६५, ४२४
अप्रतिष्ठितचित्त ४११	अभिसमयक्रम ३९७
	अभिसमयालङ्कार ३९३

अभ्यासरस ९	अविद्यमान ५२८
अभ्युदय १०, २७, ६८, ७०, ८६, १०८, १६९, २२१, २४३, ४९०, ५४३	अविद्या ४, १५, १६९, ३४०, ३४२, ३४६, ३५०, ३६०, ३६४, ३६६, ३८२, ३९८, ४०५, ४०६, ४०७, ४०९, ४४९, ४५७, ४६१, ४८२, ५४१, ५४२
अभ्युदय-निःश्रेयस ५३२	अविद्या (व्या०) ३४१
अमार्ग ६५	अविद्याबीज ४
अमिताभबुद्ध २३४	अविपरीत सत्य ३४९
अमुक्त ४७५	अविराम ५४१
अमूर्त्त १७८, ४६९	अविषाद २२१
अमृत २४३	अविसंवाद ३४६
अमेध्य २६९, ५१६	अविसंवादी सत्य ३४९
अरिपन्नवन ५४७	अवीचि ९३, १०५, १०८, १८८
अरूप १५	अवीचि नरक ९७, २९८, ३०६
अरूपधातु ६८, ३२५	अवीतरागी ४८१, ४९५,
अर्थ ३४८	अव्यक्त ४२५
अर्थक्रिया ३८१, ३८२	अव्यवदान ३९९
अर्थक्रियाकारी ३८२	अशरण ७५
अर्थचर्या ६५	अशाश्वत २५३
अर्थसिद्धि ३१०	अशाश्वतता ३९२
अर्हत् ३५८, ४०८, ४०९, ४११, ४१३	अशुचि २७०, २७१
अर्हत्त्व ८७, ३९७	अशुचिता १५
अलंकार ४५	अशुभ १६, ६१, १८२, ३६१, ४०६,
अलातचक्र १११	अशुभ भावना ३५७, ३५८, ३९७, ४२०
अलीक ३८६, ५१८	अश्रद्धा ४०१
अल्पेच्छता १४२	अश्वविषाण ५२५
अवतार ६	अष्टसाहसिका प्रज्ञापारमिता ३४३
अवदान ४७	अष्टङ्गिकमार्ग ४०४
अवमानना १३७, ३१७	असक्त ४०८
अवयव ४५९	असत् ४४४
अवयवी २९३, ४१९, ४२२, ४५४, ४५६, ५११	असत्कार ३२
अवलोकितेश्वर ४१, ३०३	असत्कार्यवाद ५१६
अवसाद २२२	असत्ता ३७८
अवस्तु ३८१, ३८२, ४३९, ४४४	असत्यता ३८५
अवस्तुसत् ४७०	
अविच्छिन्नपुण्यत्व २४	

असद्-उत्पत्ति १६५
 असद् उत्पाद ५१३, ५१४
 असद्-वितर्क २८६
 असन्तोष १९३, ३३३
 असन्मार्ग ३३८
 असमर्थ २३७
 असमवायीकारण ५०३
 असम्प्रजन्य ११९, १२०, १२६
 असहनशील १२९
 असहिष्णुता १८९, १९०
 असंक्लेश ३९९
 असंख्येयकल्प २१५
 असंज्ञिदेव ४११
 असंज्ञिसमापत्ति ४११
 असंस्कृत्व ४३३
 असंस्कृत ३४८
 असाक्षात्कार ५
 असिपत्रवन (व्या०) १७५
 असुर १६, ८२, ३२४, ५६४, ५६५
 अस्ति-खण्ड २६२
 अस्तित्वा ४३१
 अस्तित्व ३३३, ३८६, ४३१, ५१८, ५३६
 अस्तित्वदृष्टि ४१५
 अस्तिकंकाल १३३
 अस्ति-पञ्जर २६८
 अस्वतन्त्र ४७५
 अस्वस्थात्मा (व्या०) ४९६
 अस्वामिक ४७४
 अहम् ३००
 अहं ३३४, ४१८, ४४४
 अहंकार ३१४, ३३३, ३३४, ४४१, ४४३,
 ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ५०७,
 ५०८
 अहंकारविषय ४४३

अहंकारी १००
 अहंप्रत्यय ४१९, ४२०, ४२३, ४४३
 अहं-बुद्धि २९१, ३००, ४५२, ४६१
 अहंबोध ४१८, ४४३, ४४४, ४५६
 अहं भाव ४१८
 अहित २८, ३२७
 अहेतुक उत्पाद ४९०
 अहेतुकवाद ४८९, ४९२, ५२०
 अहेतुतः उत्पाद ४८८
 अहेतुवादी ४५९
 अंगुलि ४५९
 असंज्ञिसमापत्ति (व्या०) ४१०
 आकार ४६९
 आकाश ३१, ७५ १६७, ३८१, ३८२, ४५८,
 ४६०, ४९८, ५००, ५६०, ५६७
 आकाशकमल ५१५
 आकाश-कुसुम ४८१
 आकाशगमन २४८
 आकाशगर्भ ५५२
 आकाशगर्भसूत्र १५०
 आकाशतल ५५०
 आकाशतुल्य २३
 आकाशधातु २३, २७, ३७
 आकाशपुष्प ५१५, ५२५
 आकाश महाभूत ५०७
 आकाशव्यापी ७२
 आकाशसम ४७८
 आकाशसमता ३९२
 आकाङ्क्षा ६८
 आगन्तुक १७२, ३१६, ३८१, ३८६
 आगम ७, ३५, १२६, २०३, २२७, ३४५, ३५८,
 ३७७, ४०२, ४०३, ४०५
 आगमवचन ४००
 आग्रहशील ३३४

आचारसंहिता १४१

आचार्य ५, ६, ९, ११, १९, २०, १२१, १६५,
१६६, १७७, १८२, २००, २०५, २२०,
२२८, २४७, २९९, ३१०, ३३७, ३४२,
३४५, ३५१, ३५३, ३५६, ३५७, ३७८,
३८८, ४४४, ४४७, ४५०, ४५४, ४५८,
४६१, ४७२, ४७६, ४८०, ४८३, ४८५,
४९१, ४९७, ४९९, ५००, ५०२, ५०४,
५०६, ५०९, ५१०, ५१८, ५२१, ५२६,
५२७, ५३५, ५३८, ५४१, ५४३, ५४४

आचार्य चन्द्रकीर्ति ४५०, ५२२

आचार्य धर्मकीर्ति ४५२

आचार्य नागार्जुन १५१, ३८७, ३९९, ४८१,
५२४, ५२७, ५४४

आचार्य वसुबन्धु ३९७, ४५९, ४६०, ५२५

आचार्य शान्तरक्षित ४९३

आचार्य शान्तिदेव ८, १७, २२, ३४, ३३६,
४५०, ५४१

आत्मकेन्द्रित ३१५, ३१७

आत्मकेन्द्रितचित्त ३२८

आत्मग्रह १५५, २८६, २९४

आत्मग्राह ३११, ४११, ४४२

आत्मघात १७१

आत्मज ६

आत्मदर्शन ४, ४५०, ४५१, ४५२

आत्मदृष्टि १८३, २२२, २८६, २८८, २८९,
२९४, ३०४, ३०५, ३११, ३१२, ३२८,
४१७, ४१८, ४५१

आत्मनिष्ठ ३२०

आत्मपरिग्रह ३१२, ३२०, ३३३, ३३५, ३३६

आत्मपरिग्रही ३२०

आत्मबुद्धि ३०२, ३३५

आत्मभाव ३१, ३९, ६८, ६९, १२४, १५३
३२३

आत्ममोह ४५०, ४५१, ४५२

आत्मरक्षा ३३०

आत्मवत् २८७, २९४, ३३५

आत्मवशवर्तिता २२९, २४७

आत्मवादी ३३४, ४२०, ४४४, ४४५

आत्मसत्ता ४४२

आत्मसमता २९७

आत्मसंयम ३२

आत्मस्नेह २६०, २८८, ३०१, ३०८, ३३०,
४५१, ४५२

आत्महत्या २७७

आत्मा ४, २६, ५०, १३२, १६४, १६५, १६६,
१६७, २२२, २९१, २९३, २९४, २९५,
३०५, ३३४, ३४७, ४२०, ४२२, ४२३,
४२५, ४२९, ४३०, ४३२, ४३३, ४४१,
४४२, ४४४, ४६१, ४७१, ४७४, ४९८,
५००

आत्मा-आत्मीयग्रह २२७

आत्माभिविनविष्टचित्त ३२८

आत्माभिनिवेश २९४, ३०१

आत्मावज्ञा २२१

आत्मीय ५०, २९३

आत्मीयग्रह १५५

आत्यन्तिक कल्याण ८६

आत्यन्तिक प्रहाण ४४९

आदर्श ७८

आदिशः शान्त ३६३

आदिशान्त ४८१, ५३२

आध्यात्मिक ११२, ४६३

आध्यात्मिकभाव १५६

आनन्द ५३६

आनन्दरस २४४

आनापानस्मृति ३९७

आनुभाव ११

आनेञ्ज ६८
 आन्तरिक मन ३३३
 आन्तरिक शत्रु ९८
 आपत्ति ८८, ८९, २३८
 आभास १२३
 आभासितमात्र ४७५
 आभूषण ६८, ५५४
 आभ्यन्तर ४७५
 आयतन ३५५, ३५६, ४५१, ४८२
 आयु ५२
 आयुष्य १९५
 आराधना २०४, २०८, २१०, २११, २१३,
 २६०, ४९६
 आराध्य ३७
 आरोग्य १९५, ५५४
 आरोपित ३९८
 आरोपित अस्तित्व ५१८
 आरोपित धारणा २९१
 आरोपितमात्र ४७५
 आर्य १८३
 आर्य अक्षयमत्तिसूत्र ७३, ४७८
 आर्य अवलोकितेश्वर ३५, ५५३
 आर्य अंगुलिमाल ४०६
 आर्यगण्डव्यूहसूत्र ११, २०, २२
 आर्यगयाशीर्षसूत्र ४४५
 आर्यजनगर्हित ६२
 आर्यदेव ३५५
 आर्यधर्मसंगीतिसूत्र ४४५
 आर्यबोधिसत्त्व ३४४, ३४८
 आर्यमैत्रेयनाथ ८५
 आर्यरत्नचूडसूत्र ३६७
 आर्यरत्नमेघ ४७
 आर्यवज्रध्वजसूत्र ६८
 आर्यवीरदत्तपरिपृच्छा २७
 आर्यसत्य ३९७, ४०५, ४०६, ४०९, ४११

आर्यसमाधिराजसूत्र २३
 आर्यसंघ ५
 आर्याक्षयमत्तिसूत्र ६८
 आर्यापरराजाववादसूत्र २२
 आलसी १२९
 आलस्य २१६, २१८
 आलिंगन २७०, २७२, २७३
 आलोक ६५
 आवास-निवास २६३
 आविर्भाव ५१३
 आशय २६, ७४, २०६, ३५६
 आश्चर्य ३०२
 आश्रय-आश्रयिभाव ३८२
 आसक्ति १८३, १८६, २१६, ३८५, ४१४
 आसन ६८
 आसंसार ५००
 आस्था ४०१
 आस्थाहीन ७६
 आहारविहार १६२
 इच्छा २५७, ४३६
 इच्छाहीन ५०५
 इच्छापराधीन (व्या०) ५०५
 इदम्प्रत्ययता १६९, ४४०, ४८८
 इदम्प्रत्ययतामात्र १६४
 इन्द्र २८५, ३३२, ५४७
 इन्द्रनील ४०
 इन्द्रिय ४६७, ४७०, ४७७
 इन्द्रियविज्ञान ४२३, ४७६
 इन्द्रियसमूह १०५
 इन्द्रियाँ ५०७
 इष्ट ४०६
 इष्टदेवता ८
 इष्टसिद्धि १३७, १७०
 इहलोक १८९, २७८, ४४०, ४४१

इहलौकिक १८८

ईक्षणिका ३७६

ईर्यापय १२४

ईर्ष्या ७५, ७९, १३९, २५४, ३१७, ३२४

ईर्ष्यालु २६८

ईश्वर ११०, ३३४, ३४७, ४९१, ४९२, ४९३,

४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९,

५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५,

५२०

ईश्वरकारणवाद ५२०

ईश्वरता ४९४

ईश्वरत्व ५०५

ईश्वरवादी ४९२, ४९३, ४९७, ४९८, ४९९,

५०१, ५०३

उच्छेददृष्टि ४१४

उच्छेदवाद ३७२

उच्छेदवादी ३५६, ३७२

उच्छेदान्त ४१४

उत्कण्ठा ७५

उत्तमक्षण १३१

उत्तमगण ४६

उत्तमगन्ध ३७

उत्तमधर्म ४६

उत्तमबोधि ३४

उत्तमयोनि २२१, ३०९

उत्तमवैद्य ७९

उत्तरकुरु ५५२

उत्पत्तिभाव ७९

उत्पत्तिवाद ५२३

उत्पत्तिवादी ५२८, ५२९, ५३०

उत्पल ४२

उत्पाद ४७८

उत्पाद-निरोध ३६२

उत्पादभंगरहित ३६३

उत्पादवादी ४८८

उत्साह २२९, २३०, २४८, २४९

उत्साहवृद्धि २२९

उत्सुकता १२७

उत्सूत्र ७

उदकबिन्दु १८

उदासी २३८

उदासीन ७१, २५६, ५०४

उदासीनता १७१, २२२

उद्वेग २३०, ५३८, ५५४

उन्मत्त १०८

उपकार २९, १६७, २१३, ३६१

उपकारक १४०

उपकाराशय २०३

उपकारीक्षेत्र १४०

उपकार्य-उपकारक भाग ३७२

उपक्लेश २३६, २३८, ४५२, ४५३

उपचार २२६

उपदेश ५, ११, १२१, २४७

उपद्रव १७२

उपनिषद् ४२२

उपनिषद्वादी ४२२, ४३२

उपभोग १६६

उपलक्षण ४६१

उपलम्भ-दृष्टि ४०७, ५४४

उपवास १५८

उपशम ३६४

उपसम्पन्नभिक्षु ४०४

उपस्थ ५०७

उपहास ७१, १२८, २३९, ३१८

उपादान ७३

उपादान कारण ४०७

उपादान कारणों ३७०

उपादान-स्कन्ध २९१, ४४६

उपादेय १५०, ३८१, ५३९
 उपादेय मार्ग २९
 उपाध्याय ६, १२१, २४७, ३३७
 उपाय ११, ६५, ८४, ३३९
 उपायकुशल १४१, ५२५, ५३२
 उपायकुशलता ६५, ४४२
 उपायकौशल १७७, ३५६
 उपायास १५६, ३६४, ५५७
 उपेक्षा ११, ७३
 उपेक्षाभाव ७६
 उपेक्षास्थानीय ४६२
 उभयतः उत्पाद ४८८
 उभयतः उत्पादवादी ४८८
 उभयतः पक्ष ५२३
 उभयसिद्ध ४००
 उभयसिद्धता ४००
 उभयसिद्धत्व ४००, ४०२
 उभयस्वभाव ५२७
 उष्ण नरक ५४७
 ऊर्णाकोश ३९०
 ऊष्मगत ३९७
 ऋद्धि २४८
 ऋद्धिपाद ४०४
 ऋद्धि-प्रतिहार्य ४०४
 ऋषि २५
 एक (व्या०) ४२६
 एकदेशता ४६०
 एकरूपता ४३२
 एकस्वभाव ३६२, ५०२
 एकाकिता २६५
 एकाग्रता २४९, ३३८
 एकान्त अकुशल २३४
 एकान्त कुशल २३४
 एकान्तचारी २६४

एकान्तवास ५६६
 ऐहलौकिक १०१
 ओजस्वी ५५७
 औदामीन्य ४६२
 औदृत्य-कौकृत्य ३३८
 औपध ६७, ५६८
 औपधि ३६२
 औपधि-द्रव्य ३६०
 कटुवचन ३४
 कठपुतली १३२
 कणाद ४०३
 कदलीस्तम्भ ४८२
 कपिल ४२२
 कपिलमुनि ५०६
 कमलकोश २३४
 कमलपाणि ५५०
 करुण क्रन्दन १९६
 करुणा ३३, ५७, ६५, ७३, ७५, ७८, १३९,
 १४१, १८३, २९५, २९६, ३०३, ३२२,
 ३२४, ३३९, ३४०, ३४५, ३९५, ४४४,
 ४४५, ४४६, ४४७, ५५१, ५५६, ५६१
 करुणचित्त १४३, २९९, ३०२
 करुणामय २११
 करुणामूर्ति ३४५
 करुणावशवर्ती १७
 करुणावान् १४१
 करुणावान् बुद्ध २१३
 कर्कशता १३९
 कर्णाटक १५८
 कर्त्तव्य २५४
 कर्तृ ३९४, ४४१, ४३६
 कर्म १७६, २३६, ३४४, ३८१, ४०५
 कर्म (व्या०) १०९, ४३७
 कर्म-कर्तृ-क्रिया-विरोध ३७१

कर्म-कर्मफल ४७९	कान्तार ५५५
कर्म-क्लेश ४४६	काम १५
कर्मण्यचित्त ५६२	कामभूमि १९
कर्मफल ४८, १८५, ४८८	काम-तृष्णा २६५
कर्मफलव्यवस्था ४३८, ४४०	कामदेव ३९२
कर्मफलसम्बन्ध ४३४	कामधातु ६८
कर्ममान (व्या०) २३७	कामधेनु (व्या०) ७२
कर्मसाधन ३३६	कामराग १३१, ३३८
कर्मविरण १६	कामवितर्क ५४०
कर्मेन्द्रियाँ ५०७	कामान्ध २८१
कलह ७५	कामासक्त ३५५
कलह-विवाद १२८	काय ४८, २१०, २३०, ४५४, ४५५, ४५७,
कलह-संघर्ष ५६२	४५८, ४६२, ४७४
कलुषचित्त ३२	कायकर्म ३४५
कल्पतरु १७	कायचेष्टा ४९१
कल्पना ३६३, ३७८, ४०५, ५२०	कायत्याग ७४
कल्पना (व्या०) ४८२	कायप्रणाम ७
कल्पनाजनित ३८६	कायप्रत्यवेक्षा १२४
कल्पनानिर्मित ३६२, ३६३	कायप्रश्रब्धि ५६२
कल्पनाबुद्धि ३४९, ४८०	कायबुद्धि ४५७
कल्पना-सापेक्ष ४२७	कायभूमि २६१, २६२
कल्पवृक्ष १८, २१, ३७, ३९०, ४०४, ५४७	कायबाग्बुद्धिवैगुण्य ५
कल्पवृक्ष (व्या०) ७२	कायविज्ञप्ति ७
कल्पित ४८२	कायविज्ञान ४१९
कल्पितमात्र ४२७	कायविवेक २५०, २८६
कल्याण २९, ३५, ८७, १०८, २०४, ५६५	कायवैगुण्य ५, ४०८
कल्याण (व्या०) १९८	कायस्मृत्युपस्थान ४६१
कल्याणकारी २६५	कायिक ७१, २२७
कल्याणबुद्धि २५	कायिक सुख १९५, १९५
कल्याणमार्ग ३२३	कायेन्द्रिय ४७२
कल्याणमित्र ६, ७५, ९५, १२६, १३६, १४९,	कारण ३६२, ३६४, ४४१, ४९०, ५०७
१९८, १९९	कारण (व्या०) ४९०, ४९७
कल्याणमित्र (व्या०) १५०	कारणता ५०३
कातरदृष्टि ५४	कारणसामग्री ९१, १६५, २३६, ३२२, ३६०,
कादम्ब ५४८	३७६, ४५८, ४७६, ४७७, ४९२, ४९४

कारण्डव ५४८
 कारागार ९९
 कारित्र ५२४
 कारुणिक ३४, ४९३, ४९५
 कारुणिकता ४९३
 कारुणिक बोधिसत्त्व ३५३
 कार्य ३६५, ४४१, ४९०
 कार्य-कारण ४३७, ५१७, ५२३
 कार्य-कारण-नियम ४३८
 कार्य-कारण-परम्परा ४४०
 कार्य-कारणभाव २९३, ३७४, ३८२, ४३५,
 ४४०, ४७६, ४८६, ४८७
 कार्य-कारण-सम्बन्ध ५१४
 कार्य-मोह ४४९, ४५१
 कार्य लिङ्ग ३७४
 कार्योपचार ६५
 काल ५००, ५२०
 कालविशेष ४९२
 काशिराज ५८
 काशिराज-पद्मकजातक ५९
 कुटिलता १४०
 कुन्दपुष्प ५४९
 कुमारगामी ४९६
 कुम्भकार ३९१, ४९२
 कुलदुहिता ३३
 कुलपुत्र ३३
 कुलीनता ३१९
 कुशल ६८, २९०
 कुशलचेतना ७
 कुशलपक्ष १४२, २०३, २६३, ५४०, ५६८
 कुङ्कुम ४३
 कूटस्थ ४४४
 कृतकार्य ६६
 कृतकृत्य ६६, ४८४,
 कृतज्ञता २०२

कृतविप्रणाश ४३५, ४३६, ४३८
 कृपणता ७५
 कृपा ५६८
 कृपालु २२७, २९६
 कृपालुमुनि २१०
 कृष्ण अगुरु ४०
 केशोण्डुक ३४७
 क्रमिकता ५०१
 क्रय-विक्रय १६
 क्रोध ७५, १५५, १६३, १७२, १७३, १८२, १८७
 क्रोध (व्या०) १५४
 क्लेश १०५, ३४४, ३८३, ४०५, ४०६, ४१६,
 ४५२, ४५३
 क्लेशनिमित्त १८३
 क्लेशनिवृत्ति ४०५
 क्लेशपरतन्त्र १३१
 क्लेशग्रहाण ४०५, ४११
 क्लेशमार ३९२
 क्लेशवर्ग २४१
 क्लेशवरण ७, १६, ७४, ८०, ३२२, ३३८, ३४१,
 ३४२, ३४४, ३४६, ३६२, ३८९, ३९२,
 ३९३, ४१६
 क्षण (व्या०) ५४०
 क्षणभङ्गुर ५२, १३५, १९१, २५३
 क्षणमात्रता ४५३
 क्षणसम्पत्ति १०, ३५, ९१, ९५, २८२
 क्षणिक ३५५, ३५६, ३५७
 क्षणिक आस्वाद २८२
 क्षणिकता ३५६, ३५७
 क्षमता ३५६
 क्षमा २००, २०२, २०३, २०४
 क्षयज्ञान ३९७
 क्षान्ति १४१, १५४, १५६, १८८, २००, २०१,
 २०२, २०३, २१४, २१५, ३३९, ३४३,
 ३९७, ५४४

क्षान्तिपारमिता ११४
 क्षान्तिपारमिता (व्या०) ११३
 क्षिति ४९७
 क्षितिगर्भ ५५२
 क्षीरसागर ८१
 क्षेत्रपरिशुद्धि ८३
 खड्गयुद्ध २४५
 गगनगञ्ज ५५७
 गण्डव्यूह ८५
 गण्डव्यूहसूत्र १५, १७
 गति ४३०
 गन्ध २६५, ३७४, ४१८, ४६३
 गन्धतन्मात्रा ५०७
 गन्धर्वनगर ५०९
 गर्भाशय २७३, ४५५
 गर्व २६८
 गर्हा ३९
 गारुडिक ३९१
 गीत ४०
 गुण ५०९
 गुणक्षेत्र १४०
 गुणग्राहकता १३८
 गुणनिधि ३२, ३०१
 गुणसागर ३५
 गुरु ७५, १८४, ३७७
 गुरुजन ४९
 गुरु-शिष्य परम्परा ४०१, ४०३
 गुह्य (व्या०) ११६
 गुह्यचित्त ११५
 गीतम २५, ४०३
 गौरव ३९, २०३
 गौरवबुद्धि ७६, १४४
 ग्रन्थ ८
 ग्रन्थकार ६, ७, ९, २९९, ४१३, ४१८, ५३३,
 ५३६, ५४५

ग्रन्थप्रणयन ९, ५४५
 ग्रन्थश्रवण ७
 ग्रन्थारम्भ ८
 ग्राहक ३८२, ४२५
 ग्राहक-आकार ३७८
 ग्राहकाकार ४७२
 ग्राहकचित्त ३६६
 ग्राहकज्ञान ३६५
 ग्राह्य ३८२
 ग्राह्य आकार ३७८
 ग्राह्य-ग्राहक ३८१, ३८३
 ग्राह्य ग्राहकभाव ४७२
 ग्राह्याकार ३८२, ४७२
 जनकल्याण ८३
 घटप्रत्यक्ष ३७४
 घृणा २७४, २७८
 घ्राण ५०७
 घ्राणविज्ञान ४१९
 चक्रवर्ती राजा २१४
 चक्रवाक ५४८
 चक्षुः ३१३, ५०७
 चक्षुरिन्द्रिय २४२, ४७२
 चक्षुर्विज्ञान ३७१, ३७४, ३७५, ३७७, ४१९
 चङ्क्रमण २८५
 चतु स्तव ४७८, ४८१
 चन्दन ४०, ४१, ४३, ५५४
 चन्दनचूर्ण ४५
 चन्द्रकीर्ति ३४०, ३४१, ३४४, ३४५, ४४६,
 ३४७, ३४८, ४३७
 चन्द्रमा ८०
 चरणकमल ५५१
 चरित्रभ्रष्टता ३१६
 चर्या ३१६
 चर्याविकल २२
 चर्याविपत्ति ३२६

चार ब्रह्मविहारों ८३
 चार वैशारद्य २०५
 चार संग्रह वस्तुओं ८३
 चारिका ३६३
 चार्वाक २९५, ४८८, ४९१, ५४०
 चिकित्सक २२६
 चिकित्सा ९०, २२६
 चित्त २३०, २७२, ३६७, ३७९, ४४२, ४४३
 चित्त-चैतन्य ३९४, ४११, ४१८
 चित्ततत्त्व ३८३
 चित्तधारा ४७७
 चित्त-परम्परा ४३८
 चित्तपूर्वगामी १११
 चित्त-प्रत्यवेक्षा १२४
 चित्त-प्रश्रवधि ५६२
 चित्तमात्र ३६६, ३८१
 चित्तमात्रता ३७८, ३८३
 चित्तरक्षा १०८, ११६, ११८
 चित्तरत्न २७, ३४
 चित्तविवेक २५०, २८६
 चित्तशूर ७३
 चित्ताधीन ११६
 चित्ताश्रित ३८१
 चित्तसन्तति ७, ८, ९, ११, ६४, २९७, २९८,
 ३८५, ४०८, ४०९, ४४४, ४७५, ५३३,
 ५६४
 चित्तसन्तान ३२, ३४
 चित्स्वभाव ४२२
 चिन्तन ८१
 चिन्तनधारा २९९
 चिन्तन-मनन ११६, ५४५
 चिन्ता ५६८
 चिन्तामणि १६, १७, ३९०
 चिन्तामणि (व्या०) ७२
 चिन्तामणिरत्न ३४

चिन्तामय ११९
 चिन्तामयी ३४४
 चिन्तामयी प्रज्ञा ७, ३९७
 चिन्तित ११९
 चिरकाल ५६८
 चिरजीवन १८२
 चीरधारी कुमार ५५१
 चीवर ४१, १४२, २५६, २६१, ३९५
 चुराचार ५३५
 चूहे ३७५
 चेतन ३३९, ४३१
 चेतनकृत १८४
 चेतनजातीय ३३९
 चेतनतत्त्व ५०८
 चेतना १०९, ४३७
 चेतनाशून्य ४३२
 चेतयित्वा (व्या०) ११०
 चैतन्य १६७, ४२१, ४३३
 चैत्य ३९६
 च्युति ७९
 छन्द २३२
 छन्द (व्या०) २२९
 छन्दबल २२९
 छिद्रान्वेषण १२०
 जगत् (व्या०) ५०७
 जगत्कल्याण ७४, ८५
 जगत्कारणता ४९९
 जगदीश्वर ४९६
 जगद्गुरु ५६१
 जगद्गुःखौषध २७
 जठरानल २३४
 जड ३३९
 जडस्वभाव ३७१
 जनक (व्या०) २००

जनसमाज १२९
 जनसमूह २१२
 जन्म १४,७९,३६३
 जन्म-जन्मान्तर २१४
 जन्म-परम्परा ३८५,४५७
 जन्म-मरण ३२५,३६२,५४१
 जन्य-जनकस्वभाव ५२२,५२३
 जप (व्या०) ११५
 जम्बूद्वीप ५८,३३२
 जरा ७५,७९
 जरामरण ३६४
 जल ४२२,४९७,४९८,५००
 जागतिक व्यवहार ३६२
 जाग्रत-अवस्था ५१९
 जातक ४७
 जिन (व्या०) १५,३९२
 जिनरत्न १५
 जिनसिंह (व्या०) २३९
 जिनस्तम्भ ३९१
 जिह्वाविज्ञान ४१९
 जीवन-यापन ५५९
 जीविका २८०
 जैन ४२१,४३२
 जैनदर्शन ४८८
 जैनमत ४२१
 ज्ञान ३६५,३७७,४३६,४५८,४८५,४८६,
 ४८८,५००
 ज्ञान (व्या०) ४२४
 ज्ञान-ज्ञेय ४८६
 ज्ञान-ज्ञेयभाव ३७२
 ज्ञानधर्मकाय ३४४,३९२
 ज्ञानरूपता ४३०
 ज्ञानसंभार १३,२०,२०४,२१२,२१५,२२२,
 ३४०,५४३,५४४

ज्ञानात्मकता ४३०
 ज्ञानेन्द्रिया ५०७
 ज्ञेय ४१६,४२४,४८५,४८६,४८८,५००
 ज्ञेयसंकलेशवासना ३८५
 ज्ञेयावरण ७,७४,८०,८५,३२२,३३८,३४५,
 ३४६,३५१,३६३,३८५,३८९,३९२,
 ३९३,४१६
 ज्ञेयावरण (व्या०) ३४२,४०८
 डाकिनी १०९,५६१
 तत्त्व ३५७,३९८
 तत्त्व (व्या०) ४२७
 तत्त्वज्ञ ५१६,५१७
 तत्त्वज्ञान १३४
 तत्त्वज्ञानी ३५५
 तत्त्वदर्शन १०५
 तत्त्ववादी ११०
 तत्त्वविषयक ३५१
 तत्त्ववेदी ५१६
 तत्त्वव्यवस्था ५१७
 तत्त्वशून्य १०५
 तत्त्वसंग्रह ४४०,४९३
 तत्परता २४५
 तथता ३९२,५३२
 तथागत ११,३५,४२,९०,१०८,१२७,२११,
 २२२,२३४,२५९,३८३,३९३,३९४,
 ३९५,३९६,३९८,४७८,४७९,५३२,
 ५४१,५६०
 तथागतगुह्यसूत्र ३९०
 तथ्यसंवृत्ति ३४८
 तथ्यसंवृत्ति (व्या०) ३४७
 तन्तुवाय ५०३
 तन्मात्राएँ ५०७
 तपस् (व्या०) ११५
 तप्तलौहमयी भूमि २३५

तमस् १६४, ४२७, ४३८, ५०७, ५१०, ५११	त्रिरत्न ३, ३५, ४६, ४९
तर्क-वितर्क ५५०	त्रिसाहस्र लोकधातु ४२
तात्त्विक दृष्टि ४२७	त्रिस्कन्ध १४८
तात्त्विक व्यवस्था ४२७	त्रैकाल्यवादी ५२४
तात्त्विक-स्थिति ५१६	त्वक् ५०७
तात्त्विक स्वरूप ३५५	दक्षिणात्य १५८
तात्पर्य २४४	दमन १०९, २६५
तात्पर्यबल २२९	दयामय २१०
तायिन् (व्या०) ६४	दयालु ४९४
तितिक्षा १५४	दरिद्र ६८
निरोभाव ५१३	दरिद्रता ७५, ७८, ७९
तिर्यक् ७९, ३४४, ५३३, ५३७, ५६४	दर्शनमार्ग ३९७
तुष्टि १३८	दर्शनहेय ३९७
तुष्टिमात्र ४६४	दशबल २०५
तूर्यमोक्ष ४४	दशभूमीश्वर ४५
तृषादित ५४	दान ६२, ८३, १४१, १५३, २०१, ३३९, ३४२,
तृष्णा १५	३५३, ३९४, ५४४, ५५८
तृष्णा १६, १७४, २५०, २५२, ३०७, ३०८,	दानपारमिता १११, १२६, १४३
३३२, ३५०, ३६०, ३६४, ४०६, ४०७,	दानपारमिता (व्या०) ११२
४०९, ४७१, ४८२, ५३५, ५४१	दारिद्र्य (व्या०) ११२
तेजस् ७२	दारुणपाप ४९
तेजस् (अग्नि) महाभूत ५०७	दार्शनिक ४९२
तेजःसंवर्त ६७	दार्शनिक प्रस्थान ३३०
तैलपात्र २४६	दासता ३०८
त्यागचित्त १२२	दास-भाव २०९
त्यागान्वय ३९४	दिक् ५००
त्रसरेणु ५०६	दिव्यशरीर ५६४
त्राण ५७	दिव्यावदान ३९७
त्रिकोटिपरिशुद्ध ३५, ८३, ३४३	दीक्षा ७५
त्रिकोटिपरिशुद्ध (व्या०) ५४४	दीनता २३८
त्रिकोटिपरिशुद्धदान ३५३	दीपक ७१, ३६९, ३७०
त्रिगुणात्मक ४२७, ५०८, ५०९, ५११	दीपकप्रकाश ३१२
त्रिधातु ३२५	दीपदृष्टान्त ३६९
त्रिपिटक ४०३	दीपंकर २२३

दीर्घायुष्य २१४
 दुर्गति ८५, ८८, १२०, २३०, २५३, २५४,
 ४३४, ४४१, ५६४
 दुर्जन २५५
 दुर्भिक्ष ६७
 दुर्भिक्षान्तरकल्प ६७
 दुर्लभता ७७, ९२
 दुःख ३६४, ३९७, ५२०
 दुःख-अवस्था ४२१
 दुःख आर्यसत्य ३९७
 दुःखजातीय ४६४
 दुःखता २८८, २८९
 दुःखदर्शन ३३९
 दुःखदुर्योधन १६०
 दुःखदुःख ३२४, ३४५
 दुःखधारा ७८
 दुःखनिवृत्ति ३३९
 दुःखःपरम्परा ३३४, ३६४
 दुःखमुक्ति ३४०
 दुःखसागर १२, १३, ५३८
 दुःखसाधन ४६५, ४६६, ४७४
 दुःखस्कन्ध ३६४
 दुःखस्वभावता २८८, २८९
 दुःखहरण २१२
 दुःखहेतु ५२
 दुःखाग्नि ५४३
 दुःखाधिवासनाक्षान्ति १५६
 दुःखित १४०
 दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति ३९७
 दुःखोपशम ४५०
 दुःशील ५६३
 दुराशरण ३२५, ५६३
 दुर्गति ३०७
 दुष्कर कार्य २२४

दुष्करचर्या २२२, २२३, २२५, ३६३, ५६४
 दुष्कर्म ३०५
 दुष्ट-आश्रय २०४
 दुष्टचित्त ५६२
 दृढ अभिनिवेश ५३२
 दृढ आशय १२
 दृष्ट ३७७
 दृष्टान्त २९४, ३५२, ३६९, ३७२, ४८७
 दृष्टि ३१६
 दृष्टिविक्षेप १२३
 दृष्टिविपत्ति (व्या०) ३१६
 देव १६, ७९, ८२, ८५, ९७, २२१, ३२५, ३४४,
 ५३३, ५३७, ५६५
 देवनिर्काय ३२
 देवपुत्र ४४५
 देवपुत्रमार ३९२, ५४०
 देवराजता ३०६
 देवलोक १५, ८२, ५४७
 देवसम्पत्ति १३
 देवसुख १४
 देशना २१९, ३५६
 देशविशेष ४९२
 दैन्य १०१, १५८
 दोषबुद्धि १८३
 दोषारोपण ७१
 दीर्घमनस्य १५५, १५६, १५७, १६३, ३६४,
 ५३७
 दीर्घमनस्य स्थानीय ४६२
 द्रव्यपरमाणु ४६९
 द्रव्यसद् ३७२, ५२५
 द्रव्यस्वभाव ४२१
 द्व्यणुक ५०६
 द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुत्पाद ३४१
 द्विजाति १८४

द्विविध नैरात्म्य २२७
 द्वेष १४, ४९, ५२, ७५, ७९, ९६, १४०, १६१,
 १७२, १७३, १९९, २०१, २३७, २४६,
 २६४, ३१६, ३३४, ३८०, ४०८, ४१६,
 ४५३, ४६१, ४६२, ५३३
 द्वेष (व्या०) १५४
 द्वेषाग्नि १८६
 द्वैत ३९८
 द्वैतसमारोप ३८१
 द्वैताभास ३८२
 धननाश २६०
 धनविकल ६८
 धर्म ३, ६, ४७, ४९, ५६, ७५, ७७, २७४, ३०६,
 ३६४, ४०१, ५०१
 धर्म (व्या०) १२५
 धर्म-आभाणक २९७
 धर्मकाय ३२२, ३९२
 धर्मकाय (व्या०) ५
 धर्मकीर्ति ३१२, ४०५, ४४०, ४९७, ५०२
 धर्मचक्र-प्रवर्त्तन ३२३
 धर्मचिन्तन १२५
 धर्मच्छन्द ७५
 धर्मता ३३९, ४००, ४०१, ४०२
 धर्मदेशनापरिषद् ५६०
 धर्मदेशनारूपी ६५
 धर्मधातु ३९२
 धर्मध्वनि ५५९, ५६०
 धर्मनिध्यानक्षान्ति १५६, १७८
 धर्मनैरात्म्य ४१८
 धर्मप्रदीप ६५
 धर्मप्रविचय ११, ३४३
 धर्मरत्न ३५
 धर्मविपरीत-आचरण १८३
 धर्मसर्वस्व (व्या०) ११६

धर्मसंकेत ४४०
 धर्मसंगीति ३४२
 धर्मसंगीतिसूत्र १४०, ४७३, ५३२
 धर्मस्मृत्युपस्थान ४७८
 धर्माचरण ९८, २६४, ५५६, ५६१
 धर्माधिगम २०२
 धर्माधीन ११६
 धर्मानुष्ठान २५६
 धर्मात्म्यना ४४६
 धर्मोपदेश ३६३
 धर्मोपदेशक १४४
 धातु ३५५, ३५६, ४८२
 धूपपूजा ४३
 धृति ५५४
 ध्यान १४१, २४३, ३३८, ३४३, ४६६
 ध्यान (व्या०) ३३८
 ध्यानपारमिता (व्या०) ११५
 ध्यान-भावना २६४, ५४०
 ध्यान-भूमि ४११
 नगर (व्या०) १६
 नट ४२९
 नदी ४९२
 नन्दनवन ५४७
 नन्दिक २९७
 नरक १२, २८, ५२, ५४, ६२, ७९, ८५, ८६, ८७,
 ९३, ९५, ९९, १०८, १७५, १७७, १८७,
 १९८, २०८, २१९, २२४, २४६, ३६५,
 २८३, ३२४, ३४४, ३५६, ४९३, ४९४,
 ५३२, ५३३, ५३७, ५४७, ५४८, ५५०,
 ५५२, ५६४
 नरक-दुःख २८४
 नरकपाल ९९, १९४, २१३
 नरकवेदनीय २२०

नरकाग्नि ९७
 नवनीत ८०, ८१
 नागार्जुन ३४०, ३५६, ४४१, ४८८, ५२०,
 ५३०, ५३३
 नाथ ५५, ७१
 नारकीय २७८
 नारायणपरिपृच्छा ७३
 नारायणपरिपृच्छासूत्र ३१
 नास्तिक ५२५
 नास्तित्व ५१८
 नित्य ४४४
 नित्य (व्या०) १६७, ४२६
 नित्यता ४२३, ४३२
 नित्यत्व ४२१
 निन्दा ७०, १२८, २५८
 निन्दा-प्रशंसा ५३९
 निमित्तकारण ४९३, ५०३
 नियतानियतावतारमुद्रासूत्र ३३
 निरन्वय विनाश ५१३, ५१४
 निरपेक्ष ३७०
 निरपेक्षता २५१
 निरपेक्षसत्ता ३८६
 निरभिमानता ९, १६२
 निरभिमानिता ३०५
 निरभिलाष्य ४७८
 निरवयव ४६०
 निरंश ४६८
 निरात्मक २९५, ३०२, ४४१, ४७४
 निराभोग ३४५
 निरालम्भ ४४३
 निराशा ३३२, ३३३
 निरासक्त २६१
 निरुपधिशेषनिर्वाण ३९३
 निरोध ६९, ३६४, ४७८

निरोध आर्यसत्य ३९७
 निरोध समापत्ति ४११
 निर्गुण ४२२
 निर्जन जंगल ५५६
 निर्धनता ३०८
 निर्मल (व्या०) ७७
 निर्मल अवस्था ३५३
 निर्माणकाय ३२२
 निर्वाण ७२, ७९, २९८, ३३०, ३३९, ३४०,
 ३४४, ३५८, ३८१, ४०१, ४०८, ४१०,
 ४११, ४७५, ४८०, ५४४
 निर्वाण (व्या०) ६९, ४८४
 निर्वाणशय्या १४७
 निर्वाणसुख ८१, ४१५
 निर्वासित १०४
 निर्विकल्प ३१४, ३४८
 निर्विकल्प अवस्था ३५३
 निर्विकल्पज्ञान ३४९
 निर्वैधभागीय ३९७
 निर्व्यापार १६४, १६८, १६९, ४३६
 निवृत्ति १६९
 निवृत्तिस्वभाव १६६
 निषेध ३८७
 निष्कर्म २४३
 निष्प्रपञ्च ४७८
 निःशेषता ४
 निःश्रेयस २७, ६८, ७०, ८६, १०८, १६९,
 २२१, २४३, २६५, ४९०, ५४३
 निःश्रेयसरूपी १०
 निःस्वभाव ३५२, ३५४, ३५६, ३६७, ४७७
 निःस्वभाव (व्या०) ३७१
 निःस्वभावता ७४, ३४४, ३४८, ३७१, ४१०,
 ४८८, ५२०, ५२१, ५३१, ५४४
 निःस्वभावता (व्या०) ३८६

निःस्वभाववादी ३८४
 निःस्वलक्षणता ३४८
 नीतार्थ ४३९
 नीरोगता १०६
 नीलस्फटिक ३७०
 नीलिमा ३७०
 नीवरणधर्म ३३८
 नेयार्थ ४३७, ४४२
 नेयार्थदेशना ४३९
 नैयायिक १६४, १६७, ४२०, ४३२, ४३३
 नैयायिक-वैशेषिक ४९२
 नैरात्म्य ३११, ३१६, ३२२, ३५७, ४१८, ४४२,
 नैरात्म्यदर्शन ४
 नैरात्म्यदृष्टि २२२
 नैरात्म्यभावना ४५२, ४५३
 नैवेद्यपूजा ४३
 नौका-बुद्धि १३६
 नौयान ५५५
 न्याय ५४०
 न्याय-वैशेषिक १६६, ४८८
 पङ्क्ति (व्या०) २९३
 पञ्चस्कन्धसन्तति ३९३
 पट ४५४
 पठन-पाठन ५६२
 पण्डित (व्या०) ३३७
 पण्डितजातीय ४६२
 पथ्यसेवन २२५
 पद्मवन २९७
 पर-आत्म-परिवर्तन २८६, २८८
 पर-आत्मसमता २८६
 परकल्याण १०२, ३०१, ३२२, ३२३, ३३६,
 ३९१
 परकीयसंज्ञा ७३
 परकेन्द्रित ३१२
 परचित्तज्ञान अभिज्ञा ३७६

परतन्त्र ५०५
 परतः उत्पत्ति ५२३
 परतः उत्पत्तिवादी ५२२
 परतः उत्पाद ४८८
 परदुःख ३०९
 परदुःख-दुःखी ५७
 परधन २८१
 परनिरपेक्ष ३४०
 परनिरपेक्षता ३६९
 परपरिग्रह ३१३
 परम २४८
 परम निर्वृति ४५
 परम कारुणिक ५७, ५८
 परम पुरुषार्थ २०२
 परमशान्ति ३९२
 परमाणु ४५५, ४५९, ४६०, ४६८, ५६०, ५११
 परमाणुपुञ्ज ५०६
 परमाणुरूप ५००
 परमार्थ ३४८, ३४९, ३५३, २८१, ५२७, ५४४
 परमार्थ-गवेषक ३५५
 परमार्थ-तत्त्व ४२७, ५३३, ५३६
 परमार्थतः ३७७
 परमार्थतः दर्शन ४०५
 परमार्थतः निःस्वभाव ५३३
 परमार्थतः प्रमाण ५१७, ५१८
 परमार्थतः शून्य ३६३
 परमार्थतः सत् ३७७, ४५८
 परमार्थ-देशना ४३९
 परमार्थ पक्ष ४८८
 परमार्थवेत्ता ३५५
 परमार्थशून्यता ३८७, ५४३
 परमार्थशून्यतासूत्र ५२६
 परमार्थसत् ३५९, ३८०, ३८२, ३८९, ३९६,
 ४७२, ५१९, ५२७

परमार्थसत्ता ४१८, ४८४
 परमार्थसत्य ३४५, ३४९, ३५०, ३५२, ४०५,
 ४१४, ४४९, ४७९, ४८३, ४८८
 परमार्थमत्य (व्या०) ३४८
 परमार्थ स्थिति ५३४
 परलोक ५२, ५३, ७०, १०८, १३९, १५५,
 १७९, १८१, १८९, २३२, २६५, २७८,
 २९०, २९१, २९२, २९८, ३१०, ४२१,
 ४३४, ४३५, ४३७, ४३८, ४४०, ४४१,
 ४९३
 परलोकगमन ४७९
 परवेदन ३७६
 परसुख ७३, २८५, ३९१
 परमेवा ३०५
 परस्त्री २८१
 परस्त्रीसेवन ११०
 परस्पर विरोध ४०३, ५१६
 परस्पराश्रित ४८५, ४८६
 परहित ३२, ८४, १४८, २२७, २८५, २९८,
 ३०२, ३०५, ३०७, ३१०, ३२२, ३२९,
 ३९१
 परहितचिन्तन ५५६
 परहित-भावना ३०५
 परहितमूलक ३१२
 परहितविमुख १२९
 परहितसम्पद् ३२२
 परहितसुखाभिलाषी ३८
 पराई स्त्री १४६
 परात्मपरिवर्त्तन २२१, २९९, ३००, ३०१,
 ३०२, ३०४, ३०५, ३२२
 परात्मपरिवर्त्तन (व्या०) २२२
 परात्मसमता २२१, २९९
 परात्मसमता (व्या०) २२१
 पराधीन १४८
 परापकारमर्षणक्षान्ति १५६, १७०

परार्थ २६, १४२, २९८
 परार्थकारिका ९
 परार्थकृत्य ३२३, ३८९, ३९२
 परार्थचर्या ३९२
 परार्थभावना ३०६
 परार्थसम्पत्ति ३२२
 परार्थ सम्पद् (व्या०) ३२३
 परावृत्ति ३८१
 परिक्षय ३१
 परिचारक ६७
 परिजन ५३
 परिणाम (व्या०) १६५
 परिणामदुःख ३२४
 परिणामना ३५, ६८, १४९, ५६२, ५६५,
 ५६८
 परिणामना (व्या०) ५४५
 परित्राण ५५
 परिदेव ३६४
 परिनिर्वाण ६६ ३९०, ३९१, ३९४, ३९५
 परिनिवृत्त ३६३, ४८०, ४८१
 परिभोगान्वय ३९४
 परिशुद्ध ७७, ८४
 परोक्ष ३७५
 परोपकार ९, ८४, १४१, ३०५, ३३६
 परोपकारनिरत १४१
 पर्याय-स्वभाव ४२१
 पर्युपासना १५०
 पर्वत ४९२, ५०६
 पर्वच्छारद्य ३०३
 पर्वत्-शारद्य ३०३
 पश्चात्ताप ४८, ५६३
 पंचस्कन्ध २२२, २९१
 पंचस्कन्धसन्तति ४४६
 पाणि ५०७

पाण्डित्य ३१९
 पातक ५०
 पाद ५०७
 पादवन्दन ३५९
 पाप ५०, २६६, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१
 पापकर्म ५०, २३
 पापक्षय १९, १८२
 पापचित्त ३२, ३३, १११
 पापदेशना ३५, ४८, ६६, १४८, ५४५
 पापफल ३३
 पायु ५०७
 पारमार्थिक ३५३, ३५४, ३९५, ४३१
 पारमार्थिक दृष्टि ४४२
 पारमार्थिक सत्ता ३४८, ३५८, ४४२, ४६७, ५१८
 पारमार्थिक स्थिति ५३५
 पारमार्थिक स्वरूप ३५५, ३५९
 पारमिता १४१, २१५
 पारमिता (व्या०) ३४३
 पारमिताएँ ३३९
 पारलौकिक १०१
 पिटक ४००
 पिण्ड ४८२
 पिण्डपात १४२, २५६, ३९५, ५६४
 पिता ४२७, ४८६
 पिता-पुत्रसमागमसूत्र ३४९, ५३६
 पितृ-पितामह २७८
 पीत शंख ३४७
 पुण्य ५३, ६६, १९५, ३५८, ३५९, ३६१
 पुण्य अनुष्ठान ५६८
 पुण्यकर्मी ३०
 पुण्यकार्य ५६८
 पुण्यक्षय १८२
 पुण्यक्षेत्र ३३
 पुण्यधाराएँ २३

पुण्यप्रवाह २२, २३
 पुण्यफल ३३
 पुण्यवृद्धि १२
 पुण्यमाहात्म्य २९, २२९
 पुण्यराशि १८
 पुण्यविघ्नकारी २००, २०१
 पुण्यविपाक ६३
 पुण्यसंचय ३९०, ३९१, ५४४, ५५८
 पुण्यसंभार ७, १३, २०, २०४, २१२, २१४, २१५, २२७, ३२२, ३३९, ३४०, ३४२, ३५२, ३९० ४४४, ४४६, ५४३, ५४४
 पुण्यसंभार (व्या०) ३२२
 पुण्यात्मा २९, ३०, ३३, १५५, २५९, २८५
 पुण्यानुमोदन ३५
 पुण्यानुमोदना ६३, ६६, १४८, ५४५
 पुत्र ४२७, ४८६
 पुत्र-अवस्था ४२८
 पुद्गल ३३०, ४२२, ४३८, ४३९
 पुद्गलग्राह ४११
 पुद्गलनैरात्म्य ३५७, ४१८
 पुद्गलवादी ४२२
 पुद्गलशून्यता ४५३
 पुनरावृत्ति ४
 पुनरुक्तिदोष ४१३
 पुनर्जन्म ३६०, ४०७, ४१०, ४१८
 पुनर्भव ४०७
 पुरुष १६५, १६६, ५०७
 पुरुष तत्त्व ५०८
 पुरुषपक्ष १६५
 पुरुषार्थ १०, ७८, १९५, २२१, ३३९, ४४८
 पुरोहित २९७
 पुष्पकूटधारणी ३९५
 पुष्पयुद्ध ५४१
 पुष्पवृष्टि ५४९
 पुष्पवृष्टियाँ ४५

पुष्पसमूह ४३
 पूजन ३५, ३६
 पूजा ४४, ६६
 पूजाप्रशंसा ३३५
 पूजामेघ ४४
 पूजाविधि ४७
 पूजासत्कार ३५९
 पूजासामग्री ३८
 पूर्वपक्षी ३६२
 पृथग्जन १३१, २५३, ३०९, ३६६, ३८३
 पृथग्जन अवस्था २२३
 पृथग्जन बोधिसत्त्व ३४४
 पृथ्वी ७२, ११३, ४२२, ४९८, ५००, ५०६
 पृथ्वीमण्डल ५६०
 पृथ्वीमहाभूत ५०७
 प्रकाशस्वभाव ३७३
 प्रकाशात्मकवस्तु ३७०
 प्रकृति १६५, १६६, ४२२, ४३१, ५०६, ५०७,
 ५०८

प्रकृतिप्रभास्वर ३५
 प्रकृतिसावद्य (व्या०) ६२
 प्रज्ञप्ति ३८१, ४३३
 प्रज्ञप्ति सावद्य (व्या०) ६२
 प्रज्ञा ६५, ७८, ८१, ८४, ११९, १४१, ३१६,
 ३१९, ३४०, ३४३, ३४४, ३४५, ३६४,
 ३९८, ४१५, ४४६, ४४७, ५४२, ५४४,
 ५५६
 प्रज्ञा (व्या०) ३३९, ३४१, ३४२
 प्रज्ञाकरमति ४१३
 प्रज्ञापारमिता ८३, ११५, ३३९, ३४३, ३८८,
 ३९२, ३९८, ३९९
 प्रज्ञापारमितासूत्र ३५८, ३९९
 प्रज्ञापारमितास्तुति ३९९
 प्रज्ञाप्रधान ३४३

प्रज्ञाभावना ३३८
 प्रज्ञावान् १७, २२८
 प्रणाम (व्या०) ७
 प्रणामपूजा ४६
 प्रणिधान २०, ३४, ३९०
 प्रणिधिचित्त २०, २१, २२
 प्रणिधि बोधिचित्त ८५
 प्रतिकूलवेदनीय १४
 प्रतिग्रहीता ३९४
 प्रतिग्राहक ५४४
 प्रतिघ (व्या०) १५३
 प्रतिज्ञा ८४, ८५, ८७, ८९, १०२, २१०, २३६
 प्रतिज्ञाभिधु ४०४
 प्रतिपक्ष ४, ५६, १०३, १३०, ३३८, ४०५
 प्रतिपक्षबल ३३७
 प्रतिपत्ति २१, २२
 प्रतिप्रश्न ३५९
 प्रतिबिम्ब १२३, ३५२, ३५५, ५२३, ५२७
 प्रतिमा १५, १८३, २३१
 प्रतिमोक्षसंवर ३१६
 प्रतिवादी ३५२
 प्रतिस्पर्धा ३१४, ३१७, ३१८
 प्रतीति-विरोध ३५७
 प्रतीत्यसमुत्पन्न ३३९, ३४८, ४१८, ४४८, ४७२,
 ४७७, ५२३, ५२६
 प्रतीत्यसमुत्पाद १६३, १६४, १६९, ३१२,
 ३४४, ३४९, ३५२, ३५३, ३५६, ३६०,
 ३६४, ३७१, ३८६, ४०१, ४०६, ४०९,
 ४४०, ४५०, ४७८, ४८०, ४८१, ४८८,
 ५२३
 प्रतीत्यसमुत्पाद (व्या०) ३६४
 प्रत्यक्ष ३५४, ३५५, ४५६, ४८९
 प्रत्यक्षप्रमाण ३५५
 प्रत्ययसामग्री १६४

प्रत्ययावीन १६९
 प्रत्यवेक्षण १५२
 प्रत्युपकार २९, १८९, २०२
 प्रत्येकबुद्ध १८३, ३४४, ३५८, ३९९, ५६५
 प्रत्येकबुद्धगोत्रीय १४
 प्रत्येकबुद्धबोधि ६४
 प्रदीपपूजा ४३
 प्रधान ३४७, ५०६, ५०९, ५२०
 प्रधान (व्या०) ५०७
 प्रधानकारणता ५०६
 प्रधानकारणवाद ५२०
 प्रपञ्च ज्ञान ३४९
 प्रपञ्चरहिता ३९२
 प्रभाव आविष्य ४९६
 प्रभास्वर ४०, १७२, ३८१
 प्रभास्वरूप ३८१
 प्रभुता ५३
 प्रमाण ३५४, ३५५, ३९९, ४८४, ५२०
 प्रमाणक्रिया ८
 प्रमाणज्ञान ४८४
 प्रमाण-प्रमेय ४४०, ५२०, ५३२
 प्रमाणबाधित ४
 प्रमाद ९१, १५०
 प्रमुदिता ५, २३४
 प्रमुदिता भूमि ३५१, ५६५
 प्रमुद्रित ६८
 प्रमेय ४८४
 प्रमोद ५४६
 प्रमोदचित्त ३४
 प्रयोगमार्ग ३९७
 प्रयोजन ३, ६, ७, ८
 प्रयोजननिष्ठा ६, ७
 प्रयोजन-प्रयोजन ६
 प्रलयकाल १९, ५०१

प्रवचन २०३
 प्रवृत्ति १६९
 प्रवृत्तिस्वभाव १६६
 प्रव्रजित १४६
 प्रव्रज्या २०१, ५६५
 प्रव्राजक २०१
 प्रशस्त ४
 प्रशस्तता ४
 प्रशंसा १२८, २५८
 प्रसन्नचित्त ६८
 प्रस्थानचित्त २०, २१, २३, २७
 प्रस्थानबोधिचित्त ८५
 प्रहाण-सम्पत्ति ४
 प्रहाणसम्पद् ३२२
 प्राकृत ३५२
 प्राकृत (व्या०) ३५०
 प्राकृतजन ३५०, ३५१, ३५२
 प्राग् अभाव ५२९, ५३०
 प्राणातिपात ५०, ६२, ११२, ५५८
 प्राणिलोक ६१
 प्राणिहित ५६५
 प्रातिमोक्ष १४८
 प्रामाणिकज्ञान ३६७
 प्रामाणिकता ३५७, ४०३
 प्रामाणिक बुद्धवचन ४०२
 प्रामाण्य ४८४
 प्रामोद्य २९८
 प्रासंगिक ३४०
 प्रासंगिक माध्यमिक ३५६
 प्रिय ५०
 प्रियजन २६२
 प्रियवचन ६५, ८३
 प्रियविप्रयोग ३२५
 प्रियवियोग २१९

प्रियसंगति २५२
 प्रीति २०१, २७८, ३३८, ४६६
 प्रीतिचित्त ३४
 प्रीतिवेग ५५१
 प्रीति-सुख १५४, १८९, १९७,
 प्रेत १६, ७९, ८७, ३२४, ३४४, ५३३, ५३७,
 ५५२, ५६४
 फलभूतप्रज्ञा ३४४
 फलभोग ४९४
 फलसम्पत्तियाँ ४
 फलावस्था ३९३
 फेन ४८१
 बन्धनागार १४
 बन्धमोक्ष ४३५, ४४०, ४८८, ५२०, ५३२
 बन्धु १२, ६१
 बल १९५
 बलव्यूह २२८
 बहुजन ३१७
 बहुजन समाज ३२५
 बहुमूल्यता ७७
 बहुश्रुत २४७
 बहुश्रुता ११९
 बालकल्पना १९७
 बाल-पृथग्जन २५३, २५४, २५५, २५६, २५९,
 ३९८, ५३६
 बालबुद्धि १७२
 बाल्यावस्था २७८
 बाह्य ४७५
 बाह्यतः सत् ३६६
 बाह्यपदार्थ ३६५
 बाह्यसाधन ३३३
 बाह्यार्थ ३७१
 बाह्यार्थसत् ३८०
 बुद्ध ३, ११, १५, १७, ३२, ३५, ३९, ४५, ४६,

४७, ४९, ६१, ७७, ८२, ८५, ९०, १४८,
 २०५, २०८, २०९, २५८, २६४, ३०६,
 ३३७, ३६३, ३६४, ३८३, ३९९, ५५९
 बुद्ध (व्या०) ४७९
 बुद्धकाय १५, ३९२
 बुद्धकुल ७७
 बुद्धक्षेत्र ४६
 बुद्धगुण ४४४
 बुद्धचक्षु ३२३
 बुद्धता (व्या०) ६४
 बुद्धत्व ७, १३, ६५, ७३, ७४, ७५, ८१, ८२, ८३,
 १४०, २०४, २१४, २१५, २१५, २२५,
 २८३, ३०५, ३०९, ३२२, ३३९, ३४०,
 ३५२, ३९२, ३९६, ४४५, ५४४, ५६४
 बुद्धत्व (व्या०) १२, ३३१, ३९२
 बुद्धत्वावस्था २४१
 बुद्धधर्म २९५, ४४५
 बुद्धपालित ३४०
 बुद्धपुत्र १४
 बुद्धपूजा ५४८
 बुद्धभगवान् ३९६
 बुद्धभाषित ४०१
 बुद्धभूमि ३४४
 बुद्धरत्न ३५
 बुद्धवचन ८१, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३,
 ४१३, ५६२
 बुद्धवचनता ४०३
 बुद्धवचनत्व ४०१
 बुद्धशासन ४०४, ५६८
 बुद्धसंज्ञा ४०१
 बुद्धाध्येषणा ३५
 बुद्धानुस्मृति १२२
 बुद्धावस्था ३८९
 बुद्धि (व्या०) ५०७

बुद्धिमान् ५०५
 बुद्धिवैगुण्य ४०८
 बुद्धिशून्य ५०५
 बोधि ५ २०, ७४, ७८, १९२, २१५, २२२,
 २२३, २८३, ३६३, ३७८, ३९०, ३९३
 बोधिचर्या २०२, २८३, २९९, २९१, ५५८,
 ५६८
 बोधिचर्या (व्या०) ३९२
 बोधिचर्यावितार ६, ९, ४१३, ५४५, ५६८
 बोधिचर्यावितार (व्या०) ६
 बोधिचर्यावितारपञ्जिका ४०६, ४८१
 बोधिचित्त ११, १२, १३, १४, १५, १७, १८,
 १९, २०, २१, २२, २६, २७, ३४, ३५, ७३,
 ७५, ७६, ७७, ७८, ७, ८१, ८२, ८३, ८५,
 ८७, ८८, ११६, १४८, १९०, १९२, २२८,
 २३०, २३७, २८६, ३३९, ३४०, ५५८,
 ५६८
 बोधिचित्त (व्या०) ७४, ३२२
 बोधिचित्तरत्न १६
 बोधिचित्तोत्पाद ८९
 बोधित्व ३०
 बोधिपरिणामना १४८
 बोधिपाक्षिक ३८१
 बोधिप्रणिधि २०
 बोधिप्रणिधिचित्त २१, २७
 बोधिप्रणिधिचित्त (व्या०) २०
 बोधिप्रणिधिसूत्र २२
 बोधिप्रस्थानचित्त २०, २१, २२
 बोधिप्राप्ति २२५, ५४५
 बोधिमार्ग १४३
 बोधिसत्त्व ५, ६, १७, १९, २३, २५, २६, २९,
 ३१, ३२, ३३, ३८, ४५, ६१, ६५, ६८, ७३,
 ७७, ७८, ८३, ८४, ८५, ८८, ९९, १०६,
 १०८, ११६, १२२, १३०, १३१, १४०,

१४३, १४६, १४९, १८२, १८३, १८९,
 २०८, २२३, २२५, २२६, २२७, २२८,
 २३४, २४१, २४२, २४५, २४८, २५१,
 २५८, २८६, २८७, २८८, २८९, २९६,
 २९९, ३२५, ३३०, ३३७, ३३९, ३४५,
 ३५१, ३९०, ३९१, ४०१, ४११, ४१४,
 ४१५, ४४४, ४४५, ४४९, ४५०, ५३२,
 ५४४, ५४५, ५६०, ५६५, ५६७,

बोधिसत्त्व (व्या०) ७५, ७६, ३९३
 बोधिसत्त्व-अवस्था १३, ३९१
 बोधिसत्त्व आकाशगर्भ ५७
 बोधिसत्त्वक्षितिगर्भ ५७
 बोधिसत्त्वगात्र ७५
 बोधिसत्त्वगोत्रीय ३४०
 बोधिसत्त्वचर्या ३६३
 बोधिसत्त्वचर्यावितार ३
 बोधिसत्त्वप्रतिमोक्ष ७३, १४२
 बोधिसत्त्वभिक्षु २९७
 बोधिसत्त्व-मञ्जुघोष ५६, ५५१, ५६५
 बोधिसत्त्वमार्ग ७, ९
 बोधिसत्त्वशिक्षा ६
 बोधिसत्त्वता (व्या०) ७४
 बोधिसत्त्वसमन्तभद्र ५६
 बोधिसत्त्वसंघ ४७, ५६
 बोधिसत्त्वसंवर २०, ७३, ७५, ८८, २४६
 बोधिसत्त्वसंवरावतार ६
 बोधिसत्त्वो ८२
 बोध्यज्ञ ४०४
 बौद्ध ३३४, ४६४, ४९५, ४९८, ५१७
 बौद्धदार्शनिक ३३४
 बौद्धधर्म ३३०
 बौद्धमत १८४
 ब्रह्मता ११४
 ब्रह्मा २५, ३२५

भक्ति ३९

भगवान् ५, १३, ३२, ४५, ६०, ९२, १०९, १११,
 १२७, १४२, १४७, २०६, २०७, २०९,
 २२५, २३१, ३४२, ३५२, ३५५, ३५६,
 ३५८, ३६४, ३७८, ३८८, ३९१, २९२,
 ३९३, ३९४, ३९५, ३९७, ४०४, ४०७,
 ४३७, ४३९, ४४१, ४४२, ४४६, ४७७,
 ४९२, ५२३, ५२५, ५२६, ५३१, ५३२

भगवान् अजित १९

भगवान् अवलोकितेश्वर ५७

भगवान् तथागत २४, ३७८

भगवान् बुद्ध ४, ६, ७, १७, ३५, ६५, ७५, ८७,
 १०६, ११५, १६२, १८९, १९९, २२१,
 २२६, ३१२, ३२१, ३२२, ३२३, ३३०,
 ३४५, ३५८, ३५९, ३६७, ३८३, ३८९,
 ३९०, ३९४, ३९५, ४०३, ४३९, ५५३,
 ५६१, ५६८

भगवतीप्रज्ञापारमितासूत्र ३५८

भद्रघट (व्या०) ७२

भद्रबाहुपरिपृच्छा ८५

भय २५७

भर्तृहरि ४९५

भव ४०७

भवचक्र २२४, ३४४, ३६४, ४०८

भवपरम्परा ७६

भवसागर ४०८

भविष्य (अनागत) कालिक ज्ञान ३७२

भाजनलोक ५३१

भारहासूत्र ४३९

भाव ३८८, ४२९, ५१९, ५२९, ५३१

भाव-अभाव ३६२, ३८९

भावकल्पना ३८७, ५१९

भावनाना ७३, ८१, ५६८

भावनामय ११९

भावनामयी ७, ३४४

भावनामयीप्रज्ञा ३९७

भावनामार्ग ३९७

भावनानिर्देश ३९७

भावनिःस्वभावता ३८८

भावरूपता ५२९, ५३१

भाववासना ३८६

भावसत्ता ३८७

भावाभिनिवेश २२७, ३८६, ३८८, ४०९

भावित ११९

भास्वर ४०

भिक्षु ४०४

भिक्षुगण ५६२

भिक्षुता ४०४, ४०९, ४११

भिक्षुता (व्या०) ४०५

भिक्षुभाव ४०४

भिक्षुसंवर ६२

भिक्षुवर्णशता ४०४

भूतकोटि ३९२

भूम्यावरण ३५१

भैषज्य ७९

भोक्तृत्व १६६, ३६४, ४३६, ४४१

भोगसामग्री ३३६

भोजन ६८

भोजनदान ३०

भोजनसामग्री १४२

मञ्जुघोष ५६८

मञ्जुनाथ ५६६

मञ्जुश्री ५६७

मणिप्रकाश ३१२

मण्ड (व्या०) ४७

मद ३०२

मधुरफल २२९

मधुररस २४३

मध्यममात्रा १४२	महत्तत्त्व ५०७
मध्यममार्ग ३३०, ४१४	महाकरुणा ३९८
मध्यमा प्रतिपद् ४१४	महाकरुणामय ३३७
मन २१०, २६५, ५००	महाकारुणिक ३८, ४८, ५३२
मन-इन्द्रिय ५०७	महाकाश्यप ४१३
मनस् ४८	महात्मा २९
मनःकर्म ४४५	महादरिद्र ३८
मनःप्रणाम ७	महान् ५०७
मनुष्य १६, १८, ७९, ८५, ९७, २२१, ३४४, ५३३, ५३७	महापरिनिर्वाण १४७, ३९५
मनुष्यदुःख १४	महापरिपद् ५६०
मनुष्यभूमि ४११	महाप्रजावान् ८४
मनुष्ययोनि ७६	महाबलशाली ५५
मनुष्यलोक १५, ८१	महाभय ५५
मनुष्यसम्पत्ति १३	महाभारत ४९४
मनोज्ञ ४६२	महाभूत ७२, ४५८, ४९७, ४९८, ५००, ५०७, ५०८
मनोनिर्मित १६८	महामौद्गल्यायन ४०६
मनोमयपूजा ३८	महायान ५, २४, १४४, १४५, १४९, २२८, २३४, २५०, ३३०, ३३९, ३९३, ५३८
मनोरथ १९३, २३३, ५५५, ५६५	महायानमार्ग ८५
मनोविज्ञान ४१९	महायानसाधना ३३९
मन्त्र ३५४, ३६०, ३६२	महायानसूत्र ३९९, ४००
मन्त्रजप ५६१	महायानीसाधक २१५
मन्त्री २९७	महायानीसूत्र ४१३
मन्दबुद्धि १०५	महारत्न १६, १७
मन्दमति १७५	महारसायन १५
मन्दवृत्ति ११४	महारीरव १९
मन्दाकिनी ५४९	महावृक्ष ७९
ममबुद्धि ४५२	महावैद्य १०६
ममभाव ३१	महासमुद्र १८, ९२
मरण १४	महासूर्य ८०, ८१
मरीचि ३४७	महेश्वर ४९५
मलभक्षी २७१, २७४	महौषध २७
मल्लिका ४२	महौषधि (व्या०) ७२
मस्तकदान १४३	

मंगलगाथा ३,५,८
 मंगलाचरण ८
 मंजुघोष ३५,४१,४५
 मंजुश्री ४४५
 माता-पिता २७३,३०६
 मातृ-कुक्षि २३४
 मात्सर्य ७९
 मात्सर्य (व्या०) १९८
 माध्यमिक ३६०,३७१,३७२,३७३,३७६,
 ३७७,३८१,३८३,३८४,३९८,४००,
 ४०१,४०३,४०४,४०६,४०७,४०९,
 ४१४,४२०,४२३,४२५,४२८,४२९,
 ४३०,४३१,४३२,४३३,४३५,४४१,
 ४४५,४४८,४५१,४५५,४६८,४७६,
 ४८८,५१८,५२२,५२८,५३२
 मान २३६,२३८,२४०,२४१,२४६
 मानबल २२९
 मानवजन्म २३१
 मानवशरीर ७३
 मानसिक ७१,२२७
 मानसिक दुःख २३३,५५७
 मानसिक सुख १९५,५४६
 मान्दास ४२
 माया ३४७,३५२,३५४,३५५,३५९,३६०,
 ३६१,३६२,३६४,३७९,५११,५२३,
 ५२६
 मायाकार १०५,३५४,३६०,३६२,३८४,
 ३८५
 मायागज ४७८
 मायाजनित ३६०,३६१
 मायाजनितचित्त ३६२
 मायादेवी ५५३
 मायापुरुष ३५९
 मायामय ३६५

मायामयता ३८४
 मायास्त्री ३८४,३८५
 मायिक उत्पाद ५३२
 मायिकचित्त ३६१
 मायोपम ३५८
 मायोपम ३५९,३६०,४६२,४७२,३८४
 मार ३९२
 मार्ग ६,६५
 मार्ग आर्यसत्य ३९७
 मार्गक्रम ७
 मार्गचेतना ६६
 मार्गफल ५३२
 मार्गभावना ३८३
 मार्गाकारजता ३९८
 माल्यपूजा ४२
 माहात्म्य १०७,२०६
 मां दया ५५१
 मित्र ५३
 मिथ्या ३५४,३६५,३८०,५१९
 मिथ्या-अभिनिवेश ५३४
 मिथ्या अहंकार २९२
 मिथ्या आजीव १८०
 मिथ्या कल्पना २२७,२९१,४५७
 मिथ्या ज्ञान १०५
 मिथ्यादृष्टि ३१२,३४१,५२५
 मिथ्या विकल्प १०५
 मिथ्या वितर्क २५०
 मिथ्या समारोप ५३६
 मिथ्या संवृत्ति ३४८
 मिथ्या संवृत्ति (व्या०) ३४७
 मिद्ध ३३७
 मिश्रितकर्म २३४
 मोमांसक ४०३,४२१,४३२,५०६,५४०
 मुक्ताखचित्त ४०

मुक्ताजटित ४४
 मुक्तामणि ४४
 मुक्ति ७८, २४४, ३९७, ४०५, ४१६, ४१७
 मुदिता १५७, ३९५, ५५०
 मुनि (व्या०) ३४५
 मुनिपुंगव ३८
 मुनीश्वर बुद्ध ३०९
 मुमुक्षु २२८
 मूढ २८०
 मूत्राशय ४५५
 मूर्धा ३९७
 मूल आपत्तिर्था ८८
 मूलमाध्यमिककारिका ४८८
 मृगमरीचिका ३४७, ५२३
 मृत्यु ५०, ६०, ७९, १८०, २१७, ५५९
 मृत्यु-दुःख १८०
 मृत्युमार ३९२
 मृषा ५१८
 मैत्री ३३, ८३, ३९५, ३९८
 मैत्रीचित्त ३४, ६८, १८६, २०६
 मैत्रीबल १३
 मैत्रीमय ४४
 मैत्रेय ४०१, ५५२
 मैत्रेयनाथ ४५
 मैत्रेयनाथ बोधिसत्त्व १९
 मोक्ष ७९, ८०, २२८, २९९, ३०४, ३३०, ३४२, ३९८
 मोक्षचित्त ८७
 मोक्षार्थी १९९
 मोह ५२, १४०, ३८०, ४१५, ४४८, ४५०, ४६२, ५१०
 मोहान्ध ६२
 यक्ष ५७
 यति ११७

यत्न ४३६
 यथाभूत २५२
 यम २१७
 यमदूत ५७, ३३५, ५५०
 यश २५८
 याचक २०१
 याचना ३५, ६६
 युक्ति २२७, ३४५, ३५८
 युक्तिषष्टिका ३५६
 युगनद्धवाही मार्ग २५१
 युवावस्था २७८
 योगाचार ३६५
 योगी ३५१, ३५२, ३५३, ४०९, ४६६, ४६७
 योगी (व्या०) ३५०
 योगीजन ३५४
 योगी-प्रत्यक्ष ३४८, ३५५
 योनि ४३०
 रक्षा १५३
 रङ्गभूमि ४२८
 रचना-व्यापार ५००
 रजस् १६४, ३००, ४२७, ४२८, ५०७, ५१०, ५११
 रति २२१, २४२, २५७, २७५, २७६
 रति (व्या०) २२९
 रतिबल २२९
 रत्न १५, ५५५
 रत्न (व्या०) ७७
 रत्नकूट ४७७
 रत्नत्रय ५, ४७
 रत्नदीप ४३
 रत्नमय ३७
 रत्नमय छत्र ४४
 रत्नमेघ १५०
 रत्नमेघसूत्र २२३

रत्नवृक्ष ३७	लाभ १२९, १८१, २५८
रत्नवृष्टियाँ ४५	लाभसत्कार १९१, १९२, १९३, १९५, १९९,
रत्नशिखी २२३	५६३
रत्नावती २१७	लाभ-सुख १७
रस २४३, २६५, ४६३	लोक ७०, २५८, २६५, २७६, २९१
रसतन्मात्रा ५०७	लोकचित्त १५२
रसधातु १५, १६	लोकनाथ ४५, २१०, ३६७
रसना ५०७	लोकप्रतीति ३५७, ३५८, ४९०
रसायन १५, ७८	लोकप्रवाद ३५४, ३५५
रसायन (व्या०) ७९	लोकप्रसिद्ध ३७७, ४८८
राक्षस ५७, १०९, ५६१	लोक-ग्यवहार ३४७, ३७७
राग १४, ४९, ५२, ७९, १४०, १६१, २३७,	लोकहित ३९, ३३१
२४६, २६४, २७०, ३१६, ३३४, ३८०,	लोकहितैषी २४
४०८, ४१६, ४५३, ४६१, ५३३	लोकोत्तर ३०७, ३५६
राजधानी २९७	लोकोत्तरप्रज्ञा ७, ४०६
राजपुरुष २१२, २१३	लोकोत्तर मार्ग ७
राजपुत्र २९७	लोकोत्तर माहात्म्य ३०६
राजा मान्धाता ३३२	लोकोत्तर सम्पत्ति १७, २०४
रुचि ३५६	लोकोहित ९५, १४३
रूप १५, १०५, २४३, २६५, ३७४, ३९८, ४१६,	लोभ ३३३
४१८, ४२५, ४४७, ४८८, ४६३	लौकिक १७, ३५६
रूपग्रहण ४२६	लौकिकजन ३५५, ५१७, ५१८
रूपग्रहणात्मक ४२८	लौकिक ज्ञान ३४७, ३४८
रूपग्राहक ४२८	लौकिक प्रमाण ५१८
रूपग्राही ४२६, ४२७	लौकिक मनोरथ ३१०
रूपज्ञान ४२३	लौकिक लोकोत्तर १९२, ५३२, ५३६
रूपतन्मात्रा ५०७	लौकित ३०७
रूपधातु ६८, ३२५	लौहमयी भूमि ११०
रूपशोभा ५५७	वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता ३९२, ४११
रोग ६७	वज्रध्वजसूत्र २३५
रोहित मत्स्य ५९	वज्रपाणि ५५०
रीरव १०५, २४५	वज्रपाणि बोधिसत्त्व ५७
ललितविस्तरसूत्र ४८१	वज्ररत्न २२
लंकावतारसूत्र ४४२	वत्सीपुत्रीय ४३८

वन ४९२
 वनखण्ड ३७
 वन्दन ३५
 वन्दना ३, ३४, ३५
 वन्दनीय १५, १९१
 वन्ध्यापुत्र १६५, ३८२, ४४४, ४७०, ५२५
 वरुण २५
 वर्णत्मक शब्द १९६
 वर्तमान ६८, ५२५
 वर्तमान (व्या०) ५२४
 वर्तमान चित्त ४४३
 वशिता २२९
 वशिष्ठ २५
 वस्तु ३७९, ३८१, ५१०
 वस्तु (व्या०) ३८२
 वस्तुत्व ४५, २२३
 वस्तुभेद ४२६
 वस्तुवादी ३५७, ३५९, ४६३, ४६४, ४६५,
 ४६८, ४७२, ४७६, ४८५, ४८६, ५२७
 वस्तुसत् ३६५, ३७९, ४१६, ४५९
 वस्तुसत्ता ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ४०५,
 ४१०, ४३९, ४४१, ४६१
 वस्तुसद्ग्राह ४०८
 वस्तुस्थिति ४१६
 वस्तुस्वभाववादी ४८४
 वस्त्र ६८
 वाक् ४८, २३०, २६५, ५०७
 वाक्कर्म ३४५
 वाक्-चेष्टा ४९१
 वाक्प्रणाम ७
 वाग् २१०
 वाग्विज्ञप्ति ७
 वाग्वैगुण्य ४०८
 वाचसिक २२७

वाचाल ३२७
 वात्सीपुत्रीय ४२२
 वादी २५२
 वायु ७२, ४२२, ४९७, ४९८, ५००
 वायु महाभूत ५०७
 वायु संवर्त ६७
 वासना ५, २९१, ४३८, ३४२, ३८१, ३८२
 वास्तविकचर्या ५४५
 विकल्प ४८१
 विकालभोजन ६२
 विक्षिप्तावस्था २३
 विक्षेप २६४
 विघ्न-बाधा ५६६
 विचार ३३८, ४८४
 विचार-विमर्श ४८३
 विचार्य ४८४
 विचिकित्सा ३३८, ५४०
 विज्ञप्तिमात्रता ३८३
 विज्ञान १६९, ३३९, ३६४, ३७२, ३९८, ४०६,
 ४४८, ४६७, ४७०
 विज्ञानमात्र ३७३
 विज्ञानवादी ३६५, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०,
 ३७१, ३७३, ३७४, ३७५, ३८०, ३८२,
 ३८४
 विज्ञानवादीसिद्धान्त ३६८
 वितर्क १३१, ३३८
 विद्वान् (व्या०) ९३
 विनय ४००, ४०१, ४०३
 विनाशस्वभाव १७९
 विनिश्चयप्रातिहार्यसूत्र ३२
 विपक्ष २२९, ४०८
 विपरिणामदुःख ३४५
 विपरीतग्राही ज्ञान ३५५
 विपर्यास २९, ४१५, ४२२

विपश्यना २५१, ३३८

विमला ३५१

विरुद्ध स्वभाव ३७९

विलेपन ६८

विवर्त ४२२

विवाद ५३६

विवेक २८५, ५३९, ५६२

विवेकशून्य ९५, २४१

विशेषपरिणामना ६७

विशेषपापदेशना ४९

विशेषपूजा ४०

विश्रान्ति ६३

विश्रामपादप (व्या०) ७९

विश्वस्त मित्र २९

विश्वासघात ९६

विश्वासघाती ५०

विष ३७५

विषम अवस्था ५०७

विषय ४६७, ४७०, ४७७

विषय-भोग १६६, ५०७

विषय-विषयिभाव ३७४

विषय-सुख ४१५

विषाद १०१, २१६, २२१

वीर्य १४१, २२१, २२९, ३३९, ३४३

वीर्य (व्या०) २१५, २१६

वीर्य पारमिता २१५

वीर्य पारमिता (व्या०) ११४

वीतरागी ४८१, ४९५

वेद ४०३

वेदक ४७२

वेदक (व्या०) ४७१, ४७३

वेदना ३३९, ३९८, ४०९, ४४७, ४४८, ४७१

वेदना (व्या०) ४६४, ४६६, ४७३

वेदनेन्द्रिय १८४

वेदान्त ५४०

वेद्यवेदकभाव ४७२, ४७३

वैडूर्य ४०

वैतरणी ५४९

वैद्य ५८, ६७, २०३, २०४, २२५, २२६

वैद्य-बुद्धि १५०

वैद्यराज २२६

वैभाषिक ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०२,
४०३, ४०४, ४०६

वैराग्य २७६

वैशारद्य ३०३

वैशेषिक १६४

व्यतिक्रम ५

व्यतिरेक व्याप्ति ३७४

व्यवदान ३८१

व्याधि ७५

व्यापाद १३१, ३३८

व्यापाररहित १६८

व्यामोह ५३८

व्यवहार ३५७, ३७७

व्यवहारपक्ष ४८८

व्यवहारमात्र ३६२, ४२७, ५१९

व्यवहारसत्य ४७९

व्यावहारिक ५२३

व्यावहारिक अस्तित्व ३४६, ४४०, ४४२

व्यावहारिक ज्ञान ३४७

व्यावहारिक प्रमाण ३४६, ३४७, ३५५

व्यावहारिक बुद्धि ३५७

व्यावहारिक मार्ग ५२०

व्यावहारिकसत्ता ३४७

व्यावहारिक (प्रज्ञाति) सत्ता २९३

व्यावहारिक स्वरूप ३५५

शक्ति २३६

शब्द १०५, २६५, ३७४, ४१६, ४१८, ४२४,
४२५, ४६३, ५१०,

शब्दग्रहण ४२६, ४२८
 शब्दग्राहक ४२६, ४२८
 शब्दग्राही ४२६, ४२७
 शब्दज्ञान ४२३, ४२५, ४२६, ४२८, ४२९
 शब्दतन्मात्र ५०७
 शब्दव्यवहार ५४४
 शम ३३०
 शमथ २५१, ३३८, ३४१, ३४२, ३७६
 शमन २६५
 शयचित्त ६८
 शयन ६८
 शरण ४७
 शरणगमन ३५
 शरणगमन (व्या०) ४७
 शरणस्थल ८१
 शरीरदान १४३
 शरीरमुख २८३
 शरीरस्थापन ४६६
 शल्यक्रिया २२५, २२६
 शशविषाण १६६, ३८१, ४७०
 शस्त्र ६७
 शस्त्रयुद्ध ५४९
 शस्त्रविद्या २४५
 शस्त्र-शास्त्रकलाकौशल १५९
 शस्त्रसंघर्ष ६७
 शाक्यमुनि २२३
 शान्तरक्षित ४८९
 शान्तिदेव ३४०, ४८८
 शारदा (व्या०) ३०३
 शारद्य ३०३
 शारिपुत्र ७३
 शारीपुत्र ८७
 शालिस्तम्भसूत्र ३६४
 शाल्मलीवृक्ष ११०, ५४७

शाश्वत २५३, ४४४
 शाश्वत-अन्त ४१४
 शासन ५६८
 शासन (व्या०) ४०४
 शास्ता ६५
 शास्ता (व्या०) ६४
 शास्तृत्व ६५
 शास्तृत्व (व्या०) ६४
 शास्तृसंज्ञा ४०१
 शास्त्र ६
 शास्त्रकार २७७
 शास्त्ररचना ४९१
 शिरस्त्याग ७४
 शिरोलुञ्चन १३
 शिक्षा (व्या०) १०७
 शिक्षानुपूर्वी (व्या०) ७४
 शिक्षासमुच्चय १५१, १५२, ३३६
 शिक्षासंवर १४१
 शीत-आतप ५५७
 शीतलता ५५३
 शील ७५, ८३, १२५, १२६, १४१, १५३, ३१६,
 ३३९, ३४२, ३९७, ५४४, ५५६, ५५८,
 ५६३
 शीलपारमिता ११३
 शीलपारमिता (व्या०) ११२
 शीलविपत्ति (व्या०) ३१६
 शीलविशुद्धि १५३
 शीलव्रत ५६३
 शुक्र ३००
 शुक्र-शोणित २७३, ३२३
 शुद्धि १५३
 शुभ १६, ४०६
 शुभकर्म १८, ८१
 शुभचित्त ३३

- शून्य ३५२, ३९७
 शून्यता ३४५, ३८८, ३४९, ३५०, ३५२, ३५६,
 ३८५, ३८७, ३८८, ३८९, ३९२, ४०४,
 ४०५, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१५,
 ४१६, ४१७, ४७८, ४८८, ५१८, ५२०,
 ५२३, ५४४
 शून्यता (व्या०) ३३९, ३८४
 शून्यताज्ञान ३४१, ३४२, ४०९
 शून्यतातत्त्व ३६४
 शून्यताभावना १४०, ३८५, ३८७
 शून्यतामार्ग ४१६
 शून्यतावाद ५२०
 शून्यता-शून्यता ३८७
 शून्यता-शून्यता (व्या०) ३४८
 शून्यतास्वप्न ३८७
 शून्यागार २८५
 शूरदत्त २९७
 शूरवीर ९६, १३०, १६१, २४१
 शूरंगमसूत्र २०
 शैक्ष ४
 शोक २६४, ३६४
 श्मशान २६७, २७५, २७८
 श्मशानभूमि २६१, २६२
 श्रद्धा ९, ३३, ३४, ३९, ५६, ९०, २०३, ४९३
 ५५६
 श्रद्धाचित्त ३४
 श्रद्धाबलाधानावतारमुद्रासूत्र ३२
 श्रवण ८१
 श्रावक २२, १८३, ३४४, ३९९
 श्रावक-अर्हत् ५६५
 श्रावकगोत्रीय १४
 श्रावकबोधि ६४, ८७
 श्रावकमार्ग ७५
 श्रावकयान २२८
 श्रावकयान-प्रत्येकबुद्धयान २४
 श्रीसम्भवविमोक्ष १५०
 श्रुत ११९, ३७७, ५६८,
 श्रुतमयी ११९, ३४४, ३९७
 श्रुतमयी प्रज्ञा ७
 श्रोतविज्ञान ३७४
 श्रोतृजन ६
 श्रोत्र ३१३, ५०७
 श्रोत्रविज्ञान ४१९
 श्लोकवन्ध ५
 षट् पारमिताओं ८३
 षष्ठ मनोविज्ञान ४७४
 सकायदृष्टि ४०८
 सकृदागामी ४
 सङ्घात ५४८
 सञ्जीव ५४९
 सत्कायदृष्टि ४५३
 सत्कायवाद ३१६
 सत्कार १२९, ५३५
 सत्कार्यवाद १६५, ५१५, ५१६
 सत्कार्यवाद (व्या०)
 सत्कार्यवादो ५१५
 सत्ता ३७८, ३८५
 सत्ताग्रह ४०८
 सत्ता-ग्राह ३४०
 सत्तादृष्टि ३९८, ४४६, ४५२
 सत्ता-समारोप ३८५
 सत्त्व २०५, ४२७, ४२८, ४४६, ५०७, ५१०,
 ५११, ५३५
 सत्त्व (व्या०) ४४७
 सत्त्वग्राह ४११
 सत्त्वदृष्टि ४४६
 सत्त्वपरिपाक ८३
 सत्त्वरत्नविशेष २६

सत्त्वरशि १४३
 सत्त्वलोक ५३१
 सत्त्ववत् २९४
 सत्त्वविद्वेष १५३
 सत्त्वसंज्ञा ४४७
 सत्त्वसंसार ९९
 सत्त्वहित ५६२
 सत्त्वहितदर्शी १४१
 सत्त्वाधीन १३१
 सत्त्वारोधन २०८, २११, २१२, २१४
 सत्त्वालम्बना ४४६
 सत्य ३४५
 सत्यतः सत् ३७७
 सत्यतः सत्ता ३७८
 सत्यता ५३६
 सत्यदर्शन ४०५
 सत्यधारणा ३८५
 सत्यानाश ३२८
 सत्र (व्या०) ३०
 सत्रपति ३२
 सत्स्वभाव ५२८, ५३१
 सदाचार ५५६
 सदृशता ४३१
 सद्-असद् ३८९
 सद्गति १२०
 सद्धर्म ४५, १४५, १८३, २०३, २०४, २३१,
 २३४, २७६, ३२३, ३९०
 सद्धर्म (व्या०) ८१, १४३
 सद्धर्मरत्न ३५
 सद्धर्मरत्न (व्या०) ४५
 सद्बुद्धि ३०७
 सन्तति २९३, ४३७, ५२३
 सन्तति-बुद्धि २९३
 सन्तान ४४०

सन्तोष १९३
 सन्तोषसमुद्र २९८
 सन्तोषमुख २८५, २९८
 सन्निपात ४६७
 सन्मार्ग ६५, ३२३
 समता २८८
 समन्तभद्र ४१, ४५, २९७, ५५२
 समयराज ४७
 समर्थ-स्वभाव ५०२
 समल-अवस्था ३५३
 समवायी कारण ५०३
 समविषम-चिन्ता ७०
 समाधि १२५, १२६, २४९, २५२, ३३८, ३३९,
 ३४१, ४०४, ४१०, ४६७
 समाधिराजसूत्र २९७
 समानकालिक ३७२
 समानकालीन ४७६
 समानाकारता ४३१
 समानार्थता ६५
 समापत्ति ४०४, ४१०
 समापत्त्यावरण ३५१
 समारोप ३७८, ४१६
 समारोपान्त ४१४
 समाहित ज्ञान ३४६, ३४८
 समुदय आर्यसत्य ३९७
 समुदयसत्य ४०७
 समुद्र ५५५
 समूह (व्या०) ४७०
 समूहबुद्धि २९३
 सम्पत्ति २६१
 सम्पूर्णगामित्व ५
 सम्प्रजन्य ११६, ११७, ११८, ११९, १२२,
 १२५, १५२
 सम्प्रजन्य (व्या०) ११८

सम्बन्ध ६
 सम्बोधिचित्त (व्या०) १२
 सम्भार २०४
 सम्भार-अर्जन २१५, २४३
 सम्भोगकाय ३२२
 सम्यक्कारण ३२२
 सम्यक् प्रज्ञा ४६२
 सम्यक् प्रहाण ४०४
 सम्यक् बोधि १२
 सम्यक् संबुद्ध ५, ३५८, ३९५
 सम्यक् संबोधि २०, ३४३, ४४४
 सम्यक् संबोधि (व्या०) ६४
 सम्यक् दृष्टि ३१६
 सर्प-मन्त्र ३०३
 सर्वज्ञ ८७, १०६, ११५, २२३, २५८, ४०३,
 ४०८, ४९७
 सर्वज्ञ (व्या०) ११५
 सर्वज्ञता ४०८, ४१६
 सर्वज्ञत्व ८०, ३४२
 सर्वज्ञ वैद्य ५९
 सर्वधर्म अनुपलब्धि ४०५
 सर्वधर्मनिःस्वभावता ४, ३८६, ५१९, ५४३
 सर्वधर्मशून्यता ३८८, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९
 सर्वाकारज्ञता ५
 सर्वाकार-वस्तु ५
 सर्वास्तिवादी ५२४, ५२५
 सविकल्प-अवस्था ३५३
 सविकल्प बुद्धि
 सविचार ४६६
 सवितर्क ४६६
 सस्वभाव ५३५
 सहकार ५०१
 सहकारी ५०२
 सहकारीकारण ५०१, ५०२
 सहिष्णुता ९६

सहिष्णुता (व्या०) १५४
 संकल्प-विकल्प ३९०, ३९१
 संक्लिष्ट (व्या०) ३८१
 संक्लेश ३८०
 संगति २५५
 संगीतिमेध ४४
 संग्रहवस्तु ६५
 संघ ३, ४९, ५६, ७७, ३०६, ५६२
 संघभेद ५६२
 संघरत्न ३५
 संघात १०५, ११७
 संघात परमाणु (व्या०) ४६९
 संजीव १८८
 संज्ञा ३३९, ३९८, ४४८
 संज्ञा-भिक्षु ४०४
 संबोधि ४७
 संबोधि (व्या०) १२
 संबोधिचित्त १२, १३, ५५१
 संमोह २९
 संवर ६, ३९, ७५, १४१, १४६, १५३
 संवरावतार ६
 संवाद २६०
 संवास २५९
 संवृत्ति ३४६, ३४७, ३४९, ३५६, ३५७, ३६३,
 ४१५, ४८०, ५४३, ५४४
 संवृत्ति (व्या०) ३४५, ४८०
 संवृत्तिसत्य ३४५, ३४८, ३४९, ३५०, ४०५,
 ४१४, ४४७, ४४९, ४७९, ४८८
 संवृत्तिसत्य (व्या०) ३४६
 संवेग ५०, ५६३
 संवेग (व्या०) १९८
 संवेदन ५१४
 संवेदनशीलता ७८
 संवेदनशून्य २७२

संसर्ग ४६७
 संसार ४, ६४, ७५, ३०४, ३३०, ३६०, ३६२,
 ३६४, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ४०१,
 ४०८, ४६१, ४८१, ४९०, ४९७, ५६७
 संसार (व्या०) ३७८
 संसारचक्र ९९, २२३, ३६२, ४४९
 संसारदुःख २४, १४९
 संसार-प्रवृत्ति ३५०
 संसारी ३६३
 संस्कार १६९, ३३९, ३६४, ३९८, ४०६, ४४८
 संस्कार-दुःख ३२४, ३२५, ३४५
 संस्कृत ३४८, ४५१
 संस्कृत-असंस्कृत ३३९, ४१८
 सागर ४९२
 सात्मक ४४१
 सावधानावस्था ३९३
 साधर्म्य ४३१
 साधारणजन ३५३, ३५४, ३५६
 साधुजनसम्मत ८
 साधुवाद १३८
 साध्य ४४५
 साध्य-साधनाभाव ४५०
 सान्तर ४६७
 सापेक्ष ३७०
 सापेक्ष अस्तित्व ३८६
 सापेक्षसिद्धि ३७१
 सामग्री ५०४
 सामान्य-आकार ५४४
 साम्य-अवस्था ५०७
 सार ४७
 सार्थवाह १६, १७, ७१
 सांख्य १६४, १६५, १६६, ४२२, ४२३, ४२५,
 ४२९, ४३१, ४८८, ५१२, ५१५, ५१६,
 ५१८, ५२०, ५४०
 सांख्यकारिका ५०७

सांख्यदर्शन ५०८
 सांख्यपञ्च ४२६
 सांख्यमत ४२२, ४२७
 सांख्यवादी ४२५, ४३०
 सांवृत्तिक ३५४, ३६३, ३९५, ४८०, ५२३,
 ५३२
 सांवृत्तिक (व्या०) ४८१
 सांवृत्तिक अस्तित्व ५३२
 सांवृत्तिक क्षणिकता ३५७
 सांवृत्तिक रूप ३५७
 सांवृत्तिक सत्ता ४४६
 सांसारिक पदार्थ ७८
 सांसारिक प्राणी ३६०
 सांसारिक दुःख १८८
 सांसारिक सुख ३०९
 सिद्ध अंजन ३७६
 सिद्ध पुष्प ३७६
 सिद्धमन्त्र ३९१
 सिद्ध-विद्या (व्या०) ७२
 सिद्धान्त ५१६
 सिद्धान्तवादी ३५७, ३५९, ५०६
 सिंहशावक २३९
 मुकुमार २२०
 मुकुमारता १६०
 सुख ११, २५, २९, ५०, ३३८, ५१०, ५४६,
 ५५०
 सुख-अवस्था ४२१
 सुखकणिका ४६४
 सुखजातीय ४६४
 सुखभोग ८१, १८१, २७९
 सुखवती भूमि २३४
 सुखविधायक ३२
 सुखसत्र (व्या०) ८१
 सुख-समृद्धि १९२

सुख-सम्पत्ति २१
 सुखसाधन ४६४, ४७४
 सुखसामग्री ९६
 सुखहेतु ५१
 सुखादि-स्वभाव ५१०
 सुखामोद ५४७
 सुखावतीलोक २३४, ५४७
 सुगत ६, ८
 सुगत (व्या०) ४, ५
 सुगति ९२, ३०७, ३२५, ४३४, ४४१, ५३८,
 ५४०, ५४४, ५६३
 सुगतत्व ४, ८, ३२२
 सुगतसुत २३४
 सुगतात्मज संवरावतार ६
 सुधन १९
 सुपुष्पचन्द्र बोधिसत्त्व २९७
 सुप्तावस्था २३
 सुबाहुपरिपृच्छासूत्र २४
 सुभाषित ४०१
 सुभूति ३५८, ४११
 सुमेह ९७
 सुमेह-तुल्य १९
 सुवर्ण ४२
 सूक्ष्मता ५१३, ५१४
 सूत्र ४०१, ४०३
 सूत्रधर ४०३
 सूत्रधार ४९२
 सूत्रविरोध ३५६
 सूत्रसमुच्चय १५१, १५२
 सूर्य ३९२
 सृष्टि-प्रक्रिया ५०७
 सोम २५
 सौत्रान्तिक ३६३
 सौभाग्य २१४

सौमनस्य ११८, १८८, १९६, १९७, २१०
 सौमनस्य-स्थानीय ४६२
 सौम्य प्रभा ५५०
 स्कन्ध ३५५, ३५६, ४५१, ४८२
 स्कन्ध-जडस्वभाव ३३९
 स्कन्धमार ३९२
 स्कन्धरूपी दुःख २९५
 स्कन्ध-सन्तति २९२
 स्तुति ४६
 स्तुतिपूजा ४६
 स्तूप ३२, १८३, २३१
 स्त्यान ३३७
 स्त्यान-मिद्ध ३३८
 स्थाम (व्या०) २२९
 स्थितिक्षण ४४३
 स्थूलता ५१३, ५१४
 स्थूलरूप ५००
 स्थूलरूपता ५१३
 स्नानगृह ४०
 स्नेह २५०
 स्पर्श ४६३, ४६७, ४७०, ५१०
 स्पर्शतन्मात्रा ५०७
 स्फटिक ३७०, ४३०
 स्फटिकमणि ३६९, ५४८
 स्मरण ३७४
 स्मृति ११६, ११९, १२०, १२५, २४५, २४७,
 ३७४, ३७५
 स्मृति (व्या०) १०८, ११८
 स्मृतिपथ १३१
 स्मृति-भ्रंश २४७
 स्मृत्युपस्थान ३९७, ४०४
 स्रोत-आपत्ति ४११
 स्रोत-आपन्न ४, ४११
 स्वकुल

स्वजन ५३
 स्वतन्त्र सत्ता २६६
 स्वतः उत्पत्ति ५२३
 स्वतः उत्पाद ४८८
 स्वतः उत्पादवादी ४८८
 स्वधर्म-निःस्वभावता ४८०
 स्व-पर-आत्मसमता २९७
 स्व-पर-उभयतः उत्पाद ४८८
 स्व-पर-समता २८९
 स्वपरात्मपरिवर्तन २८९, ३११, ३३६
 स्वपरिवर्तन ३०१
 स्वप्न २६, १८०, ३५२, ३५४, ३५५, ३५९,
 ४६१, ४८१, ५१८, ५१९, ५३३
 स्वप्नोपम ३५८, ४६२, ४७२
 स्वभाव ५२०, ५२१
 स्वभावग्राहिका दृष्टि ३४१
 स्वभावतः अस्तित्व ३८६
 स्वभावतः परिनिर्वृत ३६२
 स्वभावतः शून्य ३६५
 स्वभावधर्मकाय ३९२
 स्वभावभेद ४२६
 स्वभाववाद ४९१, ५२०
 स्वभाववादी ४८८, ४९०
 स्वभावशून्य ४८८
 स्वभावशून्यता ३९८
 स्वभावसत्ता ४१४, ४१८, ५३६
 स्वयं प्रकाश ३७२
 स्वयंवेद्य २९८
 स्वर्ग १०, ४९४, ४६६, ५४४, ५५५
 स्वर्णधातु १६
 स्वलक्षणग्राहिका ३४१
 स्ववचनविरोध ४९१
 स्वविषयक ३४८
 स्वसंवेदन ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६,
 ३७७, ३७८, ४७३, ४८४, ४८७

स्वसंवेदन (व्या०) ३६७, ३६९, ३७१
 स्वमुख ७३, ३०९
 स्वस्थात्मा ४९६
 स्वहित ३९
 स्वहितसम्पद् ३२२
 स्वातन्त्रिक ३४०
 स्वातन्त्रिक माध्यमिक ३४८
 स्वाधीन १३१, १४८
 स्वाधीनता २२१
 स्वाध्याय १२४, ५६२
 स्वाभाविक सत्ता ३६७
 स्वामी अवलोकितेश्वर ५७
 स्वार्थ १९५
 स्वार्थ (व्या०)
 स्वार्थपरायण १२९
 स्वार्थबुद्धि ३०६
 स्वार्थसम्पत्ति ३२२
 स्वार्थसिद्धि ३१३, ३२७
 स्वार्थी आत्मा ३१८, ३२०, ३२६
 स्वार्थी चित्त ३२८
 हत्या ७०, ३६१
 हंस ५४८
 हारकप्रभास १५
 हित ११, २५, २८, २९, ५०, १३७
 हितभूमि (व्या०) ९५
 हितसाधन १०२
 हितमुख ३२, २११
 हितमुखचित्त ६८
 हितमुख-चिन्तन २८७
 हिताशय २०४
 हिताशंसा २५
 हितेच्छामात्र २७
 हिसा-चित्त ३६१
 हिसा-वितर्क ५४०
 हीनचित्त ७७

हीनयान १४५
 हीनयानी ३९३
 हीनयानी सूत्र ४१३
 हेतु ५०३
 हेतुनिरपेक्ष ४८९
 हेतु-प्रत्यय १८४, ३५३, ३८६
 हेतु-प्रत्ययसापेक्षता ४८८

हेतु प्रत्ययाधीन १६८, १६९
 हेतु-फल ३६२, ५२५
 हेतुफलभाव ३५२
 हेतुभूतप्रज्ञा ३४४
 हेतुवाद ४९०
 हेतुसामग्री १६२
 हेय १५०, २३९, ३८१

विशिष्ट शब्दानुक्रमणी

अक्षयमतिमूत्र १८, ४७३	आर्याक्षयमतिमूत्र ६८
अजित मैत्रेयनाथ ४१	आर्यापरराजाववादमूत्र २२
अध्याशयसंचोदनमूत्र ४०१	उपनिषद्वादी ४३२
अभिसमयालङ्कार ३९२	कणाद ४०३
अवदान ४७	कपिल ४२२
अवलोकितेश्वर ४१	कपिलमुनि ५०६
अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता ३४३	कमलपाणि ५५०
आकाशगर्भ ५५२	कर्णाटक १५८
आकाशगर्भमूत्र १५०	काशिराज ५८
आचार्य चन्द्रकीर्ति ४५०, ५२२	काशिराज-पद्मकजातक ५९
आचार्य धर्मकीर्ति ४५२	क्षितिगर्भ ५५२
आचार्य नागार्जुन १५१, ३८७, ३९९, ४८१, ५२४, ५२७, ५४४	गण्डव्यूह ८५
आचार्य वसुवन्धु ३९७, ४५९, ४६०, ५२५	गण्डव्यूहमूत्र १५, १७
आचार्य शान्तरक्षित ४९३	चतुःस्तव ४७८, ४८१
आचार्य शान्तिदेव ८, १७, २२, ३४, ३३६, ४५०, ५४१	चन्द्रकीर्ति ३४०, ३४१, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ४३७
आर्य अक्षययतिमूत्र ७३, ४७८	जातक ४७
आर्य अवलोकितेश्वर ३५, ५५३	जैन ४३२
आर्य अंगुलिमाल ४०६	तत्त्वसंग्रह ४४०, ४९३
आर्य गण्डव्यूहमूत्र ११, २०, २२	तथागतगुह्यमूत्र ३९०
आर्य गयाशीर्षमूत्र ४४५	दिव्यावदान ३९६
आर्यदेव ३५५	देवपुत्र ४४५
आर्यधर्मसंगीतिमूत्र ४४५	धर्मकीर्ति ३१२, ४०५, ४४०, ४९७, ५०२
आर्यमैत्रेयनाथ ८५	धर्मसंगीति ३४२
आर्यरत्नचूडमूत्र ३६७	धर्मसंगीतिमूत्र १४०, ५३२
आर्यरत्नमेघ ४७	नन्दिक, २९७
आर्यवज्रध्वजमूत्र ६८	नागार्जुन ३४०, ३५६, ४४१, ४८८, ५२०, ५३०, ५३३
आर्यवीरदत्तपरिपृच्छा २७	नारायणपरिपृच्छा ७३
आर्यसमाधिराजमूत्र २३	नारायणपरिपृच्छामूत्र ३१

नियतानियतावतारमुद्रासूत्र ३३
 नैयायिक ४३३
 परमार्थशून्यतासूत्र ५२६
 पिता-पुत्रसमागमसूत्र ३४९, ५३६
 पुष्पकूटधारणी ३९५
 प्रज्ञाकरमति ४१३
 प्रज्ञापारमितासूत्र ३५८, ३९९
 प्रज्ञापारमितास्तुति ३९९
 प्रत्येकबुद्ध ३४४
 बुद्ध ३६३
 बुद्धपालित ३४०
 बोधिचर्यावितार ९, ४१३, ५४५, ५६८
 बोधिचर्यावितारपंजिका ४०६, ४८१
 बोधिसत्त्व आकाशगर्भ ५७
 बोधिसत्त्व क्षितिगर्भ ५७
 बोधिसत्त्वचर्यावितार ३
 बोधिसत्त्वप्रतिमोक्ष ७३, १४२
 बोधिसत्त्व मंजुघोष ५६, ५५१, ५६५
 बोधिसत्त्व समन्तभद्र ५६
 बौद्ध ४६४
 भगवतीप्रज्ञापारमितासूत्र ३५८
 भगवान् अवलोकितेश्वर ५७
 भगवान् बुद्ध २६७
 भद्रबाहुपरिपृच्छा ८५
 भर्तृहरि ४९५
 भारहारसूत्र ४३९
 मञ्जुघोष ३५, ४१, ४५, ५६८
 मञ्जुनाथ ५६६
 महाकाश्यप ४१३
 महाभारत ४९४
 महामौद्गल्यायन ४०६
 मंजुश्री ४४५
 माध्यमिक ३७१, ३७२, ३७३, ३७७, ३८१,
 ३८३, ३८४, ३९८, ४००, ४०३, ४०४,
 ४३३, ४४५

मायादेवी ५५३
 मीमांसक ४०३, ४३२, ५०६
 मूलमाध्यमिककारिका ४८८
 मैत्रेय ४०१, ५५२
 मैत्रेयनाथ ४५
 मैत्रेयनाथ बोधिसत्त्व १९
 युक्तिपट्टिका ३५६
 योगाचार ३६५
 रत्नकूट ४७७
 रत्नमेघ १५०
 रत्नमेघसूत्र १४६, २२३
 रत्नावली २९७
 राजा मान्धाता ३३२
 ललितविस्तरसूत्र ४८१
 लंकावतारसूत्र ४४२
 लोकनाथ ४५, ३६७
 वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता ३९२, ४११
 वज्रवज्रसूत्र २३५
 वज्रपाणि ५५०
 वज्रपाणि बोधिसत्त्व ५७
 वस्तुवादी ४६४
 वात्सीपुत्रीय ४२२, ४३८
 विज्ञानवादी ३६५, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०,
 ३७१, ३७३, ३७४, ३७५, ३८०, ३८२,
 ३८४
 विज्ञानवादो सिद्धान्त ३६८
 विनिश्चयप्रातिहार्यसूत्र ३२
 वैभाषिक ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०२,
 ४०३, ४०४
 शान्तरक्षित ४८८
 शान्तिदेव ३४०, ४८८
 शारिपुत्र ७३, ८७
 शालिस्तम्बसूत्र ३६४
 शिक्षासमुच्चय १५१, १५२, ३३६
 शूरदत्त २९७

शूरंगमसूत्र २०
 श्रद्धावलाघानावतारमुद्रासूत्र ३२
 श्रावक ३४४
 श्रीसम्भवविमोक्ष १५०
 समन्तभद्र ४१, ४५, २९७, ५५२
 समयराज ४७
 समाधिराजसूत्र २९७
 सांख्य ५१५

सांख्यकारिका ५०७
 सुधन १९
 सुपुष्पचन्द्र बोधिमत्त्व २९७
 सुवाहुपरिपृच्छासूत्र २४
 सुभूति ३५८, ४११
 सूत्रसमुच्चय १५१, १५२
 सौत्रान्तिक ३६३
 स्वामी अवलोकितेश्वर ५७

उद्धृतग्रन्थानुक्रमणिका

अक्षयमत्तिसूत्र

अंगुत्तरनिकाय

१८

चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि

१०९

अज्ञात

न बोध्यबोधकाकारं चित्तं दृष्टं तथागतैः ।

यत्र बोद्धा च बोध्यं च तत्र बोधिर्न युज्यते ॥

३७८

अध्याशयसंचोदनसूत्र

१. अपि तु मैत्रेय, चतुर्भिः कारणैः प्रतिभानं सर्वबुद्धभाषितं वेदितव्यम्

यत्किञ्चिन्मैत्रेय, सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम् । तत्र मैत्रेय, य इमानि प्रतिभानानि प्रतिक्षिपेत् अपायगामी भवति

४०२

२. यदर्थवद्धर्मपदोपसहितम्

४०२

अनवतप्तहृदापसंक्रमणसूत्र

यः प्रत्ययैर्ययति स ह्यजातो न तस्य उत्पादुः स्वभावतोऽस्ति ।

३८६

अभिधर्मकोश

१४

१. शासनं द्विविधं शास्तुरागमाधिगमात्मकः ।

६

२. नरकप्रेततिर्यञ्चो मानुषाः षड्दिवौकसः ।

१४

३. कल्पस्य शस्त्ररोगाभ्यां दुर्भिक्षेण च निर्गमः ।

दिवसान् सप्त मासांश्च वर्षाणि च यथाक्रमम् ॥

६७

४. कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत् ।

चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ॥

११०

५. क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात्

३९७

६. दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते

३७८

अभिधर्मकोश-भाष्य-व्याख्या

६७

अभिसमयालङ्कार

१. प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः ।

अनुपायेन दूरत्वमुपायेनाविदूरता ॥

३३१, ३९३

२. नापरे न परे तीरे नान्तराले तयोःस्थिता ।

अध्वनां समताज्ञानात् प्रज्ञापारमिता मता ॥

३३१, ३९३

अभिसययालङ्कारवृत्ति स्फुटार्था

सा (प्रजापारमिता) खलु प्रजया पुनर्नापरे तीरे संसारे, न परे तीरे निर्वाणे च यथाक्रमं शाश्वतोच्छेदलक्षणे, न तयोर्मध्येऽपि व्यवस्थितेति न संसार निर्वाणयोर्व्यवस्थिता ।

३३१

अभिसमयालङ्कारालोक

निर्भासते हि यद्वर्णं नैव तत् प्रतिपिध्यते ।

वेद्यमानस्य नो युक्तं कस्यचित् प्रतिषेधनम् ॥

३७७

अष्टसाहस्रिका प्रजापारमिता

१. तद्यथापि नाम कौशिक, जात्यन्धानां शतं वा सहस्रं वा अपरिणायकानामभयं मार्गावतारणाय.....एवमेव कौशिक,.....विना प्रजापारमितया अभव्या बोधिमागावतारणाय, कुत एव सर्वाकारजतानगरानुप्रवेशाय ।

३४३

२. मायोपमास्ते देवपुत्राः, सत्त्वाः । सम्यक् संबुद्धत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । यावन्निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । सचेन्निर्वाणदपि कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात्, तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपमं वदामि ।

३५८

आर्यमञ्जुश्रीविमोक्ष

तद्यथा कुलपुत्र, चिन्तामणिरत्नराजमुकुटावबद्धानां महानागराजां नास्ति परोपक्रमभयम्, एवमेव..... बोधिसत्त्वानां नास्ति दुर्गत्यपायपरोपक्रमभयम् ।

३३

आर्यरत्नचूडसूत्र

स चित्तं परिगवेपमाणो नाध्यात्मं चित्तं समनुपश्यति ' ' ' ' एवमेव तेनैव चित्तेन तदेव चित्तं द्रष्टुमिति विस्तरः ।

३६८

आर्याक्षयमत्तिसूत्र

अयं मया कायः सर्वसत्त्वानां किंकरणीयेषु क्षपितव्यः ।

७३

आर्यापरराजाववादसूत्र

२२

खुद्दकपाठपालि

अत्थि इमस्मिं काये—केसा लोमा नखा दन्ता तच्चो मंसं न्हारू अट्ठि अट्ठिमिञ्जं लसिका मुत्तं ति ।

४२०

गण्डव्यूहसूत्र

१. दुर्लभा अष्टाक्षगविनिवृत्तिः, दुर्लभो मनुष्यभावप्रतिलम्भः.....दुर्लभं सम्यग् जीवितं लोके ।

११

२. तद्यथा कुलपुत्र, अस्ति हाटकप्रभासं नाम रसजातम्.....न च सर्वज्ञता-चित्तोत्पादरसधातुः शक्यते सर्वक्लेशावरणलोहादिभिः पर्यादातुं तत्कर्तुं वेति ।

१६

३. एवमेव यावत् त्रिष्वपि अध्वसु सर्वज्ञज्ञानं धर्मधातुविषयमवभासयति.....
तानि बोधिचित्तोत्पादवशिराजमहामणिरत्नस्य मूल्यं न क्षमन्ते । १७
४. तद्यथा कुलपुत्र, शूरसन्निभितः पुरुषः सर्वशत्रुभ्यो न विभेति, एवमेव.....
बोधिसत्त्वः सर्वदुश्चरितशत्रुभ्यो न विभेति । १९
५. बोधिचित्तं कुलपुत्र, बीजभूतं सर्वबुद्धधर्माणाम् ।.... शक्तिभूतं क्लेशशत्रु-
विजयाय १९
६. दुर्लभाः कुलपुत्र, ते सत्त्वाः सत्त्वलोके ये अनुत्तरस्यां सम्यक्संबोधौ चित्तं
प्रणिदधति । ततोऽपि दुर्लभास्ते सत्त्वा ये अनुत्तरस्यां सम्यक् संबोधिमनु-
प्रस्थिताः । २०
७. तद्यथापि नाम कुलपुत्र, भिन्नमपि वज्ररत्नं सर्वप्रतिविशिष्टं सुवर्णालङ्कार-
मभिभवति,.....संसारदारिद्र्यं च विनिवर्तयति । २२

चतुःशतकम्

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत्तत्त्वेन भवेद् यदि ।

जातास्तत्त्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा ॥ ३५५

जातकमाला (मैत्रीबलजातक)

३४

तत्त्वसंग्रह

१. विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते ।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता ॥ ३६९
२. क्रियाकारकभेदेन न स्वसंवित्तिरस्य तु ।
एकस्यानंशरूपस्य त्रैरूप्यानुपपत्तितः ॥ ३७१
३. तस्मिन् ध्यानसमापत्ते चिन्तारत्नवदवस्थिते । ३९०
४. अन्ये पुनरिहात्मानं..... ४२१
५. व्यावृत्त्यनुगमात्मानम् ४२१
६. जैमिनीया इव प्राहुर्जैनाश्चिल्लक्षणं नरम् । ४२१
७. केचिच्च सौगतम्मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते । ४२२
८. नित्यज्ञानविवर्तोऽयं ४२२
९. चैतन्यमन्ये मन्यन्ते ४२२

दशभूमकसूत्र

चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम् । ३६६

दिव्यावदान

तिष्ठन्तं पूजयेद् यस्तु यश्चापि परिनिर्वृतम् ।

समचित्तप्रसादेन नास्ति पुण्यविशेषता ॥ ३९६

धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र

तत्र कतमत् समुदयार्थसत्यम् ? येयं तृष्णा पीनभंविकी नन्दीरागहृता तत्र तत्रा-
भिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा ।

....

धम्मपद

१. मनोपुव्वङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।

३२३

२. गहकारक, दिट्ठो सि पुन गेहं न काहसि ।

सव्वा ते कामुगा भग्गा गहकूटं विसंखतं ।

विमंखारगतं चित्तं तल्लानं खयमज्झगा ॥

३२८

धर्मसंग्रह

६५

धर्मसंगीतिसूत्र

१. न भगवन् बोधिसत्त्वस्य अन्यत् करणीयमस्ति, अन्यत्र सत्त्वावर्जनात् ।

१४०

२. समाहितचेतसो यथाभूतदर्शनं भवति । यथाभूतदर्शिनो बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु
महाकरुणा प्रवर्तते " स तथा करुणया" शिक्षाः प्रपूर्य अनुत्तरां सम्यक्संबोधि-
मभिसंबुध्यते ।

३४२

नारायणपरिपृच्छासूत्र

१. यावद् अयं ममात्मभावः सर्वसत्त्वेभ्य उत्सृष्टः परित्यक्तः" कः पुनर्वादो बाह्येषु
वस्तुषु ।

३१

२. न तद् वस्तु उपादातव्यं यस्मिन् वस्तुनि नास्य त्यागचित्तमुत्पद्येत" अयं
ममात्मभावः सर्वसत्त्वेभ्य उत्सृष्टः" प्रागेव बाह्यानि वस्तूनि ।

७३

नियतानियतावतारमुद्रासूत्र

स चेन्मञ्जुश्रीः दशसु दिक्षु सर्वलोकधातुषु सर्वसत्त्वा उत्पाटिताश्वा भवेयुः
परिकल्पमुपादाय । अथ कश्चिदेव कुलपुत्रो कुलदुहिता वा तेषां सर्वसत्त्वानां मैत्र-
चित्तस्तान्यक्षीणि जनयेत् परिकल्पमुपादाय" अयं ततोऽसंख्येयतरं पुण्यं
प्रसवति ।

३३

प्रज्ञापारमितासूत्र

भगवान् आह—इह सुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः प्रज्ञापारमितायां चरन् रूपं
भाव इति न भावयति" कुतः पुनरस्य मोक्षो भविष्यतीति

३९९

प्रज्ञापारमितास्तव

सर्वपारमिताभिस्त्वं निर्मलाभिरनिन्दिते ।

चन्द्रलेखेव ताराभिरनुयातासि सर्वदा ॥

३४३

प्रज्ञापारमितास्तुति

बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता ।

मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥

३९९

पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता

पुनरपरं सुभूते, न रूपशून्यतया रूपं शून्यम्, रूपमेव शून्यम्, शून्यतैव रूपम्, ... शून्यतैव विज्ञानम् ।

३८८

प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्यसूत्र

यावन्ति मञ्जुश्रीर्बोधिसत्त्वो बोधिसत्त्वस्यान्तिके प्रतिषचित्तान्युत्पादयति....

तावतः कल्पास्तेन संताहः संनद्धव्यः—वस्तव्यं मया महानरकेष्विति ।

३२

पितापुत्रसमागमसूत्र

सत्य इमे दुवि लोकविदूनां

× × ×

सत्यु न सिध्यति किं च तृतीयु ।

३४९

पुष्पकूटधारणी

१. यश्च खलु सिंहविक्रीडित, ...वाचं भाषेत—‘नमस्तस्मै बुद्धाय भगवते’ इति नेदं स्थानं विद्यते ।

३९६

२. ये केचित् सिंहविक्रीडित, तथागतस्य पूजां करिष्यन्ति तिष्ठतो वा परिनिर्वृतस्य वा समो विपाको प्रतिकाक्षितव्यः, तथा पूजायै नास्ति विशेषो नानाकरणं च ।

३९६

प्रमाणवार्तिक

४

१. उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम् ।

६५

२. तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः ।

६४

३. हेयोपादेयतत्त्वस्य सांभ्युपायस्य वेदकः ।

यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥

११५

४. नित्यं प्रमाणं नैवास्ति प्रामाण्याद् वस्तुसद्गतेः ।

× × ×

कथञ्चिन्नोपकार्यत्वात् ॥

१६७

५. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥

३१२

६. तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिर्वैफल्याद् वक्ति नानृतम् ।

दयालुत्वात् परार्थं च सर्वास्माभियोगतः ॥

३२१

७. तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये ।

भूतोक्तिः साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता ॥

३२१

८. मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थशिष्यभावना ।

४०५

९. मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्पसञ्चेतनावशात् ।

४०७

१०. शेषमक्लेशनिर्जरम् ।

कायवाग्बुद्धिवैगुण्यं मार्गोक्त्यपटुतापि च ॥

४०८

बोधिचर्यावतारपञ्जिका

४,६

१. नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छादीर्घायुषोऽमराः ।

मिथ्यादृग्बुद्धिकान्तारौ मूकताष्टाविहेक्षणाः ॥

मानुष्यं दुर्लभं लोके बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः ।

सर्वदुःखप्रशान्त्यर्थं दुर्लभानां परम्परा ॥

१०

२. तस्मान्निर्व्यापारतया सर्वधर्माणाम्, अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिद-
मुत्पद्यते, इति इदम्प्रत्ययतामात्रमिदं जगत्, नात्र कश्चित् स्वतन्त्रः सम्भवति
हेतुप्रत्ययाधीनत्वात् सर्वधर्माणाम् ।

१६४

३. यस्यां रात्रौ तथागतोऽभिसम्बुद्धो यस्यां च परिनिर्वृतः, अवान्तरे तथागतेन
एकमप्यक्षरं नोदाहृतम्, तत् कस्य हेतोः ? नित्यं समाहितो भगवान् ।

३९०

बोधिसत्त्वप्राप्तिमोक्ष

पुनरपरं शारिपुत्र, बोधिसत्त्वः सर्वधर्मेषु परकीयसंज्ञामुत्पादयति, न कश्चिद्
भावमुपादत्ते । तत्कस्य हेतोः ? उपादानं हि भयमिति ।

पुनश्च'.....'चित्तशूराः खलु बोधिसत्त्वा भवन्ति, यावत् स्वहस्तपरित्यागी
भवति सर्वस्वपरित्यागीति ।

७३

मध्यमकावतार

१. मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः ।

× × ×

मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम् ॥

३४६

२. सम्यङ् मृषादर्शनलब्धभावं ।

× × ×

मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम् ॥

३४६

३. विनापघातेन यदिन्द्रियाणां ।

× × ×

विकल्पितं लोकत एव मिथ्या ॥

३४७

४. अज्ञानमिद्वोत्क्षुभितैर्यथास्वं ।

× × ×

तल्लोकतश्चापि न विद्यते हि ॥

३४७

५. विकल्पितं यत्तिमिरप्रभावात् ।

× × ×

तत्तत्त्वमित्येवभिहाप्यवेहि ॥

६. न बाधते ज्ञानमतैर्मिराणां ।

३४८

× × ×

धियास्ति बाधा न धियोऽमलायाः ।

३५१

७. उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम् ।

३५३

८. सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम् ।

कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय च नास्ति ॥

११०

मूलमाध्यमिककारिका

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।

३८७

मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, प्रसन्नपदा

यच्छास्ति वः क्लेशरिपूनशेषान्

६४

युक्तिषष्टिका

ममेत्यहमिति प्रोक्तं यथा कार्यवशाज्जनैः

३५६

रत्नावली

अज्ञानात् कल्पितं पूर्वं पश्चात्तत्त्वार्थनिर्णये ।

यदा न लभते भावमेवाभावं तदा कुतः ॥

३७८

रत्नमेघसूत्र

इह बोधिसत्त्वो नैवं चित्तमुत्पादयति—दुष्प्राप्या बोधिर्मनुष्यभूतेन सता ।

तन्नाहमुत्सहे ईदृशं भारमुद्वोढुम् ।

२२३

लोकातीतस्तव

१. सर्वसंकल्पहानाय शून्यतामृतदेशना । ३८७
 २. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता । ३८९

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता

१. तत् किं मन्यसे सुभूते, अपि नु स्रोत-आपन्नस्यैवं भवति — मया स्रोत आपत्ति-
 फलं प्राप्तमिति ? सुभूतिराह नो हीदं भगवन् । ४११-४१२
 २. धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः । ३९२

वीर्यदत्तपरिपृच्छा

- बोधिचित्ताद्वि यत्पुण्यं तच्च रूपि भवेद् यदि ।
 आकाशघातुं सम्पूर्य ततश्चोत्तरि तद् भवेद् ॥ २७

शालिस्तम्बसूत्र

- यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति । अयमुच्यते
 प्रतीत्यसमुत्पादः । ३६४

शिक्षासमुच्चयः

१. समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन् मुनिः । ३४२
 २. आत्मभावस्य भोगानां ३३६
 ३. रत्नमेघे जिनेनोक्तस्तेन संक्षेपसंवरः ।
 येनाप्रसादः सत्त्वानां तद् यत्नेन विवर्जयेत् ॥ १४६

श्रद्धाबलाधानावतारमुद्रासूत्र

- बोधिसत्त्वनिर्जाता हि बुद्धा भगवन्तः बोधिसत्त्वं सत्कृत्य सर्वबुद्धाः
 सत्कृता भवन्ति । ३२

श्रीसम्भवविमोक्षसूत्र

१५०

शूरंगमसूत्र

२०

संयुत्तनिकाय (तुल०)

१. चित्तेन नीयते लोकः चित्तेन परिकृष्यते । ११०
 २. समाहितो यथाभूतं प्रजानाति ३४२

समाधिराजसूत्र

२९७

तस्मात् प्रतिपत्तिसारो भविष्यामि, इत्येवं कुमार, शिक्षितव्यम् । तत्कस्य
हेतोः ".....न दुर्लभा भवति अनुत्तरा सम्यक्संबोधिरिति ।

२३

सूत्र

१. क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया ।

३५५

२. सर्वं सर्वमिति ब्राह्मण, यावदेव पञ्च स्कन्धाः, द्वादश आयतनानि, अष्टादश
धातव इति ।

३५५

३. काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे ।

न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि ॥

३२८

स्मृत्युपस्थानसूत्र

८६

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
अदार्थ	पदार्थ	३८४
अनिष्य मप्येतत्	अनिष्यमाणटमप्येतत्	१६२
अभिप्रायिकी देशना	आभिप्रायिकी देशना	४३९
इताद्य	इत्याद्य	२५४
उपाद्य	उत्पाद्य	२९६
उपादान कन्ध	उपादान स्कन्ध	३४४
काल्पित	कल्पित	५१८
क्षद्धा	श्रद्धा	२११
गत्तिपत्तन	गतिपत्तन	१६
नद्रयोपद्रवै	निद्रयोपद्रवै	५३८
बुद्धवचनत्व	बुद्धवचनत्व	८ (भूमिका)
परमार्थः सत्	परमार्थतः सत्	३५९
बोध्य	बोध्यं	३७८
भार्गभावना	मार्गभावना	३८३
लङ्को	लङ्की	३७३
विकल्प बुद्धि	विकल्प बुद्धि	४८०
शाश्वत दृष्टि	शाश्वत दृष्टि	४१४
शून्यता	शून्यता	३८६
सर्वज्ञान	सर्वज्ञ ज्ञान	३४४
सर्वधर्मशून्यता	सर्वधर्मशून्यता	३७८
सामग्री	सामग्री	६८
स्वपुष्प	खपुष्प	५१८
पृ० ३२९	२२९	—

